पट्टमहादेवी शान्तला

भाग : तीन

मूल कन्नड़
सी० के० नागराजराव

हिन्दी रूपान्तर
पण्डित पी० वेंकटाचल शर्मा

भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन

राष्ट्रभारती/
लोकोदय ग्रन्थमाला : ग्रन्यांक 447

पट्टमहादेवी शान्तला : भाग तीन
(उपन्यास)

सी. के. नागराजराव

प्रथम संस्करण : 1986

मूल्य : 55/-

प्रकाशक
भारतीय ज्ञानपीठ
18, इन्स्टीट्यूशनल एरिया, लोधी रोड
नयी दिल्ली-110003

मुद्रक
अंकित प्रिंटिंग प्रेस
शाहदरा, दिल्ली-110032

आवरण शिल्पी : हरिपाल त्यागी

PATTA-MAHADEVI SHANTALA : (Novel) Part III,
by C.K. Nagaraja Rao. Translated by Pt. P. Venkatachal Sharma.
Published by Bharatiya Jnanpith, 18, Institutional Area, Lodhi
Road, New Delhi-110003. Printed at Ankit Printing Press;
Shahdara, Delhi. First Edition 1986. Rs. 55/-

पट्टमहादेवी शान्तला

भाग : तीन

विजयोत्सव में भाग लेने के बाद बिट्टिदेव का स्वास्थ्य कुछ विगड़-सा गया। जग-दल सोमनाथ पण्डित ने सब तरह से जाँच की और—"घवड़ाने का कोई कारण नहीं। थकावट के कारण थोड़ा बुखार आ गया है। एक-दो दिन में ही उतर जाएगा। कम-से-कम एक पखवारे तक विश्रान्ति, औषध-सेवन तथा परहेजगी बरतेंगे तो पहले जैसे ही स्वस्थ हो जायेंगे।"—यों पट्टमहादेवी को सब बातें सूचित कर दीं।

इसी बीच खबर मिली कि नीलाद्रि (नीलगिरि) की तरफ से कुछ गड़बड़ी के हो सकने की सम्भावना है। पुनीसमय्या ने पहले ही बताया था कि सेना को उस ओर भेजना ठीक होगा। कोंगाल्वों के साथ के गत युद्ध में जीत जाने पर भी, काफ़ी नुकसान उठाना पड़ा था, इसलिए अभी तुरन्त सैनिकों को युद्ध में लगाना उचित न मानकर फिलहाल स्थगन का निर्णय किया गया था। लेकिन अब तो लाचारी थी। पुनीसमय्या के नेतृत्व में पोय्सल-सेना नीलाद्रि की ओर चल पड़ी। प्रकृत सन्दर्भ में अश्वदल का साथ जाना भी उचित समझकर यह निर्णय किया गया था कि मंचिदण्डनाथ और सवारनायक अनन्तपाल दोनों अपने-अपने अश्व-गुल्मों के साथ पुनीसमय्या के साथ चलेंगे।

यह खबर बिट्टियण्णा के लिए अमृत-सी लगी। उसमें एक नयी स्फूर्ति जाग उठी। अपना उत्साह न रोक सकने के कारण वह सीधा शान्तलदेवी के पास पहुँचा। प्रार्थना करते हुए बोला, "मैं युद्ध में जाऊँगा। भगवान् ने ही मेरी इच्छा के अनुसार युद्ध का मौक़ा ला दिया है। आपने अपने अमृत हस्त से यह तलवार दी है। इस तलवार के लिए इतनी जल्दी युद्ध में जाने का जो अवसर मिला है वह सिद्धि का शुभ-संकेत है। कृपाकर सन्निधान को सूचित करें और मुझे युद्ध में जाने की अनुमति दिलवा दें।"

"तुम अभी तेरह साल के बच्चे हो, युद्धरंग में भेजने के लिए कौन देगा अभी अनुमति?" करुणा से भरकर शान्तलदेवी ने उत्तर दिया।

"तो फिर विजयोत्सव के समय तलवार देकर···" बिट्टियण्णा कहते-कहते रुक गया।

"बेटा, बिट्टि! तुम्हारे उत्साह और कुतूहल को मैं जानती हूँ। परन्तु··· तुम्हें सद्योजात शिशु की अवस्था में महामातृश्री की गोद में डालकर तेरी माँ स्वर्ग सिधार गयी थी। गोद में डालने का माने है कि तेरा पालन-पोषण करें। इस छोटी उम्र में प्राणलेवा युद्धरंग में भेजने के लिए नहीं। और फिर महामातृश्री की स्वीकृति के बिना तुझे रणरंग में जाने दिया गया तो उन्हें बहुत दुःख होगा। सुना है, सन्निधान ने तेरे ही जैसा हठ किया था। सबके लिए एक उपयुक्त समय होता है। अभी अपने उत्साह को रोक रखो। और हाँ, अभी सन्निधान का भी स्वास्थ्य अच्छा नहीं है। उन्हें मानसिक शान्ति की ज़रूरत है। तुम जो चाह रहे हो वह एक संदिग्ध विचार है, सुनकर वे चिंतित हो उठें। इसलिए अभी हाल चुप रहो।" शान्तलदेवी ने कहा।

"साड़ी पहनने पर षोडशी, तलवार लेकर वीरता दिखाने के लिए तेरह वर्ष! समय के अनुसार चाहे जैसा बातों को मरोड़ा जा सकता है।" भीतर ही भीतर बड़बड़ाते हुए मुँह फुलाकर खड़ा रहा बिट्टियण्णा।

"देख बेटा, बिट्टि! यह बड़बड़ाना कभी भी अच्छा नहीं। मन को ठीक न लगने पर उसे खुलकर कह देना अच्छा है, बड़बड़ाना नहीं। यह आत्मस्थैर्य न होने वालों का लक्षण है। तेरा अंग-सौष्ठव सोलह की उम्रवालों जैसा हृष्ट-पुष्ट होकर बढ़ चला है। परन्तु यह तो झूठ नहीं हो सकता कि तेरी उम्र तेरह है। यह बातों का मरोड़ नहीं, उत्तरदायित्व का विचार है। अब जाओ, तुम ही विचार कर सोचो। तब भी अगर तुम्हें मेरी बात ठीक न जँचे तो आकर मुझे बताओ," कहकर शान्तलदेवी ने उसे विदा किया।

वास्तव में उत्साह भंग होने की ही बात उसके मन में प्रमुख हो जाने से किसी दूसरी बात के बारे में सोचने का समय ही उसे नहीं मिला। शान्तलदेवी कह चुकी थीं इसलिए फिलहाल इस बारे में उनसे कुछ न कहा जाय—ऐसा सोचते हुए वह सीधे उदयादित्य के पास गया।

यों तो उसे भी पुनीसमय्या के साथ जाने का उत्साह था। फिर भी उसने उसके बारे में कुछ नहीं कहा। इसका कारण था महाराज की अस्वस्थता। बिट्टियण्णा के उत्साह ने उसके मन में भी स्फूर्ति ला दी। पट्टमहादेवी ने जो कुछ कहा था वह ठीक होने पर भी, बिट्टियण्णा से मिलने पर, खुद युद्ध में जा सकने का मार्ग निकालने की ओर उसका दिमाग क्रियाशील हुआ। वह सीधे सन्निधान के पास गया।

तभी वेलापुरी से समाचार मिला। छोटा-सा ख़रीता। उसमें इतना ही लिखा हुआ था कि महामातृश्री का स्वास्थ्य अच्छा नहीं; वे सन्निधान की प्रतीक्षा

कर रही हैं। यह खबर अभी अभी ही मिली थी। शान्तलदेवी सन्निधान के नियमित आहार-ग्रहण के बाद स्वयं भोजन करने गयी थीं। सब लोगों के एक साथ बैठकर दोपहर के वक़्त भोजन करने की परिपाटी थी, पर अभी सन्निधान की अस्वस्थता के कारण कुछ परिवर्तन हुआ था। फलस्वरूप अकेली शान्तलदेवी अपनी सहूलियत के अनुसार भोजन की रस्म अदा कर लिया करतीं। आज जब वे भोजन करने गयीं थीं तभी यह समाचार आया था। पट्टमहादेवी को भोजन के बाद बुला लाने के लिए रेविमय्या को भेज दिया गया था।

भाई को देखते ही बिट्टिदेव ने कहा, "हम खुद कहला भेजना चाह रहे थे; तुम आ गये, अच्छा हुआ। वेलापुरी से समाचार मिला है।" कहकर बगल के आसान की ओर उँगली से इशारा किया।

उदयादित्य ने उस ओर देखा और चिट्ठी लेकर पढ़ने लगा।

"आज्ञा हो तो मैं अभी चल पड़ूँ?" उदयादित्य ने कहा। उदयादित्य जिस बात को लेकर आया था उसकी ओर उसका ध्यान ही नहीं रहा।

"ठहरो, देवी को आ जाने दो।" बिट्टिदेव बोले।

कुछ देर की प्रतीक्षा भी उसे सह्य नहीं हो रही थी। "माँ का स्वास्थ्य अच्छा नहीं। आप लोगों की प्रतीक्षा कर रही हैं।" इस तरह दो पंक्ति लिखेंगे तो दूर पर रहने वाले हमें क्या मालूम पड़ेगा? विस्तार के साथ लिखते तो क्या हो जाता? ये प्रधानजी ही ऐसे हैं। कम बोलते हैं, काम अच्छा करते हैं—इस तरह की प्रशंसा के कारण ऐसी चिट्ठी? हम दूर रहनेवाले पढ़कर परेशान होंगे—इतना तो उन्हें सोचना था न? सन्निधान का स्वास्थ्य अभी यात्रा करने योग्य नहीं। वहाँ की स्थिति स्पष्ट होती तो अच्छा होता!" उदयादित्य कुछ मुखर होकर बोल गया।

"उदय, दो ही वाक्यों में सब कुछ समाया है। अधिक विस्तार की क्या ज़रूरत? माँ यहाँ की हालत से परिचित हैं। हमारी प्रतीक्षा कर रही हैं—यह बात मालूम हो जाने पर अब समय को व्यर्थ गँवाना ठीक नहीं; यह बात स्पष्ट है, यह विदित भी है।"

"तो क्या सन्निधान तुरन्त यात्रा करेंगे? सो भी अभी, इस अस्वस्थ दशा में?"

"हमारी यही इच्छा है। पण्डितजी को तुरन्त बुलवाओ। उनके रहने पर हमें यात्रा में पूरी सहायता रहती है।"

उदयादित्य ने बाहर जाकर पण्डित सोमनाथजी को बुला लाने के लिए आदमी भेज दिया।

पण्डितजी के आते-आते शान्तलदेवी भी भोजन कर आयी ही थीं कि वहाँ उदयादित्य को देखकर चकित हो गयीं। विश्राम के समय आने का वह आदी

नहीं था। वह आयीं और बैठने ही वाली थीं कि इतने में पण्डितजी का आगमन हुआ। सहज ही उनका दिल धड़क उठा। घबड़ाकर पण्डितजी की ओर उन्होंने देखा।

"सन्निधान का आदेश हुआ तुरन्त आने के लिए। बात......" घबड़ाहट के स्वर में पण्डितजी कहने लगे कि तभी बिट्टिदेव बोले, "पहले बैठिए तो सही। घबड़ाने की कोई बात नहीं है।"

शान्तला की घबड़ाहट भी दूर हुई। पण्डितजी भी बैठ गये। रेविमय्या, जो शान्तलदेवी के साथ आया था, वहीं द्वार पर ही खड़ा रहा।

बिट्टिदेव ने अपनी माताजी की अस्वस्थता की बात सुनायी और कहा, "हमें अभी तुरन्त वेलापुरी जाना है। हमारी इस यात्रा में स्वास्थ्य न बिगड़े, इस ओर ध्यान देते रहने के लिए आप साथ रहेंगे ही। महामातृश्री बहुत वयोवृद्ध हैं। पोय्सल सन्तान की प्रगति के लिए सब कुछ समर्पित कर देनेवाली त्यागमयी माता हैं। उनकी अभिलाषा को पूर्ण करना हमारा कर्त्तव्य है। अब की जब हम यात्रा के लिए निकले तो उन्हें पूरा समाधान नहीं रहा। पट्टमहादेवी को युद्ध में ले जाने की बात उनके मन को रुची नहीं। फिर भी उन्होंने आसीस दे कर भेजा। जिस क्षण से यह समाचार मिला है कि उनका स्वास्थ्य अच्छा नहीं तभी से हमारा मन कह रहा है—'उठो, देर मत करो, चलो!' इसीलिए हम अपना निर्णय सुना रहे हैं। कोई इसके विरुद्ध कुछ न कहे, तुरन्त चलने के लिए तैयार हो जांय। दूसरों की राय जाने बिना निर्णय करना हमारी रीति नहीं है, परन्तु इस सन्दर्भ में किसी से राय न लेकर निर्णय ले लेना अनिवार्य था। रेविमय्या, तुम पट्टमहादेवी से पूछकर यात्रा की तैयारी करो। उदय, तुरन्त पुनीसमय्या और मंचिदण्डनाथ को बुलवाओ। उनकी तैयारी कहाँ तक हुई है, इसे जानना है।"

"कल सुबह यात्रा करने का निर्णय हुआ। सुना कि मुहूर्त अच्छा है। यह खबर मिलने पर सन्निधान के साथ बात करने के उद्देश्य से ही मैं आया था!" उदयादित्य ने कहा।

"ठीक है, फिर भी जाने के पहले उनसे बातचीत करनी है। जल्दी बुलवाओ।"

उदयादित्य ने वहाँ से बाहर आकर मंचिदण्णाथ आदि को कहला भेजा। रेविमय्या और शान्तलदेवी वहाँ से चले गये।

"पण्डितजी, रुके बिना लगातार यात्रा करनी होगी। पूजा-पाठ और भोजन मात्र के लिए समय रहेगा। इसलिए जो औषधियाँ चाहिए उन सबको आप अपने पास तैयार रखें। एक प्रहर के अन्दर हम रवाना हो जायेंगे।"

"बाकी सब ठीक है। अस्वस्थ प्रभु यात्रा पर जा रहे हैं, इसलिए रवाना होने के मुहूर्त मात्र को पूछकर जान लेते तो शायद अच्छा होता!" डरते-डरते पण्डित जी ने कहा।

"हम कहीं लड़की देखने नहीं जा रहे हैं। माँ के दर्शन के लिए सब अच्छे मुहूर्त हैं। अब आप चलिए।" बिट्टिदेव ने स्पष्ट कहा।

पण्डितजी प्रणाम कर निकल गये।

पुनीसमय्या और मंचिदण्डनाथ शीघ्र ही वहाँ आ गये। उनसे विचार-विनियम हुआ। उनके साथ जानेवाली सेना को छोड़कर, शेष सेना यादवपुरी में ही तैयार बनी रहे। उसकी निगरानी बोकण करें—यह निर्णय हुआ। राजदम्पती ने विजय की कामना करते हुए दोनों को आशीर्वाद दिया। पुनीसमय्या और मंचिदण्डनाथ वहाँ से रवाना हो गये।

यह भी निर्णय हुआ कि नागिदेवण्णा यादवपुरी में ही रहें।

वेलापुरी-दोरसमुद्र में विजयोत्सव का आयोजन करने के लिए डाकरस दण्डनाथ पहले ही वेलापुरी पहुँच चुके थे। इसलिए सन्निधान और उनके परिवार में अंगरक्षक-दल को छोड़ राजदम्पती, बम्मलदेवी, उदयादित्य, विट्टियण्णा, रेविमय्या, मायण, चट्टलदेवी और जगदल सोमनाथ पण्डित इतने ही लोग थे।

अच्छे नस्ल के घोड़े हों तो सात कोस की यात्रा को दो-तीन घण्टों में तय कर सकते हैं। इस तरह का परिवार इतनी तेजी से चले यह नहीं हो सकता था। रास्ते में पूजा-पाठ, भोजन आदि के लिए जितना कम समय लगाया जा सकता था, लगाया। रेविमय्या ने रास्ते में एक-एक कोस की दूरी पर तेज दौड़नेवाले घोड़ों को बदल-बदलकर जोतने की व्यवस्था की थी। फिर भी यादवपुरी से रवाना होने के दिन पूरा दोपहर, रात और पूरा दूसरा दिन लगातार चलने से गोधूलि के समय तक सब लोग वेलापुरी पहुँच गये।

महामातृश्री एचलदेवी ने सूर्योदय होते ही समाचार सुना था कि उनके पुत्र यादवपुरी से रवाना हो चुके हैं, इससे वह खुश हो गयी थीं। परन्तु उसी दिन शाम को ही पहुँच जाने की बात सुनकर वह विश्वास न कर सकीं; क्योंकि उनका विचार था कि वे इतनी जल्दी न पहुँच सकेंगे। फिर भी उनकी इच्छा पूर्ण करने में बेटों ने तत्परता दिखायी उससे उनका अन्तःकरण सन्तोष से भर गया। एचलदेवी ने पलंग पर से ही अर्हन् को हाथ जोड़कर प्रणाम किया। उन्होंने अपने मन-ही-मन कहा, "अर्हन्! आपने मेरी अन्तिम इच्छा पूरी कर दी। अब मैं प्रभु के पास खुशी से जाऊँगी।" उनकी आँखें हर्ष के आंसुओं से भर आयीं।

राजलदेवी, जो वहीं बगल में बैठी थी, महामातृश्री की बात सुन न सकी थी, परन्तु उनकी आँखों में आंसू देख घबड़ा गयी। उसने पूछा, "क्यों, क्या हुआ? क्या चाहिए?" उसी घबड़ाहट में किवाड़ की ओर मुड़कर जोर से आवाज़ दी, "कौन है?"

"हम" कहते हुए महाराज बिट्टिदेव ने धीरे से अन्दर कदम रखा। उदयादित्य और शान्तलदेवी उनके दोनों बगल में रहे मानों सहारा दे रहे हों।

राजलदेवी "सन्निधान !" कहती हुई हड़बड़ाकर उठ खड़ी हुई।

राजलदेवी की बात सुनकर एचलदेवी ने दरवाजे की ओर मुँह फेरकर ओढ़नी के अन्दर से हाथ बाहर निकाला।

इतने में महाराज माँ के पास पहुँचकर उनके हाथ को अपने दोनों हाथों में ले एक आसन पर बैठ गये। शान्तलदेवी पलंग पर बैठकर महामातृश्री की पीठ और सिर पर हाथ फेरने लगीं। उदयादित्य और बिट्टियण्णा दोनों भी बैठ गये। बम्मलदेवी धीरे से राजलदेवी के बगल में जाकर खड़ी हो गयी। रेवीमय्या पैताने जा बैठा। वहाँ के मौन को देख सोमनाथ पण्डित को कुछ सूझा नहीं क्या करना चाहिए, वे ज्यों-के-त्यों खड़े रहे।

एचलदेवी ने मौन होकर सब को शांति से एक बार देखा, अपने सिर पर हाथ फेरनेवाली शान्तला का हाथ अपने हाथ में लेकर बोलीं, "तुम सब आ गये ! सब आ गये जिन्हें देखना चाहती थी। अब यहाँ मेरे लिए कोई काम नहीं है। प्रभु का बुलावा आया है। तुम्हारे बच्चों की देखरेख मुझे करनी थी। अब इस अस्वस्थता के कारण राजलदेवी को उनकी देखरेख करनी पड़ी है। हेग्गड़तीजी मेरी देखरेख करने में घुलती जा रही हैं। अगर राजलदेवी की मदद न होती तो उनकी स्थिति बहुत चिंताजनक हो जाती। मैं अधिक बोल नहीं सकती। अब तुम आ गयीं। मैं निश्चिन्त हूँ। आइन्दा तुम ही यहाँ की बड़ी मालकिन हो। सब कुछ दायित्व प्रत्यक्ष तुम्हें सौंपकर मुक्त होने का अवसर अर्हन्त ने दिया—यही भाग्य की बात है। पता नहीं मैं कब तक जीवित रहूँगी ! तुम लोगों के आने की प्रतीक्षा में किसी तरह जीवित रही आयी।" धीरे से एचलदेवी ने कहा। दम फूलता जा रहा था, इसलिए बोलना बन्द करना पड़ा।

"आप कुछ मत बोलें। राजमहल के वैद्यजी आये हैं। सब ठीक हो जाएगा। वास्तव में सन्निधान का स्वास्थ्य यात्रा करने लायक नहीं था। वैद्यजी का ही सहारा रहा जिससे यात्रा सुगम हो गयी। वे बहुत अच्छी औषधि देते हैं। हम सब लोग हैं हीं। बारी-बारी से हम आपकी सेवा में हाज़िर रहेंगी। इससे माँ और राजलदेवी दोनों को आराम करने के लिए समय भी मिल जायेगा। आप किसी बात की चिन्ता न करें।" शान्तलदेवी ने यों कहकर महामातृश्री को आश्वस्त किया।

"अम्माजी ! मैं किस बात के लिए चिन्ता करूँ ? भगवान् ने जो आयु मुझे दी वह समाप्त होने को आयी है। मेरा मन यही कह रहा है। मैं प्राणभय से यह बात नहीं कह रही हूँ। बिलकुल शान्त-चित्त से कह रही हूँ। यदि अभी आयु शेष है तो उसे इसी क्षण धारापूर्वक दान देकर मुक्त होने के लिए तैयार हूँ। किसी भी वैद्य की दवा अब मेरे शरीर को लगेगी नहीं। मुक्त होने की इच्छुक आत्मा को दवा देकर बांधकर रख नहीं सकेंगे। मैं तुम लोगों के यहाँ पहुँचने तक

जीवित रहना चाह रही थी। जीने का संघर्ष बड़ा ही भयंकर संघर्ष है। लौकिक प्रेम और वात्सल्य से जाने के लिए उद्यत प्राणों को रोक रखने का प्रयत्न करना बहुत ही कष्टसाध्य है। तुम सब ने आकर मेरे इस दुःसाध्य प्रयत्न के भार को कम कर दिया, यही काफी है। अब जाकर तुम सब आराम करो।" एचलदेवी ने भावविभोर होकर कहा। उनमें अचानक ही एक तीव्र भावावेश के कारण एक नयी चेतना आ गयी थी।

"मैं यहाँ रहूँगी। बाकी सब जाकर आराम करें। पण्डितजी इधर आइए।" शान्तलदेवी ने कहा।

पण्डितजी धीरे-से महामातृश्री के पलंग के पास आये।

"देखिए पण्डितजी, नब्ज़ की क्या गति है? हमारी अम्माजी को सन्तोष हो इसलिए हाथ आगे कर रही हूँ। वही आइन्दा इस राष्ट्र की माता के सदृश होगी। उसकी इच्छा को मानना चाहिए।" कहकर एचलदेवी ने बायाँ हाथ आगे बढ़ा दिया।

सोमनाथ पण्डित ने नब्ज़ देखी। आँखों के पलक उठाकर देखा। दो कदम पीछे हटकर खड़े हो गये।

शान्तलदेवी ने पूछा, "अब आपके पास जो चूरण और घुट्टियाँ हैं, उन्हीं से काम चलेगा या कुछ नयी दवा बनानी होगी?"

"फिलहाल एक चूर्ण दूँगा। सुबह तक दूसरी दवा तैयार कर लूँगा।"—पण्डितजी बोले।

"वही कीजियेगा।" शान्तलदेवी बोलीं। और कुछ ब्योरा नहीं पूछा। चूर्ण देकर पण्डितजी चले गये। राजलदेवी और बम्मलदेवी दोनों भी चली गयीं।

"रेविमय्या, तुम सन्निधान को विश्राम कक्ष में ले चलो। माँ के आने तक मैं यहीं रहूँगी। मेरे साथ चट्टलदेवी रहेंगी। हाँ, जल्दी करो, जाओ।" शान्तलदेवी ने जैसे निर्णय सुना दिया।

"हाँ छोटे अप्पाजी, अम्माजी का कहना ठीक है। तुम्हें पूर्ण विश्रान्ति चाहिए। तुम राष्ट्र के लिए सब से प्रधान हो।" एचलदेवी ने कहा।

"माँ, मेरे लिए तुम सबसे ज़्यादा मुख्य हो।" महाराज बोले।

"हर बेटे को अपनी माँ वैसे ही प्रधान है जैसे तुम्हें। फिर भी तुम विवेकी हो इसलिए मेरी बातों का युक्तार्थ ग्रहण करो। तुम यहाँ रहकर करोगे क्या? यहाँ रहने से तुम्हारी थकावट और बढ़ जाएगी। उठो। रेविमय्या, अब देर मत करो।" एचलदेवी ने कहा।

बिट्टिदेव के उठने के लक्षण नज़र नहीं आये।

"रेविमय्या, सन्निधान जब यहाँ पधारे तब वे अपने मनोबल के कारण सशक्त थे। अब वे खुद उठ नहीं सकेंगे। आओ, मैं भी साथ दूँगी। उन्हें उठकर

खड़े होने में मदद मिल जाएगी।" कहती हुई शान्तलदेवी पलंग पर से उतरकर बिट्टिदेव के निकट पहुँची।

उदयादित्य "मैं साथ दूंगा" कहता हुआ उठ खड़ा हुआ और बोला, "यह बात मुझे क्यों नहीं सूझी? रेविमय्या, मायण, आओ; सन्निधान को उठाकर विश्राम कक्ष में ले चलें।"

"न, हमें कुछ नहीं हुआ है। अभी हम बिना सहारे के चल सकते हैं।" कहते हुए बिट्टिदेव उठने का प्रयत्न करने लगे। यह इसलिए था कि अपनी माँ को यह अपनी कमजोरी मालूम न पड़े। परन्तु यह हुआ नहीं। उठने के इस प्रयत्न से वे गिरने का-सा अनुभव करने लगे। लेकिन अन्य लोगों के पकड़ने से गिरे नहीं। "ओह! पाँव अकड़ गया था इसलिए ऐसा हुआ। उदय! वैसे ही कुछ क्षण खड़े रहेंगे तो ठीक हो जाएगा।" कहते हुए उदय की भुजा पर हाथ रखकर उसके सहारे उठ खड़े हुए। बोले, "माँ, ऐसा मत सोचिए कि मुझे कुछ हो गया है। घबड़ाइए नहीं। कुछ हो जाना चाहिए था, मगर आपके आशीर्वाद से सब अच्छा ही हुआ है।"

"केवल आशीर्वाद नहीं; मेरी शेष आयु को इसी क्षण तुम्हारे लिए धारा-पूर्वक दे देने के लिए भी तैयार हूँ। अब तुम्हारे ही बल पर राष्ट्र की प्रगति होनी है। प्रभु ने बहुत कुछ सोच रखा था। उन सब का साधन करना उनसे न हो सका। उनके मन की उन सभी आकांक्षाओं को अब तुम पूरा करो। स्वर्ग में वे तृप्ति पायेंगे।" एचलदेवी ने कहा।

"क्या, क्या सोच रखा था, माँ?"

"अभी नहीं, पहले तुम आराम कर लो। फिर कभी बताऊँगी।"

"तो माँ......"

"मुझे और तुमको भी कुछ नहीं होगा। प्रभु के मन की उन आकांक्षाओं को तुम लोगों से कहे बिना मैं तुम लोगों से जुदा नहीं हो जाऊँगी। प्रभु जब हम से जुदा हुए थे तब मैंने वचन दिया था। उसका पालन करूँगी। हाँ, अब चलो, आराम करो।"

"ठीक है, माँ।" बिट्टिदेव धीरे से कदम रखते हुए आगे बढ़े। अकेली चट्टल-देवी वहाँ रह गयी। शेष सब लोग वहाँ से बिट्टिदेव के साथ चले गये।

"उसके उस आत्मबल को तो देखो अम्माजी, दूसरों का सहारा लेने पर कहीं मैं घबड़ा न जाऊँ और मेरा दिल फट न जाय—इसी से उसने अपने से न हो सकनेवाला काम किया है।" एचलदेवी ने कहा।

"वे तो किसी की बात मानते ही नहीं। वास्तव में यादवपुरी से इस यात्रा पर न जाने की ही राय सबने दी थी। लोगों के विरोध की सम्भावना करके ऐसा फैसला ही सुना दिया जिससे कोई कुछ न बोल सके। यहाँ से खबर पाते ही एक

ही प्रहर के अन्दर यात्रा पर चल पड़े। जैसा आपने कहा, अपूर्व मनोबल है उनका।" शान्तलदेवी बोलीं।

"पहले से भी वह ऐसा है। तुमसे पाणिग्रहण करने के बाद वह आत्मबल दुगुना हो गया है। यह उसका भाग्य है। मेरी कोख से जनमा—यह मेरा भाग्य! अम्माजी, मैं तत्काल तुम लोगों से जुदा न होने पर भी ऐसा मत सोचो कि बहुत दिन जिऊँगी। मैं अपने कर्तव्य को पूर्ण करके तृप्त होकर सुख-शान्ति के साथ यहाँ से बिदा होऊँगी। इसलिए किसी को मुझ पर विशेष ध्यान रखने की आवश्यकता नहीं। कोई-न-कोई नौकर-नौकरानी तो रहेंगे ही। इसलिए अब तुम भी जाओ और आराम करो। यात्रा से तुम भी बहुत थकी होगी। हेग्गड़तीजी जल्दी ही आ जाएँगी।" एचलदेवी ने कहा।

"मुझे भी उन्हें देखने का कुतूहल है। उनके आ जाने पर मैं विश्राम करने चली जाऊँगी। यों तो मुझे इतनी थकावट भी नहीं हुई।"

"तुम्हारी इच्छा।" एचलदेवी चुप हो गयीं।

दोनों थोड़ी देर चुप रहीं। फिर एचलदेवी ने कहा, "अम्माजी, बिट्टियण्णा की पूरी जिम्मेदारी अब तुम ही पर होगी।"

"और क्या है? वह छोटी उम्र का होने पर भी बड़ा बुद्धिमान है। सभी योग्य विद्याओं में अच्छी जानकारी उसने प्राप्त कर ली है।"

"तुमने दिलचस्पी ली, इसलिए यह सब सम्भव हुआ। वास्तव में तुम उसकी पूरी जिम्मेदारी कभी की ले चुकी हो। फिर भी उसकी माँ ने उसे मेरी गोद में डाल दिया था, इसलिए एक बात तुम्हें सूचित कर देना ज़रूरी है। उसे सबके सामने कहना उचित न होगा। उसके लिए एक योग्य कन्या की खोज करनी है।"

"आपकी दृष्टि में कोई योग्य कन्या हो तो उचित समय पर ब्याह किया जा सकता है।"

"सो तो ठीक है। एक सूचना मेरे मन में है। परन्तु वह योग्य होना भी चाहिए न? वह एक दण्डनाथ का बेटा होने पर भी राजकुमारों जैसा पला है। उसके लिए योग्य, सभी तरह से योग्य कन्या होनी चाहिए। मुझे कुछ मालूम नहीं। एक बार किसी प्रसंग में हमारे सन्धि-विग्रही नागदेव की लड़की को देखा था। वह उसी प्रसंग में...जब नागदेव का स्वर्गवास हो गया था। वह लड़की कैसी है, क्या है कुछ मालूम नहीं। मन्त्री पोचिमय्या की भी एक लड़की है। इनमें कौन योग्य बनेगी इसे देखकर योग्य समय में उनकी शादी करा देना तुम्हारा काम है।"

"दोनों अच्छी हैं। नागदेव की बेटी दोनों में से अधिक होशियार है। मगर शादी के लिए अभी तो जल्दी नहीं है।"

"जल्दी की बात नहीं। मेरे मन में जो बात थी उसे तुमसे और अप्पाजी से

कह देना चाहिए, इसलिए कहा।"

"उक्त सूचना के अनुसार उपयुक्त समय में कर सकते हैं, यही मेरी भावना है। सन्निधान के कहने पर बिट्टियण्णा मान जाएगा ऐसा मेरा विश्वास है।"

"ठीक है। अव यह दायित्व तुम लोगों पर है। एक और बात है। उसका मुझसे सीधा कोई सम्बन्ध नहीं। यह केवल राजनैतिक भी हो सकती है। फिर भी स्त्री होकर मैं सोचे-विचारे विना नहीं रह सकती।" इतना कहकर एचल-देवी रुक गयीं।

"राजनैतिक हो तो क्या हुआ ? आपको सोचने का हक है न ?"

"जव अधिकार था तव भी मैंने उसका उपयोग नहीं किया। अव क्यों, अम्माजी ? तुमने सोचा है या नहीं—मैं नहीं कह सकती। मैंने जो सोचा है उसे तो तुमसे कहना ही चाहिए। तुम ही को क्यों, बच्चों को भी मालूम नहीं। हो सकता है—हेग्गड़ेजी जानते हों। प्रभु को मेरे साथ विवाह करने के वाद, महा-देवी नामक एक चोल राजकुमारी से भी विवाह करना पड़ा था। वहुत दिन तक उसके साथ परिवार वस न सका।"

"ऐसे प्रसग में आपको वहुत मानसिक दुःख का अनुभव हुआ होगा ?"

"तुरन्त वाद कुछ ऐसा मानसिक दुःख का अनुभव तो हुआ। मन में आया कि प्रभु ने मुझसे एक वार पूछ लिया होता तो अच्छा होता। परन्तु धीरे-धीरे मैंने उस भावना से समझौता कर लिया; क्योंकि मेरे साथ जो व्यवहार पहले से रहा, उसमें कोई परिवर्तन नहीं हुआ। उनका प्रेम और विश्वास जो मुझ पर रहा। वह ज्यों-के-त्यों रहे। महादेवी ने पहली वार गर्भधारण किया। उस गर्भ-स्राव के कारण उसी में उसका देहान्त हो गया। फिर प्रभु ने दूसरे विवाह की वात सोची ही नहीं। चालुक्य राजा ने भी, सुना कि कुछ सुझाया था। प्रभु ने नहीं माना। मेरा सौभाग्य था।"

"तो, महादेवीजी आपसे उचित रीति से वरतती तो रहीं न ?"

"तुम मेरे स्वभाव से अच्छी तरह परिचित हो, अम्माजी। वह प्रसिद्ध चोल राजवंश की थी। मेरा मायका इतना प्रसिद्ध नहीं था। उसे अपने मायके का गर्व था। मैं इन वातों से उदासीन ही रही।"

"परन्तु ये पुरुष ऐसा क्यों करते हैं ? आत्मसाक्षी से हाथ में हाथ डालकर धर्म-वन्धन से वँधकर पाणिग्रहण कर लेने के वाद भी, दूसरे विवाहों के लिए क्यों हाथ पसारते हैं ? यह तो गलत है न ?"

"मानवीयता की दृष्टि से वह गलत है, अम्माजी। परन्तु कुछ सहूलियतों को लेकर ऐसी परिपाटी चल पड़ी है। ऐसी कुछ अनहोनी वातों को भी साथ लेकर यह चली है। राजे-महाराजाओं का वहुपत्नीत्व ऐसी ही एक सहूलियत को लेकर प्रचलित परिपाटी है। इसके लिए पुरुष एक-न-एक समाधान तो दे लेते हैं। हम

स्त्रियों के लिए वह उचित नहीं लग सकता है।"

"ठीक न लगता हो तो विवाह कैसे हो सकता है? ज़बरदस्ती से तो विवाह नहीं हो सकता है न?"

"राजनैतिक सहूलियतों की दृष्टि से समाज ने इसे मान लिया है। क्या करें? चालुक्य राजा की कितनी पत्नियाँ हैं क्या तुम्हें मालूम नहीं? उनमें तुम्हारी प्यारी चन्दलदेवी का कौन-सा स्थान है? उन्होंने अपनी इच्छा से चालुक्य चक्रवर्ती विक्रमादित्य को माला पहनायी थी न?"

"इस बात को जानते हुए कि अपने प्रेम का एक काँटा पहले से मौजूद है, ये स्त्रियाँ दूसरी स्त्री के पति से विवाह करती ही क्यों हैं?"

"वह स्त्री के स्वभाव की दुर्बलता का प्रतीक है। उसे 'अपने व्यक्तित्व के विकास से भी अधिक अपने को अमुक की पत्नी कहलाने में विशेष आसक्ति और तृप्ति' कहा जा सकता है।"

"तो प्रभु को आपने वरण···"

"मैं उनकी धर्म-पत्नी हूँ और पहली हूँ। प्रेम से वरण किया। मुझमें अन्य किसी भी तरह का लोभ नहीं रहा। मेरी बात छोड़ो। बताओ, तुमने छोटे अप्पाजी से क्यों विवाह किया। तुम को मालूम था कि अप्पाजी सिंहासन पर बैठेगा। छोटे अप्पाजी का सिंहासन पर बैठना असंभव था, तो भी तुमने वरण किया। क्यों?"

"सब स्त्रियाँ मेरी-आपकी तरह नहीं होंगी, यही न?"

"इसके लिए उत्तर की आवश्यकता है? दण्डनायिकाजी की बच्चियों का हाल तुम्हें मालूम नहीं?"

"उनकी बात अब नहीं होनी चाहिए। आपने बहुत बातचीत की, अब आराम करें। कल फिर विचार करेंगे।"

"कल क्यों अम्माजी, मुझे कोई थकावट नहीं। तुम लोगों के न आने के कारण चिंतित थी और थकी भी थी यह सच है। दिल खोलकर बात करने के लिए मेरे साथ हेग्गड़तीजी को छोड़ और कौन है? अब तुम सब लोग आ गये। मुझे नया उत्साह मिला है। कहने के लिए बहुत कुछ है। थक जाऊँ तो मैं आप ही चुप हो जाऊँगी। मुझमें बात करते रहने की ऐसी कोई आदत नहीं यह तुम जानती ही हो। लेकिन अब मुझे रोको मत, मुझे जो कहना है उसे कह लेने दो।"

"आप कुछ भी कहिए, मैं मना नहीं करती। महारानी पद्मलदेवी से सम्बन्धित कोई भी बात न कहें। वह एक भुला दिया गया कड़ुवा प्रसंग है। ज्यादा ही दुःख होगा, इसलिए मेरी विनती को मानें।"

"मैं भी उनकी बात उठाना नहीं चाहती। मेरी यही आकांक्षा है कि ऐसी घटना राजमहल में फिर न होने पावे।"

"ऐसी घटना के लिए मौका ही नहीं है।"

"ऐसा मत कहो अम्माजी; यों समझकर तुम अपने को धोखा मत दो। मेरी इच्छा है कि आजीवन तुम्हें कभी किसी तरह का दुःख न हो। मैं जो पूछती हूँ उसका सीधा और साफ़-साफ़ उत्तर दो। कुछ भी छिपाना नहीं।"

"हाँ, वही करूँगी। आपसे छिपाने जैसी कोई बात मेरे मन में नहीं है।"

"बम्मलदेवी के बारे में तुम्हारी क्या राय है, स्पष्ट रूप से कहो।"

"विश्वासपात्र हैं; निष्ठावती हैं; राष्ट्र के लिए कुछ भी त्याग करने को तैयार हैं।"

"राष्ट्र के लिए या महाराज के लिए?"

शान्तला को लगा मानो यह उनकी इच्छा के विरुद्ध है। उन्होंने आश्चर्य से चकित हो एक बार "हाँ!" कहा। बाद में उन्हें उनका यह काम अच्छा न लगा। यत्न कर हंसने की चेष्टा करती हुई बोलीं, "महाराज राष्ट्र के प्रतीक ही तो हैं।"

"इससे कोई इनकार नहीं करता। परन्तु बम्मलदेवी राजघराने की है। वह स्थानच्युत होकर आश्रय पाने आयी हैं। यह इच्छा स्वाभाविक है कि वे फिर से अपने खोये हुए स्थान को प्राप्त करें; इसलिए उनकी उस निष्ठा में, तुम समझती हो कि स्वार्थ निहित नहीं है?"

"मैंने इस दृष्टि से सोचा ही नहीं।"

"मैं विश्वास नहीं कर सकती। अम्माजी, हम आँखें मूंदे रहें तो दुनिया आँख मूंदकर नहीं बैठी रहती। मेरे मन में अचानक बहुत पहले ही एक विचार आया था। वह क्यों और किस कारण था अब याद नहीं। इसीलिए युद्ध में जाने का निर्णय करने से पूर्व मैं तुमसे बात करना चाहती थी। निर्णय हो चुका था। युद्ध के समय आगे कदम बढ़ानेवाले को कभी रोकना नहीं चाहिए—यह बात प्रभु ने मुझे समझायी थी, इसलिए मैं चुप रह गयी।"

"तो आपकी इच्छा यही रही कि मैं युद्ध में न जाऊँ!"

"प्रकारान्तर से यही होना चाहिए था।"

"मतलब?"

"बम्मलदेवी का युद्ध में जाना रुकना चाहिए था।"

"उनके जाने से मेरा सौमांगल्य बच रहा।"

"सचमुच तुम इतनी अंधी हो, अम्माजी? खुद मांगल्य सूत्र बँधवाने के इरादे से उन्होंने तुम्हारे सौमांगल्य को बचाया।"

"न, न, मैं युद्धभूमि में साथ ही रही न? ऐसी आकांक्षा होती तो मुझे खत्म करके ही अपना रास्ता सुगम बना सकती थीं न?"

"कुछ भी हो, मेरे मन में जो बात रही, उसे मैंने तुमसे कह दिया है। किसी पर विश्वास नहीं कर सकते। राजलदेवी की बातों से मेरे मन की शंका और

बढ़ गयी। मेरा जमाना तो समाप्त है। जो भी हो, मुझ पर उसका कोई असर नहीं होगा। परन्तु तुम्हारा जीवन कंटकाकीर्ण बने—ऐसा काम नहीं होना चाहिए। इससे मेरा मन बहुत दुःखी हुआ है।"

"मेरे मन में एक बात निश्चित है। सन्निधान का मुझ पर गहरा प्रेम है। इस कारण से मैं दूसरे के विचारों पर प्रायः सोचती ही नहीं।"

"तो क्या मैं समझूँ कि तुम्हें भी संकेत मिले हैं ?"

"अकेली बम्मलदेवी ही का क्यों, राजलदेवी का भी ऐसा ही विचार होगा। और भी सैकड़ों स्त्रियों को ऐसा लगा होगा कि सन्निधान का पाणिग्रहण करें तो वे भाग्यशाली होंगी। इतने मात्र से हम क्यों विचलित हों ?"

"तुम्हारा विश्वास अमूल्य है, अम्माजी। मैंने खुद ही कहा न कि प्रभु राजनैतिक कारणों से दूसरा विवाह करने पर भी मुझ पर पहले जैसा ही प्रेम रखते थे, उसमें कुछ भी कमी नहीं रही। यह मेरा खुद का अनुभव है। फिर भी मैं कह नहीं सकती कि चाहकर विवाह करनेवाली महादेवी को कितनी तृप्ति मिली। ऐसी स्थिति पीछे चलकर शायद कुछ गड़बड़ी का कारण भी बन सकती थी। शीघ्र ही स्वर्गवासी हो गयी इसलिए ऐसी गड़बड़ी का सामना नहीं करना पड़ा—यहाँ तक तो मैं सचमुच भाग्यवती हूँ।"

"आपका आशीर्वाद पाकर मैं भी भाग्यशालिनी हूँ। मैं आपको एक बात का आश्वासन देती हूँ कि सन्निधान पर मेरा अचल विश्वास है। प्रभु के समय और अब में बहुत अन्तर है। राष्ट्र को बचाना हो और उसे प्रगति-पथ पर ले जाना हो तो राजनतिक परिस्थितियों के सामने झुकना ही पड़ेगा। हमारे चारों ओर चालुक्य, चोल, कदम्ब, आलुप, चेंगाल्व, कोंगाल्व, सन्तर आदि शत्रु घेरा बैठे डाले हैं। ऐसी हालत में किसी भी तरह की संदिग्धता के वश में आकर सन्निधान को अगर दूसरी शादी करने की परिस्थिति में पड़ना भी पड़े तब भी मैं विचलित नहीं होऊँगी। उन पर मेरा जो प्रेम है वह तिल-भर भी कम न होगा। मैं अपना दिमाग खराब कर लूँ और चिढ़ने लग जाऊँ तब न वह पुरानी हालत उत्पन्न हो सकती है ? मैं ऐसा होने न दूँगी। अपने-अपने स्वार्थ की दृष्टि से माला पहनाने वाली कभी-कभी अपनी जिम्मेदारी से च्युत होकर व्यवहार कर सकती हैं, यह सम्भव है। परन्तु मुझसे तो ऐसा कभी सम्भव न होगा। जब तक इस शरीर में प्राण हैं तब तक मैं उसी तरह उनके साथ रहूँगी जैसे पहले से अब तक रहती आयी हूँ। मैं समझती हूँ कि इस विषय में मैं विश्वासभाजन हूँ।"

"फिर भी ऐसी हालत को पैदा होने न देना ही बुद्धिमानी है।"

"बम्मलदेवी को हमने खुद तो इधर आकर्षित नहीं किया। वे स्वयं भगवान् की प्रेरणा से यहाँ आयी हैं। मेरे सौमांगल्य को सुरक्षित रखने के लिए भगवान् ने उन्हें यहाँ आश्रय प्राप्त करने की प्रेरणा दी है यही मेरा विश्वास है। यही मुझे

लगता है। सन्निधान के प्रति उनके मन में प्रेम है यह मुझे अनुभव हुआ है। सन्निधान के मन में क्या विचार है सो मैं नहीं जानती। फिर भी मैं इन बातों पर विचार करके अपने मन को कलुषित करना नहीं चाहती, इसलिए मैं चुप हूँ। मेरी यही इच्छा है कि मेरे किसी तरह के व्यवहार से सन्निधान और राष्ट्र का अहित न हो। मैं क्या चीज़ हूँ ? एक साधारण हेग्गड़े की बेटी। पहले से मुझे सँवार-सुधारकर, जिसे मैंने स्वप्न में भी नहीं सोचा था ऐसे एक उन्नत-स्थान पर बिठाकर, आशीर्वाद दिया। आपके इस विशाल मन की उदारता का कुछ अंश कम-से-कम मुझ में बना रहे तो मेरा जीवन सार्थक और सफल हो जाये, यही मेरी इच्छा है। अब तक के मेरे इस दाम्पत्य जीवन का प्रत्येक क्षण एक से बढ़कर एक अच्छा रहा है। फलस्वरूप मैंने राजवंश के संवर्धन में भी सफलता पायी, अपनी सन्तान के द्वारा। एक स्त्री अपने सम्पूर्ण जीवनकाल में जो सुख, सम्पत्ति, सन्तान, कीर्ति, स्थानमान पाना चाहती है—वह सब कुछ आप के आशीर्वाद से मुझे प्राप्त हो गया है। सो भी आप और अपने माता-पिता के सामने जब इतना सब पा चुकी हूँ तो मैं इस सब से बढ़कर और क्या चाहूँगी। मुझमें और कोई आशा-आकांक्षा नहीं बच रही। मैं संन्यास लेकर अपने जीवन को पूर्ण करने के लिए भी तैयार हूँ। इसलिए मेरे बारे में आप चिंतित न हों। मुझ पर विश्वास रखकर अब आप पूरी तरह निश्चिन्त रहें, यही अब मुझे आपसे चाहिए।"

"ठीक है, जाने दो अम्माजी। रेविमय्या ने तुमको मुझसे भी बढ़कर अच्छी तरह समझा है। परन्तु मैं उसकी बातों का विशेष मूल्य नहीं आंक सकी थी। अब मैं निश्चिन्त हूँ। यह निश्चित हो गया कि राष्ट्रहित मात्र तुम्हारा लक्ष्य है। किसी की भी सलाह की आवश्यकता नहीं। चेताने की भी आवश्यकता नहीं। तुमने सही कदम उठाया है। तुम्हारा रास्ता ही सर्वश्रेष्ठ है। अब वास्तव में मैं निश्चिन्त हूँ। जिस आकांक्षा से मैंने तुम्हें अपनी बहू बनाया था उससे भी बढ़कर सफलता तुमसे प्राप्त होगी। वास्तव में मेरा बेटा भाग्यवान् है। पट्टमहादेवी के रूप में तुम्हें पाकर यह पोय्सल राष्ट्र भाग्यशाली है।" एचलदेवी यह सब कह चुप हो रहीं। तभी रेविमय्या ने परदा हटाकर अन्दर प्रवेश किया।

"क्या है, रेविमय्या ?" शान्तलदेवी ने पूछा।

"हेग्गड़तीजी अगर आयीं हों······"कह ही रहा था कि एचलदेवी ने कहा, "जाओ अम्माजी, शायद तुम्हारी आवश्यकता है। अभी-अभी हेग्गड़तीजी आ ही जाएँगी। तुम जाओ।"

"इतनी जल्दी है रेविमय्या ?" शान्तलदेवी ने पूछा।

"दवा देने का समय हो आया···आप पधारें तो अच्छा।"

"ठीक है।" शान्तलदेवी उसके साथ चल दीं। परदा हटनेवाला ही था कि हेग्गड़तीजी वहाँ आ पहुँचीं।

"ओह माँ, अच्छी तो हैं ? पिताजी कैसे हैं ?"

"सब अच्छे हैं, अम्माजी। हम सब को महामातृश्री ही की चिन्ता है।"

"अब तो हम सब आ गये न ? सोमनाथ पण्डित अच्छी दवा भी दे चुके हैं। मैं आपकी ही प्रतीक्षा कर रही थी। सन्निधान को दवा देनी है। फिर आऊँगी।" कहकर शान्तलदेवी चली गयीं। रेविमय्या भी पीछे-पीछे चला गया।

हेग्गड़ती माचिकब्बे पलंग के पास आयीं और एक आसन पर बैठ गयीं। स्वास्थ्य के बारे में पूछताछ की। अपनी अनुपस्थिति के उस थोड़े-से समय में ही भारी परिवर्तन उनमें दीख पड़ा।

"अम्माजी के आने से मुझमें एक नया जीवन ही आ गया है। उसका संग ही संजीवनी है। दिमाग की बीमारी के लिए उसकी बातें बहुत अच्छी दवा है। सब बच्चे सो गये ?"

"हाँ, इन सबके आने की बात मालूम होती तो शायद जगे रहते। हमेशा की तरह भोजन करते ही छोटे शयनागार में चले गये। बड़े दोनों थोड़ी देर पढ़ते रहे, मेरे इस ओर निकलते-निकलते सो गये। वास्तव में राजमहल के द्वार तक पहुँचने तक मुझे मालूम ही नहीं था कि सन्निधान आये हैं।"

"हेग्गड़ेजी को भी मालूम नहीं ?"

"वे आज दोपहर से किसी काम से दोरसमुद्र गये हुए हैं, अभी लौटे नहीं। लौटने पर मालूम हो ही जाएगा। इस तरफ आएँगे ही। सन्निधान का स्वास्थ्य पूर्णरूप से सुधर गया होगा ?"

"यह विश्वास दिलाने के लिए आपके सन्निधान ने मेरे सामने प्रयत्न किया। अभी स्वास्थ्य सुधरने में बहुत कुछ बाकी है। बिगड़े हुए स्वास्थ्य में लगातार यात्रा करने के कारण बहुत थक भी गये हैं। घबड़ाने की जरूरत नहीं। अम्माजी के पूजा-फल से सब ठीक हो जाएगा।"

"सन्निधान के स्वास्थ्य के साथ महामातृश्री का भी स्वास्थ्य जल्दी सुधर जाय..."

"सुधर जाय नहीं हेग्गड़तीजी, सुधर गया है। सुनती नहीं काँसे की-सी आवाज ! मेरे मुँह से कान लगाकर बात सुननी पड़ती थी। आज रात आप और राजलदेवी दोनों को आराम है। उन्हें खबर दे दीजिए कि आज यहाँ आने की जरूरत नहीं। आज बहुत दिनों के बाद ये अपूर्व बहनें मिल रही हैं। साथ रह-कर रात बितावें।"

"जो आज्ञा।" कहकर माचिकब्बे बाहर जाकर खबर देकर आ गयीं।

उस दिन वास्तव में एचलदेवी आराम की नींद सोयीं। माचिकब्बे भी आराम से सोयीं।

दूसरे दिन से महाराज बिट्टिदेव का और इधर महामातृश्री का भी स्वास्थ्य

सुधरने लगा। सोमनाथ पण्डित की दवा की उत्तमता का साक्ष्य एचलदेवी के स्वास्थ्य ने दिया था।

सभी कार्यक्रम यथावत् चलने लगे। पखवारे में एक बार पुनीसमय्या की तरफ़ से युद्ध की ख़बर मिल जाया करती थी। नीलगिरि के तोड़वों और चेर लोगों को जीत कर वहाँ पोय्सलों के प्रभुत्व को स्थापित कर वे वहाँ से लौट गये थे। मंचिदण्डनाथ की अश्वसेना से इस विजय में बहुत मदद मिली थी।

पुनीसमय्या की इस जीत का समाचार मिलने के थोड़े ही दिनों बाद उदयादित्य की पत्नी ने पुत्ररत्न को जन्म दिया। महामातृश्री एचलदेवी उस नवजात का आलिंगन कर बहुत संतुष्ट और खुश हुईं। उदयादित्य आकृति में अपने पिता से मिलता-जुलता था। उसका बेटा भी अपने पिता से मिलता-जुलता था। एचलदेवी की षष्टि-पूर्ति का भी वही समय था। सबने सोच-विचार कर शिशु का उसके दादा के ही नाम से नामकरण करने का निश्चय किया। उदयादित्य के बेटे का एरेयंग नाम रखकर जातकर्म और नामकरण सस्कार संपन्न किये गये।

षष्टिपूर्ति शान्ति-समारोह के आयोजन की बात पर सब ने जोर दिया, किन्तु एचलदेवी ने यह कहकर कि प्रभु के अभाव में उन्हें कोई उत्सव नहीं चाहिए, मना कर दिया। "विजयोत्सव और नामकरण के उत्सव को धूमधाम से मानाइये, यही मेरे लिए शान्ति का उत्सव है, सन्तोष देनेवाला उत्सव है।" एचलदेवी ने साफ़ और सरल शब्दों में कह दिया।

लाचार होकर उतना ही करके सबको तृप्त हो जाना पड़ा।

मौक़ा पाकर शान्तलदेवी ने अपनी पहले की इच्छा प्रकट की—"अब यहाँ सब ठीक है। महामातृश्री का भी स्वास्थ्य सुधरा है। सन्निधान के भाई यहाँ महामातृश्री के साथ रहते हैं। हम बच्चों के साथ यादवपुरी जाकर कुछ समय तक वहाँ रहें। इसे कार्यान्वित करने के लिए आज्ञा प्रदान करने की कृपा करें।"

"वैसा ही हो, परन्तु इन राजकुमारियों के लिए क्या करेंगी? यहीं छोड़ देंगी?"

"सन्निधान यदि उन्हें यादवपुरी ले जाना चाहें तो वैसा किया जा सकता है।"

"हम उन्हें ले जाएँ? इसमें हमारा अपना क्या है?"

"सो मुझे कैसे मालूम हो? ऐसा कुछ हो तो सन्निधान ही बतावें।"

"हमने तो देवीजी से कोई बात छिपा नहीं रखी। युद्धभूमि से लौटने के बाद मंचिदण्डनाथ ने कहा था कि इन राजकुमारियों का विवाह कराकर मुक्त होना है।"

"सहज ही तो है। विवाह योग्य तो हो ही गयी हैं। अपनी हस्ती-हैसियत

खो बैठी थीं। सन्निधान के आश्रय देने और एक हिस्से का अधिकार देने के बाद उनमें आत्मविश्वास बढ़ा है।"

"एक भाग का अधिकार देने की प्रेरणा तो देवी ने ही दी ?"

"मैंने इनकार कब किया ? सन्निधान की इच्छा को समझकर काम करना ही तो देवी का काम है। छोड़िए इस बात को। सन्निधान ने दण्डनाथजी को क्या सलाह दी ?"

"हमारी सलाह से अधिक आवश्यक उनकी इच्छा क्या है—यह पहले जानना है।"

"हाँ, वह भी ठीक है। उनकी क्या इच्छा है ?"

"हम इस सम्बन्ध में कैसे पूछ सकते हैं ?"

"मैंने यह कब कहा कि सन्निधान से पूछें। मैंने सोचा कि मंचि दण्डनाथ ने कुछ बताया होगा।"

"उन्होंने स्पष्ट तो कुछ कहा नहीं।"

"बुलवाकर पूछ लेने पर मालूम हो जायेगा।"

"यह सब यादवपुरी जाने के बाद हो सकेगा न ?"

"ठीक है, वहीं करेंगे," शान्तलदेवी ने कहा।

कहा ही नहीं, उसी तरह यात्रा की भी व्यवस्था हो गयी। इसके बाद यात्रा के बारे में महामातृश्री एचलदेवी को भी बताया गया।

"तुम दम्पती और बच्चों का जाना ठीक है। राजकुमारियों को वहाँ क्यों ले जाँय, अम्माजी ? वे यहीं रहें तो न बनेगा ?" एचलदेवी बोलीं।

"मेरे लिए दोनों बराबर है। सन्निधान ने ऐसा सोचा है कि उन्हें भी साथ ले चलना उचित है इसलिए ऐसी व्यवस्था की है।"

"मुझे तो यह ठीक नहीं जँचता। तुमने भी तो इसे कैसे मान लिया ? क्यों नहीं कहा कि यह ठीक नहीं।"

"सन्निधान जिसे करना चाहें उसका विरोध मैं करूँ तो उसकी प्रतिक्रिया मेरे ऊपर ज़्यादा होगी।"

"तो क्या छोटे अप्पाजी का मन उन पर हुआ है ?"

"मैं इस तरह सोचती ही नहीं।"

"तुम क्या सोचती हो, इसे मैंने नहीं पूछा। उसका क्या विचार है—यही पूछा।"

"मैं इस विषय में कुछ भी नहीं पूछूँगी।"

"वह कदापि ठीक नहीं। तुम न पूछो तो मैं ही पूछ लूँगी।"

"न, न; कृपा करके ऐसा कुछ भी न पूछें। सन्निधान के विषय में मेरा पूर्ण विश्वास है। उसे छेड़ना भविष्य की दृष्टि से अच्छा न होगा—यह मेरी

राय है।"

"ठीक है, तुम्हारी मर्ज़ी।" कहकर एचलदेवी मौन हो गयीं। वह बात आगे नहीं बढ़ी।

शान्तलदेवी अपने काम पर चली गयीं।

ऐचलदेवी काफी वृद्ध थीं। उन्हें शान्तलदेवी की रीति और संयम पर अडिग विश्वास था। फिर भी उनका मन नहीं मानता था। हेग्गड़तीजी को बुलवाकर आत्मीयता से उनसे बातचीत की। माचिकब्बे के निर्मल मन में ऐसे विचारों का भान तक नहीं था।"

"तब तो उस लड़की ने सन्निधान पर कुछ जादू चला दिया होगा—यही लगता है।" माचिकब्बे ने कहा। अपनी बेटी के लिए सौत, इसे स्मरण करने के लिए भी वह तैयार नहीं थी।

"अब क्या करेंगी ?" एचलदेवी ने प्रश्न किया।

"मालिक से यह बात कहूँगी। अम्माजी क्या कहती हैं ?" माचिकब्बे ने सवाल किया।

"ऐसा होने पर भी वह उसके लिए तैयार है, यही लगता है। वह बहुत ऊँचे स्तर पर सोचती है।"

"मतलब ?"

"मन में ईर्ष्या-असूया को स्थान न देकर अपने पति तक का दान करने के स्तर तक पहुँची है। एक स्त्री के लिए इससे बढ़कर और क्या हो सकता है, हेग्गडती जी ? वह कभी विरोध नहीं करेगी। उसकी तरह का मानस सबका हो सकता है ? दान का परिग्रह करनेवाले कल उसी को दूर कर दें तो···यही मेरी चिन्ता है। आप हेग्गड़ेजी से बात कीजिए।"

"सन्निधान से आप स्वयं बात करें तो कैसा रहेगा ?"

"मैं तो तैयार हूँ। अम्माजी शायद यह नहीं चाहती, यही दिखता है। यह एक तरह की विचित्र समस्या है। इसमें अम्माजी की जीत होगी और छोटे अप्पाजी की हार—यही मुझे लगता है। उसे अपने पति पर जैसा अटल विश्वास है उतना ही गहरा प्रेम अपने पति का भी होना ही चाहिए—यह उसका दृढ़ विश्वास है।"

"वह सदा से ऐसी है। उसका आदर्श ही विचित्र है।"

"अब क्या करना चाहिए ?"

"मालिक से बात करूँगी।"

"वही कीजिए।" एचलदेवी ने सहमति प्रकट की।

हेग्गड़ती ने समय नहीं गँवाया। मौक़ा मिलते ही उन्होंने अपने मालिक के सामने अंतरंग की बात छेड़ दी। इस पर उन्होंने अपनी कोई प्रतिक्रिया व्यक्त

नहीं की। उन्होंने कहा, "मंचि दण्डनाथ की राय पहले जान लेना चाहूँगा। बात बहुत बारीक है। इसमें सही और ग़लत के बाद-विवाद के लिए गुंजायश नहीं। अगर यह विवाह ज़बरदस्ती से होनेवाला हो तो उसकी रीति ही अलग है। उसके लिए कारण भी अलग होता है। यहाँ परिस्थिति अलग है। और पेचीदा भी है। तुम्हारी बातें सुनने के बाद समस्या का स्थूल रूप यों है—महामातृश्री नहीं चाहतीं कि सन्निधान दूसरा विवाह करें। इस तरह के विवाह से अम्माजी दुखी हो सकती हैं। सौतों के मात्सर्य के कारण इस राजमहल में एक बृहत् घटना हो चुकी है। ऐसा फिर न हो—यह उनका मन्तव्य है। अम्माजी संयमी है। वह स्थिर विचार रखने वाली है। राष्ट्रहित की दृष्टि से विवाह अच्छा और योग्य माना जाय तो वह परिस्थितियों से समझौता कर लेगी। महाराज से विवाह करने के लिए कोई भी आगे बढ़ सकती है, इसमें कोई आश्चर्य नहीं। परन्तु सन्निधान का मन पल्लव राजकुमारी पर लगा है—यह फिलहाल सोच-समझकर विचार करने का विषय है। महाराज और पट्टमहादेवी के अपूर्व दाम्पत्य के समस्त विचारों से मंचि दण्डनाथ अच्छी तरह परिचित हैं। वे जानते हैं कि ऐसा दाम्पत्य विरले ही देखने को मिलेगा। उन्हें यह राज्य-आश्रय दिया यह उनके जीवन की एक महान् घटना है। इसके बदले वे कोई अड़चन पैदा करेंगे—ऐसा तो मैं नहीं समझता। इसलिए पहले उनसे बातचीत करेंगे तब फिर सोचेंगे, यही उत्तम है।" हेग्गड़े ने विस्तार से कह सुनाया।

"आपने कभी एक बार ऊँट की कहानी बतायी थी न! सर्दी से बचने के लिए सिर छिपाने की बात कहकर थोड़ी-सी जगह माँगने के बाद आखिर को अन्दर रहने वालों को भी भगा दिया। कहीं ऐसा ही न हो जाय—यही डर है!" माचिकब्बे ने कहा।

"अब सब कुछ सन्निधान पर अवलम्बित है।"

"तो सन्निधान पर अम्माजी का प्रेम···"

हेग्गड़ती की इस बात को रोककर हेग्गड़ेजी ने कहा, "यह प्रेम से सम्बन्धित विषय नहीं, यह दूसरे ही ढंग का है। उस चौखट के घेरे में विचार करना ठीक न होगा।"

"चाहे किसी ढंग का हो। इसका असर तो अम्माजी पर ही होगा न?"

"वह प्राज्ञ है। उसे भी मालूम है कि क्या सही और क्या गलत है। अपने ऊपर बुरा परिणाम पड़ सके ऐसी किसी भी बात के लिए वह मौक़ा नहीं देगी। मेरा मन यही कहता है।"

"दु:ख-दरद को सहकर संयम से वह रह सकती है। परन्तु वह वास्तविक जीवन होगा? जो भी हो, सन्निधान दूसरा विवाह न करें—यही अच्छा है। महामातृश्री को भी इससे सन्तोष होगा।"

"यों ही ऐसे विचार चल पड़े हों तब ?"

"कुछ न होता तो महामातृश्री क्यों कहतीं ? निश्चित रूप से कुछ बात तो अवश्य ही हुई होगी, इसलिए उन्होंने अम्माजी से बात छेड़ी है।"

"मंचि दण्डनाथजी से बातचीत करने के बाद बाकी बातें..." हेग्गड़े मारसिंगय्या ने इतना कह इस प्रसंग को वहीं छोड़ दिया और तत्सम्बन्धी कार्य में प्रवृत्त हो गये। सीधी स्वयं मंचि दण्डनाथ से बातचीत करना उचित न समझ कर अन्य किसी ढंग से ब्योरा जानने की सोचकर चट्टलदेवी को इस काम के लिए नियोजित किया।

चट्टलदेवी ने अपनी चतुराई से जिन विषयों की जानकारी प्राप्त की वह सब विस्तार से हेग्गड़ेजी को कह सुनायी—"बम्मलदेवी की सन्निधान से विवाह करने की आकांक्षा है, परन्तु उसे कार्य रूप में परिणत करने के लिए वे उतावली नहीं हैं। पट्टमहादेवी दुखी हों—ऐसा कोई व्यवहार करना वे नहीं चाहतीं। अपनी आकांक्षा यदि सफल न हो तो कन्या ही बनी रह कर जीवन यापन करने का उनका विचार है। मंचि दण्डनाथजी की सलाह के अनुसार यही उन्होंने निर्णय कर लिया है। सम्भवतः सन्निधान के मन में बम्मलदेवी के बारे में कृतज्ञता से युक्त प्रेम हो सकता है। परन्तु पट्टमहादेवी को दुःखी बनाने जैसा कोई काम करने की उनकी इच्छा नहीं। इसलिए इस संदिग्ध परिस्थिति का निवारण पट्टमहादेवी के ही हाथ में है। आकांक्षाएँ जहाँ की तहाँ मुरझा जाएँगी—इसकी भी सम्भावना है। सारी बातें अभी सुप्तावस्था में ही हैं। जागृत होकर आगे बढ़ने की सम्भावना अभी तक तो दृष्टिगोचर नहीं हुई। इसलिए सन्निधान और पट्टमहादेवी—दोनों से मिलकर एकान्त में विचार-विनिमय करें तो अच्छा।" चट्टलदेवी ने अपनी गुप्तचरी में जो पाया सो बता दिया।

यह सारी बात माचिकब्बे को मालूम हुई और उनके द्वारा महामातृश्री को मालूम हुई। इसके पश्चात् यह निर्णय हुआ कि सन्निधान से ही पूछ लेना उचित है। इस निर्णय के अनुसार महामातश्री ने अपने बेटे से खुलकर बातचीत भी की एकान्त में। माता ने जो कहा सो सब सुनकर बिट्टिदेव बोले, "माँ, आप जानती हैं कि मैंने यह कभी नहीं सोचा था कि सिंहासन पर बैठूँगा। अप्पाजी का बेटा नरसिंह जीवित होता तो वह महाराज बनता और मैं राजरक्षक बनकर अपना जीवन व्यतीत करता। तब इस बहुपत्नीत्व का सवाल ही नहीं पैदा होता। मैं अपने अंतरंग की बात बता देता हूँ, जिसे मैंने अपने जीवन में सबसे पहले चाहा और अपने हृदय पूर्वक जिसे चाहा वह शान्तलदेवी है। मेरे हृदय में उस देवी के लिए जो स्थान है उसे कोई भी हरण नहीं कर सकता। कभी मेरे मन में ऐसा कोई विचार उठा भी तो वह क्षणिक है और वह अभिलाषा आकर फिसल गयी। यह कहूँ कि ऐसा नहीं हुआ है कभी, या इस तरह का विचार मन में उठा नहीं है

तो वह आत्मवंचना होगी। हमारे राष्ट्र को अब अनेक शत्र-शक्तियों का सामना करना है, अपनेपन को बचाना भी है। राजनैतिक प्रज्ञा से युक्त अनुभवी प्रधान जी, मन्त्रिगण, दण्डनाथ—सबने सूचित किया है कि राजनैतिक सहूलियतों की दृष्टि से दूसरे विवाह आवश्यक हैं। यदि कभी ऐसे राजनैनितक दवाब के कारण झुकना भी पड़े तो वह केवल राजनीतिक समझौता ही होगा, वह सच्चे प्रेम का प्रतीक दाम्पत्य न होगा···"

बिट्टिदेव कह ही रहे थे कि एचलदेवी उसे रोककर बोलीं, "छोटे अप्पाजी! आज क्षणिक दिखनेवाली अभिलाषा कल जड़ जमा ले तो यह राजनैतिक समझौता एक वहाना मात्र हो जायेगा। यह असम्भव नहीं। अब इस प्रसंग में उस दिन की उस प्रतिज्ञा की याद दिलाती हूँ जिसे मैंने बलिपुर में सम्पन्न तुम्हारे जन्मदिन के अवसर पर शान्तला से करायी थी। उसका लक्ष्य तुम दोनों के पारस्परिक प्रेम के बीच कभी कोई विरस न आने पावे—यही था। अब तक इस लक्ष्य से युक्त उसका पालन होता आया है। अपनी आँखों से उस प्रतिज्ञा को विफल होते देखना मुझसे सहा न जाएगा। मेरे अंतरंग में जो दुःख होगा उसे मैं सह लूंगी। अम्माजी का दिल दुखे, मैं इसे सह ही नहीं सकती। अप्पाजी का जीवन क्या से क्या हो गया—इस बात को तो तुम जानते ही हो। इसलिए तुम दूसरा विवाह न करो—यही इच्छा है। वही भूषण है। राजा की अनेक पत्नियाँ हो सकती हैं। अनेक पत्नियों का होना एक भूषण है—इस बात को प्रोत्साहन देने वाले लोग हैं, ऐसा समाज भी है। तुम्हें इनके आगे झुकना नहीं चाहिए। यह मेरी विनती है।"

"माँ, आप हमसे विनती करें? हम जो भी करेंगे, उस पर देवी की सम्मति रहेगी ही। उसकी जानकारी के बिना, उसकी सम्मति के बिना हम कुछ भी नहीं करते।"

"छोटे अप्पाजी! तुम्हारी आकांक्षाओं को सफल बनाने के लिए वह अपनी आन्तरिक वेदना स्वयं चुपचाप पीती रहे और उसे बताये बिना ऊपर से हँसमुख हो सम्मति सूचित करे तो तुम को उसका अंतरंग कैसे मालूम पड़ेगा?"

"माँ! वह कभी कोई बात हमसे छिपाएगी नहीं। हमें यह भरोसा और विश्वास है। आज हम जो कुछ भी बने हैं इस सब के पीछे यही कारण है। हमारी नस-नस में देवी ही देवी व्याप्त है। हमसे उसे कभी किसी भी तरह का दुःख नहीं होगा—यह विश्वास दिलाएँगे।"

"इतनी उत्तम, विचारपूर्ण भावना के होते हुए भी मुझे लग रहा है कि तुम्हारी दृष्टि बम्मलदेवी पर है इसलिए सीधा सवाल करती हूँ—तुम राज-दम्पती और बच्चों को यादवपुरी जाना तो ठीक है, लेकिन उसे उधर क्यों जाना चाहिए?"

"पल्लव राजकुमारी सगर का ज्ञान रखती है। हमारे आश्रय में आयी है। विवाह करवाकर मुक्त करवाने तक सन्निधान के सान्निध्य का ही आश्रय मांगकर मंचि दण्डनाथ यहाँ ठहरे हैं। अभी उन्हीं राजकुमारी के धैर्य और साहस के कारण हमारे प्राण बचे। सन्निधान के सान्निध्य में रहने की उनकी इच्छा पूरी न करें तो उसका कुछ और ही माने हो सकता है। 'काम बन गया अब हमें कूड़े से भी नीच समझने लगे'—यही तो कहेंगे। ऐसा समझना राष्ट्र हित के लिए ठीक न होगा। वास्तव में मंचि दण्डनाथ का बल हमारे लिए बहुत बड़ा बल है। इसका भी निर्णय देवी से चर्चा करने के बाद ही किया गया है। माँ, हमारी बातों पर आपको विश्वास न हो तो आप भी हमारे साथ यादवपुरी चलिएगा!"

"मैं तुम पर पहरा देती रहूँ यह हो सकता है? अब मैं अन्यत्र कहीं नहीं जाऊँगी। मेरा शेष जीवन यहीं यगची के ही तीर पर समाप्त होगा। मैं जो कहना चाहती थी सो सब कह चुकी। आगे जो करना हो सो तुम्हारे हाथ है। मन की सारी बातें कह चुकने के बाद अब चिन्ता करते रहने की कोई बात ही नहीं रही। अब तुम्हारी मर्ज़ी है; हाथ पसार कर आह्वान देनेवाली स्त्री हो तो इनकार करना पुरुष के लिए विलष्ट कार्य है। मोह का यह खिंचाव है; प्रज्ञ जनों के अनुभव की बात है, इसलिए अपनी बुद्धि को अपने वश में रखने की जिम्मेदारी तुम्हारी है।"

"माँ! पल्लव राजकुमारी ऐसी नहीं। सानिध्य के ऐसे कई मौक़े थे। मगर राजकुमारी ने अवसर का दुरुपयोग कभी नहीं किया। उनसे ऐसा व्यवहार कभी देखने को नहीं मिला।"

"ऐसा है तो योग्य वर की खोज करके राजमहल की ही ओर से विवाह करवाकर जल्दी उस कन्या-बन्धन से उन्हें मुक्त करा दो। यह सब के लिए हित-कर है।"

"हाँ, माँ, वही करूँगा। यादवपुरी पहुँचते ही मंचि दण्डनाथ को बुलवाकर बातचीत करूँगा।"

"इस बारे में मुझे एक समाचार सुनने को मिला है। उसका विवरण मालूम नहीं। राजकुमारी जिसे वरना चाहती है उन्हें उसने मन में चुन लिया है। विवाह करना हो तो उन्हीं से करेगी, नहीं तो आजीवन कुमारी ही बनकर रहेगी—यही सुनने में आया है।"

बिट्टिदेव हँस पड़े।

"क्यों, इसमें हँसने की कौन-सी बात है?"

"राजकुमारी सुन्दर है। धैर्यशालिनी है, बुद्धिमती भी है। मर्यादित व्यवहार करने की शक्ति रखती है। अगर वह अभिलाषा करे तो इनकार कर सकनेवाला पुरुष कौन होगा? खैर, इस बात को रहने दें। यह बताएँ कि वह कौन है

परिवार के रवाना होने के दूसरे ही दिन मरियाने दण्डनायक की अस्वस्थता की ख़बर वेलापुरी में पहुँची तो अपने पिता के दर्शन करने दोनों निकल पड़े थे। यह दर्शन ही अन्तिम दर्शन हुआ। अन्त्येष्टि क्रियाओं के समाप्त होने पर बहनों को साथ आने के लिए भाइयों ने बुलवाया। वास्तव में चामलदेवी और बोप्पदेवी चलना चाहती थीं। सिर्फ़ पद्मलदेवी वही पुरानी पद्मला ही रही। इस बार चामलदेवी और बोप्पदेवी भाइयों के साथ रवाना हो गईं। पद्मलदेवी अकेली ही वहाँ रह गयी थी। उसके मन का परिवर्तन किसी से भी हो न सका।

मरियाने दण्डनायक की मृत्यु का समाचार मिलते ही राजमहल से स्वहस्ताक्षर युक्त एक पत्र पद्मलदेवी के पास भेजा गया। उसमें राजमहल ने मृत्यु पर शोक प्रकट किया था और मृत आत्मा की शान्ति चाहते हुए तीनों रानियों को राजधानी में अपने ही राजमहल आकर रहने का आग्रह किया गया था। साथ ही, यहाँ राजमहल में रहकर मार्गदर्शन देते रहने की विनती की गयी थी। पद्मलदेवी इस पत्र से भी कुछ अपार्थ की कल्पना करके ज़िद्द पकड़े बैठी रही। अकेली ही वहाँ रही आयी। अब उसे किसी की परवाह नहीं थी। पिता भी छोड़कर चल बसे। बहनें भी दूर चली गयीं। ऐसी दशा में अब वह अपनी इच्छा अनुसार, बिना किसी रोक-रुकावट के जीवन व्यतीत कर सकती है—ऐसा ही कुछ उसने सोच लिया था।

बड़े दण्डनायक जब जीवित रहे, तीनों रानियों के लिए सभी तरह की सुविधाएँ प्राप्त होती रहीं। वही क्रम अब भी ज्यों का त्यों चल रहा था। इतना ही नहीं, बल्लाल महाराज के विवाह के समय मरियाने दण्डनायक को पुरस्कार के रूप में जो भी दिया गया था, उस सब का उपभोग रानी पद्मलदेवी ही आजीवन करें—ऐसी व्यवस्था माचण, डाकरस, रानी चामलदेवी, रानी बोप्पदेवी सबकी सहमति से की गयी थी। इन सबकी प्रतिक्रिया जो भी रही हो, राजमहल की ओर से क्रम के अनुसार जो उन्हें भेजा जाता सो यथावत् भेजा जाता ही रहा। और सभी विशिष्ट कार्यों के अवसरों पर आदर के साथ उनके पास आमन्त्रण भी भेज दिया जाता रहा।

पहले एचलदेवी की तबीयत जब बहुत बिगड़ गई थी तब भी उनके पास खबर भेजी गयी थी। फिर उसी तरह का एक पत्र पद्मलदेवी के पास पहुँचा।

पत्रवाहक हरकारे ने कहा, "इस बार महामातृश्री का स्वास्थ्य बहुत चिन्ताजनक है। उन्होंने रानी को देखने की बलवती इच्छा प्रकट की है, इसलिए कहीं रुके बिना मैं पत्र लेकर सीधा चला आया।"

"मुझ अकेली के लिए यह आह्वान है?"

"मुझे यह सब मालूम नहीं। मुझको यहाँ भेजा है। महामातृश्री जिन-जिन को देखना चाहती हैं उन सभी को बुलवाती हैं।"

"रानी चामलदेवी और रानी बोप्पदेवी के पास भी बुलावा गया होगा ?"

"वे तो वास्तव में यादवपुरी में ही थीं।"

"तो उन्हें पहले ही खबर दी जा चुकी थी ?"

"नहीं। बड़े राजकुमार की वर्धन्ती के अवसर पर जो आयीं तब से वहीं ठहरी हैं।"

"मेरी भी आने की इच्छा थी। परन्तु मेरा स्वास्थ्य ही ठीक न रहा। यहाँ कौन है ? न आगे नाथ, न पीछे पगहा। मैं भी नाम भर के लिए रानी हूँ।" औचित्य की सीमा से परे होकर बोलने लगी पद्मला।

पत्रवाहक स्वयं मायण था। लगता है, पद्मलदेवी ने उसको एक साधारण पत्रवाहक हरकारा ही माना हो। मायण से कहा गया था कि किसी भी तरह से समझा-बुझाकर उन्हें ले ही आवें।

इसलिए उसने बताया, "वहाँ राजमहल में सबको रानी जी ही की चिन्ता लगी रहती है। 'अकेली रहती हैं। यहाँ आकर रहने के लिए विनती करने पर भी मान नहीं रही हैं। महाराज बल्लालदेव पर उनकी प्रेम-निष्ठा कौन नहीं जानता ? यहाँ आने पर वे पुरानी सब बातें याद आ जाएँगी, शायद इसलिए आ नहीं रही हैं। आ जाँय तो उन्हें भी तनहाई महसूस नहीं होगी।' यों जब-तब पट्टमहादेवी जी कहा करती हैं।"

"यह सब दिखावटी है। बेचारे तुम नौकर क्या जानो।"

"न, न, उनके विषय में ऐसी बातें कभी उचित न होंगी। मैं उन्हीं का नौकर हूँ, वे कभी मुझसे भी चिढ़कर बात नहीं करतीं। सबके प्रति वे गौरव की भावना रखती हैं। सबके साथ प्रेमपूर्ण व्यवहार करती हैं। सबसे सहानुभूति रखती हैं। सदा सर्वदा वे सबकी भलाई ही चाहती हैं, अन्यथा नहीं।"

"हो सकता है। हम तो ऐसा भाग्य लेकर जनमी नहीं। मेरा भाग्य छीन कर भगवान् ने उसके हाथ में रख दिया। उसे इस तरह का भेद-भाव क्यों ? मालूम नहीं।"

"इतनी बड़ी बात का समाधान अल्पमति हम क्या दे सकेंगे ? मेरी बात पर विश्वास करेंगी तो कहूँ। उन्हें या सन्निधान को इस पद की कोई इच्छा ही नहीं थी। एक बार भी नहीं। यह बात उन्होंने कई बार स्पष्ट कही है। उन्होंने यह भी स्पष्ट किया—आपके पुत्र नरसिंहदेव ईश्वर की कृपा से बचे रहते तो शासन चलाने के बदले सेवा करके हम तृप्त रह सकते थे। हमें वह भाग्य नहीं मिला। जब हमारे मन में इतना दुःख है तब समझ सकते हैं कि महारानी पद्मलदेवी को कितना भारी दुःख होगा। उधर बेटे को इधर पति को—दोनों को खोकर अकेली रहकर जीवन बिताना साधारण बात है ? किसी कुसमय में कुछ हो गया तो ! स्वयं को ही उसका कारण मानकर महारानी पद्मलदेवी दूर रह

रही हैं। इस दुनियाँ में सम्भव होनेवाली कई बातों के लिए हम अपने को कारण मान लेते हैं; मगर वास्तव में हम कारण नहीं होते। विधिरचित व्यूह में प्रासंगिक रूप से हम फँसे हुए है—इतना ही। इस तथ्य को न समझकर दुःखी होना मानव का स्वभाव है। महारानीजी की भी यही दशा है। सब मिल-जुलकर रहें तो एक-दूसरी तरह की मनः शान्ति पा सकेंगी—यही उनकी भावना है।" मायण ने कहा।

"हाँ, इन सब विचारों को तुमसे कहने का प्रयोजन क्या है ? इतनी आजादी है ?"

"उन्होंने मुझसे कुछ कहा नहीं। मैं क्या चीज हूँ। मेरे ऊपर उन्होंने अपरिमित वात्सल्य रखा है। दिल खोलकर बात करती हैं। वे जो कहती हैं वह हमारे लिए मार्गदर्शक है, इतना ही। इन सारी बातों को उन्होंने मेरी पत्नी से किसी प्रसंग में कहा है। उसी से मुझे थोड़ी-बहुत बातें मालूम हुईं।"

"तो मतलब हुआ कि तुम्हारी पत्नी पट्टमहादेवी की अन्तरंग दासी है।"

"उन्होंने हम पर जो वात्सल्य रखा है, आमरण उसे बनाये रखने की सुबुद्धि हमें ईश्वर दे—यही प्रार्थना है। हम उनके अपने हैं यह कहें तो गलत होगा।"

"तुम्हारी पत्नी कौन है ?"

"चट्टलदेवी।"

"तो तुम......"

"मायण।"

"तो तुम्हारा पारिवारिक जीवन ठीक चलने लगा है !"

"जब तक अक़्ल ठीक रहेगी तब तक अच्छा ही रहेगा।"

"सो तो है। मैंने तो वह सब पाया नहीं।"

"अभ्यास करने की सहनशक्ति हो तो पूर्वपुण्य का फल उसी सहनशीलता से प्राप्त हो जाता है। मैंने उस सहनशक्ति को खोया था, जीवन दुःखमय हो गया था। सहन करते हुए विवेक के साथ व्यवहार किया, जीवन सुखमय बन गया।"

"तुम ही भाग्यवान् हो। जिसने तुम्हारे जीवन को नरक सदृश बनाया उसी ने मेरे जीवन में आग लगा दी।"

"उसके षड्यन्त्र का पता लगाकर चट्टलदेवी ने ही महाराज बल्लालदेव को बचाया था न ?"

"फिर भी मेरे भाग्य में यही होना था।"

"यों चिन्ता में घुलती रहेंगी तो क्या साधा जा सकता है ?"

"जीवन ही जब बिखर गया है तो उसका लक्ष्य भला क्या होगा ?"

"महारानी पढ़ी-लिखी हैं, मैं क्या बताऊँ ? आपने जो विद्या सीखी है उसी का यदि दान करें तब भी एक लक्ष्य की साधना हुई। विद्यादान से एक विशेष तृप्ति मन को मिलेगी—पट्टमहादेवी जी ने ऐसा कई बार कहा।"

"वे क्या करती हैं ?"

"लड़कियों को पढ़ाने के लिए शाला खोल रखी है। संगीत, नृत्य, साहित्य—सब पढ़ाती हैं।"

"मुझे मालूम ही नहीं था।"

"दूर पर रहेंगी तो मालूम पड़े भी कैसे ? अब तो महारानी जी चल ही तो रही हैं। तब आप स्वयं अपनी आँखों देख सकती हैं।"

"मुझे जीना असह्य हो गया है। मेरे अन्तरंग में प्रवेश कर मेरे मन को समझनेवाला कोई नहीं है।"

"निकट सम्पर्क होने पर ही एक-दूसरे के अन्तरंग को समझ सकते हैं। दूर रहें तो वह कैसे सम्भव है ? दूर रहने पर मेरे मन में चट्टला के बारे में कुछ और ही विचार थे, अब के विचार ही कुछ और हैं। महारानी जी यों अकेली रहकर घुलते-घुलते परेशान होती रहने की अपेक्षा सब के साथ मिल-जुलकर रहें तो यह परेशानी दूर हो जाएगी।"

"मेरे पास में पिताजी रहे, बहनें रहीं। उन्होंने भी मुझे समझने की कोशिश नहीं की। ऐसी हालत में......"

"वे आपके साथ रहे, यही उनके प्रयत्न करने का प्रमाण है। उनका प्रयत्न यदि सफल न हुआ तो इसका यही माने है कि आपकी ओर से सहयोग नहीं मिला।"

"तुम तो एक अच्छे मनोवैज्ञानिक जैसे बात कर रहे हो !"

"मैं किसी शास्त्र का ज्ञाता नहीं। पट्टमहादेवीजी के सान्निध्य में रहकर जो कुछ अनुभव पाया, जो कुछ सत्य समझा उसे मैंने निवेदन किया है। बाकी विषयों में सोच-विचार कर निर्णय करने के लिए बहुत समय है। अब यात्रा को स्थगित नहीं करें।"

"तुम्हें आराम करने की ज़रूरत नहीं ?"

"यादवपुरी पहुँचने के बाद आराम मिले, वही काफ़ी है। महारानीजी स्वीकृति दें तो अभी घण्टा भर में सब व्यवस्था किये देता हूँ। रथ में घोड़े जुते हुए हैं। जल्दी पहुँचना है, इसलिए यह अनिवार्य है। रास्ते में जल्दी चल सकनेवाले घोड़ों को भी जहाँ-तहाँ तैयार रखने की व्यवस्था कर आया हूँ।" मायण ने निवेदन किया।

"मैं चलूँगी ही—इसका निर्णय रवाना होते समय ही कर लिया था क्या ?"

"पट्टमहादेवीजी की आज्ञा थी कि किसी भी तरह आपको ले आना ही चाहिए। महामातृश्री कभी भी अपनी आकांक्षाओं को प्रकट नहीं करतीं। अब की बार प्रकट किया है। उनकी इस अन्तिम इच्छा को आप पूरा करेंगी—यही मेरा मन कहता था।"

"क्या तब भी जब मैं इतनी बुरी हूँ ?" पद्मलदेवी बोली।

"ऐसा किसने कहा ? आपने कल्पना की होगी।"

"तुम बड़े विचित्र व्यक्ति हो!"

"तो आज ही यात्रा पर रवाना होने के लिए सहमत हैं, यही मान लूँ ?"

"ठीक है।"

यात्रा व्यवस्थित ढंग से हुई। जल्दी ही, अर्थात् तीन ही दिनों में वे यादवपुरी जा पहुँचे। नवमी के दिन निकलना या पहुँचना निषिद्ध होने के कारण मायण ने रास्ते में किक्केरी में मुकाम किया था। रास्ते में मायण से बहुत-सी ऐसी बातों की जानकारी प्राप्त की जिन्हें वह जानती नहीं थी। पोय्सल राज्य में प्रजाहित के कार्य किस तरह क्रमबद्ध रीति से विस्तृत होते जा रहे हैं, इस कार्य में राज-परिवार एवं उन्नत राजवंश के लोग और अधिकारी वर्ग क्या सब कर सकते हैं—इन बातों का स्वरूप परिचय भी उसे मिल गया। खुद दूर रही—इस वजह से यहाँ के कार्य-कलापों के बारे में अपनी खुद की जानकारी वास्तविकता से कितनी भिन्न थी यह भी उसे अच्छी तरह मालूम हो गया। वास्तव में मायण ने उसके सामने एक भव्य चित्र उपस्थित किया था। अनुभूतियों के विश्लेषण द्वारा प्रस्तुत व्यक्ति-चित्रों ने भी पद्मलदेवी के मन पर खूब प्रभाव डाला था। यात्रा के ये तीन दिन पद्मलदेवी के मस्तिष्क को निर्मल करने के लिए उत्तम निदान साबित हुए। मायण की इस चिकित्सा के फलस्वरूप उसका दृष्टिकोण ही बदल गया, कहा जा सकता है। उसे तो सारी बातें मालूम थीं। पद्मलदेवी की रीति-नीति से अपरिचित तो था नहीं। उसे भय था कि उसके आने से राजमहल में फिर से किसी तरह का असन्तोष न फैल जाये। अपने जीवन को पुनरुज्जीवित कर एक नई तादात्म्य-भावना उत्पन्न करके सुखमय बनानेवाली महानुभाव पट्टमहादेवी को किसी तरह का दुःख नहीं होना चाहिए, यह उसकी प्रबल आकांक्षा थी। स्त्री-स्वभाव को अच्छी तरह समझनेवाली चट्टला ने मायण को काफी सिखा-पढ़ाकर भेजा था। वह भी अच्छी तरह से अपना काम अदा कर कृतार्थ हुआ।

शान्तलदेवी की प्रेरणा इस सबके पीछे रही। क्या सब हो सकता है—इसकी कल्पना होने पर भी उन्होंने व्यक्त नहीं किया, परन्तु अपने लक्ष्य की साधना के लिए मौक़ा मिलने पर उसे उपयोग करने से चूकती न थीं। चाहे कारण कुछ भी हो, पद्मलदेवी का इस तरह अकेली दूर रहना व्यक्तिगत दृष्टि से ठीक होने पर भी राज-घराने की प्रतिष्ठा के ख्याल से, राष्ट्रहित की दृष्टि से शान्तलदेवी को ठीक नहीं लग रहा था। उन्होंने कई एक बार इस सम्बन्ध में अपने पतिदेव से बातचीत भी की थी। वह भी यह नहीं चाहते थे कि ये लोग दूर रहें। किसी भी तरह के कार्य-कलाप का प्रसंग होता तो आमन्त्रण का भी कोई मूल्य नहीं होता। यह बात सब जानते थे। बेटी को मानसिक शान्ति मिले—इस वजह से पिता मरियाने ने भी बेटी के स्वभाव के अनुसार अपने जीवन को ढाल

लिया था। आजीवन उसी तरह रहे थे। जो कुछ तकलीफ सहनी पड़ती थी बेचारी चामलदेवी और बोप्पदेवी को। पिता के देहावसान के बाद वे भी खिसक गयीं और भाइयों के आश्रय में रहने लगीं।

इस हालत में पिता की सब ज़र-जायदाद पद्मलदेवी के लिए ही छोड़ रखने पर तथा राजमहल की ओर से मासिक अनुदान बराबर मिलते रहने पर उसका अकेली रहना और यों एकान्त जीवन बिताना शान्तलदेवी को सही नहीं लगता था। महामातृश्री कुछ कहती न थीं तो भी उनकी भावना यही थी कि पद्मलदेवी का व्यवहार ही अपने बड़े बेटे की इस मृत्यु का कारण है। इस वजह से उन्हें पद्मलदेवी के विषय में असंतृप्ति की ही भावना रही। जब कभी आमन्त्रित करने का प्रसंग होता तो इतना ही कहतीं—"वह क्यों आएगी? तुम लोगों को तो एक व्यामोह है। देखना वह आएगी नहीं।" इन दोनों को एक करना दुःसाध्य कार्य है—इस बात को शान्तला जानती थीं। शान्तलदेवी की अभिलाषा मात्र यही थी कि सम्पूर्ण राजपरिवार एक होकर रहे। इस बार जब महामातृश्री सख्त बीमार हुईं तो और सब लोग उपस्थित रहें, वही पद्मलदेवी अकेली न हो यह ठीक नहीं—यह विचार कर महामातृश्री ने कहा था, "सिंदगेरे को भी समाचार भेज दें। ऐसा सोच लेना उचित नहीं कि सम्बन्ध टूट गया। इससे लोक क्या समझेगा! एक बार उसे भी देख लूँ।"

शान्तलदेवी को यह अच्छा मौक़ा मिल गया। चट्टला-मायण से विचार-विमर्श करके किसी तरह पद्मलदेवी को बुलवा ही लिया।

जब वह मायण के साथ राजमहल में आयी तो वहाँ एक मौन छाया हुआ था। मायण को डर लगा कि यह हो क्या गया। राजमहल के द्वार पर रथ के पहुँचते ही अन्तःपुरवालों को ख़बर मिल गयी।

शान्तलदेवी को चट्टला से उनके आने की ख़बर मिली तो वह महामातृश्री के पलंग से उठकर बाहर आ खड़ी हो गयीं। राजपरिवार के अन्य सभी जन मौन हो अन्दर अपने-अपने आसनों पर बैठे रहे। महामातृश्री के शयनकक्ष के द्वार पर शान्तला ने पद्मलदेवी के चरण छूकर प्रणाम किया और बोलीं—"दीदी आ गयीं न? मेरी आशा सफल हो गयी।"

पद्मलदेवी को यह ठीक न लगा। पट्टमहादेवी उसके पैर छुए? न, न। फिर भी उससे यह रोका न गया। उसने धीरे से पूछा, "महामातृश्री कुशल हैं?"

"प्रज्ञा है। बोल नहीं सकतीं।" फिर चट्टला से कहा, "महारानीजी को अन्दर ले जाओ। उनके हाथ-पैर धुलाओ। रास्ते की धूल चढ़ गई है। धोकर आ जाएँ। ठीक है न?" शान्तलदेवी बोलीं।

पद्मलदेवी चट्टला के साथ चली गयी और हाथ-पैर धोकर जल्दी ही लौट आयी। तब तक शान्तलदेवी द्वार पर ही खड़ी रहीं।

नींद भी आ गयी। साँस ज़ोर-ज़ोर से लेने लगी थीं।

पण्डितजी ने कहा, "अब वे कम से कम एक प्रहर सोएँगी। जगने पर गुन-गुनी काँजी थोड़ी-थोड़ी पिलाइये। फिर दोपहर बाद मैं स्वयं आकर हालत देख-कर दवा दे दूँगा," कहते हुए नब्ज़ देखी।

"सूर्योदय के समय जो घबड़ाहट रही, वह अब नहीं। सब लोग अपने-अपने काम पर जाइये। मगर यहाँ किसी-न-किसी को रहना होगा। मैं अपने पूजा-पाठ के बाद भोजन कर आ जाऊँगा। इस बीच भी यदि ज़रूरत पड़े तो कहला भेजें, तुरन्त आ जाऊँगा।" कहकर पण्डितजी अपनी पेटी लेकर चलने लगे।

"ये महारानी पद्मलदेवी हैं, महामातृश्री की बड़ी बहू। आपको नहीं देखा था, पण्डितजी! और आपने भी नहीं देखा था। हमारे जगदल सोमनाथ पण्डितजी बहुत ही अच्छे वैद्य हैं। बहुत शान्त और सहनशील हैं, बच्चों जैसे साफ़ दिल वाले।"—यों शान्तलदेवी पद्मलदेवी को पण्डितजी का परिचय दे ही रही थीं कि तभी पण्डितजी बोले, "माँ अपने बच्चों के बारे में और क्या बताएगी? महारानीजी आ गयीं, अच्छा हुआ। महामातृश्री की आकांक्षा पूरी हो गयी। आपको देखने के लिए बहुत छटपटा रही थीं।"

"देखकर आँखें तो तृप्त हुईं, पण्डितजी, उनका आशीर्वाद सुन सकूँ इतना कीजिएगा।" कहती हुई पद्मला पण्डितजी के पैरों में झुक गयी।

"हाय, हाय! न, न—ऐसा नहीं करना चाहिए। महारानीजी को ऐसा काम नहीं करना चाहिए।" कहते-कहते पण्डितजी पीछे हटे और बोले, "अपनी बुद्धि-क्षमता से जो कुछ किया जा सकता है वह करने का प्रयत्न मात्र हमारा है। फल ईश्वरेच्छा पर निर्भर है। उन्हें भी अपने अन्तरंग के विचार कहने का कुतूहल है। परन्तु वह नहीं हो पा रहा है। अब जो दवा दी है उससे बोल सकने की शक्ति आ जाएगी ऐसी आशा है। जाग्रत होने पर विशेष प्रयत्न न करके भी अपने आप कण्ठनाल का स्पंदन प्रवृद्ध हो ऐसा प्रयास किया गया है। अच्छा, आप अभी यात्रा के ही वस्त्रों में हैं! एक प्रहर तक वे जागेंगी नहीं, इसलिए अपना-अपना काम कर लेने के लिए समय काफी है। अब आज्ञा हो तो..." पण्डितजी ने कहा।

"अच्छा पण्डितजी! पालकी में आये न?" शान्तलदेवी ने पूछा।

"कितनी दूर है! पालकी की आवश्यकता? मना करने पर भी राजमहल के सेवक मानते नहीं। चबूतरे से उतरते ही पालकी तैयार। हमें भी तो खाना हजम होना चाहिए न? कुछ चलेंगे तो सारे शरीर के लिए व्यायाम भी हो जाएगा। फुर्ती बनी रहती है।"

"पालकी से जल्दी पहुँच सकते हैं इसलिए यह व्यवस्था है। इसके अलावा ठीक समय पर आपको यहाँ रहना भी होगा न? वह द्वार पर रहे तो भूलने का

मौक़ा नहीं रहेगा। अच्छा पण्डितजी, आप हो आइये।" शान्तलदेवी ने कहा।

पण्डितजी चले गये। इसके बाद कुशलप्रश्न हुए। भाई के साथ दोनों के राजधानी में पहुँचने के बाद पद्मलदेवी कितनी कमज़ोर हो गई है—इसे चामलदेवी और बोप्पदेवी ने अनुभव किया। फिर भी उन्होंने इस बारे में कुछ कहा नहीं। वास्तव में इस संदर्भ में कुछ बात करना ठीक भी नहीं लगता था। अगर कुछ पूछ लें कि "क्यों कमज़ोर हुई हो" तो उत्तर में कुछ अंट-संट कह दे—इस बात का डर रहा।

यहाँ आने के बाद उन दोनों का स्वास्थ्य कुछ सुधर गया था—यह पद्मलदेवी को भी लगा। मगर वह चुप रह न सकी, बोली, "लगता है, यहाँ की आबोहवा तुम लोगों को अच्छी लगी है।"

"पैदा हुए, बढ़े भी यहीं न? अच्छी लगेगी क्यों नहीं?" चामलदेवी ने संक्षेप में उत्तर दिया।

महामातृश्री की देखरेख के काम पर चामलदेवी और शान्तलदेवी रहीं। शेष सभी जन अपने-अपने काम पर चले गये। बोप्पदेवी ने पद्मलदेवी का साथ दिया।

दोपहर पण्डितजी ठीक समय पर उपस्थित हो गये। परन्तु अभी तक एचलदेवी जगी नहीं थीं। बिना करवट बदले एक प्रहर से भी ज्यादा सोती रहीं, बाद में जागीं। पण्डितजी सामने बैठे ही थे। उनके आने पर चामलदेवी और शान्तलदेवी बाहर आ गयी थीं।

"अच्छी नींद लगी।" एचलदेवी ने कहा। आवाज़ धीमी थी।

"गले को कष्ट मत दीजिए। दवा ने काम किया है। अब थोड़ी-सी कांजी पी लीजिये। थोड़ी देर बाद दूसरी दवा दूँगा। अब की नींद की दवा नहीं मिलाऊँगा। तब वचन देना होगा कि बातचीत नहीं करेंगी।"

"जाने वाला जीव है, जो कहना है उसे कह देना चाहिए पण्डितजी। क्यों कहते हैं कि बातचीत न करें।"

"जब बिना थके बोल सकने की शक्ति आ रही है तब बोलकर क्यों थकना चाहिए, इसलिए विनती की।" पण्डितजी ने आग्रह किया।

"क्या आपका यह विश्वास है कि मैं फिर जी जाऊँगी?'

"यह कहने वाला मैं कौन हूँ? वह सब ईश्वरेच्छा है। आखरी समय तक हमें हृदयपूर्वक प्रयत्न करना चाहिए। सन्निधान का सहयोग मिले तो मैं कृतकृत्य होऊँगा।"

"अरे पागल! मैं क्या छोटी बच्ची हूँ? मुझमें अब कौन-सी आशा-आकांक्षा रह गयी है जो मुझे जीवित रहना है? खंडित परिवार को अखंड बना देख लिया, आत्मा तृप्त हो गयी। इस परिवार को कभी-न-कभी भरना तो है ही। जितनी

जल्दी हो मैं प्रभु से जा मिलूँगी।"

इतने में कांजी आ गयी। पद्मलदेवी साथ आयी थीं।

"मैं पिला दूँ ?" एचलदेवी से पद्मलदेवी ने पूछा।

"पिलाओ बेटी," एचलदेवी ने धीरे से कहा।

पद्मलदेवी के अंग-अंग में संतोष फैल गया। धीरे-धीरे थोड़ी-थोड़ी पिलाने लगी। एचलदेवी ने पहली बार से कुछ ज्यादा ही कांजी पी। फिर थोड़ा-सा पानी माँगा। पद्मलदेवी ने सुखोष्ण पानी पिलाया।

एचलदेवी के भाल पर और नाक पर पसीने की बूंदें लग रही थीं। पण्डितजी ने देखा और एक दूसरी दवा दी।

उसे चाटते हुए एचलदेवी ने कहा, "नींद की दवा तो नहीं दी है न ? बहुत दिनों के बाद बड़ी बहू आयी है; उससे बहुत बातें करनी हैं।"

"आप को अभी बहुत आराम चाहिए। पसीना निकल रहा है। बहुत थका देगा। नींद में थकावट का अनुभव नहीं होगा !" पण्डितजी ने कहा।

"आनन्द के समय में थकावट क्यों होगी, पण्डितजी ? आप बीमारी की चिकित्सा जानते हैं। मन को क्या चाहिए सो कैसे मालूम होगा ?"

"मैंने अपने बुजुर्गों से केवल शरीर-निदान विद्या ही सीखी। रोग रोगी की मनोवृत्ति के अनुसार बदल भी सकता है—बुजुर्गों ने बताया है। उस हद तक मन की गतिविधियों के भी बारे में समझने का प्रयत्न करता हूँ। वशीकरण विद्या भी हमारे निदान का एक अंग है। कुछेक उसी को प्रधान वृत्ति बना लेते हैं और दूसरों के मानसिक व्यापारों को जान ही नहीं लेते बल्कि साधना के बल पर अपनी इच्छा के अनुसार उन्हें नचाने की शक्ति भी प्राप्त कर लेते हैं। हमारे बुजुर्गों ने इस विद्या के उपयोग का बहिष्कार ही कर दिया, इसलिए मैं ने केवल शारीरिक निदान को ही वृत्ति बनाकर उसका अवलम्बन किया है।"

"बहुत अच्छा किया। वशीकरण विद्या ने कई परिवारों को उजाड़ दिया है।"—पद्मलदेवी ने तपाक से कहा और अपनी सास जी की ओर देखने लगी कि इसकी प्रतिक्रिया उनकी ओर से क्या होती है। उन्हें नींद आ गयी थी और करवट भी बदल ली थी।

"ओह ! नींद आ गयी है।" पद्मलदेवी का उद्गार था।

"लगता है महामातृश्री आपसे बहुत-सी बातें करना चाहती हैं। फिर भी अधिक बोलने का मौक़ा न देना ही उत्तम है। उनकी शारीरिक शक्ति बढ़ जाय इसलिए मैंने विश्राम अधिक मिलने का प्रयोग किया है। उन्हें अधिक काल तक बचा सकूँगा यह साहस तो मुझमें नहीं है, परन्तु वे जो कुछ कहना चाहती हैं उसे कहकर अपने मन की अभिलाषा पूरी कर लें—उनमें इतनी शक्ति ला देने से मेरी आकांक्षा सफल हो गयी। यहाँ तक मैं कृतकृत्य अपने को मानता हूँ। पूछताछ

करनेवाले सभी जनों से मेरा आग्रह है कि उन्हें ज्यादा कष्ट देकर थकावें नहीं।"

"आप चारुकीर्ति पण्डितजी से परिचित थे?"

"सुना है, देखा नहीं। मैं यादवपुरी का हूँ। मुझे राजधानी तक पहुँचने का मौक़ा ही नहीं मिला था। सन्निधान के यहाँ आकर मुक़ाम करने के बाद ही मेरा रामजहल से परिचय हुआ। बल्लाल महाराज जब राज्य कर रहे थे तभी मेरा वर्तमान सन्निधान से परिचय हुआ था। यों तो पट्टमहादेवी और उनके वात्सल्य के कारण मुझे इस पद का एक अवसर मिला। पोय्सल राजवंश की सेवा करना ही एक सौभाग्य की बात है मेरे लिए। मेरा जन्म सफल हुआ। महामातृश्री के यहाँ पधारने के कारण सम्पूर्ण राजपरिवार को देखने का सौभाग्य मुझे मिला। महारानीजी का यहाँ पधारना सबके लिए आनन्द का विषय है। पट्टमहादेवीजी तो आपके बारे में बहुत प्रेम रखती हैं। अभी हाल में युद्ध के समय सन्निधान के जखमी हो जाने पर जब उनका स्वास्थ्य बहुत बिगड़ गया तो वैसे ही बातों-ही-बातों में मैंने कहा, 'पट्टमहादेवीजी पति पर जितना प्रेम रखती हैं उतना गहरा प्रेम कोई और स्त्री अपने पति पर नहीं रख सकती।' तब उन्होंने क्या कहा जानती हैं?"

"क्या कहा?"

"कहने लगीं, 'पण्डितजी, पत्नी का पति पर प्रेम रखना तो एक सहज विषय है। अपने सौमांगल्य के कारण अभी जीवित हैं समझकर सभी पति की पूजा करती हैं। परन्तु स्वर्गस्थ महाराज बल्लालजी की पट्टमहिषी, दीदी पद्मलदेवीजी के पति-प्रेम को आप नहीं जानते। मालूम होने पर आपको आश्चर्य होगा। पतिदेव को बहुत छोटी उम्र में उन्होंने खो दिया है। वे स्वर्गस्थ महाराज को छोटी उम्र से ही प्रेम करती आयी थीं। उनके लिए वे सब कुछ त्याग करने को तैयार थीं। उन्हें मैं जितना समझती हूँ उतना दूसरा कोई नहीं समझता। विधि का विधान ही अंधा है। विधि ने उन्हें बचाया नहीं। काश वे होते तो बात कुछ और ही होती! हम किसी भी विशेष जिम्मेदारी या विधि-विधान के बन्धन में न पड़कर सिंहासन की सेवा करते हुए सामान्य प्रजा की तरह रह सकते थे। हम इस पद पर हैं इसका हमें कोई हर्ष नहीं। केवल वंश-गौरव और राष्ट्र-गौरव की रक्षा के निमित्त एवं हम पर विश्वास रखनेवाली प्रजा को सुखी और निश्चिन्तता में रखने के ख्याल से, हम इस ज़िम्मेदारी का निर्वहण कर रहे हैं। परन्तु इस सब के लिए सच्ची अधिकारिणी हमारी महारानी हैं, जिनका अखण्ड प्रेम पहले राज करनेवाले महाराज पर रहा। इसी वजह से कि जब वे ही न रहे तब हमें इस पद-प्रतिष्ठा, गौरव, सुख की क्या ज़रूरत है, कुछ भी नहीं चाहिए— यही मानकर संन्यासिनी की तरह दूर रहने लगी हैं,' उन्होंने मुझसे पूछा—'आप ही बताइये यह साधारण स्त्रियों से सम्भव हो सकता है?' उनके कहे अनुसार आपके जैसे संयम की साधना आसान नहीं। आशा-आकांक्षाओं का त्याग भला कौन

कर सकता है? लगता है कि त्याग करना पोय्सल वंश का एक महान् गुण है। महामातृश्री भी त्यागशील हैं। आप भी ऐसी ही हैं। पट्टमहादेवीजी तो आशा-आकांक्षाओं से जैसे परे ही हैं। उनकी यही इच्छा है कि अपनी आँखों के सामने हँसते-खेलते सब खुश रहें। कुमार बल्लालदेव की वर्धन्ती के अवसर पर आप अवश्य आएँगी ही—इस आशा से आपकी प्रतीक्षा करती रहीं। आप नहीं आयीं। आपके न आने पर वे कितनी परेशान हुईं सो मैं ही जानता हूँ।"

"हाँ, तो, हेग्गड़े दम्पती कहाँ हैं?, कहीं दिखे ही नहीं।"

"हेग्गड़ेजी का स्वास्थ्य ठीक नहीं है। अब कुछ सुधर रहा है। उनके आने की प्रतीक्षा कर रहे हैं।"

"पट्टमहादेवी नहीं गयीं?"

"नहीं, महामातृश्री को छोड़कर कहीं नहीं जाऊँगी—उन्होंने स्पष्ट कह दिया। खुद सन्निधान ने ही हो आने के लिए कहा कि यहाँ इतने लोग मौजूद हैं, हो आओ तो अच्छा रहे। वे गयीं ही नहीं।"

"फिलहाल वहाँ की क्या ख़बर है?"

"रोज ख़बर मिलती रहती है। हेग्गड़ेजी का स्वास्थ्य दिन-ब-दिन सुधर रहा है।"

"हाय, हाय! पट्टमहादेवी की यह कैसी सन्दिग्ध स्थिति हो गयी! दुनियाँ भर की सभी बातें तो मायण ने कहीं। यह समाचार क्यों नहीं बताया?"

"हेग्गड़ेजी की बात आयी तो मैंने कहा। नहीं तो मैं भी नहीं कहता शायद। वे अच्छे होकर आ जाँय तो कितना अच्छा हो!"

"वहाँ, उनका उपचार कौन कर रहा है? देखभाल कौन कर रहे हैं?"

"मैं नहीं जानता। मैंने सुना है कि हेग्गड़ेजी कभी वैद्य जी के पास नहीं गये, न वैद्य को पास बुलाया ही। उनका स्वास्थ्य ही ऐसा है। मन में किसी तरह का मैल न रखकर निष्ठा के साथ मेहनत करनेवालों का स्वास्थ्य कभी नहीं बिगड़ता। कोई चिन्ता भुनगे की तरह मस्तिष्क में घुसी कि बस गड़बड़ी हुई। बीमारी के लिए वह एक अच्छा सहारा बन जाती है। शायद प्रधानजी के वैद्यजी उनकी देख-रेख करते होंगे।"

"ओह, वे गुणराशि पण्डितजी, मैं जानती हूँ। हमारे भी परिवार के वैद्यजी वे ही रहे हैं। वे हों तो कोई चिन्ता की बात ही नहीं। उनमें एक गुण और है। अगर उन्हें यह विश्वास हो जाय कि यह बीमारी हमसे सुधरेगी नहीं तो वे छिपाएँगे नहीं, स्पष्ट कह देते हैं कि हमसे अच्छे जानकार को बुलवा लें।"

"वह अच्छा गुण है। अपनी कम जानकारी के कारण बीमारी की चिकित्सा को रोकना नहीं चाहिए।"

चट्टला अन्दर आयी। पण्डितजी यह कहते हुए 'पट्टमहादेवी आ गयीं' उठ खड़े

हुए।

पट्टमहादेवी ही नहीं, सन्निधान भी साथ पधारे। पद्मलदेवी भी उठ खड़ी हुई।

"मैंने अब दूसरी बार दवा दी है। उन्हें आराम की आवश्यकता थी। ध्वनि-तन्तु सचेत होकर फिर से क्रियाशील हो गये हैं। अभी-अभी सचेत हुए हैं अतः अधिक काम देने पर फिर से थकावट आ जाएगी। मुझे लगा कि वे लगातार बोलती रहेंगी इसलिए यह आवश्यक हुआ। प्रकारान्तर से पट्टमहादेवी और सन्निधान को कुछ विश्राम करने के लिए इससे अवकाश भी मिल जाय, यही विचार था। एक प्रहर और वे आराम से सोएँगी।" पण्डितजी ने निवेदन किया।

"हमारी बात रहने दीजिये। थोड़ा-बहुत आराम मिल ही जाता है। दूर से यात्रा कर महारानीजी आयी हैं। हमसे अधिक आराम की इन्हें ज़रूरत है। अब उठिये, यहाँ कोई और आ जाएँगी।" शान्तलदेवी ने बताया।

"यह तो प्रसिद्ध है कि मैं ज़िद्दी-हठीली हूँ। महामातृश्री का स्वास्थ्य जब तक नहीं सुधरता, मैं उनकी सेवा में यहीं रहूँगी। इस जगह से हटूँगी नहीं यही मैंने निश्चय कर लिया है। उनके साथ कभी एक दिन भी योग्य रीति से मैंने व्यवहार नहीं किया है। उसके प्रायश्चित्त के रूप में अब मैं उनकी सेवा करूँगी। इसके लिए मुझे मौक़ा दें। आराम की जब मेरी इच्छा होगी, तब मैं आराम कर लूँगी। पण्डितजी ने धीरज बँधाया है। सन्निधान और आप पहले वेलापुरी जावें और हेग्गड़ेजी को देख आवें यही उचित है। आप लोग मुझ पर विश्वास रखें।" पद्मल-देवी ने कहा। उसके कहने में एक उद्वेग था, प्रार्थना थी, पश्चात्ताप था।

"हाँ, अभी वहाँ से ख़बर है कि घबड़ाहट का ऐसा कोई कारण नहीं। अब आप जो आ गयीं तो हमारा बोझ कम हुआ-सा लगने लगा है। इस राजघराने के लिए महामातृश्री के अनन्तर आप ही तो बड़ी हैं।"

"इस बड़प्पन को रहने दें। महामातृश्री के समक्ष हम सब बच्चे ही हैं। पण्डित जी इन्हें बचा लें यही काफ़ी है।"

"सोमनाथ पण्डितजी एक बार नब्ज़ देख लें, बस। सारा रोग उन्हें मालूम हो जाता है। उनका चिकित्सा-क्रम भी वैसा ही अचूक। परन्तु वे जो कहते हैं सो सब महामातृश्री की इच्छा पर निर्भर है। पता नहीं क्यों उन्हें इस दुनियाँ से ही उचाट पैदा हो गयी है। इसे अपने मुँह से कहती नहीं। कम-से-कम आप जानेंगी तो अच्छा होगा।"

"अपने मन की जब आपसे ही नहीं कहती तो मुझसे कहेंगी?"

"उनके लिए तो हम सब बराबर हैं।"

"ऐसा हो तो देखें। आप आराम करने जा सकती हैं। मैं रहूँगी। पण्डितजी भी घर जा सकते हैं। फ़ुरसत हो तो चट्टला रहे। उसे कोई दूसरा काम हो तो

कोई दूसरी नौकरानी रहे, इतना काफ़ी है।"

"चट्टला ! पोचिकब्बे को मेरे विश्रामागार में भेजो और तुम यहीं रहो।" —कहकर शान्तलदेवी वहाँ से निकल गयीं। बिट्टिदेव भी उनके साथ चले गये।

विश्रामागार में पहुँचने के बाद बिट्टिदेव ने प्रश्न किया, "देवी, अब तुमने जो काम किया है, उसके बारे में तुम्हारा मन कह रहा है कि सही किया ?"

"दुनियाँ के सब तरह के राग-व्यामोह आदि से परे रहनेवाली महारानी के मन को बुरा लग सकता है। उसके लिए मौक़ा नहीं देना चाहिए। उनके अनेक कष्टों का कारण यही है कि उन पर दूसरों को विश्वास नहीं है। एक के बाद एक चोट लगने के कारण उनका मन निश्चित और सुलझी स्थिति के लिए उपयुक्त बन रहा है। मायण ने उनके मन को तौलकर देखा है। इतना ही नहीं, उनके मन को उस पुरानी लीक से बदल कर दूसरी ओर मोड़ दिया है। अब वे सही रास्ते पर चलने लगी हैं। ऐके मौक़े पर उनकी आशा-आकांक्षाओं को जो मूल्य दें, उसका फल महत्तर ही होगा।"

"तुम्हारी रीति ही विचित्र है !"

"बीमारी के लिए जैसी दवा होती है वैसे ही मानसिक परिवर्तन के लिए भी रास्ते हैं। महारानी इस सिंहासन पर बैठी थीं। उनके दुःख को हम दूर न करेंगे तो यह सिंहासन हमारे लिए आग बन सकता है। वे जब तक दण्डनायकजी के साथ रहीं तब तक कुछ और ही ढंग से सोचती-विचारती थीं। अब अकेली बनी रहीं तो सोचने-विचारने का ढंग ही अलग है। इसलिए उनका ध्यान इस तरफ़ होना प्रकृत सन्दर्भ में आवश्यक है। इससे उन्हें अब तक जो मानसिक शान्ति नहीं मिली, वह मिलेगी।"

दरवाज़े पर खट-खट आवाज़ सुन पड़ी। शान्तलदेवी ने कहा, "अन्दर आओ, रेविमय्या।"

अन्दर प्रवेश करते ही रेविमय्या ने कहा, "कल सूर्यास्त से पहले हेग्गड़जी और हेग्गड़तीजी यहाँ आ पहुँचेंगे। वेलापुरी से वे रवाना हो चुके हैं। साथ में गुणराशि पण्डितजी भी आ रहे हैं।"

"यात्रा के कारण अप्पाजी को कोई कष्ट तो नहीं होगा न, रेविमय्या ?"

"वेलापुरी से रवाना होते समय सन्निधान का जैसा स्वास्थ्य रहा उससे कई गुना अच्छा है हेग्गड़ेजी का स्वास्थ्य। जो आहार लेते वह अंग न लगने के कारण बहुत कमज़ोर हो गये थे। अब एक सप्ताह से धीरे-धीरे आहार का सेवन करते हैं, हजम भी हो रहा है। पण्डितजी ने भी यह राय दी कि अब यात्रा कर सकते हैं। इसके बाद ही यात्रा की व्यवस्था की गयी।"

"ठीक, अब तुम आराम करो।" शान्तलदेवी बोलीं।

"महामातृश्री···" रेविमय्या ने धीमी आवाज़ में पूछा।

"यह सब बातों में ही है। कार्यक्षेत्र में उतरने पर ऐसा रह नहीं पाता, इसे आप भी जानती होंगी।"

"बहुवचन का प्रयोग छोड़ दें तो होगा न?"

"पोय्सल सिंहासन के लिए एकवचन का प्रयोग अनुचित रीति है। सो भी स्त्री के प्रति गौरव की भावना रखना एक उत्तम परम्परा है। इस विषय में हमारी स्वतन्त्रता बनी रहनी चाहिए।"

"आपकी मर्जी। सन्निधान कुछ कहना चाह रहे थे न?"

"वही, हमारे बड़े भैया—पहले राज करनेवाले महाराज के जीवन को जिसने देखा है, आपकी बात को नहीं मानेंगे। भैया ने पहले प्रेम किया महादण्डनायकजी की पहली बेटी पद्मलदेवी से। तब उन्हें प्रेम की गहराई का परिचय नहीं था। बाद में अन्य कारणों से उन्होंने उनसे दूर रहने का भी प्रयत्न किया। परन्तु पद्मलदेवी ने हठ पकड़ लिया। आप ही की तरह अपना निर्णय भी सुना दिया। कहा : 'शादी हो तो यहीं हो, नहीं तो संन्यास।' बहुत बातें हुईं। दण्डनायिकाजी की मृत्यु के समय की इच्छा पूर्ण करने के लिए महामातृश्री ने और हम सबने मिलकर समझा-बुझाकर तीनों बहनों का महाराज के साथ विवाह करवा दिया। वास्तव में वह एक अनोखा विवाह था। उसे उतना ही आदर्शपूर्ण होना चाहिए था। उन लोगों ने जन्म से ही उस स्थान को प्राप्त किया था। वह स्थान प्राप्त करने के लिए उनको अलग से कोई प्रयत्न करना न था। कौन प्रथम, कौन द्वितीय इसका निर्णय भगवान् ने ही कर दिया था। फिर भी अग्र स्थान की स्पर्धा चली, इस वजह से पता नहीं क्या-क्या उत्पात राजमहल में हुआ। जिस किसी ने उन्हें देखा, देखकर यही प्रतिक्रिया व्यक्त की कि कोई भी ऐसे बहु-विवाह के लिए स्वीकृति न देगा। एक असहज बात होगी वह।"

"यहाँ स्थान-निर्देश तो हो गया था। परन्तु सन्निधान एक मुख्य विषय को शायद भूल गये हैं। जिस का प्रथम लड़का होगा उसी को सिंहासन—इस अग्रस्थान की स्पर्धा सर्वोपरि हो उठी थी, वही, इस सारे उत्पात का कारण बन गयी। इसलिए यह प्रसंग प्रकृत सन्दर्भ के लिए निदर्शन नहीं बन सकता, न मार्गदर्शक ही बन सकता है। सन्निधान की एक हृदयेश्वरी है, वह पट्टमहादेवी हैं। उन्हीं की सत्सन्तान भावी राष्ट्र-प्रभु है। उस लौकिक स्पर्धा के लिए यहाँ अवकाश ही नहीं न?"

"फिर भी लड़के को जन्म देनेवाली माँ कोई हो, अपना बड़ा बेटा ही अग्रस्थान का हकदार हो—ऐसी वांछा असहज तो नहीं है। इसलिए ऐसी बात से दूर रहना ही अच्छा है।"

"हमारी सन्तान के लिए सिंहासन नहीं चाहिए। हमें उसकी आकांक्षा ही नहीं है। हम वचन देती हैं।"

"विवाहित हो जाने बाद वचनपालन सम्भव नहीं—यही सोचकर तो भीष्म ब्रह्मचारी बने थे, यह मालूम नहीं ?"

"सन्निधान हमें भी ब्रह्मचारिणी रहने की आज्ञा दें तो हम वैसी भी रह लेंगी। हमने जिन चरणों को चुन लिया है उन्हें किसी भी कारण से बदल नहीं सकतीं। हमारे वचन पर सन्निधान और पट्टमहादेवीजी को यदि विश्वास हो तो हम पर कृपा कर सकते हैं। हम राजवैभव से युक्त विवाह भी नहीं चाहतीं। भगवान् के सान्निध्य में शास्त्रोक्त विधि से पाणिग्रहण हो—इतना ही पर्याप्त है।"

"पाणिग्रहण करने का जब समय आएगा तब इन बातों पर विचार हो जाएगा।"

"जाने दीजिए। एक सवाल और। अनुचित हो तो सन्निधान क्षमा करें। सन्निधान यह बता सकेंगे कि हम सन्निधान की चरणसेविका बनने की योग्यता रखती हैं या नहीं ?"

"एक राष्ट्र की राजमहिषी बनने और राजा की हृदयेश्वरी बनने योग्य सब गुणों से आप लोग सम्पन्न हैं, ऐसा हमारा विश्वास है। इसीलिए हमने कहा कि हृदयेश्वर बनने योग्य की खोज करेंगे।"

"हमारे हृदयेश्वर ने तो पहले ही हमारे हृदय पर अधिकार कर लिया है। वहाँ किसी दूसरे को स्थान मिल कैसे सकता है, सन्निधान ही सोचें। स्त्री चरण-दासी बन सकती है। पर पुरुष को चरणदास नहीं बनना चाहिए, उसे हमेशा हृदयेश्वर ही होकर रहना चाहिए।"

बिट्टिदेव फिर हँस पड़े।

"क्यों ?"

"यह कैसा मूल्य-मापन है ? स्त्री के लिए अलग और पुरुष के लिए अलग व्यवस्था ?"

"हृदयेश्वर तैल के समान हैं। हृदयेश्वरी और चरणसेविकाएँ बलनेवाली बाती हैं। एक ही दीपदान का तैल दस बातियों को बलने की स्निग्धता दे सकता है न ? इसी तरह हृदयेश्वर सबके हृदयों में रह सकते हैं।"

"एक दीप-दान में एक ही बाती बले तो बहुत समय तक बलता रहेगा। दस बाती बलने लगें तो दीपदान का तैल जल्दी ही ख़तम हो जाएगा।"

"मगर सभी बातियाँ एक साथ नहीं बलेंगी। सामीप्य सब और एक काल में नहीं दिया जा सकेगा। प्रत्येक अलग-अलग प्रकाश देनेवाला दीप है इसलिए सन्निधान के कहे अनुसार दीपदान जल्दी खाली न होगा; क्योंकि एक बाती ही एक बार बलती है।"

"बात करने का ढंग देखने से लगता है कि यह सहवास का दोष है।"

"पट्टमहादेवीजी कहा करती थीं, अपनी सारी वाक्चातुरी का कारण सन्निधान

का सहवास है।" बम्मलदेवी ने कह तो दिया लेकिन बाद में महसूस हुआ कि वह परिचय-सीमा लाँघ गयी है।

बिट्टिदेव ने अपनी सूक्ष्म मति से समझ लिया कि उसके अंतरंग में कुछ तुमुल चल रहा है। यों तो वह बातों में सरसता को, चुहलबाजी को पसन्द करनेवाला व्यक्ति है।

"हाँ, क्या कर सकते हैं? पट्टमहादेवीजी का प्रोत्साहन-बल मिलने पर सबकी जिह्वा तेज़ चलने लगती है।" बिट्टिदेव बोले। उनकी आँखों में कुछ छेड़-छाड़ की भावना दीख रही थी।

"न, न, ऐसा नहीं; क्षमा हो; सन्निधान गलत न समझें। छेड़खानी करने का इरादा नहीं था।" जल्दी-जल्दी बम्मलदेवी ने कहा।

"वह छेड़खानी करना नहीं है, छेड़-छाड़ की प्रवृत्ति है। है न? एक-एककर प्रकट में आ रही है।"

"चरणों में समर्पित कर देने के बाद छिपाव-दुराव क्यों? इस झूलते रहने की हालत से जल्दी मुक्त करने की कृपा करें।"

"वह झुलानेवाले हाथ यादवपुरी में हैं।"

"खाली झुलानेवाला हाथ ही क्यों? उस हाथ को अँगूठे के सहारे पेंग देनेवाले चरण भी हैं यह मैं जानती हूँ। सन्निधान का विरोध न हो तो।"

"पेंग देनेवाले अँगूठे को मैं रोक सकता हूँ। परन्तु झुलानेवाला हाथ प्रधान है।"

"इतना भरोसा काफ़ी है।" कहकर वह उठी और उनके चरण छूकर प्रणाम किया।

"यह क्या?" बिट्टिदेव ने कहा।

"यह चरणदासी का प्रथम समर्पण नमन।"

बाद में दोनों थोड़ी देर मौन रहे। इतने में मंचि दण्डनाथ के आने की सूचना मिली, दौवारिक से।

यात्रा की तैयारी के होने की भी सूचना प्राप्त हुई। उसके अनुसार उनके साथ जो सेना आयी थी उसके शेष हिस्से को साथ लेकर आसंदी प्रदेश की ओर जाने की बात बतायी गयी थी। डाकरस की सेना उनके साथ वेलापुरी को और सन्निधान को यादवपुरी के लिए रवाना होने का कार्यक्रम रूपित किया गया था।

"यों करें। आप अपनी अधीनस्थ सेना, सिंगिमय्या और हमारे साथ की सेना, उदयादित्य और कुमार बिट्टियण्णा सब सीधे यादवपुरी पहुँचें। हम डाकरस के साथ वेलापुरी जाकर वहाँ से यादवपुरी पहुँचेंगे।

"हम सीधे यहाँ चले आये, इससे डाकरस दण्डनाथ को कुछ असमाधान-सा लगा है। इसलिए हमारा उनके साथ जाना अच्छा होगा।"

"तो विजयोत्सव कहाँ हो ?"

"यह भला कौन-सा महायुद्ध है ? इसके लिए बड़े धूमधाम का उत्सव नहीं चाहिए। यों निमित्तमात्र के लिए हो। दिन निश्चित होने पर दोरसमुद्र, वेलापुरी और यादवपुरी में एक ही दिन सम्पन्न करेंगे। डाकरस से सलाह करके निश्चय करें। जो जहाँ हो वहीं उत्सव सम्पन्न करायें।"

"जो आज्ञा।"

व्यवस्था के अनुसार सेना रवाना हुई।

रास्ते में मंचि दण्डनाथ ने बम्मलदेवी से पूछा, "हमें सीधे न जाने देकर यादवपुरी जाने का आदेश सन्निधान ने क्यों दिया ?" उसने कुछ जवाब नहीं दिया। इतना ही कहा कि वह नहीं जानती।

"तुमने अपने भविष्य के बारे में बातचीत की ?"

"हाँ, की।"

"परिणाम क्या रहा ?"

"कुछ कह नहीं सकती। अपने निश्चय को सन्निधान तक पहुँचा दिया है। अधिक ज़ोर देना अच्छा नहीं। प्रतिक्रिया की प्रतीक्षा वहीं से करें। यही उचित है।"

बात वहीं रुक गयी। यात्रा आगे बढ़ी। उधर सन्निधान वेलापुरी पहले ही पहुँच गये। इधर चार दिन बाद बम्मलदेवी वगैरह यादवपुरी जा पहुँचे।

दोनों जगह सेना का अच्छा स्वागत हुआ। पूर्व नियोजित रीति से तीनों जगह विजयोत्सव मनाया गया।

बाद में, एक-दो दिनों में ही बिट्टिदेव डाकरस और हेग्गड़े दम्पती के साथ यादवपुरी की ओर रवाना हुए। साथ में गंगराज और माचण दण्डनाथ को भी ले गये।

उधर राजलदेवी के यादवपुरी पहुँचने के बाद बातों-बातों में शान्तलदेवी ने कहा, "आप लोगों पर यानी राजलदेवी और बम्मलदेवी पर चालुक्यों की तरफ़ से कुछ बुरी-बुरी ख़बरें फैल रही हैं।"

तुरन्त बलिपुरवाला समग्र चित्र उनकी आँखों के सामने गुज़र गया।

"वह मुख ही कितना बुरा है जो ऐसी बात निकालता है, चाहे जो कह देता है। उसके लिए आपको दुःखी नहीं होना चाहिए। पहले ऐसी ही एक घटना चालुक्य नारी के ही बारे में बलिपुर में घटी थी। इस बात का ज्ञान होते हुए भी ऐसा नीच कार्य वे कर रहे हैं तो समझना चाहिए वे कितनी हीन मनोवृत्ति के हैं। सन्निधान को आने दें। जल्दी निर्णय कर लेंगे।" शान्तलदेवी ने तसल्ली दी। और फिर दासब्बे और बूतुगा को पास बैठाकर उस पुरानी कहानी को विस्तार से कह सुनाया।

"वह सब कितनी असह्य बातें हैं ! जब मुझे याद आती है कि मैंने भी उसमें भाग लिया था तो आज भी मुझे अपने पर बहुत गुस्सा आता है। एक शीलवती स्त्री के विषय में इस तरह अंटसंट बातें करनेवाली जीभ में कीड़े पड़ेंगे।" गुस्से से पागल होकर बूतुगा ने कहा।

"वह कुछ भी रहे; इसके फलस्वरूप तुम्हारा भाग्य खुल गया था न ?"

"हाँ, बुरा करनेवालों को भी गौरव देनेवाली माताएँ जब होंगी तो भाग्य खुलेगा क्यों नहीं !" एक तरह से खुशी से फूलकर बूतुगा ने कहा।

"उसका वह ऐसा कौन-सा भाग्य है ?" राजलदेवी ने पूछा।

"दासव्वे से उसका विवाह करानेवाली वही पिरियरसी चन्दलदेवीजी थीं जिन्होंने उसी से गालियाँ सुनी थीं।"

"हाँ, तब मेरा विवाह तो हुआ पिरियरसी जी के ही कारण से। अब यह बात क्यों ? अब क्या पट्टमहादेवीजी के कारण कोई शादी होनेवाली है ? कौन हैं ऐसे भाग्यवान् ?"

"इस सबके लिए प्रतीक्षा करनी होगी। छेड़-छेड़कर पूछना ठीक नहीं।" शान्तलदेवी ने कहा।

"जो आज्ञा।" बूतुगा चुप हो गया।

पता नहीं बात और किधर मुड़ती कि तभी ख़बर मिली कि युद्ध में जय-माला हमारी रही। हरकारे के जाने के बाद शान्तलदेवी ने कहा, "बम्मलदेवीजी साथ रहेंगी तो सन्निधान को विशेष हर्षोत्साह होगा ही। तब तो विजय हमारी ही होनी चाहिए।"

राजलदेवी को लगा कि शान्तलदेवी की इस बात में कुछ व्यंग्य है। वह तुरन्त कुछ कह न सकी। स्वभाव से ही वह कम बोलनेवाली रही है। चतुराई से बात कहकर अपनी बुद्धिमानी दर्शाने की उसकी आदत नहीं थी। फिर भी बात व्यंग्य भरी मालूम पड़ने पर उसे दुःख हुआ। आँखें भर आयीं। रोकने की कोशिश की। नहीं हो सका तो बगल की ओर मुँह मोड़ दिया।

इसे देखकर शान्तला ने कहा, "क्यों ? क्या हुआ ?"

राजलदेवी ने रोकने की कोशिश की पर सफल नहीं हुई। उसके हिचकी बँध गयी।

शान्तलदेवी ने उसकी बाँह हिलाकर पूछा, "क्या हुआ ? एकदम ऐसा क्यों ?"

उसने कुछ नहीं कहा। शान्तलदेवी ने जबरदस्ती राजलदेवी का मुख अपनी तरफ़ मोड़ने की कोशिश की।

राजलदेवी निवारण करते हुए, "हमारी ही ग़ल्ती है, क्षमा करें", वह वहाँ से अपने शयन-कक्ष की ओर चल पड़ी। उसकी आवाज़ में दुःख था, दर्द था। आँखें

गीली हो आयी थीं।

शान्तलदेवी फक पड़ गयीं। उन्हें सूझा नहीं कि राजलदेवी ने आख़िर ऐसा क्यों किया। ऐसी विचित्र पीड़ा के लिए समय ही अच्छी दवा है—यों शान्तलदेवी ने मन-ही-मन सोच लिया। उन्हें उस समय इतना ही सूझा। मैंने कहा, "सन्निधान के साथ बम्मलदेवी के होने पर उन्हें हर्षोल्लास और स्फूर्ति मिलेगी, इससे उसने समझ लिया होगा कि वही श्रेष्ठ, मैं नहीं—यों कल्पना करके उसके मन को दुःख हुआ होगा। समय आने पर यह जान जाएँगी कि ऐसा सोचना ग़लत है। केवल ग़लत ही नहीं, वह ईर्ष्या का भी प्रतीक है—यह भी उन्हें समझा देना होगा। सगी बहनों की तरह एक-दूसरी की पूरक शक्ति बनकर बढ़नेवाली इन में इस तरह के विचार अंकुरित हों तो अच्छा नहीं होगा।"

यों दो दिन बीत गये। अगले दिन ख़बर मिली कि सेना कल यादवपुरी पहुँच रही है। साथ ही यह भी समाचार मिला कि सन्निधान वेलापुरी की ओर चल पड़े, बाक़ी लोग इधर आएँगे। यह समाचार सुनाने के बहाने शान्तलदेवी ने राजलदेवी को अपने शयन-कक्ष में बुलवाकर बताया, "राजकुमारी राजलदेवीजी! उस दिन जो बात मैंने कही उसे सुनकर आप परेशान हुई होंगी। मेरे मन में ऐसे भेदभाव के लिए कोई स्थान नहीं है। सन्निधान के साथ बम्मलदेवी की उपस्थिति स्फूर्तिदायक होगी ही—जब मैंने यह बात कही तो इसका यह अर्थ नहीं था कि राजलदेवी की उपस्थिति स्फूर्तिदायक नहीं। बम्मलदेवी को चढ़ाकर आपको नीचा दिखाने की भावना मेरे मन में कभी नहीं आयी। मेरी बात केवल सहज अर्थ में ही ग्रहण की जानी चाहिए थी। बम्मलदेवी ऊँची और आप निचली ऐसा समझकर व्यर्थ ही दुःखी हुईं। ऐसी भावना का उत्पन्न होना ही बुरा है। आज आप दोनों सगी बहनों से भी बढ़कर रह रही हैं। आपको तो यह विशेष सन्तोष की बात होनी चाहिए। यह सहोदरी भावना स्थायी हो यही मेरी आकांक्षा है यह मुझे बहुत ही प्रिय है। इसमें ऊँच-नीच को स्थान ही नहीं मिलना चाहिए। इन दो दिनों में आपने इस दिशा में सोचा होगा।"

"मुझमें ऐसी भावना आयी ही नहीं।"

"तो वह आँसू··· ? किसी पश्चात्ताप की तो वह बात थी नहीं ?"

"उस समय कहने का साहस नहीं हुआ। दुःख हुआ, सच है। उसका कारण बम्मलदेवी को ऊपर बढ़ाना नहीं। आपकी बातों में ऐसा भाव तक नहीं झलका। हाँ, उसके पीछे कोई छिपी बात अवश्य स्पन्दित हो रही है—ऐसा मुझे लगा था। आप सन्निधान की हृदयेश्वरी हैं। यह बात सारी दुनिया जानती है। आप भी जानती हैं कि सन्निधान के हृदय में आपके लिए अग्रिम स्थान है। आपके हृदय से यदि यह बात निकले कि बम्मलदेवी की उपस्थिति स्फूर्तिदायक होगी तो इस व्यंग्य का कोई अभिप्राय होगा! बम्मलदेवी आपके सुख के लिए बाधा

बन रही है, मौक़ा आने पर सन्निधान के मन को अपनी ओर खींच लेगी। और फिर सन्निधान उधर आकर्षित हो जाएँ तो···आदि विचारों के बिना ऐसी बात आपके मुँह से भला कैसे निकलती? एक बात मैं स्पष्ट कर दूँ। आप और सन्निधान ने हमें आश्रय दिया, हमें व्यक्तित्व दिया। हमारा स्तर ऊपर उठाया —इसके लिए हम आपके आजीवन ऋणी हैं। यह ऋण हम अच्छी बनकर चुकाएँगी, न कि आपके सुख को छीनकर। हम स्वयं को समर्पित कर देना चाहते हैं तो इसका मतलब यह नहीं कि आपके हृदय को ठेस पहुँचे। हमारी यह निश्चित धारणा रहने पर भी हमारे बारे में आपके मन में शंका उत्पन्न हुई— यह जानकर दुःख उमड़ आया।" राजलदेवी ने एक ही दम में सारी बात कह डाली। इसके पहले कभी उसने इतनी बात नहीं की थी।

शान्तलदेवी ने राजलदेवी की पूरी बात बड़े धैर्य से सुनी। और कहा, "राजकुमारीजी, अब एक बात बताना चाहती हूँ। मेरे बारे में आपको शंकित होना सहज है। आप लोगों की अभिलाषा के लिए मैं काँटा बन सकती हूँ। यह मुझसे हो भी सकता है। सच पूछा जाय तो महामातृश्री से लेकर सभी लोगों की यही राय है कि यह सम्बन्ध नहीं हो। थोड़ी-सी इस बात की हवा भी लग जाय तो महारानी पद्मलदेवी सब कुछ उलट-पुलट कर देंगी। परन्तु इसमें मैंने अपना दृष्टिकोण महामातृश्री को समझा दिया था। इसलिए मैं केवल प्रेक्षकमात्र हूँ। अब इसका जो भी परिणाम हो उसका मुझपर कोई असर न होगा। सन्निधान यदि आप लोगों को स्वीकार करें तो मैं उतना ही खुश होऊँगी जितना आप लोग होंगी। आप लोगों का स्पष्ट और दृढ़ निश्चय भी हमने दसों बार देख-समझ लिया है। आप लोगों के निर्णय में भी क्रम है। अतः आप सन्निधान का वरण करेंगी तो मुझे किसी प्रकार का दुःख न होगा। मेरे इस कथन का यह अर्थ नहीं कि चाहे जो भी सन्निधान को वर लें—ऐसा न समझें। कुछ भी करें, वह औचित्य की सीमा के अन्दर ही रहे। उससे किसी का भी अहित न हो। सम्बन्धित सभी के जीवन में समरसता लाने में वह क्रिया सहायक बने। कहने का तात्पर्य यह कि सब लोगों का लक्ष्य इस समरसता का निर्माण ही होना चाहिए। इसीलिए इस बार जब सन्निधान ने युद्धभूमि में जाने का निर्णय लिया तो बम्मलदेवीजी को बुलवाने के लिए मैंने ही सूचित किया था। विश्वास चाहे करें या न करें, मुझे बम्मलदेवी पर गौरव, विश्वास और श्रद्धा न होती तो ऐसी सूचना मैं भला क्यों देती? और फिर, आपको मैंने ही यहाँ बुलवाया था। अब आपको अकेली यों छोड़ देना आश्रय देनेवाले राजमहल की परम्परा के अनुकूल नहीं। आपके विषय में यह गौरवभाव, विश्वास और श्रद्धा न होती तो यहाँ बुलवाना हो सकता था? व्यंग्य की बात ही नहीं थी मेरे मन में। बम्मलदेवी की उपस्थिति सन्निधान में उल्लास ला देती है—यह आँखों देखी और अनुभव

की बात है। इसमें किंचित् भी व्यंग्य नहीं था। फिर भी आपको इसमें व्यंग्य की गन्ध आयी सो मेरी समझ में ही नहीं आया।"

"सकल कला-पारंगत आपके वचन-विन्यास को समझने की शक्ति मुझमें कहाँ? मुझे जैसा लगा सो सच-सच कह गयी। लेकिन मुझे अब मालूम हुआ कि मेरा सोचना ग़लत था। इसके लिए मैं क्षमा माँगती हूँ।" राजलदेवी ने कहा।

"यह बात अब ख़तम हुई न? अब इसे यहीं भूल जावें। आपकी बहन विजयी होकर लौट रही हैं। उनका भव्य स्वागत होना चाहिए।"

"सन्निधान ?"

"वे वेलापुरी पधारेंगे।"

"यहाँ नहीं आएँगे ?"

"आएँगे, वेलापुरी से यहाँ आएँगे। हो सकता है दोरसमुद्र भी जाएँ।"

"सो क्यों ?"

"सन्निधान के आने पर मालूम होगा। या बम्मलदेवीजी के आने पर उनसे भी शायद जाना जा सकता है।"

"ठीक है।"—मुँह से तो यही निकला पर उसके अन्तरंग में कुछ अन्य विचार उठ खड़े हुए : सन्निधान वेलापुरी क्यों गये? यह बात बम्मलदेवी से शायद मालूम हो जाएगी—पट्टमहादेवी के मुँह से यह बात···? इसके माने? बम्मलदेवी का सन्निधान से इतना सान्निध्य हो गया क्या? यदि यह बात है तो हमारी अभिलाषा सफल है। इधर पट्टमहादेवीजी को कोई विरोध नहीं। जैसा उन्होंने कहा कि किसी का कोई अहित न हो। अहित न हो, सामरस्य बढ़े—हम वैसे ही बरतेंगी। हे भगवन्! हमारी अभिलाषा पूर्ण करो। इसी धुन में उसका चेहरा खुशी से खिल उठा। स्वागत-समारोह में उसका उत्साह विशेष रूप से दिखाई दे रहा था।

नियोजित समय पर सन्निधान की सवारी भी यादवपुरी आ पहुँची।

आते हुए रास्ते में बिट्टिदेव ने बम्मलदेवी और राजलदेवी के समग्र वृत्तान्त हेग्गड़े, गंगराज, माचण दण्डनाथ, डाकरस दण्डनाथ को विस्तार के साथ बताया। और कहा, "इस सम्बन्ध में एकमत निर्णय होना चाहिए। हमारा विरोध न होने पर भी कोई ऐसा न समझे कि इसमें हमारी विशेष आसक्ति है। यह तो काल और परिस्थिति का तक़ाजा है। इस सम्बन्ध में किस-किस के मन में क्या-क्या है, यह सब हमें जैसा लगा था, हमने बता दिया। वहाँ बाक़ी सब लोग उपस्थित रहेंगे ही। सब लोगों द्वारा एक साथ मिलकर इस बात का निर्णय, जो भी हो, कर ही लिया जाना चाहिए।" इस बात को प्रस्तुत करने में किसी भी तरह का संकोच या उत्साह उनमें नहीं था।

यादवपुरी पहुँचते ही माचिकब्बे ने शान्तलदेवी के समक्ष यह बात छेड़ी।

शान्तलदेवी ने कहा, "माँ, इस विषय में महामातृश्री से मैंने बातचीत कर ली थी। फिर आपको इसपर और अधिक सोचने की आवश्यकता ही क्या है?"

"मालिक की राय है कि इस विवाह के सम्पन्न होने का अर्थ चालुक्यों को छेड़ना है। सारा जीवन क्या युद्धक्षेत्र में ही गुज़रेगा? उनके साथ तलवार तानकर तुम भी चल पड़ती हो। यह स्थिति अच्छी नहीं। तुम्हारे अपने बच्चों का योग्य मार्गदर्शन कौन करेगा? कुछ सोचो तो, अम्माजी। तुम्हारी बुद्धि को यह क्या हो गया?" यों बहुत चिन्ताग्रस्त हो बोलीं शान्तलदेवी की माँ।

"अगर बम्मलदेवी से पाणिग्रहण हो जाय तो मेरी एक समस्या हल हो जाएगी, इसलिए मैंने यह काम किया है। युद्धोत्साह उनमें मुझसे अधिक है। उनकी धमनियों में राजवंश का रक्त ही तो प्रवाहित हो रहा है।"

"फिर भी चालुक्यों को क्रुद्ध होने के लिए मौक़ा देना बुद्धिमानी है?"

"यह क्या माँ; अप्पाजी का मन इतना दुर्बल हो गया है? शायद शारीरिक दुर्बलता ने उनसे ऐसी बात कहलायी होगी। सभी के समक्ष मन्त्रणा-सभा में कल विचार-विमर्श होगा और निर्णय लिया जाएगा। राष्ट्रनायकों के निर्णय के सामने हमें सिर झुकाना ही होगा।" यों कहकर शान्तलदेवी ने उस बात को वहीं समाप्त कर दिया।

अगले दिन की मन्त्रणा-सभा में इस विषय पर खुल्लमखुल्ला चर्चा होने की ख़बर मंचि दण्डनाथ को मालूम थी। बम्मलदेवी और राजलदेवी को भी मालम था। उनको भी वहाँ उपस्थित रहना था।

मन्त्रणा-सभा में प्रथम बोलनेवाले मंचि दण्डनाथ थे। उन्होंने बताया कि किस तरह इन बेटियों की जिम्मेदारी उनपर पड़ी और कैसे उन्हें अपने बच्चों की तरह पाला-पोसा। आश्रय प्राप्त कर यहाँ आने के बाद किस तरह यह निर्णय किया कि अपने जीवन को सन्निधान की चरणसेवा के लिए धरोहर बनाना चाहिए। किस तरह यहाँ के राज-दम्पती का भव्य चित्र दिलों पर अंकित हो गया और फिर इन कन्याओं ने सन्निधान की चरण-सेविका बने रहने की इच्छा क्यों की। यह अभिलाषा सफल न होने पर भी इस राष्ट्र की प्रगति के ही लिए अपना समग्र जीवन समर्पित कर देने का उन्होंने निर्णय किया है। इन सारी बातों को अच्छी तरह समझाकर विनती की कि इन कन्या-रत्नों से पाणिग्रहण कर इन्हें कन्यापन से मुक्त करें। वास्तव में उनकी सारी बातें राजवंश की रीति-नीति के अनुरूप रहीं, कहा जा सकता है। और ये सारी बातें शायद उन सब उपस्थितों को मालूम ही थीं।

इस विषय से सीधा सम्बन्ध होने के कारण राजमहल ने मन्त्रणा-सभा के सूत्रधार का कार्य गंगराज को ही सौंपा था। उन्होंने कहा, "नैतिकरूप से इस विषय पर सभी लोग अपनी राय दे सकेंगे। किसी की भी राय को निर्णय नहीं

माना जाएगा। अगर राय भिन्न हो और यह भिन्नता अधिक रही तो फिर यह सोचना होगा कि एकमत सम्भव है या नहीं। और तब बहुमत के आधार पर निर्णय किया जाएगा। भिन्न मत व्यक्त करने पर वैयक्तिकरूप से उसकी अर्थ-व्याप्ति वहीं तक सीमित होनी चाहिए। अन्यार्थ कल्पना नहीं की जानी चाहिए। बहुत पहले एकबार जब प्रभु के सिंहासनारोहण की बात चली थी, तब इसी तरह की मन्त्रणा-सभा सम्पन्न हुई थी तब विषय-भिन्नता के कारण बात व्यक्ति-वैषम्य की सीमा तक पहुँच चुकी थी। बहुत समय तक उसकी कड़ुआहट सबके मन में रही। ध्यान रखना होगा कि अब ऐसी स्थिति न हो। यहाँ जो निर्णय लिया जाएगा उसका सन्तोष के साथ स्वागत सभी को करना होगा।" इतना सूचित कर सबसे प्रार्थना की कि अपनी-अपनी राय दें।

तुरन्त किसी ने कुछ नहीं कहा। शायद लोग इस बात की प्रतीक्षा में थे कि चर्चा आरम्भ हो तो कुछ कहा जाए।

शान्तलदेवी ने ही बात उठायी, "मेरी एक विनती है। यह बहुत गहराई से सोचने-समझने का विषय है। उसमें भी यह सुकुमारी कन्याओं के भविष्य से सम्बन्धित है। भिन्न मत देना हो तो गम्भीरता से सोच-विचार कर कहेंगे।"

"सन्निधान की इच्छा हो तो इसके लिए समालोचना की आवश्यकता ही क्या है। वह हमारे लिए मान्य है।" सुरिगे नागिदेवण्णा ने कहा।

"यदि इतना ही होता तो इस सभा को बुलाने की ज़रूरत ही क्या थी? आपके सन्निधान आपकी राय जाने बिना स्वेच्छा से व्यवहार करना उचित नहीं समझते। अलावा इसके सन्निधान को आपकी सलाह पर असीम विश्वास है। सभा जिसे सही मानेगी सन्निधान के लिए भी वही सही होगा ऐसा सन्निधान का अभिमत है।" बिट्टिदेव ने उत्तर दिया।

"प्रथम तो विचारणीय यह है कि सन्निधान की इच्छा न हो और सभा ने निर्णय कर लिया तो क्या वह ठीक होगा?" पुनीसमय्या ने प्रश्न किया।

गंगराज मुस्कुरा उठे। बोले, "पुनीसमय्याजी के इस प्रश्न के लिए यहाँ अवकाश ही नहीं है। इस विषय में सन्निधान और पट्टमहादेवीजी की इच्छा न होती तो इस सभा का आयोजन ही नहीं होता।"

"हाँ तो, मुझे तो ये सूझा ही नहीं? तलवार चला दें तो किसका सिर धड़ से अलग हो सकता है—यही सोचनेवाले मुझे यह बात सूझी ही नहीं!"

"सन्निधान चाहते होंगे, पट्टमहादेवी भी मान सकती हैं। परन्तु यह विवाह हो तो राष्ट्र के हित की दृष्टि से कोई अड़चन तो नहीं होगी—इस बात पर विचार करना हमारा कर्तव्य है। राष्ट्रहित पर आँच आने की बात हो तो यही निर्णय करेंगे कि यह विवाह न हो। यदि बाधा न हो तो निर्णय सन्निधान और पट्टमहादेवी पर छोड़ देंगे। इसलिए यह विषय राष्ट्र की दृष्टि से विचारणीय है।

मैं अपनी तरफ़ से यदि कुछ कहूँ तो उसका अन्यथा अर्थ भी लगाया जा सकता है, क्योंकि मेरी बेटी आज पट्टमहादेवी है। फिर भी मैं अपने मन की भावना को छिपाकर चुप बैठे नहीं रह सकता। मंचिअरसजी चालुक्यों के अधीन रहे। इधर यहाँ आकर हमसे मिल गये हैं यह बात अब उनको भी मालूम हो चुकी है। अकारण ही चालुक्य राजा ने हम पर सन्देह करके हमें विरोधी समझ लिया है। जगदेव से हम पर हमला करवाकर वे हार खा चुके हैं। आज हम चारों ओर से शत्रुओं से घिरे हुए हैं। एक तरफ़ चोल प्रतिनिधि आदियम, दूसरी ओर उच्चंगी के पाण्ड्य, नोलम्ब, कदम्ब, सान्तर और चालुक्य—यों चारों ओर शत्रुओं से घिरे हुए हैं हम। ऐसे मौक़े पर यह विवाह हो तो वह वास्तव में चालुक्यों के साथ युद्ध में परिणत होगा। उनसे युद्ध करने के लिए छेड़खानी करना ठीक है? यही हमें सोचना है।" मारसिंगय्या ने कहा।

सभा में मौन छा गया। कुछ क्षण बीतने के बाद माचण दण्डनाथ ने कहा, "हेग्गड़ेजी की बात विचारणीय है। अभी अनेक उलझनों से घिरे हुए हैं हम। इसलिए उनको सुलझाने की ओर ध्यान देना युक्त है। उलझनों को और बढ़ने देने में बुद्धिमानी नहीं है—यह मेरी राय है।"

"तो क्या हमें चालुक्यों से डर जाना होगा?" उदयादित्य ने कहा।

"डरने के लिए हम चूड़ियाँ पहने नहीं बैठे हैं।" सिंगिमय्या ने कहा।

"चूड़ियाँ पहननेवाली पोय्सल महिलाएँ भी तलवार पकड़ने से पीछे न हटेंगी।" शान्तलदेवी ने कहा।

"तो···?" गंगराज ने बीच में सवाल किया।

"पोय्सल कभी कायर नहीं रहे हैं, न होंगे। कितना भी बड़ा राज्य हम पर हमला करे हम डरनेवाले नहीं। अन्तिम साँस तक युद्ध करेंगे, रक्त की आख़िरी बूंद तक करते रहेंगे। इसलिए कायरों की तरह डरकर हमें अपना कार्य नहीं छोड़ देना चाहिए। इन राजकुमारियों से विवाह करने पर यदि चालुक्य विक्रम हमें आक्रमण की धमकी दें तो हमें उनसे कहना होगा—'यह विवाह तो होगा ही—यही आपकी धमकी का जवाब है। आओ, देखें, आप क्या करते हैं।' शायद आप लोगों को मालूम नहीं हुआ होगा कि चालुक्यों के गुण्डे लोग क्या दुष्प्रचार कर रहे हैं। कहते फिर रहे हैं कि आपके सन्निधान इन दोनों राजकुमारियों के साथ वेश्याओं का-सा व्यवहार कर रहे हैं। शीलवती कुमारियों के बारे में इस तरह की कहनेवाले की जीभ काट डालना चाहिए। स्त्री अपने शील के महत्त्व को समझती है। इस विवाह के होने पर अन्य राष्ट्र क्या करेंगे—ऐसा विचार कर हमें डरने की ज़रूरत नहीं। चालुक्य विक्रम ने चन्दलदेवी से विवाह किया तो मालवों ने उन पर हमला किया; तब उन्हें हरानेवाले कौन थे? उनकी रक्षा किसने की? रणरंग में उनका अपहरण होने से उन्हें किसने बचाया? चालुक्य पिरियरसीजी

के शील और गौरव की रक्षा करके, उन्हें पवित्र बनाये रखकर किसने लौटाया? हमारे सन्निधान के जन्मदाता एरेयंग महाप्रभु ने। उन्हीं का खून हम पोय्सलों की धमनियों में बह रहा है। इन सब बातों को भूलनेवाले उन चालुक्यों को हमें पाठ पढ़ाना होगा।" शान्तलदेवी के शब्दों में आक्रोश बढ़ आया था। आँखें क्रोध से लाल हो गयी थीं।

फिर किसी ने कुछ कहा नहीं। थोड़ी देर बाद गंगराज बोले, "पट्टमहादेवीजी ने इन सब बातों पर गम्भीरता एवं दायित्वपूर्ण रीति से विचार किया है। हम पर इसका सीधा प्रभाव पड़ेगा अवश्य; फिर भी इन बातों का विश्लेषण उन्होंने किसी पूर्वाग्रह पीड़ा के वशीभूत न होकर, एक वीक्षक की दृष्टि से किया है। हमारा कार्य अपनी इच्छा के अनुसार ही होना चाहिए। बाहर के लोग कुछ कहेंगे या कुछ करेंगे—इस तरह का संकोच या डर हममें नहीं होना चाहिए—इस बात को भी उन्होंने स्पष्ट रूप से समझा दिया है। इतना ही नहीं, इस विषय में विरोध प्रकट न करके अपनी उदारता दर्शायी है। ऐसी स्थिति में मंचि दण्डनाथ के प्रस्ताव का विरोध करना उचित न होगा। इन सभी बातों के परिप्रेक्ष्य में मेरी यही राय है। आप लोगों की भी यही राय हो तो ऐसा निर्णय लिया जा सकता है।"

हमारा कोई विरोध नहीं। एकमत होकर सभी ने निर्णय किया।

सभा विसर्जित हुई।

शीघ्र ही पाणिग्रहण महोत्सव सम्पन्न हो गया। आमन्त्रण पहुँचने पर पद्मलदेवी को भी यह बात मालूम हुई। वह आग-बबूला हो उठी। "अगर मैं इस विवाह में गयी तो महामातृश्री शाप दें। जब मुझसे रोका न जा सका तो अब 'हाँ' कहने मैं क्यों जाऊँ?—यही सोचकर वह विवाह में नहीं गयी। विशेष धूम-धाम के बिना विवाह सम्पन्न हुआ। बम्मलदेवी-राजलदेवी दोनों पोय्सल रानियाँ बन गयीं।

शान्तलदेवी ने ही बिट्टिदेव को रानियों के साथ आसन्दी भेज दिया। हेग्गड़ेजी और हेग्गड़तीजी इस परिवार के साथ वेलापुरी तक गये। आसन्दी में दो-तीन महीने रहकर बिट्टिदेव यादवपुरी लौट आये।

बम्मलदेवी और राजलदेवी के साथ विवाह के बाद, उनके साथ बिट्टिदेव के आसन्दी की ओर जाने के पश्चात्, यादवपुरी के राजमहल के विस्तरण का कार्य

शान्तलदेवी ने अपने हाथों में लिया। उस विस्तरण में आनर्तशाला भी शामिल थी। जो थी पहले से उसे विस्तृत करके उससे लगे प्रसाधन-कक्ष एवं विश्राम-कक्ष भी इस योजना के अन्तर्गत रहे। अपने पतिदेव दो और राजकुमारियों के साथ विवाह कर श्रीराम की तरह एक पत्नीव्रती न होकर श्रीकृष्ण की तरह अष्टमहिषियों को भी शायद पा जावें—यही सोचकर जो विश्राम और शयन-कक्ष हैं उनके साथ कुछ और कक्ष भी बन जाएँ तो ग़लत न होगा। महिषियों की संख्या के न बढ़ने पर भी अतिथियों के लिए उसका उपयोग हो सकेगा—यही सोचकर उन्होंने इस विस्तरण की योजना बनायी थी। बिट्टिदेव के लौटने के पहले ही इस कार्य को पूरा करा देने के इरादे से अधिक लोगों को लगा कर कार्य कराने लगी थीं। उदयादित्य की निगरानी में यह काम जल्दी पूरा भी हो गया और समर्पक ढंग से भी हुआ।

नव-विस्तृत आनर्तशाला के अन्दर का भाग किस रंग से रंगा जाय, इस बारे में उदयादित्य ने जब प्रश्न किया तो शान्तलदेवी ने पूछा, "बताओ तो कौन-सा रंग ठीक लगेगा ?"

उदयादित्य ने जवाब दिया, "साँवला रंग मन और आँखों—दोनों के लिए हितकर होगा।"

"कला यदि काम की ओर झुके तो साँवला रंग आवश्यक होता है। कला को अगर भगवदर्पित, पारमार्थिक दृष्टि का विकास करनेवाली, और मन को शान्ति प्रदान करनेवाली होना हो तो हल्का नारंगी रंग मुझे अच्छा लगता है। वह रंग संन्यासियों के काषाय के करीब-करीब होना चाहिए। वह प्रशान्त भाव को सूचित करता है।" शान्तला ने कहा।

"सन्निधान ने विवाह कर लिया तो पट्टमहादेवीजी का मन संन्यास की ओर झुक गया, क्यों ?"

"तुम्हारा प्रश्न असाधु नहीं, उदय। मगर अतृप्त मन और असमाधान की स्थिति में संन्यास की भावना उत्पन्न होने पर वह ग़लत होती है। दाम्पत्य जीवन से मुझे पूर्ण तृप्ति मिल चुकी है। उस तृप्ति की पृष्ठभूमि में संन्यास की प्रशान्तता ग़लत नहीं होगी न ?"

"तो सन्निधान के यहाँ आने पर···"

"किस तरह व्यवहार करना होगा सो मैं जानती हूँ। उन्हें भी मालूम है। आप लोगों में से किसी को भी भय की आवश्यकता नहीं। तुम ही ने तो विषयान्तर कर दिया।"

"मेरे लिए तो उत्साह भरनेवाला साँवला रंग ही अच्छा लगता है।"

"कला शान्ति और तृप्ति देनेवाली है, इसलिए जो रंग मैंने बताया वही रंग रहे। अगर वह ठीक न लगे तो बदल सकते हैं।"

"रंगस्थल की भित्तियाँ ?"

"उनके लिए कोई भी रंग चुन लें, सब बराबर। वह तो सदा परदे से ढँकी रहेंगी न ?"

"तो क्या इस आनर्त-शाला में केवल नृत्य और नाट्य का ही प्रदर्शन होगा?"

"और क्या हो सकता है ?"

"कुछ भी हो सकेगा; कवि, गमकि, वाग्मी आदि का सम्मान हो सकता है। तब मंच पर बैठनेवाले सम्मानित और सन्निधान एवं आप ही तो होंगे न ? परदा न रहेगा तब उसे रंगना अच्छा है।"

"सब एक ही रंग से रंगा रहे। मंच पर कुछ ठोस रंग हो। प्रेक्षकों के बैठने की ओर कुछ हल्का रंग हो। मंच पर के मत्त-वारण स्तम्भ, जैसा तुमने बताया, साँवले रंग से रंगे हों।"

"वेदी के मुख-मण्डप पर पोय्सलों का राज-लांछन रूपित हो तो कैसा रहे?" उदयादित्य ने पूछा।

"हम अशाश्वत हैं। हमारा काम स्थायी होकर रहेगा। सदियों बाद भी पोय्सलों की पहचान के लिए वह लांछन मार्गदर्शक बना रहेगा। जिस तरह हम साधना, शौर्य, त्याग, दान-धर्म, दत्त-स्वाम्य, क्रय-विक्रय आदि अपने सभी कार्यों को प्रस्तर-भित्तियों पर स्थायी रूप देते हैं। वैसे ही सभी में पोय्सलों का राज-लांछन का होना उचित है। अब तक पोय्सलों द्वारा निर्मापित किसी भी वास्तु-शिल्प में पोय्सलों का राजलांछन नहीं है। अब इसी से उसका आरम्भ हो।" शान्तलदेवी ने कहा।

तुरन्त शिल्पी बैचोजा को उदयादित्य ने बुलवाकर उस राज-लांछन की रूप-रेखा का विवरण दिया। शान्तलदेवी ने भी अपनी दृष्टि से जो ठीक लगे, उन सुझावों को सामने रखा। बैचोजा अपनी कल्पना के अनुरूप एक रेखा-चित्र तैयार कर लाया। उसमें शान्तलदेवी ने कुछ परिवर्तन-संशोधन सुझाये। उन्हीं के अनुसार उत्कीर्णन-कार्य आरम्भ हो गया। आनर्त-शाला का विस्तरण-कार्य शान्तलदेवी की देखरेख में चला तो भी उसका शास्त्रोक्त विधि से उद्घाटन एवं लांछन-स्थापना का कार्य, सन्निधान के लौटने के पश्चात् उन्हीं के अमृत-हस्त से करवाने का निश्चय शान्तलदेवी ने किया।

यादवपुरी में राजमहल में अपनी अनुपस्थिति के उस अल्प समय में रूपान्तरण होकर नयी लगनेवाली आनर्त-शाला के वैशाल्य को देखकर बिट्टिदेव चकित रह गये। उन्हें जब जैसा लगा उसे अपनी हृदयेश्वरी से कभी छिपाये नहीं रखा। आज भी उन्होंने वही किया। "देवी, हम सोचते कुछ और थे और यहाँ हुआ कुछ और ही।" उन्होंने कहा।

"तो सन्निधान को इधर की सोचने का समय भी रहा?" शान्तलदेवी ने

पूछा।

"क्यों ?"

"नव-विवाहित दो रानियाँ दोनों पार्श्वों में जब होंगी तो सन्निधान को इधर की सोचने के लिए मौक़ा दे सकेंगी ?"

"इस विषय पर हम कुछ कहने में असमर्थ हैं। वास्तव में वे स्वयं इधर की बातों पर विचार करने के लिए क्षण-क्षण पर उकसाया करती थीं। दिन में कम से कम बीसियों बार वे पट्टमहादेवी का स्मरण किये बिना न रहतीं। अपने जीवन को सार्थक बनानेवाली पुण्यमयी का स्मरण किये बिना वे एकदिन भी नहीं गुजारतीं। ऐसी स्थिति में हममें अंकुरित इधर के विचार हमें उछालते हुए-से लगते।"

"सहज ही उठनेवाले विचार क्या होंगे शायद ?"

"पता नहीं, हमें लगने लगा कि हम अपराधी हैं। हमारे कारण हमारी देवी कितनी परेशान हुई होंगी—यह बात हमारे दिल में सदा चुभती रही। हम दोनों ने कितने चैतन्य-पूर्ण सन्निवेशों का अनुभव किया है, ऐसा समय शायद फिर नहीं आएगा। हमारी देवी की चेतना इस प्रक्रिया से निष्क्रिय हो गयी होगी—यों सोचते-सोचते हमारा मन विक्षुब्ध हो उठा था। परन्तु यहाँ आने के बाद, यहाँ के इन परिवर्तनों को देखने के पश्चात् और इस सुन्दरतम आनर्त-शाला को देखकर लगा कि देवी की चेतना आजकल कला-कल्पना को नवीन रूप देने में लगी हुई है। यह सब देख मन को बड़ी तसल्ली हुई।"

"जब तक यह देवी जीवित रहेगी तब तक सन्निधान को अपराध नहीं करने देगी। जो अपने को अपराधी मान बैठते हैं वे शक्तिहीन बनते हैं, कायर होते हैं। सन्निधान को ऐसा नहीं होना चाहिए। सन्निधान द्वारा तो अधिकाधिक देन इस पोय्सल राज्य को मिलनी चाहिए। इसीलिए सन्निधान की स्फूर्ति जगाते रहने की ही ओर देवी का विशेष ध्यान रहता है; इसे समझकर विश्वास के साथ व्यवहार करना चाहिए। सन्निधान पर श्रद्धा रखनेवालीं, सन्निधान की प्रगति पर विश्वास रखनेवालीं सैकड़ों हाथ पसारकर पाणिग्रहण करने की इच्छा करें तब भी यह देवी विचलित नहीं होगी, न ही उनका विरोध ही करेगी। पहले-पहल उत्पन्न प्रेम और विश्वास उस समय जैसे रहे आज भी वैसे ही अक्षुण्ण बने हैं। आगे भी वैसे ही रहेंगे। इन बातों से मेरी मानसिक शान्ति और निश्चिन्तता कभी आलोडित नहीं होगी। मैं सन्निधान को विश्वास दिलाती हूँ।" शान्तलदेवीने कहा।

आगे बोलने के लिए मौक़ा नहीं रहा। नियोजित व्यवस्था के अनुसार आनत-शाला का उद्घाटन और पोय्सल-लांछन की प्रतिष्ठा का समारम्भ बिट्टिदेव के हाथों सम्पन्न हुआ। यादवपुरी में उपस्थित अधिकारी वर्ग और पौर-प्रमुख इस

समारम्भ में उपस्थित रहे। शान्तलदेवी ने कहा, "यह कला-मन्दिर है, यह उतना ही पवित्र स्थान है जितना देवमन्दिर; क्योंकि कला की आराधना मन को आलोडित न करके शान्ति देनेवाली है। आज के इस सन्तोष समारम्भ के समय मेरे ही द्वारा शिक्षित कुमार बिट्टियण्णा अपनी नृत्य-वैखरी का प्रदर्शन करेगा।"

उस दिन स्त्री-वेष धारण कर बिट्टियण्णा ने लोगों का मन मोह लिया था वही आज शिवताण्डव करते हुए विराज रहा था। सुप्त चेतना को गति देकर संचालित करने की भंगिमा में नृत्तावसान के समय उसने हाथ के डमरू को निनादित किया। पट्टमहादेवी शान्तलदेवी ने पदविन्यास के साथ गाकर उसमें सहयोग दिया—

"नृत्तावसाने हैटराज-राजो ननाद ढक्कां नवपंचवारं।
उद्धर्तुकामस्सनकादि-सिद्धान् एतद्विमर्शे शिवसूत्र-जालम्॥"

इन दोनों के सम्मिलन ने उपस्थित-जनों में एक नवीन चेतना उत्पन्न कर दी। सभी सभासद एक कल्पित साम्राज्य में मानो विलीन हो गये।

कुमार बिट्टियण्णा सबकी प्रशंसा का पात्र बना। समारम्भ के अन्त में शान्तलदेवी ने पोय्सल-लांछन का विवरण देते हुए उसके महत्त्व के विषय में प्रभावशाली भाषण दिया। सभा की समाप्ति के पहले इस लांछन को उत्कीर्ण करनेवाले शिल्पी का सम्मान किया गया। इस सन्दर्भ में उसने इस लांछन के उत्कीर्ण करने का सुयोग देने पर पट्टमहादेवी और उदयादित्य तथा अपने जैसे अनेक शिल्पियों को आश्रय देनेवाले सन्निधान के प्रति अपनी कृतज्ञता प्रकट की और इस लांछन को बनाने की स्मृति के उपलक्ष्य में अपने को 'शिल्पी पोय्सलाचार्य' के उपनाम से अभिहित करने का अपना इरादा व्यक्त किया। इसके लिए आशीर्वाद देकर सम्मति देने की सन्निधान से प्रार्थना भी की।

उसकी अभिलाषा उचित लगी। सारी सभा ने हर्षोद्गार के साथ तालियाँ बजायीं। पोय्सलेश्वर बिट्टिदेव ने घोषित किया, "पोय्सल जनता से स्वीकृत यह शिल्पनाम शाश्वत हो।"

इसी शुभ अवसर पर इस आनर्तशाला में संगीत, साहित्य, नृत्य—इन विषयों का पाठन-कार्य भी शुरू हुआ। यादवपुरी के स्त्रीसमुदाय के लिए ही शाला शुरू की गयी थी। राजकुमारी हरियलदेवी भी जो सबसे छोटी उम्र की छात्रा थी, इसमें सम्मिलित हुई थी। पर्याप्त संख्या में छात्राएँ सम्मिलित हुईं। अनध्ययन का दिन छोड़कर, मध्याह्न के बाद एक प्रहर तक इसका पाठ चलता था।

किसी तरह के उलट-फेर के बिना शान्ति से एक महीना बीत गया। इसके बाद एक दिन शाम को, पाठ-प्रवचन के समाप्त होने के बाद, उपाहार करती हुई हरियलदेवी ने कै कर दी। उसके सारे अंग पसीने से तरबतर हो गये। वह अमनस्क-सी ऊपर-नीचे देखने लगी। स्वयं शान्तलदेवी ने उसे शयनागार में ले

जाकर लिटाया। राजमहल के वैद्य को बुलावा भेजा गया। विट्टिदेव को समाचार मालूम हुआ। उदयादित्य, पुनीसमय्या, नागिदेवण्णा, सिंगिमय्या, रेविमय्या—सभी उधर एक साथ आ जुड़े, सबके-सब चिन्तामग्न।

जल्दी ही सेवक बोकणा सोमनाथ पण्डित को बुला लाया। जांच करके एक चूरण शहद में मिलाकर चटाया, कै रोकने के लिए। फिर कहा, "समय-समय पर मूत्र-विसर्जन ठीक होता है या नहीं—इस पर ध्यान रखना चाहिए। कुछ घबड़ाने की आवश्यकता नहीं, वात-प्रकोप के कारण वमन हुआ है। शायद आज किसी विशेष कारण से थकावट भी आयी है।"

शान्तलदेवी ने स्वीकार किया, "आज अभ्यास करते समय उसने सबसे ज्यादा नृत्याभ्यास किया। बार-बार ग़लती होती थी, उसे ठीक करने के लिए बार-बार अभ्यास करना पड़ा, इसलिए वह थक गयी होगी।"

"पट्टमहादेवीजी ग़ुस्सा न करें। उम्र के हिसाब से अधिक अभ्यास नहीं करना चाहिए। यह स्वास्थ्य का पहला सूत्र है।"

"मुझे भी इसका ज्ञान है। ऐसा नहीं लगा कि वह थक गयी है। शायद सुबह से ही ठीक नहीं रही। उसने बताया नहीं। किसी ने ध्यान नहीं दिया। अभ्यास के समय पैरों की गति में जो ग़लती हुई वह थकावट के कारण है—यह उसे नहीं मालूम हुआ। मुझे भी सूझा नहीं। आइन्दा पदगति ग़लत होने पर उसे स्पर्श कर देखना होगा। मैं ही बिटिया को अधिक थका देने का कारण बनी, इसी का मुझे दुःख है।" शान्तलदेवी ने कहा।

"यह हम और आपके करने से नहीं होता। होना था सो हुआ। इसके लिए चिन्तित होने की ज़रूरत नहीं। जल्दी ही सब ठीक हो जाएगा।" यों कहकर पण्डितजी ने दवा दी और बताया कि रात को शहद में नींबू के रस में घोलकर पिलावें। और ख़ुद दूसरे दिन सूर्योदय के पूर्व ही आने की बात कहकर, नब्ज़ देखकर आगे के चिकित्साक्रम का निश्चय करने की सूचना दे उठ खड़े हुए।

शान्तलदेवी ने कहा, "अच्छा।"

पण्डितजी चले गये, बाक़ी लोग भी यथास्थान चले गये।

विट्टिदेव दिङ्मूढ-से बैठे रहे। उनका हाथ हरियलदेवी के माथे पर था।

"सन्निधान को घबड़ाने की ज़रूरत नहीं। वमन किसे नहीं हो जाता?"

"इस राजमहल में हमने इसे देखा नहीं।" विट्टिदेव ने कहा।

"न देखा हो, शरीर का यह धर्म है कि जिसे वह न चाहे उसे बाहर निकाल देता है। शरीर के स्नायु हमसे ज़्यादा सतर्क रहते हैं। हमारी चेतना के विरुद्ध कोई भी चीज़ अन्दर जाय तो उसे वह बाहर कर ही देते हैं। वमन हुआ तो अच्छा हुआ। अन्दर ही रहता तो अधिक कष्ट देता।

"हमारी पट्टमहादेवी आयुर्वेद की पण्डिता भी हैं यह हम भूल ही गये थे।"

"आयुर्वेद और ज्योतिष दोनों का ज्ञान होने पर भी उनका प्रयोग निजी जनों के साथ नहीं करना चाहिए। हरियला की चिकित्सा के लिए पण्डितजी का मार्गावलम्बन ही हमारे लिए सहारा है। पण्डितजी ने कहा भी है कि घबड़ाने की ज़रूरत नहीं। सन्निधान आराम करने जा सकते हैं।"

"ठीक लगे तो आसन्दी को समाचार भेजकर रानियों को बुलवा सकते हैं।"

"उन बेचारियों को यहाँ की झंझटों में फँसाने के लिए क्यों बुलवावें? वे अपने में आराम से रहें।"

"वे यों समझने के स्वभाव की नहीं। अलावा इसके राजलदेवी बच्चों पर विशेष प्रीति रखती हैं। कई बार उन्होंने कहा भी कि बच्चों में से किसी को साथ ले आते तो अच्छा होता।"

"यहाँ क्या लोगों की कमी है? फिर भी सन्निधान बुलवाना चाहें तो कल ही ख़बर देकर बुलवा सकते हैं। हरियला के लिए उन्हें कष्ट न दें—मेरा ऐसा विचार है। मेरे इस 'न' को अन्यथा नहीं लेंगे।"

"तो क़्या हम अन्यथा लेंगे, ऐसा सोचती हैं?"

"सन्निधान के सम्बन्ध में मुझे कोई शंका नहीं। मेरी रीति से सन्निधान अच्छी तरह परिचित हैं इसलिए मेरी भावना को ग्रहण करने में सन्निधान असमर्थ नहीं हैं।"

"ठीक है।" कहकर बिट्टिदेव चले गये।

पण्डितजी अपने कहे अनुसार दूसरे दिन सूर्योदय के पहले ही आ गये और नाड़ी की परीक्षा की। उन्हें नाड़ी की गति का सही परिचय नहीं मिला; बीच-बीच में कुछ समय छोड़कर उन्होंने कई बार परीक्षा की।

"क्यों पण्डितजी?" शान्तलदेवी ने पूछा।

"नाड़ी की गति बड़ी विचित्र है, इसलिए रोग के मूल को समझना साध्य नहीं हो रहा है।" पण्डितजी बोले।

"वैद्य को घबड़ाना नहीं चाहिए। आप हड़बड़ाकर जो भागे आये, इसे देखकर मुझे ऐसा लग रहा है।" शान्तलदेवी ने कहा।

"कर्तव्य है; सूर्योदय क्या मेरी प्रतीक्षा में रुकेगा? वक़्त पर अपना कर्तव्य करने के लिए चला आया। मुझे कोई घबड़ाहट नहीं है।"

"तब तो ठीक है।"

"मुझे अब नयी औषधि बनानी होगी। दो घड़ी बाद कोई आ जाए···न, न, मैं ही आऊँगा उसे लेकर। फिलहाल यह घुटी शहद में मिलाकर दें तो काफी है। राजकुमारी जी रात में सोयीं न?"

"थोड़ा-बहुत सोयी। बीच-बीच में बड़बड़ाकर कई बार जागी। जब कभी जागती तो मुख पर पसीना ही पसीना होता।"

"उस पहले जैसा कहीं डर तो नहीं गयी ?"

"ऐसा होने का कोई कारण शायद नहीं। फिर भी दर्याफ़्त करेंगे।"

"वह भी जान लें तो अच्छा। आज्ञा हो तो मैं हो आऊँ ?"

"आप ही को आने की आवश्यकता नहीं; नौकर को भेज दूंगी।"

"नहीं, मैं ही आऊँगा। ओषधि एक बार मैं स्वयं दे जाऊँ, यही अच्छा है।"

"वही कीजिए।"

पण्डितजी चले गये।

थोड़ी देर में पण्डितजी ओषधि बनाकर ले आये। राजकुमारी को दी। उन्होंने समझा था कि राजकुमारी का स्वास्थ्य दो-तीन दिन में सुधर जाएगा परन्तु उनकी कल्पना सही नहीं रही। राजकुमारी की स्थिति दिन-ब-दिन विचित्र होती गयी। वह बार-बार हड़बड़ा उठती, घबड़ा जाती, घबड़ाहट के कारण बार-बार अधिक कम्पन हो उठता।

उस दिन शरीर आग की तरह तप रहा था। वमन मात्र होना रुका था। फिर भी बुखार के न उतरने, नींद के न आने से पण्डितजी घबड़ा गये। उन्होंने इस बात को छिपा न रखा, पट्टमहादेवी से कह दिया, "दूसरे वैद्य का आकर देखना सब दृष्टियों से उचित होगा और प्रस्तुत प्रसंग में तो यह बहुत ही आवश्यक है।"

"पोय्सल राजमहल के वैद्य बीमारी का निवारण न कर सके—बाहर के लोगों में इस तरह की बात फैल जाय तो आपकी प्रतिष्ठा में बट्टा नहीं लगेगा ?" शान्तलदेवी ने पूछा।

"पट्टमहादेवीजी, यहाँ पण्डित के गौरव का प्रश्न प्रधान नहीं। यह एक व्यक्ति के प्राणों का सवाल है। रोग को पहचानकर उसका निवारण करना ही होगा। कोई वैद्य एक बीमारी का अगर पता न लगा सके और सब कुछ जानने का गर्व करे और रोगी को कष्ट देता रहे तो वह वैद्यक-वृत्ति और आयुर्वेद के प्रति द्रोह होगा। ऐसे मौक़े पर अन्य वैद्य को बुलवाकर रोग का पता लगवाना और चिकित्सा करवाना—यही वैद्यकीय विधान है। उससे गौरव ही बढ़ेगा। थोड़ी-सी भी जानकारी मिल जाती है तो इससे नुकसान नहीं होगा। इसलिए अविलम्ब दूसरे पण्डित को बुलवा लिया जाय तो अच्छा। अगर सन्निधान से निवेदन करने का आदेश मुझे दें तो मैं स्वयं निवेदन कर लूँगा, अथवा उचित समझें तो पट्टमहादेवी ही सूचित करें।"

"मैं स्वयं कहूँगी। कोई भी आए, आप उनके साथ रहकर सहयोग देते रहें।"

राजमहल में उद्विग्नता बढ़ गयी थी। बात वेलापुरी और दोरसमुद्र में भी पहुँच गयी। उन-उन जगहों के श्रेष्ठ वैद्य जल्दी ही यादवपुरी आ पहुँचे। सारे राष्ट्र में संदेश पहुँच गया। सभी वैद्यों के पास आह्वान भेजा गया। राष्ट्र के कोने-कोने से वैद्य आने लगे। बीमारी का ब्यौरा मालूम था इसलिए जिसे जो सूझा वही

व्याख्या उसने की।

राजमहल में जो भी आएँ उनके लिए खुला स्वागत था। सबका एक ही लक्ष्य रहा कि राजकुमारी नीरोग हो जाएँ।

सोमनाथ पण्डित ने जंत्री देखकर समझ लिया कि जिस दिन बच्ची बीमार पड़ी उस दिन स्वाति नक्षत्र था; एक महीने तक यह अस्वस्थता रहेगी। फिर भी उन्होंने सभी वैद्यों को सहयोग दिया। उनके मन में जो महीने भर की अवधि का हिसाब रहा वह भी समाप्त हो गया। सुधार नहीं दिखाई दिया।

बिट्टिदेव-शान्तलदेवी बहुत घबड़ा गये। बिट्टिदेव ने अपने समस्त राजकीय कार्य स्थगित कर दिये। मारसिंगय्या और माचिकब्बे, रानी पद्मलदेवी और उनकी बहनें, रानी बम्मलदेवी और रानी राजलदेवी, सभी आये हुए थे।

सभी आ गये, इससे होता क्या है? स्वास्थ्य तो सुधरा नहीं! समूचे राष्ट्र के शिवालयों, जैन मन्दिरों आदि सर्वत्र राजकुमारी के स्वास्थ्य के लिए पूजा-अर्चा सम्पन्न हुई। मनौतियाँ मानी गयीं। मृत्युंजय मन्त्र का जाप हुआ। यह भी घोषणा हुई कि राजकुमारी को स्वस्थ करनेवाले को पुरस्कार और बिरुदावली से सम्मानित किया जाएगा। एक-दो बाह्य राष्ट्रों से भी वैद्य आये थे, मगर उनसे कुछ हो न सका।

बल्लाल-जीवरक्षक चारुकीर्ति पण्डितजी के पास भी ख़बर पहुँची थी। वे भी आ गये थे, परन्तु कोई सफलता नहीं मिली।

पद्मलदेवी को एरेयंग प्रभु के अस्वस्थ होने के अन्तिम दिनों की याद आ गयी। उस समय उसके महल में यन्त्र-तन्त्र-मन्त्र जो कुछ हुआ था—सो सब स्मरण हो आया। उसके मन में संशय पैदा हुआ। उसने मन-ही-मन निश्चय कर लिया कि यह दूसरी रानियों की करामातों का ही नतीजा है। पहले इस लड़की पर प्रयोग कर, बाद में एक-एक कर राजकुमारों को बलि चढ़ाने के लिए बनी योजना है। वह अपने इन विचारों को छिपाये नहीं रह सकी, सीधे शान्तलदेवी से कह बैठी।

शान्तलदेवी ने कहा, "न, न, यों हमें शंका नहीं करनी चाहिए। बेचारी, वे तो यहाँ थीं ही नहीं। उनपर दोषारोपण करना अच्छा नहीं। अभी हमारी ग्रह-गति अच्छी नहीं, हमें मानसिक शान्ति नहीं मिल रही है, और यह सब भी हुआ है। निष्कलमष व्यक्तियों पर सन्देह करें तो उस पाप का फल भी हमें भुगतना होगा। ऐसा कुछ नहीं हुआ है। आप अपने मन को ऐसे विचारों से कलुषित न करें।"

"तुम कुछ भी कहो, मुझे तो विश्वास नहीं होता। चालुक्य विश्वास पैदा कर धोखा देनेवाले हैं। किसी से कहे बिना पिरियरसी चंदलदेवी तुम्हारी शादी में चोरी-छिपी आयी थीं न? स्वार्थ के लिए चाहे जो भी कर सकते हैं। तुम्हारा मन

इतना निष्कपट है कि वह सारी दुनिया को निष्कपट मान बैठता है। पहले ही मुझसे एक बार कहती तो मैं इस शादी को न होने देती।" पद्मलदेवी ने कहा।

"शादी रुकने से द्वेष ही पैदा होता। यह द्वेष तो तब भी किया जा सकता था न?"

"तो तुम्हारा मन भी कहता है कि ऐसा हो सकता है। है न?"

"मैंने यह तो कहा नहीं न? मुझे किसी पर शंका होती ही नहीं।"

"तुम्हारा यह मनोभाव एक-न-एक दिन तुम्हें मुसीबतों में डाल देगा। इसलिए मेरी बात मानो। ऐसे लोगों को दूर रखो। इन रानियों को आसंदी भेज दो। किसी मन्त्रवादी को बुलवाकर प्रतीकार मन्त्र-तन्त्र करवाओ।"

"मुझे इन मन्त्र-तन्त्र आदि पर विश्वास ही नहीं। कृपया इस विषय में मुझे कोई सलाह न दें। अब तक इसे भूतचेष्टा समझकर अनेक मन्त्रवादी आये थे। उनमें किसी को राजकुमारी तक पहुँचने का मौक़ा ही नहीं दिया गया।" शान्तलदेवी ने कहा।

"मुझे जो सूझा मैंने बता दिया। अब आपकी मर्ज़ी। जो मुझे सूझता है उसे कह ही देती हूँ। इसे सन्निधान से भी कहूँगी, दूसरों से भी कहूँगी।" पद्मलदेवी ने कहा।

"सब लोग मेरी तरह विचार करनेवाले नहीं हैं। इसका परिणाम अच्छा नहीं होगा। फिर से राजमहल में वही पुराना किस्सा न हो। यह बात मेरे और मेरे बच्चों के जीवन से सम्बन्धित है। मुझे अपने आप में स्वतन्त्र रहने दीजिए तो बड़ा उपकार होगा। आपके पैरों पड़कर विनती करूँगी, आप अपने इस सन्देह को दूर कर मन को निर्मल बनाए रखें। जो शंका आपके मन में उठी है उसे फैलाने का प्रयत्न मत कीजिए।"

"ठीक है। जब तुमने ही अपनी बरबादी का निर्णय कर लिया है तो मैं क्या करूँ? जो भी सफ़ेद है उसे दूध मत समझो। पहले राजमहल में जो सब गुज़रा उससे जितना कष्ट मुझे हुआ, उतना किसी और को नहीं हुआ है, जितना दुःख मैंने अनुभव किया उतना और किसी ने नहीं किया। उस तरह की असह्य वेदना का अनुभव किसी को न हो—यही मैं चाहती हूँ। अन्यथा इस विषय से मेरा कोई सम्बन्ध नहीं। मुझे गलत मत समझो, मेरी बातों का अन्यार्थ न लो। मेरे मन में भलाई की आकांक्षा है इसलिए जो सूझा उसे दिल खोलकर कह दिया। यदि आपको विश्वास न हो तो मैं भला कर ही क्या सकती हूँ?"

"हम सब की भलाई हो यही आपका ध्येय है—इस में कभी मेरा अविश्वास नहीं रहा है। परन्तु आपकी सलाह आप के उस लक्ष्य को नहीं साध सकती, यही मेरा आपसे निवेदन है।"

बात वहीं रुक गयी।

सब के मन चिन्ताग्रस्त हो उठे। राजमहल में कोई हलचल नहीं दिख रही थी। सारे कार्य यन्त्रवत् चलने लगे थे; सब लोग उदासी में दिन गुज़ार रहे थे। सूर्योदय-सूर्यास्त, सबकी खान-पान आदि नित्य-नैमित्तिक क्रियाएँ—सब कुछ जैसे यन्त्रवत् चल रहा था। सारी यादवपुरी ही चिन्ताग्रस्त हो उठी थी।

राजमहल के नौकर-चाकरों की दशा बहुत नाजुक बन गयी। यान्त्रिक रूप से चलनेवाले कार्यकलापों पर एक गम्भीर मौन छाया हुआ था।

यदि कोई कुछ कहे तो उसका और ही अर्थ न लगा ले, कहीं अवांछनीय परिस्थितियाँ उत्पन्न न हो जायें, इस भय से सबके-सब गुमसुम थे। केवल हाँ, नहीं, जो आज्ञा—इन शब्दों के अलावा कोई बात ही नहीं निकलती थी।

राजकुमारी की इस अस्वस्थता की वजह से चट्टलदेवी-मायण को पुत्रजन्म की खुशी भी अनुभूत नहीं हो सकी। यों यादवपुरी में संतोषजनक कार्य होने पर भी ये यथाक्रम सम्पन्न न होकर यान्त्रिक बनकर रह गये। सब मौन, निराडम्बर, चहल-पहल से रिक्त। होनेवाले अनिवार्य कार्य होते रहे। घर-घर में राजकुमारी के स्वास्थ्य के लिए मनौतियाँ, पूजा-पाठ आदि चलते रहे।

इतना ही नहीं, राजकुमार विनयादित्य की वर्धन्ती का उत्सव भी निमित्त मात्र के लिए सम्पन्न हुआ था।

लोग जहाँ-तहाँ निस्तेज-से होकर इधर-उधर कोने में बैठे पड़े थे। किसी को कुछ सचेत करना होता तो व्यक्तिगत न होकर वह ध्वनिगत रीति से सचेत करना होता था। अर्थात् घण्टी बजानेवाले नौकरों के ही काम में विशेष बढ़ोतरी हुई। घण्टी बजानेवालों को विशेष रूप से सतर्क रहना होता था। सन्निधान कब किधर आएँगे जाएँगे, इसका पता ही किसी को नहीं होता था। वे जाएँ तो लोगों का जहाँ तहाँ रहना नहीं हो पाता था। सन्निधान का सान्निध्य जब राजमहल में हो तब राजमहल में सबके व्यवहार की एक निर्दिष्ट रीति थी। इसके लिए लोगों को सजग रखना आवश्यक था। इसलिए राजमहल में कई स्थानों पर घण्टियाँ लटकायी गयी थीं। अकेले रेविमय्या का राजमहल में चलने-फिरने में प्रभुत्व होने से, दूसरा उपाय न देख लोगों को सजग रखने के लिए उसी ने यह व्यवस्था की थी। राजमहल के मौन को भेदनेवाला यही एक घण्टानाद था। काश ! इस घण्टानाद की झंकार राजकुमारी की बीमारी को भगा देती तो कितना अच्छा होता ! इससे भी कुछ नहीं हुआ।

इतना निष्कपट है कि वह सारी दुनिया को निष्कपट मान बैठता है। पहले ही मुझसे एक बार कहती तो मैं इस शादी को न होने देती।" पद्मलदेवी ने कहा।

"शादी रुकने से द्वेष ही पैदा होता। यह द्वेष तो तब भी किया जा सकता था न?"

"तो तुम्हारा मन भी कहता है कि ऐसा हो सकता है। है न?"

"मैंने यह तो कहा नहीं न? मुझे किसी पर शंका होती ही नहीं।"

"तुम्हारा यह मनोभाव एक-न-एक दिन तुम्हें मुसीबतों में डाल देगा। इसलिए मेरी बात मानो। ऐसे लोगों को दूर रखो। इन रानियों को आसंदी भेज दो। किसी मन्त्रवादी को बुलवाकर प्रतीकार मन्त्र-तन्त्र करवाओ।"

"मुझे इन मन्त्र-तन्त्र आदि पर विश्वास ही नहीं। कृपया इस विषय में मुझे कोई सलाह न दें। अब तक इसे भूतचेष्टा समझकर अनेक मन्त्रवादी आये थे। उनमें किसी को राजकुमारी तक पहुँचने का मौक़ा ही नहीं दिया गया।" शान्तलदेवी ने कहा।

"मुझे जो सूझा मैंने बता दिया। अब आपकी मर्ज़ी। जो मुझे सूझता है उसे कह ही देती हूँ। इसे सन्निधान से भी कहूँगी, दूसरों से भी कहूँगी।" पद्मलदेवी ने कहा।

"सब लोग मेरी तरह विचार करनेवाले नहीं हैं। इसका परिणाम अच्छा नहीं होगा। फिर से राजमहल में वही पुराना किस्सा न हो। यह बात मेरे और मेरे बच्चों के जीवन से सम्बन्धित है। मुझे अपने आप में स्वतन्त्र रहने दीजिए तो बड़ा उपकार होगा। आपके पैरों पड़कर विनती करूँगी, आप अपने इस सन्देह को दूर कर मन को निर्मल बनाए रखें। जो शंका आपके मन में उठी है उसे फैलाने का प्रयत्न मत कीजिए।"

"ठीक है। जब तुमने ही अपनी बरबादी का निर्णय कर लिया है तो मैं क्या करूँ? जो भी सफ़ेद है उसे दूध मत समझो। पहले राजमहल में जो सब गुजरा उससे जितना कष्ट मुझे हुआ, उतना किसी और को नहीं हुआ है, जितना दुःख मैंने अनुभव किया उतना और किसी ने नहीं किया। उस तरह की असह्य वेदना का अनुभव किसी को न हो—यही मैं चाहती हूँ। अन्यथा इस विषय से मेरा कोई सम्बन्ध नहीं। मुझ गलत मत समझो, मेरी बातों का अन्यार्थ न लो। मेरे मन में भलाई की आकांक्षा है इसलिए जो सूझा उसे दिल खोलकर कह दिया। यदि आपको विश्वास न हो तो मैं भला कर ही क्या सकती हूँ?"

"हम सब की भलाई हो यही आपका ध्येय है—इस में कभी मेरा अविश्वास नहीं रहा है। परन्तु आपकी सलाह आप के उस लक्ष्य को नहीं साध सकती, यही मेरा आपसे निवेदन है।"

बात वहीं रुक गयी।

सब के मन चिन्ताग्रस्त हो उठे। राजमहल में कोई हलचल नहीं दिख रही थी। सारे कार्य यन्त्रवत् चलने लगे थे; सब लोग उदासी में दिन गुज़ार रहे थे। सूर्योदय-सूर्यास्त, सबकी खान-पान आदि नित्य-नैमित्तिक क्रियाएँ—सब कुछ जैसे यन्त्रवत् चल रहा था। सारी यादवपुरी ही चिन्ताग्रस्त हो उठी थी।

राजमहल के नौकर-चाकरों की दशा बहुत नाजुक बन गयी। यान्त्रिक रूप से चलनेवाले कार्यकलापों पर एक गम्भीर मौन छाया हुआ था।

यदि कोई कुछ कहे तो उसका और ही अर्थ न लगा ले, कहीं अवांछनीय परिस्थितियाँ उत्पन्न न हो जायें, इस भय से सबके-सब गुमसुम थे। केवल हाँ, नहीं, जो आज्ञा—इन शब्दों के अलावा कोई बात ही नहीं निकलती थी।

राजकुमारी की इस अस्वस्थता की वजह से चट्टलदेवी-मायण को पुत्रजन्म की खुशी भी अनुभूत नहीं हो सकी। यों यादवपुरी में संतोषजनक कार्य होने पर भी ये यथाक्रम सम्पन्न न होकर यान्त्रिक बनकर रह गये। सब मौन, निराडम्बर, चहल-पहल से रिक्त। होनेवाले अनिवार्य कार्य होते रहे। घर-घर में राजकुमारी के स्वास्थ्य के लिए मनौतियाँ, पूजा-पाठ आदि चलते रहे।

इतना ही नहीं, राजकुमार विनयादित्य की वर्धन्ती का उत्सव भी निमित्त मात्र के लिए सम्पन्न हुआ था।

लोग जहाँ-तहाँ निस्तेज-से होकर इधर-उधर कोने में बैठे पड़े थे। किसी को कुछ सचेत करना होता तो व्यक्तिगत न होकर वह ध्वनिगत रीति से सचेत करना होता था। अर्थात् घण्टी बजानेवाले नौकरों के ही काम में विशेष बढ़ोतरी हुई। घण्टी बजानेवालों को विशेष रूप से सतर्क रहना होता था। सन्निधान कब किधर आएँगे जाएँगे, इसका पता ही किसी को नहीं होता था। वे जाएँ तो लोगों का जहाँ तहाँ रहना नहीं हो पाता था। सन्निधान का सान्निध्य जब राजमहल में हो तब राजमहल में सबके व्यवहार की एक निर्दिष्ट रीति थी। इसके लिए लोगों को सजग रखना आवश्यक था। इसलिए राजमहल में कई स्थानों पर घण्टियाँ लटकायी गयी थीं। अकेले रेविमय्या का राजमहल में चलने-फिरने में प्रभुत्व होने से, दूसरा उपाय न देख लोगों को सजग रखने के लिए उसी ने यह व्यवस्था की थी। राजमहल के मौन को भेदनेवाला यही एक घण्टानाद था। काश ! इस घण्टानाद की झंकार राजकुमारी की बीमारी को भगा देती तो कितना अच्छा होता ! इससे भी कुछ नहीं हुआ।

राजमहल राजमहल-का-सा नहीं रह गया। सर्वत्र मौन। गम्भीर गुफा-जैसा।

एकाएक घण्टी बजानेवाली हड़बड़ी में घण्टी बजा उठी। उस समय घबड़ाहट में उसे अपने बदन पर के वस्त्रों की अस्तव्यवस्तता का भी ध्यान न रहा। राज-महल के अन्दर की दासियाँ आवाज़ सुनकर घबड़ा उठीं। सारे अन्तःपुर में मौन छा गया। घण्टी की ध्वनि-लहरें प्रतिध्वनित हो रही थीं।

महाराज बिट्टिदेव जल्दी-जल्दी चलते हुए उस वक़्त उस घण्टी बजानेवाली के निकट पहुँच चुके थे। अचानक घण्टी की आवाज़ कान में पड़ी तो घबड़ाहट से उनका शरीर हिल उठा, वे वहीं खड़े हो गये। एक बार उन्होंने सिर से पैर तक उस बजानेवाली को देखा। उस दृष्टि ने उसे घबड़ा दिया। वह काँप रही थी। यदि एक मिनट और वे वहीं ठहर जाते तो उस दासी का घड़ाम से गिरना भी वे स्वयं देख लेते।

राजकुमारी के शयन-कक्ष का परदा हिला और सरका, बिट्टिदेव ने अन्दर प्रवेश किया।

चामरधारिणी धीरे-धीरे पंखा कर रही थी कि पसीना न छूटे और अधिक हवा न लगे। पट्टमहादेवी शान्तलदेवी बीमार बच्ची के पास पलंग पर बैठीं उसके सिर पर हाथ सहला रही थीं। वहीं बैठे-बैठे महाराज को बैठने का संकेत किया, मौन ही।

महाराज गुस्से से तमतमा रहे थे। कुछ बोले बिना संकेतित स्थान पर पलंग पर ही जा बैठे। बच्ची की ओर देखा। उनकी आँखें भर आयीं। बोले, "देवी हमें इस राजपद से क्या मिला? हमारी इस प्यारी बेटी की बीमारी को दूर कर सकनेवाला कोई वैद्य न हो तो वैद्यक वृत्ति ही के लिए कलंक है।"

शान्तलदेवी मौन रहीं।

"सभी देवी-देवताओं की मनौती मानी; सभी जगह राजमहल के नाम से पूजा-पाठ करवाया गया। फिर भी बच्ची की स्थिति में कोई परिवर्तन नहीं हुआ। सैकड़ों वैद्य आये। सबने परीक्षा भी की। बीमारी क्या है—इसका किसी को पता तक नहीं लगा!" कहकर वे एक दीर्घ निश्वास लेकर सिर झुकाकर बैठ गये।

शान्तलदेवी ज्यों-की-त्यों बैठी रहीं, उनका हाथ बच्ची के सिर पर ही फिरता रहा।

"देवी, तुम्हारे अमृत-हस्त की इस सेवा से भी यह बीमारी यदि दूर नहीं हो पायी तो समझना चाहिए कि हमारे लिए कोई अनिष्ट होनेवाला है।" कहकर बिट्टिदेव शून्य की ओर देखते हुए मौन बैठे रह गये।

शान्तलदेवी ने एक बार महाराज की ओर और एक बार अध-मुँदी आँख, बिस्तर पर पड़ी बच्ची की ओर देखा। मगर बोलीं कुछ नहीं।

दरवाज़े का परदा हिला। बिट्टिदेव का पुत्र कुमार बल्लाल घुस आया था अन्दर। उसके चेहरे पर घबड़ाहट से पूर्ण किसी दुःख का भाव छलक रहा था। वह हाँफ रहा था। उसे वहाँ पिताजी की उपस्थिति की कल्पना नहीं थी। महाराज को देखते ही कुछ गम्भीर हो गया। सीधा पट्टमहादेवी के पास गया। घबड़ाते हुए बोला, "माँ!"

शान्तलदेवी ने मौन तोड़ा। पूछा, "क्या है, अप्पाजी?"

कुमार बल्लाल ने एक बार पिता की ओर देखा और फिर पट्टमहादेवी के कान में कुछ फुसफुसाया।

पट्टमहादेवी एकदम उठकर जल्दी-से-जल्दी बाहर दौड़ी गयीं। कुमार बल्लाल भी उनके पीछे चल पड़ा। इतना सारा क्षणभर में हो गया। इतना सब महाराज बिट्टिदेव के सामने ही हुआ। शायद उन्हें सूझा ही नहीं कि पूछें, "क्यों? क्या हुआ? कहाँ?" सूझने के पूर्व ही यह सब हो चुका था।

वह भी उठकर उनके पीछे चल दिये थे। शान्तलदेवी सीधे उस घण्टी बजाने-वाली दासी के पास जा पहुँचीं।

हड़बड़ाकर भागती हुई आयी पट्टमहादेवी और उनके पीछे राजकुमार, और उन दोनों के पीछे घबड़ायी हुईं दो दासियाँ। वे भी दुविधा में, शंकित होकर।

राजकुमारी जब से बीमार पड़ी तब से राजमहल के दास-दासियों को बहुत क्लिष्ट परिस्थिति में समय काटना पड़ रहा था। सदा हँसमुख, सबके साथ मिलनसारी रखनेवाली पट्टमहादेवी और सदा खुशी से बरतनेवाले महाराज—दोनों अब निरन्तर चिन्तित और दुःखी दिखाई दे रहे थे। नौकर-चाकर कब क्या करें, क्या कहें—ऐसी दुविधा के चक्कर में पड़े हुए थे। एक तो राजमहल की नौकरी, इशारे से ही काम करना होता है। अब तो कुछ मत पूछो। आखिर ऐसा क्यों? किसी को कुछ समझ में ही नहीं आ रहा था। सच है राजकुमारी बीमार है। किसके यहाँ बच्चे बीमार नहीं होते? सब ऐसे हो जाएँ तो दुनिया चले भी कैसे?—यह उन लोगों की चिन्ता थी। फिर भी उनकी चिन्ताएँ उन्हीं के मनों में घुल जाती रहीं क्योंकि कोई किसी से कहकर प्रकट नहीं कर सकते थे। राजमहल की नौकरी जो कर रहे थे! इसीलिए कहावत चली है—"राजा कहे तो राज्य काँप उठता है, बूढ़ा कहे तो दाढ़ी हिल उठती है।"

आते ही शान्तलदेवी घण्टी बजानेवाली दासी के पास जा बैठीं; उसके माथे पर हाथ रखकर देखा।

इतने में महाराज भी वहाँ पहुंच गये। घण्टी बजाने का वह डण्डा उनके पैर से टकरा गया। बजानेवाली के हाथ से फिसलकर वह कुछ दूर जा गिरा था। उन्होंने उसे अपने हाथ में उठा लिया।

"कौन हैं?" कहती हुई शान्तलदेवी ने सिर उठाया।

उनके पीछे जो दासियाँ आयी थीं वे कुछ दूर सरककर खड़ी हो गयी थीं। निकट आने का साहस ही नहीं रह गया था उनमें।

उन्हें देखकर शान्तलदेवी ने कहा, "रुद्रव्वे, पोचिकव्वे ! तुम दोनों इस जक्की को उठा लो और मेरे शयनगृह में ले जाकर लिटाओ। किसी नौकर को भेजकर तुरन्त राजमहल के वैद्य को बुलवाओ।"

दोनों दासियाँ मूर्च्छित जक्की को उठाकर अन्तःपुर की ओर ले चलीं। शान्तलदेवी उनके पीछे-पीछे चलने लगीं। बिट्टिदेव और कुमार बल्लाल—दोनों उन्हीं का अनुसरण करने लगे।

दासियाँ जक्की को उठाकर रानी शान्तलदेवी के शयनागार में पहुँची। वहाँ के एक भद्रास्तरण पर उसे लिटानेवाली ही थीं कि शान्तलदेवी ने कहा, "अरी ! तुम्हारी अक़्ल मारी गयी ? वहाँ नहीं पलंग पर लिटाओ।"

नौकरानियों को यह मालूम नहीं था कि एक दासी को पट्टमहारानी के पलंग पर लिटाना होगा। जक्की को पलंग पर लिटा दिया गया।

शान्तलदेवी ने कहा, "रुद्रव्वे, तुम पंखा करो। पोचिकव्वे, तुम वैद्यजी को बुलवाने की व्यवस्था करो और उनके आते ही मुझे खबर दो।"

आज्ञा के अनुसार पोचिकव्वे अपने काम पर चली गयी।

फिर रुद्रव्वे से कहा, "वैद्य के आने से पहले जक्की अगर होश में आ जाए तो आकर मुझे ख़बर दो। उसे इस जगह से उठने न देना।" फिर वहाँ से राजकुमारी के शयनकक्ष की ओर चली गयीं।

बिट्टिदेव शान्तलदेवी के पीछे आ रहे थे, राजकुमारी के शयनकक्ष के द्वार पर पहुँचे ही थे कि इतने में बच्ची की आवाज़ सुन अन्दर घुस गये। कुमार बल्लाल भी पिता के पीछे-पीछे अन्दर चल गया।

शान्तलदेवी जब अन्दर आयीं तब बिट्टिदेव पलंग पर बच्ची का हाथ अपने हाथ में लेकर उसका मुख देखते बैठे थे। बच्ची अर्ध-सुप्तावस्था में एक बार चिल्लाकर फिर वैसे ही लेट गयी थी। आँखें उसकी अधखुली थीं।

शान्तलदेवी भी पलंग पर जा बैठीं। बगल के एक आसन पर कुमार बल्लाल बैठ गये थे। प्रेम से उसकी पीठ सहलाती हुई उन्होंने ऊपर की ओर देखा।

बाद में उस पंखा करनेवाली दासी से कहा, "चन्नव्वे ! कुमार बिट्टिग का गुरुजी के घर से लौटने का समय हो आया है। अप्पाजी का भोजन भी शायद अभी नहीं हुआ। इन्हें ले जाकर भोजन करवाओ और इनके विश्राम की व्यवस्था करो। छोटे बिट्टि और विनय का भोजन हो गया होगा न ?"

चन्नव्वे "हाँ," कहकर कुमार बल्लाल को ले गयी। कुमार को कुछ विचित्र-सा लगा। फिर भी राज-परिवार में जो रीति चली आयी थी उसका उल्लंघन तो नहीं किया जा सकता था। राजकुमार कुछ कहे बिना चुपचाप पट्टमहादेवी के

आदेश के अनुसार चन्नव्वे के साथ चला गया।

इधर "अर्हन् ! ये बच्चे तुम्हारे हैं। प्रभो ! उनके संरक्षण का भार तुम पर है। हम मानव जो भी करते हैं वह केवल निमित्त मात्र है। यह कुमार बल्लाल इस वंश का प्रथम अंकुर है। यह दीर्घायु प्रजावत्सल सर्वमतसहिष्णु और भ्रातृ-वत्सल बनकर राज्य कर सके, यही विनती श्रीचरणों में है।" इतना मन-ही-मन कह आँखें मूंद हाथ जोड़कर एक-दो क्षण मौन बैठी रहीं शान्तलदेवी।

फिर आँखें खोल उन्होंने बिट्टिदेव का हाथ, जिस हाथ में राजकुमारी का हाथ था, अपने हाथ में लिया और कहा, "अर्हन् ! राजकुमारी अब तुम्हारी है। मैं और सन्निधान दोनों एक साथ निवेदन कर रहे हैं। उसको बचाना न बचाना तुम्हारे ही हाथ है।"

बिट्टिदेव ने अपना दूसरा हाथ शान्तलदेवी के हाथ पर रखकर कहा, "हाँ, हाँ, भगवन् ! देवी की प्रार्थना ही मेरी प्रार्थना है। राजकुमारी, तुम्हारे सुपुर्द है। जो भगवान् उसे बचाएँगे, हम उसी के आराधक हो जावेंगे।" यह बात बिट्टिदेव से जल्दी में आतंकित स्वर में निकल गयी।

उनके हाथ में वह घण्टी बजाने का डण्डा अब भी था।

शान्तलदेवी ने उसे देखा। फिर महाराज को देखा। उनके चेहरे पर एक लघुहास्य की लहर दौड़ गयी। यह हास्य महाराज की आँखों से छिपा नहीं रहा।

तुरन्त उन्होंने पूछा, "देवी, तुम्हारी इस मुस्कुराहट के माने ?"

शान्तलदेवी ने तुरन्त उत्तर नहीं दिया। महाराज के हाथ को ही देखती रहीं जिसमें डण्डा था।

तब उन्हें अपने हाथ के उस डण्डे का भान हुआ। वह भी हँस पड़े। बोले, "तलवार पकड़नेवाले हाथ में यह घण्टी बजानेवाला डण्डा ! यही न ? अब समझ में आया।"

शान्तला ने कहा, "वह भी एक कारण है।"

"इसका अर्थ हुआ कि इसके अलावा भी कुछ और है।"

"आपकी बात।"

"क्या मैंने कोई ऐसी ग़लत बात कही ?"

"कह नहीं सकती कि बात ग़लत है। पर इसे विवेकपूर्ण बात नहीं मान सकती।"

"मेरी समझ में नहीं आया; ज़रा तुम ही स्पष्ट बता दो न ?"

"भगवान् अनेक नहीं। वह एक है। वह हमारे विश्वास के अनुसार हमारा इष्टार्थ पूर्ण करता भी है और नहीं भी करता है। इस विश्वास में स्थिरता को यदि हम खो दें तो हमें मिलेगा ही क्या ? आप ही विचार कर

देखें। 'जो भगवान् राजकुमारी को जिलावेंगे उस भगवान् के भक्त वन जाएँगे'—यह कहते समय अब तक जिस पर विश्वास रहा, वह बदल गया, यही न हुआ? उस हद तक यह अस्थिर ही बना रहा न?"

"देवी, सत्य कहा जाय तो यह बात मेरी चिन्तन-शक्ति के बाहर की है। परन्तु जहाँ हमारी कामना के सफल होने का साक्ष्य मिलेगा वहीं हमारा विश्वास जमता है। यों विश्वास करना लोकधर्म है—ऐसा हम मानते हैं। इससे अधिक हम कुछ कह नहीं सकते।"

"जाने दीजिए। अब इसपर चर्चा क्यों? हमारे विश्वास का और हमारी भावनाओं की प्रतिक्रिया का लक्ष्य अब एक ही विषय पर केन्द्रित है, और वह राजकुमारी के हित चाहने में स्थिर है।"

"परन्तु तुमने उस मुस्कुराहट का कारण नहीं कहा न?"

"कहूँ?…कहूँ? शान्तलदेवी ने बिट्टिदेव का चेहरा देखा।

वह भी बड़ी आसक्ति से उसकी ओर देख रहे थे।

"कहूँ तो सन्निधान को असन्तोष तो नहीं होगा न?" शान्तलदेवी ने पूछा।

"कहो, देवी। तुम्हारी किस बात से हम असन्तुष्ट हुए हैं?"

"तो सुनिए। सन्निधान की भगवान् विषयक यह कल्पना सुनकर और हाथ में उस डण्डे को देखकर मेरे भीतर एक विचित्र विचार उठा। उसी के कारण एकाएक मुझे हँसी आ गयी। मुझे लगा—सन्निधान अपनी बेटी के कारण, कही बात के अनुसार, एक दिन उस नये भगवान् के भक्त बनकर उसके नाम का स्मरण करने लगे और उसी को पुकारते घण्टी बजाते फिरने के लिए तैयार हो गये तो…। इसीलिए शायद कहते हैं: 'करवाल पकड़ने वाले हाथ में काठ का टुकड़ा।' शायद सन्निधान ही इस उक्ति के प्रचारक होंगे—यों कल्पना हुई तो हँसी आ गयी।"

तुरन्त बिट्टिदेव ने डण्डे को फेंक दिया और शान्तलदेवी की तरफ़ एक विचित्र ढंग से देखने लगे। उनकी बात सुनकर कुछ लज्जा भी आयी। वहाँ एकान्त रहा, किसी के आने से पहले उन्हें सजग करने की शान्तलदेवी की बुद्धिमत्ता से कुछ समाधान भी हो गया। शान्तलदेवी की इस चिन्तनधारा के पीछे छिपे लघु-हास्य की प्रवृत्ति भी उनकी समझ में आ गयी फिर भी उस हास्य से उन्हें सुखानुभव ही हुआ।

तभी एकाएक राजकुमारी ज़ोर से चिल्ला उठी और करवट बदल ली।

घबड़ाकर राज-दम्पती उसकी ओर झुके। उनका मन कुछ देर के लिए इस चिन्ता से कुछ दूर सरक गया था परन्तु इस चिल्लाहट ने उन्हें फिर आतंकित कर दिया।

"सन्निधान ने विशेष पुरस्कार की घोषणा कर वैद्यों को बुलवाने का जो

प्रयत्न किया, उसके अनुसार कोई वैद्य नहीं आये ?"

"नहीं देवी, कोई नहीं आया।"

तभी "माँ···माँ···हाय हाय हाय ! गला घोंट रहे हैं···माँ···डर लगता है ···माँ···माँ···" बड़बड़ाती हुई राजकुमारी एकदम उठ बैठी।

थरथर काँपती हुई बच्ची को अपनी छाती से लगाकर शान्तलदेवी ने कहा, "हम यहीं बैठे हैं, तुम्हारे पास ही; हम यहीं हैं तो डर किस बात का ?"

फिर भी उसका कंपन थमा नहीं। राजकुमारी ने आँखें खोलकर भयमिश्रित दृष्टि से शयनकक्ष में चारों ओर देखा। जब कोई दिखा नहीं तो कुछ साहस बटोरकर बोली, "तो···तो···वे चले गये न ? बच गयी। बच गयी।"

"कौन है, बेटी ? यहाँ कोई नहीं आये। मैं और सन्निधान दोनों बहुत देर से यहीं बैठे हैं।"

"यहाँ तीन लोग आये थे। क्या मैं झूठ बोलती हूँ ?"

"कौन हैं वे ?"

"मुझे मालूम नहीं। मैंने उन्हें कभी देखा हो, तब न ?"

"वे देखने में कैसे थे, बेटी ?"

"एकदम काले। हाथी जैसे मोटे।"

"यहाँ कैसे आये ?"

"मालूम नहीं। उनमें बड़ी आकृति उस दरवाज़े के पास खड़ी हो मेरी ओर उँगली दिखाकर चली गयी। बाद···बाद को···वे दो···जो आयी थीं, मेरे पास आयीं। उनके हाथ मेरे गले पर पड़नेवाले ही थे कि मैं 'माँ-माँ' कह कर तुम्हें पुकार उठी। चारों ओर अँधेरा छा गया। फिर···फिर···पता नहीं क्या हुआ।" कह कर उसने शयन-कक्ष में एक बार फिर चारों तरफ़ देखा।

थोड़ी देर बाद हड़बड़ाकर बोली, "माँ···प्यास···प्यास···कुछ चाहिए।"

शान्तलदेवी ने राजकुमारी को गोद में लिटा लिया।

बिट्टिदेव उठे, दरवाज़े तक जाकर परदा हटाया। दासियाँ सीधे खड़ी हो गयीं। राजा ने हाथ के इशारे से बुलाकर कहा, "राजकुमारी को प्यास लगी है ! वैद्य के कहे अनुसार तैयार किया हुआ पेय जल्दी ले आवें।" फिर लौट आये।

उन दासियों में से एक भागी गयी।

राजकुमारी जीभ निकालकर गला पकड़कर छटपटाने लगी।

राजा फिर दरवाज़े की ओर हड़बड़ाकर भागे।

इतने में भाग्य से नौकरानी पेय भरा स्वर्णपात्र ले आयी। वहीं रखे छोटे-कटोरे में पेय उड़ेल कर दिया। शान्तलदेवी धीरे-धीरे थोड़ा-थोड़ा राजकुमारी को पिलाने लगी।

दासी दासब्बे पात्र लिये खड़ी रही।

शान्तलदेवी ने कहा, "दासव्वे, उस पात्र को वहीं काष्ठपीठ पर रख दो और शयन-कक्ष में जाकर जक्कि की क्या हालत है देखकर आओ।"

राजकुमारी के गले से पेय का उतरना भी मुश्किल हो रहा था। बूंद-बूंद करके शान्तलदेवी पिलाये जा रही थीं। कुल दो-तीन घूंट पिया होगा। इतने में माँ का हाथ राजकुमारी ने पीछे सरका दिया।

"अब विस्तर पर लेट जाओ, बेटी।" कहकर पलंग पर लिटाकर, उसके मुख पर की पसीने की बूंदों को धीरे से पोंछने लगी।

"पसीना छूट रहा है। भगवान् की कृपा से अच्छी हो जाने की आशा है।" बिट्टिदेव बोले और कुछ संतोष की साँस ली।

"वह घबड़ाहट के कारण निकला पसीना है। अब भी शरीर आग की तरह तप रहा है।" शान्तलदेवी बोलीं।

बिट्टिदेव ने झुककर राजकुमारी के माथे पर हाथ रखा। बुखार की गरमी का अहसास हुआ। उन्होंने हाथ को पीछे हटा लिया। फिर चिन्ताकुल हो बैठे।

राजकुमारी ने करवट बदली। शान्तलदेवी की छाती पर हाथ रखकर उगाल निगलती हुई बोली, "माँ,······मुझे वेलापुरी ले चलो।······दोर-समुद्र ले चलो···।"

"अच्छा बेटी, तुम जरा अच्छी हो जाओ, ले चलेंगे। सन्निधान सोच रहे हैं कि आगे वहीं क्यों न रहा जाय। तुम हमारी बात मानकर वैद्य की दी हुई दवा को बिना गड़बड़ के पी लो तो अच्छी हो जाओगी जल्दी ही। तुम जैसे ही अच्छी हो जाओ, तुरन्त चल देंगे। सन्निधान भी यहीं हैं, चाहो तो उन्हीं से पूछ लो।" राजकुमारी के हाथ को धीरे से अपने हाथ में लेकर शान्तलदेवी ने कहा।

राजकुमारी ने दूसरी ओर देखा, "बड़े अप्पाजी···"

"वही करेंगे, अम्माजी। जरूर जाएंगे। ज्यादा मत बोलो, थक जाओगी। चुपचाप लेटी रहो तो बीमारी डरकर भाग जाएगी।" कहकर बिट्टिदेव उसकी पीठ पर हाथ रखकर धीरे-धीरे सहलाने लगे।

राजकुमारी बीमारी को डराकर मानो भगाने की कोशिश कर रही हो—मौन हो लेट रही।

राजदम्पती को भी बातचीत करने के लिए कोई विषय न सूझा। चुपचाप बैठे रहे। बाहर से मौन रहने पर भी उनका अंतरंग मौन नहीं था। भगवान् से प्रार्थना कर रहे थे—"भगवन्! बेटी जल्दी अच्छी हो जाय।"

दोनों ध्यानमग्न हो ज्यों-के-त्यों बैठे रहे मौन, गम्भीर मुद्रा में।

इतने में दासव्वे ने परदा हटाकर अन्दर की ओर झांका। पट्टमहादेवी का ध्यान उधर आकर्षित नहीं हुआ। धीरे से अन्दर क़दम रखा। दरवाजे ही पर रुक

गयी। कुछ फायदा नहीं हुआ। चार कदम आगे बढ़ी। तब उसकी छाया पट्टमहादेवी के सामने पड़ी। पट्टमहादेवी ने उधर देखा। हाथ के इशारे से पूछा कि क्या है। दासव्वे ने भी इशारे से बता दिया, "कुछ नहीं, सब यथावत् है।" पट्टमहादेवी ने इशारे से ही जाने की सूचना दी।

वह स्वर्णपात्र लेकर वापस चली गयी। थोड़ी देर बाद पोचिकव्वे परदा हटाकर अन्दर आयी। वहाँ महाराज की उपस्थिति देख कुछ पीछे हट गयी।

शान्तलदेवी ने पूछा, "वैद्यजी आये ?"

"हाँ" उसने नीचे की ओर सिर हिलाकर सूचित किया।

"कहाँ हैं वे ? जक्की के पास गये ?"

"हाँ !" उसने पुनः इशारे से ही सूचित कर दिया।

"पोचिकव्वे ! तुम यहाँ पंखा करती रहो।" यह कहकर शान्तलदेवी स्वयं वहाँ से उठकर बाहर चली गयीं। पोचिकव्वे चुपचाप पट्टमहादेवी की आज्ञा का पालन करने लगी।

इधर बिट्टिदेव का ध्यान भंग हुआ। पहले तो शान्तलदेवी को जाते देखते रहे लेकिन अब उस घण्टी बजानेवाली दासी का ध्यान हो आया। उनके मन में सहज ही यह जानने का कुतूहल जगा कि उसे क्या हो गया था। वे उठ खड़े हुए परन्तु राजमर्यादा ने उन्हें रोक दिया। सोचा कि किसी तरह से मालूम तो हो ही जाएगा, वे फिर वहीं जा बैठे।

पट्टमहादेवी जब अपने शयन-कक्ष में पहुँचीं तब राजमहल के वैद्य सोमनाथ पण्डित ने अपनी दवा की पेटी खोलकर रखी थी और जक्की की नब्ज की परीक्षा कर रहे थे।

पट्टमहादेवी के अन्दर आते ही वैद्य ने किंचित् सिर झुकाकर प्रणाम किया। पट्टमहादेवी एक आसन पर जा बैठीं और जक्की की ओर देखने लगीं।

वैद्य ने नब्ज देखने के बाद, उसकी आँखें खोलकर देखा। मुँह खुलवाने की कोशिश की; नहीं हो सका। नाक के पास हाथ रखकर देखा, फिर धीरे-से एक छोटी लकड़ी लेकर तलुवे पर कुरेदकर देखा तो पैर एकदम सरक गया।

"तब तो कोई भय नहीं।" वैद्य उठे और बोले, "घबड़ाने का कोई कारण नहीं। यह···"

बीच में ही शान्तलदेवी बोल उठीं, अच्छा वह सब अभी रहने दीजिये। सारा विवरण बाद में। अभी तो चिकित्सा हो।" कहकर वैद्यजी को कर्त्तव्योन्मुख किया।

उन्होंने अपनी दवाइयों की पेटी के एक खाने से कुछ चूर्ण निकाला, अपनी हथेली में थोड़ा-सा लेकर आँख मूंदकर कुछ मन्त्र पढ़ा और फिर जक्की को सुंघा दिया। कुछ देर प्रतीक्षा की, फिर एक छोटी नली ले एक सिरा उसकी नाक में

रखकर धीरे-से फूँका। चूर्ण नाक के अन्दर व्याप गया। एक-दो क्षणों के अन्दर ही एक बार ज़ोर से छींक आ गयी। छींकने के ज़ोर से उसका सारा शरीर काँप उठा। पंजर की हड्डियाँ चटकीं। वह घबड़ाकर आँखें खोलकर उठने की कोशिश करने लगी कि तभी वैद्यजी और रुद्रव्वे ने उसे वैसा ही लिटा दिया।

इतने में दासव्वे दूध ले आयी। रुद्रव्वे ने दूध पिला दिया। उसकी एक तरह से नींद की-सी अर्ध-जाग्रत स्थिति हो गयी थी।

वैद्य ने बताया, "रुद्रव्वे! इसे उठने न देना। मैं दो गोलियाँ और दे रहा हूँ, उन्हें एक प्रहर के बाद शहद में मिलाकर चटा देना। अब की तरह, और दो एक बार ज़ोर से छींकें आएँगीं, घबड़ाने की ज़रूरत नहीं। अगर भूख की शिकायत करे तो मूँग की दाल और भुने चावल का दलिया पतला बनाकर पिला देना। प्यास की शिकायत हो तो केवल दूध ही पिलाना और कुछ नहीं, वह भी बहुत कम। समझी? घबड़ाने का कोई कारण नहीं। कल सुबह तक वह ठीक हो जाएगी। एक चूर्ण देता हूँ, उसे रात को, अँधेरा होने के आधा प्रहर बाद, शहद में मिलाकर चटा देना। यह आज रात को गहरी नींद सोएगी। कल सुबह तक इसे हिलाना मत। यह भी ख्याल रखें कि इसे ठण्ड न लगे।" कहते हुए पण्डितजी ने दो गोलियाँ रुद्रव्वे के हाथ में थमा दीं।

दवा की पेटी को कोख में सँभालते हुए वैद्य ने पट्टमहादेवी से कहा, "अब आज्ञा हो तो चलूँ।"

"जक्की को क्या हुआ है सो तो बताया ही नहीं।"

वैद्य इस पर अचकचा गये और घबड़ाहट में तुतलाते हुए-से बोले, "हाँ, मैं··· मैं भूल गया। मेरे घर में बच्चा बीमार है, उसी धुन में ध्यान उस ओर चला गया। इसलिए भूल गया। क्षमा करें। इसे···" वैद्यजी अपने बच्चे की बीमारी की दशा से कुछ घबड़ाये हुए-से लगे। इसे देख शान्तलदेवी ने कहा, "अब रहने दीजिए, पहले घर जावें, बच्चे की हालत देखकर मेरे पास ख़बर भेजें कि कैसा है। बाकी सब बातें बाद में होंगी।"

"भगवान् ही रक्षक हैं; हम केवल निमित्तमात्र हैं। राजकुमारीजी का स्वास्थ्य···"

"सच है, आपका कहना सत्य है। भगवान् ही रक्षक हैं। हमारा भी यही विश्वास है। रुद्रव्वे! बोकणा से कह दो कि वह इन्हें पालकी में जल्दी घर पहुँचावें। दासव्वे, देखो, रुद्रव्वे के आने तक तुम यहीं रहोगी। बाद में ही अपने काम पर जाओगी, समझी?"

"जो आज्ञा।"

दासव्वे ने सिर झुकाकर संकेत किया।

वैद्यजी और रुद्रव्वे वहाँ से चले गये।

शान्तलदेवी भी एक बार जक्की की ओर देखकर राजकुमारी के शयन-कक्ष की ओर चली गयीं।

राजकुमारी के शयन-कक्ष जाने के लिए, उससे लगे उसके सामनेवाले एक सोलह खम्भोंवाले विशाल बैठक-खाने से होकर जाना पड़ता था। मन्त्री सुरिगेय नागिदेवण्णा वहीं से ज़ल्दी-ज़ल्दी क़दम बढ़ाते हुए आ रहे थे, पट्टमहादेवी को उसी बैठक-खाने में आते देखा तो वहीं रुक गये और उन्हें प्रणाम किया।

शान्तलदेवी ने मन्त्री को देखकर कहा, "कोई नयी खबर है? ये कौन हैं जो आपके साथ है; कोई नये व्यक्ति मालूम पड़ते हैं।"

मन्त्री के साथ के उस त्रिनामधारी व्यक्ति ने चकित नेत्रों से शान्तलदेवी की ओर देखा। अन्तःपुर में प्रवेश करते ही वह कुछ दिङ्मूढ़-सा हो गया था। परन्तु ऐसा नहीं लगता था कि वह इस बात को भूल गया कि वह मन्त्री के साथ आया है। हाँ, उसे नहीं लगा कि साधारण पहनावे से निराभरण वह सुन्दरी ही पट्ट-महादेवी होगी। शान्तलदेवी के बारे में वह बहुत वर्णन सुन चुका था। इस कारण से उनके बारे में उस व्यक्ति में असीम गौरव उत्पन हो गया था। मन्त्री महोदय जब गम्भीर भाव से विनीत हो खड़े हो गये तो इस नामधारी को लगा कि ये ही शायद पट्टमहादेवी होंगी। यों उसका मन इसी चिन्ता में तिलमिलाता रहा। उस समय उसकी दृष्टि शान्तलदेवी की ही ओर थी।

"हाँ पट्टमहादेवीजी, ये नये हैं। मैं ही इन्हें बुला लाया। आप और सन्निधान के दर्शन के लिए।

इस बात से उस नवागन्तुक नामधारी की शंका दूर हुई। उसने आँख मूँद कर दोनों हाथ जोड़े।

"बहुत अच्छा, आइये।" कह शान्तलदेवी आगे बढ़ीं। आगे एक क्षण के लिए कुछ रुक गयीं और पूछा, "सन्निधान को आपके आने की बात मालूम है?"

मन्त्री नागिदेवण्णा, जो पट्टमहादेवी के पीछे-पीछे चल रहे थे, भी कुछ रुक गये और विनीत होकर बोले, "हाँ, अन्तःपुर के सामने के बरामदे में अनुमति की प्रतीक्षा करते हुए बैठे थे, अन्दर आने की अनुज्ञा मिली तो चले आये।"

शान्तलदेवी ने शयन-कक्ष में प्रवेश किया। उनके साथ ही नागिदेवण्णा और नवागन्तुक व्यक्ति दोनों ने प्रवेश किया।

राजकुमारी ऊपर की ओर टिमटिमाती आँखों से देख, लेटी-लेटी कुछ बड़-बड़ा रही थी। महाराज भी उसी बिस्तर पर बैठे हुए थे।

शान्तलदेवी पलंग के पास जाकर महाराज से बोलीं, "नागिदेवण्णा दर्शना-कांक्षी होकर आये हैं।" और फिर इन लोगों से कहा, "बैठिये।"और ख़ुद जाकर उसी पलंग पर बैठ गयीं।

मन्त्री नागिदेवण्णा और वह नवागत व्यक्ति दोनों एक-एक आसन पर बैठ

गये ।

नागिदेवण्णा ने झुककर प्रणाम किया और कहा, "सन्निधान से निवेदन है, ये तमिलनाडु से आये हैं। विशिष्टाद्वैत सिद्धान्त को माननेवाले, महामहिम आचार्य-श्रेष्ठ श्री-श्री रामानुजाचार्य के प्रिय शिष्य हैं। आपका शुभनाम एंबार है।"

उसने हाथ जोड़कर विनीतभाव से प्रणाम किया। बिट्टिदेव ने भी प्रति-नमस्कार किया।

मन्त्री ने बात को आगे बढ़ाया। कहा, "ये आचार्य के सगोत्री हैं। चोलराज प्रथम कुलोत्तुंग अर्थात् द्वितीय राजराजेन्द्र चोल शिवजी के परम भक्त हैं; श्री श्री आचार्य विष्णु के उपासक हैं। श्रीवैष्णवाग्रणी हैं। इस कारण से श्री श्री आचार्य अपनी तपस्या में सिद्धि प्राप्त करने के लिए स्थान की खोज में पर-मत-सहिष्णु पोय्सल राज्य में पधारे हैं। अब यहाँ इन्हें आश्रय की आवश्यकता है। इसके लिए उन्होंने इन्हें सन्निधान का दर्शन कर निवेदन करने के लिए भेजा है। इस सन्दर्भ में मैं एक प्रार्थना सन्निधान से करना चाहता हूँ। श्री श्री आचार्य अपनी इस ढलती उम्र में पैदल ही नीलाद्रि को पारकर उस रास्ते से श्रीरंग से यहाँ तक पधारे हैं। उनके इस साहस से ही सन्निधान ने उनकी इस आत्मशक्ति और सामर्थ्य को जान लिया होगा।"

बिट्टिदेव कुछ नहीं बोले। वे क्या सोच रहे थे सो परमात्मा ही जाने। शान्तल-देवी ने एक बार उनकी ओर देखा। बाद में पूछा, "साठ पार कर चुके हैं?"—प्रश्न सहज था।

"साठ! उनकी आयु अब सौ के आसपास की है।" बीच में एंबार बोल उठा। उसके कहने में एक गर्व का भाव छलक पड़ा था।

नागिदेवण्णा ने कुछ असमाधान से उसकी ओर देखा। वह अपनी ग़लती को जानने की आशा से सशंक होकर मन्त्री की ओर देखने लगा।

परिस्थिति वश आये इस तनाव को कुछ ढीला करने के ख्याल से शान्तलदेवी ने कहा, "वे जो निवेदन करना चाहें सो सन्निधान से करें। राजकुमारी अस्वस्थ हैं। जो कहना हो जल्दी कहें। अभी तो सन्निधान राजकुमारी की अस्वस्थता के कारण चिन्तित है। फिर भी दर्शन देने की स्वीकृति दी, यह उनकी उदारता है। इसलिए बिना संकोच जो कहना हो ज़ल्दी कह दें।"

एंबार ने गला साफ़ करते हुए एक बार महाराज की ओर, फिर महारानी की ओर देखा, और "हमारे गुरुवर्य ने यादव-कुलांबरद्युमणि, मलेपपति···"आदि पोय्सल राज-बिरुदावली का बखान करना आरम्भ कर दिया।

तभी बिट्टिदेव ने सिर उठाकर उसकी ओर देखा और कहा, "आपके गुरुवर्य क्या चाहते हैं, इतना बता दें तो काफ़ी है। बाक़ी यह सब अभी अप्रासंगिक है।" उनकी ध्वनि में उत्साह नहीं था।

एंबार ने नागिदेवण्णा की ओर देखा।

उन्होंने जल्दी बता देने का इशारा किया।

अचानक बात रुक जाने से अब फिर से उसे कैसे शुरू करें, एंबार इसी सोच में पड़ गया। बात को यों टरका दें तो परिस्थिति बिगड़ जाएगी—यों सोचकर शान्तलदेवी ने ही पूछ लिया, "उन्हें यहाँ रहने के लिए स्थान चाहिए, है न?"

"हाँ, हाँ, पट्टमहादेवी जी…"

"उनके नियम, निष्ठा, पूजा-पाठ आदि निर्विघ्न चलें, इसके लिए सुरक्षित व्यवस्था चाहिए। है न?"

"हाँ, हाँ,…"

"उन्हें और उनकी शिष्यमण्डली को उनके अनुष्ठान आदि निर्विघ्न चल सकने के लिए आर्थिक सहूलियतें चाहिए। है न?"

"हाँ, हाँ…"

"ठीक, अब आप और आपके आचार्य क्या चाहते हैं—सो सब मालूम हो गया। हमारे मन्त्रीजी को इस सब की व्यवस्था करने के लिए सन्निधान आदेश देंगे। इतना ही न?"

"एक बात और है। गुरुजी की दृष्टि में इन सब से मुख्य बात है वह। आण्डाल जैसी पट्टमहादेवी और विष्णु जैसे सन्निधान—दोनों को देखने की उनकी आकांक्षा है। यह कब सम्भव होगा सो आज्ञा दें तो उन्हें उचित समय पर यहाँ बुलवा लाऊँगा।" एंबार ने निवेदन किया।

"वे वयोवृद्ध, ज्ञानवृद्ध और आचार्य पुरुष हैं। हम स्वयं जाकर उनके दर्शन करेंगे। आने से पहले सूचना दे देना। पहले आपके ठहरने तथा अन्य सुविधाओं की व्यवस्था मन्त्रीजी करेंगे और हमें सूचित करेंगे। उसके बाद हम स्वयं आचार्य के दर्शन करने आएँगे। हमारी राजकुमारी का स्वास्थ्य तब तक थोड़ा सुधर जाएगा। नागिदेवण्णा! इनकी ओर ध्यान दें। अब आप विदा ले सकेंगे।" शान्तलदेवी ने कहा।

दोनों राजदम्पती को गौरवपूर्वक प्रणाम कर चले गये।

बिट्टिदेव यह सब देखते बैठे रहे। फिर बोले, "देवी! तुम्हारी तुलना किससे करें? तुम्हारी तुलना तुम ही से करना चाहिए। अन्य किसी से तुलना हो ही नहीं सकती। सुनते हैं, शंकराचार्यजी ने परकाय-प्रवेश करने की शक्ति पायी थी। उस शक्ति को तुमने भी पा लिया है। वह ब्राह्मण मुँह तक नहीं खोल पाया। उसे जो चाहिए था सो सब तुमने ही कह दिया और उसे "हाँ जी" में बदल दिया। अच्छा, इस बात को रहने दें; आज के व्यवहार को देखने पर लगता है कि समस्त अधिकार तुम्हारे ही वश में हैं। अब हमें करने के लिए बचा ही क्या रहा सो हमें इस कार्यभार से निवृत्ति ही है न?" एकदम बोल गये। उनका मन कुछ

कहना ही चाह रहा था, कह दिया। मौन की प्रक्रिया जो समझ सकते हैं उसी को उसका प्रभाव मालूम पड़ सकता है।

शान्तलदेवी के दिल के किसी कोने पर कुछ ठेस तो लगी, पर उन्होंने उसकी ओर ध्यान नहीं दिया। बोलीं, "निवृत्ति नहीं—विश्रान्ति। आतंक भरे मन को समझकर मैंने बातचीत की। मुझे किसी भी तरह के अधिकार की आवश्यकता नहीं। सदा आपके हृदय में मेरे लिए वही स्थान बना रहे—यही मेरे लिए पर्याप्त है।" शान्तलदेवी ने उत्तर दिया। उनकी ध्वनि में अनुकम्पा थी।

तभी चेन्नव्वे ने आकर कहा, "कुमार बिट्टियण्णा और राजकुमारों का भोजन हो चुका है और वे विश्राम करने चले गये हैं। आपके लिए भोजन की तैयारी भी हो चुकी है।

न चाहने पर भी, शरीर के लिए कुछ तो चाहिए इसलिए भोजन तो यथाविधि हुआ। दोनों ने हाथ जूठे भर किये। बाद में बिट्टिदेव अपने विश्रामगृह में चले गये, शान्तलदेवी की ज़बरदस्ती के कारण विश्राम करने। शान्तलदेवी राज-कुमारी के शयन-कक्ष में गयीं। चेन्नव्वे और पोचिकव्वे दोनों वहीं थीं। चेन्नव्वे पंखा कर रही थी। पोचिकव्वे कुछ कसीदा काढ़ रही थी। उसने सोचा नहीं था कि पट्टमहादेवी इतनी जल्दी भोजन समाप्त करके बिना विश्राम के सीधे यहाँ चली आयेंगी इसलिए एक आसन पर बैठकर वह कसीदा काढ़ने लगी थी।

अनिरीक्षित रूप से पट्टमहादेवी के आने पर अपराधिनी की तरह वह उठ खड़ी हुई। उसकी उस घबड़ाहट के कारण कसीदे के सूत का वह गोला उसकी गोद से खिसककर पट्टमहादेवी के पैरों के पास लुढ़क गया मानो क्षमायाचना कर रहा हो।

शान्तलदेवी ने उस सूत के गोले को हाथ में लेकर पोचिकव्वे की ओर देखते हुए पूछा, "टोपी बना रही है क्या ?"

पोचिकव्वे ने सिर हिलाकर "हाँ" सूचित किया। तब तक उसमें डर समा गया था। इसलिए सिर झुका लिया।

"टोपी किसके लिए ?"

पोचिकव्वे बहुत साहस से सिर उठाकर कुछ कहना भी चाहती। परन्तु उसकी बात वहीं अटक गयी।

सूत के गोले को आगे बढ़ाती हुई "टोपी किसके लिए ?" फिर शान्तलदेवी

कर ईश्वर को प्रणाम किया शान्तलदेवी ने।

फिर आँखें खोलीं और कहा, "पोचिकव्वे ! तुम अपने पति के लौटने तक घर मत जाओ, यहीं राजमहल में रह जाओ। तुम्हारे घर समाचार भेजने की व्यवस्था कर दी जाएगी। उस जक्की की क्या हालत है ज़रा देख कर तो आओ। यदि वह सोयी है तो तुम इस बीच भोजन कर आना, भूखी नहीं रहना।"

पोचिकव्वे चली गयी।

शान्तलदेवी अभी पलंग पर राजकुमारी के पास पहुँची ही नहीं थीं कि राजमहल के वैद्य के जल्दी संदर्शन करने आने की ख़बर मिली। उन्हें बुला लाने की आज्ञा देकर स्वयं जाकर पलंग पर बैठ गयीं और पूछा, "चन्नव्वे ! राजकुमारी बीच में जगी थी ?"

"नहीं", उसने कहा।

परदा हटा, सोमनाथ पण्डित अन्दर आये।

पण्डितजी के आते ही शान्तलदेवी ने पूछा, "पण्डितजी, आपके बच्चे का स्वास्थ्य कैसा है ?"

"अब स्वस्थ है, ऐसा जैसे कुछ भी नहीं हुआ हो। इस विचित्र को ही निवेदन करने जल्दी-जल्दी चला आया। आराम करते समय सन्निधान को कष्ट नहीं देना चाहिए—यह बात जानते हुए भी मैं चला आया। क्षमा करें।" वैद्य ने कहा।

"राजकुमारी के स्वस्थ होने तक हमें विश्राम कहाँ, पण्डितजी ? खड़े क्यों हैं, बैठिये।"

पण्डितजी बैठे गये।

"क्या विचित्र है ?"

"तमिलनाडु से एक आचार्य पधारे हैं।"

"यह बात हमें भी मालूम है। मन्त्री नागिदेवण्णाजी उनके शिष्य को बुला लाये थे।"

"जब मैं घर पहुँचा, तो देखा कि आचार्यजी मेरे ही घर पर मुकाम कर रहे हैं। घर के अन्दर पहुँचा ही था कि मेरी पत्नी ने ख़बर दी। तब तक वे अपने स्नान आदि से निवृत्त होकर तिलक लगाकर अपने नित्य कर्म में लग गये थे। मैंने उन्हें देखा। राजमहल से रवाना होते वक़्त की वह बात 'भगवान् रक्षक हैं' याद आयी, आप सन्निधान ने भी यही बात कही थी। मेरे हृदय ने इसी बात को फिर से दुहराया। फिर से उनको देखा। मुझे लगा कि सच ही भगवान् इस रूप में पधारे हैं। मैंने उन्हें साष्टांग प्रणाम किया। उन्होंने हँसते हुए पूछा, 'सब कुशल हैं ?' तो मुझे यह कहना ही पड़ा कि बच्चा बीमार है। तो बोले, 'जगदल विरुदांकित वैद्य के घर में भी बीमारी ?' और मुस्कुरा दिये। 'मैं कोई भगवान् तो नहीं' मैंने कहा। इस पर उन्होंने कहा, 'यद्भाव्यं तद्भवति।' फिर बोले, 'बच्चे को ले

लाइये।' बच्चे को गोद में लिपटाकर उनके सामने जा बैठा। अण्टी से एक डिबिया निकालकर, उसमें से कुछ चूर्ण घोलकर, अभिषिक्त तीर्थ में मिलाकर, आँखें बन्द करके, हाथ जोड़ वे कुछ ध्यानस्थ हुए। फिर वह घोल बच्चे को पिला दिया। बाद में कहा, 'अब इस बच्चे को बिस्तर पर लिटा दीजिए। एक घण्टे के अन्दर बच्चा चेतकर ठीक हो जाएगा।' उनके कहे अनुसार बच्चा चेत गया और स्वस्थ हो गया। वास्तव में उनमें अद्भुत शक्ति है। उनकी तेजपूर्ण दृष्टि ही पर्याप्त है। अनेक दोष दूर हो जाएँगे। उन्हें राजमहल में बुलवाकर राजकुमारीजी को उन महापुरुष की चमत्कारिक शक्ति से लाभ पहुँचाने का यत्न करना सूक्त एवं आवश्यक है—यही मुझे लगा। इसलिए इधर भागा-भागा चला आया।" पण्डित बिना रुके लगातार कह गये।

"अच्छा पण्डितजी, सन्निधान से कहकर व्यवस्था करेंगे। आपकी भक्ति एवं श्रद्धा का आपको कैसा फल मिला, वैसा ही फल अर्हन्त हमें भी दें। अब आप जा सकते हैं। जाते-जाते एक बार जक्की को देखकर कुछ कहना हो तो रुद्रव्वे से कहते जाइए।"

सोमनाथ पण्डित वहाँ से चले गये। परन्तु जिस उत्साह से वे आये थे उसके अनुरूप प्रफुल्लता शान्तलदेवी में न पाकर कुछ खिन्न तो हुए, फिर भी अपनी सलाह के लिए मान्यता नहीं मिलेगी ऐसा तो नहीं लगा। फिर अपने कर्तव्य के पालन करने की उन्हें तृप्ति तो रही ही।

पण्डितजी ने जो कहा था उस पर शान्तलदेवी को अविश्वास नहीं हुआ था। फिर भी उन बातों को वह मन-ही-मन दुहराती, सोचती रहीं। जितना ही वह सोचतीं, वह विषय पेचीदा ही होता जाता। समस्या हल नहीं हो रही थी। चमत्कार आदि के बारे में अभी एक निश्चित विश्वास उनके मन में नहीं था। श्रद्धा और भक्ति से शुभ फल प्राप्त करने की साध्यता में विश्वास होते हुए भी इन चमत्कारों के विषय में उनके मन को एक युक्तिगत समाधान नहीं मिल सका था। पुराणों में ऐसे विषयों के बारे में पढ़ा था तो भी उन सबसे अधिक भरत-बाहुबली के चरित्र में अभिव्यक्त मानवीय सत्य उनके मन में गहरी जड़ जमा चुका था।

उस बाहुबली की नग्नता में उन्होंने त्याग की महानता को पहचाना था। इसी नग्नता में उन्होंने भक्ति-श्रद्धा के सुन्दर रूप को देखा था। इसी नग्नता में अहंकार विमुक्त स्थिर मनस्कता की शक्ति का स्वरूप अनुभव किया था। इसी नग्नता में लौकिक दृष्टि से महान् माने जानेवाले सुख, सम्पदा, अधिकार वैभव आदि को तृण-समान मानकर सबका त्याग कर, मूर्तीभूत सम्यक्ज्ञान को देखा था। उसी नग्नता में ज्ञान के भव्यतम बृहत् स्वरूप को पहचाना था। लौकिक दृष्टि से केवल हेय मानी जानेवाली उस नग्नता में श्रेष्ठतम नित्यतृप्ति के स्वरूप का दर्शन किया था। इसी नग्नता में अट्टहासपूर्ण विजयश्री के अहंकार से युक्त हँसी

के बदले त्यागमय निर्विकार मनोभाव से पूर्ण निष्कल्मष मंदहास के समृद्ध शाश्वत आनन्द से परिपूर्ण तेज का अनुभव किया था। यह नग्नता अचल और स्थिर दिखने पर भी इसी में समस्त संचालक शक्तिकेन्द्र के अस्तित्व को पहचान चुकी थीं शान्तलदेवी।

इस तरह की अनुभूतियों के बीच, ऐसे चमत्कारों की बातें शान्तलदेवी के दिमाग में उठ ही नहीं सकती थीं। केवल मानव बनकर मानव की तरह साधना करके, उसी तरह चलकर जीवन का आदर्श उपस्थित करनेवाले उस महामानव की भव्य मूर्ति ने कभी कोई इस तरह का भौतिक चमत्कार नहीं किया था। ऐसी हालत में ऐसे चमत्कारों पर विश्वास वह करें भी तो कैसे ?

लेकिन इसके साथ ही शान्तलदेवी में एक सर्वप्रिय गुण यह भी शा कि स्वयं विश्वास करें या न करें, दूसरों के विश्वास को छेड़ने-बिगाड़ने की प्रवृत्ति उनमें नहीं थी। फिर भी न जाने क्यों, उसी चमत्कार के विषय में सोचती रहीं।

दासव्वे जब दूध लेकर आयी तभी वह इस विचार से विमुख हुईं। दूध पी रही थीं कि इतने में पास आकर दासव्वे ने कहा, "जक्की जाग गयी है, वह जिद्द कर रही है कि वहाँ नहीं सोएगी। सोच नहीं पा रही कि क्या करना चाहिए। आज्ञा हो।"

आधा पीये हुए दूध के पात्र को वहीं रख शान्तलदेवी वहाँ से उठकर चली गयीं। दासव्वे को लगा कि उसने ग़लती की। ग़लती तो हो चुकी थी, वह ठीक कैसे हो ?

रुद्रव्वे जक्की को पकड़कर ज़ोर से दबाये बैठी थी, उसे उठने न दे रही थी। शान्तलदेवी को अन्दर आते देख वह उठ खड़ी हुई। जक्की भी उठने का प्रयत्न कर रही थी, इसे देख अधिकार-वाणी से शान्तलदेवी ने कहा, "जक्की ! उठो मत; यह हमारी आज्ञा है। समझी ?"

"देखो जक्की, तुम्हारी तबीयत अच्छी नहीं। तुम अपने घर से राजमहल के काम पर जब आयी तब स्वस्थ थी न ? उसी स्वस्थ स्थिति में तुमको घर लौटना हो तो वैद्यजी के कहे अनुसार हम और तुम सब को चलना चाहिए। यों इन लोगों को कष्ट देने का परिणाम अच्छा न होगा; समझी ?" शान्तलदेवी ने कहा।

जक्की ने स्वीकृति सूचक सिर हिलाया। दूसरा चारा न था। उसने समझा था कि पट्टमहादेवीजी ग़ुस्से में हैं। उनकी आवाज़ भी कुछ ऐसी ही गरम थी।

"ठीक, अब बताओ, वहाँ मूर्च्छित हो जाने का क्या कारण था ? या कब्ज की कोई शिकायत है तुमको ?"

जक्की को कोई ज़वाब न सूझा। महारानी की ओर देखकर फिर नीचे की ओर देखने लगी।

"तुम्हें पहले भी कभी मूर्च्छा आयी थी ?" शान्तलदेवी ने फिर सवाल किया।

"नहीं।"

"तो आज क्या हुआ?"

"आज···आज···" होंठ चाटते हुए शान्तलदेवी की ओर देखने लगी।

"डरो मत, क्या हुआ, सच सच कहो।" शान्तलदेवी की आवाज़ कुछ नरम-सी लगी।

"अन्तःपुर के नियम के अनुसार मैं द्वार पर थी। महासन्निधान सिर झुकाये जल्दी-जल्दी आ रहे थे।" फिर उसका गला रुँध गया। उगल निगली। पट्टमहादेवी की ओर देखने लगी।

"कहो, कहो!"

"रनिवास के नियमानुसार मैंने घण्टी बजायी। तब तक महासन्निधान···हाँ···एकदम पास ही पहुँच गये। मैं···मैं···घण्टी बजाकर हाथ तक नहीं निकाल सकी थी कि महासन्निधान एकदम खड़े हो गये। सिर उठाया। लाल-लाल आँखों से मुझे सिर से पैर तक देखा मानों वे मुझे जलाकर खाक कर देना चाहते हों। मैंने ऐसी क्रूर दृष्टि कभी देखी न थी। मैंने समझा कि मैंने कोई भयंकर अपराध किया है। मेरा सारा बदन थरथर काँपने लगा। आँखों में अँधेरा छा गया। बाद में···बाद में जब मैं सचेत हुई तो देखा कि मैं आपके विश्राम-कक्ष में पलंग पर··· मैं एक दासी···पड़ी हूँ। मैं और कुछ नहीं जानती। मैं घर जाना चाहती हूँ। यहाँ···इस पलंग पर मुझे सोना नहीं चाहिए। मैं इसपर लेट नहीं सकती···लेट नहीं सकती।" यों बड़बड़ाती हुई जक्की उठ खड़ी हुई।

"जक्की, चुपचाप पड़ी रहो।" शान्तलदेवी की आवाज़ कठोर थी।

जक्की डर गयी, फिर वैसी ही चुपचाप लेट गयी। उसकी छाती की धड़कन, उतार-चढ़ाव ही डर की गवाही दे रहे थे।

"वचन देने के बाद उससे मुकरना नहीं चाहिए। इस समय मदद करने की सुबुद्धि उस अर्हन्त ने हमें जो दी है, इसके पीछे कोई कारण है। हम जो पुण्यकार्य करते हैं उससे हमारी भलाई होती है। हमारे सारे पुण्य कार्य हमारी राजकुमारी के लिए रक्षाकवच बने। वैद्यजी जब तक नहीं कहेंगे तब तक तुमको यहाँ से हिलना नहीं है। समझी?" शान्तला के मन में जो क्षणिक काठिन्य उत्पन्न हुआ था वह गायब हो गया था। एक तरह की मृदुता, अनुकम्पा और निःसहायता के भाव उनकी वाणी में घुल-मिल गये-से लग रहे थे।

"रुद्रव्वे, वैद्यजी की हिदायतों का सही-सही पालन हो—इस ओर ध्यान दो। समझी? जक्की, रुद्रव्वे के कहे अनुसार तुमको करना होगा।"

दोनों ने स्वीकृति-सूचक सिर हिलाया।

शान्तलदेवी राजकुमारी के शयनकक्ष में वापस चली आयीं। तब तक बिट्टिदेव वहाँ पलंग पर जा बैठे थे।

बिट्टिदेव ने पूछा, "देवी, उस घण्टी बजानेवाली को क्या हुआ था ? अब कैसी है ?"

उन्होंने तुरन्त उत्तर नहीं दिया। परीक्षक दृष्टि से बिट्टिदेव की ओर देखा। लगा कि कुछ सोच रही हैं।

थोड़ी देर बाद बोलीं, "अब वह जागृत है। वास्तव में क्या हुआ था सो तो पण्डितजी से ही पूछकर जान सकेंगे। फिर भी उसकी उस मूर्च्छा के लिए भय एक ज़बरदस्त कारण है, इतना उसकी बातों से जाना जा सकता है।"

"भय ? अन्तःपुर के आवरण में ? यह तो विचित्र बात है ! क्यों, डर किस बात का ? क्या हुआ था उसे ? किससे डर था ?"

"अब छोड़ भी दीजिए उसकी बात। सन्निधान जब आराम कर रहे थे तब सोमनाथ पण्डितजी आये थे। तमिलनाडु से जो आचार्य यहाँ आये हैं, आज उनके यहाँ उन्होंने मुक़ाम किया है..."

शान्तलदेवी की बात पूरी नहीं हुई थी कि तभी जक्की के स्थान पर नियोजित सांतव्वा ने आकर प्रणाम किया, और बोली, "कोई तमिलनाडु के हैं, सुना कि आचार्य हैं। मन्त्रीजी के साथ आकर बाहर बरामदे में दर्शन के लिए प्रतीक्षा कर रहे हैं। सन्निधान की आज्ञा हो।"

"...हमने स्वयं पहुँचने की बात कहला भेजी थी न ! कोई हठीला ब्राह्मण मालूम पड़ता है।" बिट्टिदेव यों ही कह उठे। उनके कहने में कुछ असंतोष का आभास मिल रहा था।

तभी शान्तलदेवी ने, "वे स्वयं इस तरह जल्दी में, वह भी हमारे मन्त्री के साथ आये हों, तो कुछ विशेष कारण होगा", यों बिट्टिदेव से कहकर नौकरानी की ओर मुड़कर कहा, "सांतव्वे ! सुनते हैं कि वे आचार्य हैं; इसलिए राजघराने के गौरव के अनुरूप उन्हें आदर के साथ अन्तःपुर में लिवा लाना होगा। राजमहल की रीति-नीति के अनुसार अर्घ्य-पाद्य और फल-तांबूल आदि जल्दी तैयार करवाओ। अन्य तैयारियाँ भी जल्दी होवें। हम स्वयं आकर उनकी अगवानी करेंगे।

सान्तव्वा प्रणाम कर चली गयी।

"यह क्या तुम्हारी रीति है ? हमें तो कुछ समझ में नहीं आता। हमारे दुःख के समय ये सब बला क्यों ? ऐसे प्रसंग में भी हमें अपने में नहीं रहने देंगे ? कहला भेजतीं कि 'आज नहीं होगा' तो क्या हो जाता ? दुनिया बह जाती ? इधर इस दासी की मूर्च्छा, उधर सुबह-सुबह वह शिष्य, और अब यह गुरु। थोड़ा आश्रय मिलने पर राज्य को ही निगलने को तैयार। कैसे लोग हैं ? यह नया क्या क़िस्सा है ?"

"छि छि ! सन्निधान को ऐसा नहीं सोचना चाहिए। इस तरह परेशान भी

नहीं होना चाहिए। हमें इसमें क्या खोना है ? बुजुर्ग स्वयं यहाँ पधारे हैं। हमारा दुःख हमारे लिए। हमें दुःख है तो लोक-रीति को छोड़ दें ? हम ही अगर परम्परागत रीतियों को छोड़ बैठें तो प्रजा किसका अनुकरण करेगी ? हर सत्कर्म से पुण्य संचित होता है। आज मैंने संकल्प कर लिया है कि मेरा जो भी पुण्य-संचय है वह राजकुमारी के लिए रक्षा-कवच बने। सन्निधान यदि वहाँ न जा सकें तो सन्निधान की तरफ से मैं ही जाकर उनका स्वागत कर सकूँगी।"

"तुम्हारी इच्छा का भी विरोध ? तुम जो कहती हो सो ठीक है, सत्य है। हमारा सारा संचित पुण्य राजकुमारी के लिए रक्षा-कवच बने। आचार्यजी के स्वागत करने के लिए हम भी तुम्हारे साथ चलेंगे।"

पोचिकव्वे सभी आवश्यक सामग्री से सजाकर एक बड़ा परात ले आयी। दासव्वे भी दूसरा सजा परात लेकर वहाँ आ पहुँची।

शान्तलदेवी ने पूछा, "सान्तव्वे कहाँ है ?"

"सन्निधान की आज्ञा सुनाकर, अपने दूसरे काम पर जाने की सूचना देकर वह चली गयी।" पोचिकव्वे ने कहा।

"ठीक है। चलो।"

परात लेकर दासियाँ आगे बढ़ीं। राजदम्पती गम्भीर हो उनके पीछे-पीछे चलने लगे।

आधा पी चुकने के बाद शेष दूध वहीं पात्र में ही रह गया।

अन्तःपुर के सामने के बरामदे में मन्त्री सुरिगेय नागिदेवण्णा श्री श्री रामानुज आचार्य के साथ बैठे हुए थे।

राजदम्पती के आते ही नागिदेवण्णा उठ खड़े हुए और झुककर प्रणाम किया। श्री श्री आचार्यजी उठने ही वाले थे कि शान्तलदेवी ने देखा और कहा, "श्री श्री आचार्यजी वैसे ही विराजे रहें।"

बाद में राजदम्पती के लिए ही सज्जित आसनों पर बिट्टिदेव और शान्तलदेवी विराजे।

दासियों ने परात पर के रेशम के आवरण को निकाला।

राजदम्पती ने पादोदक देकर यथाविधि उनकी पूजा की।

इतने में सान्तव्वे उनके चलने के लिए मार्ग पर बिछाने का वस्त्र लिवा लाकर तैयार हो गयी थी।

शान्तलदेवी ने इस सिद्धता को देखकर कहा, "श्री श्री आचार्यजी अन्दर पधारने की कृपा करें।" वह उठ खड़ी हुईं, बिट्टिदेव और आचार्य दोनों भी उठ खड़े हुए।

राजमहल साज-सरंजाम करनेवाले कदमबोशी के लिए वस्त्र पसारते चला। परातवाली दासियाँ आगे-आगे चल रही थीं। राजदम्पती आचार्य को गौरव और

आदर के साथ अन्तःपुर के अन्दर लिवा लाये। नागिदेवण्णा उन सबके पीछे चल रहे थे।

वस्त्र बिछानेवाला विश्राम-कोष्ठ के सामने आगे के बैठकखाने की ओर से आनर्तनशाला की ओर वस्त्र बिछाने लगा। इसे देखकर शान्तलदेवी ने कहा, नहीं, राजकुमारी के शयन-कक्ष में आचार्यश्री पधारेंगे।"

वस्त्र विश्रामागार की ओर बिछने लगा।

चकित होकर आचार्य ने शान्तलदेवी की ओर देखा। बिट्टिदेव ने पहले शान्तलदेवी की ओर, फिर मन्त्री की ओर देखा। उनकी दृष्टि में प्रश्न था। वह भी चकित थे।

सभी मौन रहे, सबने राजकुमारी के शयन-कक्ष में प्रवेश किया।

परातवाली दासियाँ उस कक्ष के द्वार पर ही खड़ी रहीं। इसके बाद वे अन्यत्र चली गयीं।

आचार्य को उचित आसन पर बिठाया गया। राजदम्पती भी बैठ गये। नागिदेवण्णा दूरस्थ एक आसन पर जा बैठे। बिट्टिदेव ने शान्तला की ओर देखा।

शान्तलदेवी ने विनीत भाव से निवेदन किया, "आचार्यश्री के श्रीचरण इतनी शीघ्रता से पधारे, सन्निधान इसका कारण जानने के लिए प्रतीक्षा कर रहे हैं। हम सेवक श्रीचरण की सेवा करने को तैयार हैं।"

"आप लोगों के आचरण से हम चकित हैं। हम अब तक दो पीढ़ियाँ देख चुके हैं। अनेक राजे-महाराजे और रानी-महारानियों को देख चुके हैं। परन्तु ऐसे इंगितज्ञ, विनयशील, श्रद्धावानों को अब तक नहीं देखा। आप राजा और रानी को पाकर पोय्सल राज्य और यहाँ की प्रजा धन्य है। आप स्वयं ही आने की बात हम तक पहुँचा चुके थे, फिर भी राजमहल की मर्यादा का उल्लंघन करके असमय में हम आ गये; हमें इसका खेद है। मगर हम आण्डवन के भक्त हैं, उनके सेवक हैं, इसलिए हम कर्तव्यच्युत नहीं हो सकते। अयाचित ही जो सेवा की जाती है वह आण्डवन की विशेष सेवा है; यह हमारा दृढ़ विश्वास है। हमारे शिष्य एंबार ने राजकुमारी की अस्वस्थता की बात सुनाई। इसी कारण से हम तुरन्त चले आये। आण्डवन की ऐसी विशेष सेवा का अवसर जब हमें यहाँ दिख रहा है तो हम अन्यत्र कैसे बैठे रह सकते हैं? हमारे आतिथेय श्रीमान् ब्रह्मश्री सोमनाथ पण्डितजी आवश्यक कार्य से जल्दी राजमहल चले आये, सो अभी तक लौटे नहीं। और उनकी अनुमति लिये बिना ही हम यहाँ चले आये। आतिथेय से बिना कहे उनके घर से चले आना सज्जनता का काम नहीं, इस बात को जानते हुए भी कर्तव्य की पुकार सुन हम इधर चले आये। खैर, यह सब रहने दीजिए। यह बताइये कि राजकुमारी को क्या हुआ है?" आचार्यश्री की इन बातों में कुतूहल लक्षित हो रहा था।

शान्तलदेवी ने कहा, "क्या हुआ है, सो किसी को भी पता नहीं। अब तक यहाँ के और इर्द-गिर्द के प्रदेशों के अनेक श्रेष्ठ वैद्य आये, देखा। उनके प्रयत्न सफल न हो सकने के कारण निराश हो बैठे हैं। कभी-कभी लगता है कि राजकुमारी को बुद्धि-भ्रमण हो गया है, और कभी ऐसा लगता है कि राजकुमारी भयंकर रूप से भयभीत हो गयी है। बुखार तो चढ़ा सो उतरा ही नहीं। कभी इस तरह, कभी उस तरह, सही स्थिति का पता ही नहीं लग रहा है। लेटी ही लेटी ठिठक जाती है। इस तरह दिन में दसेक बार ठिठक पड़ती है। अब तो हम अर्हन् पर विश्वास रखकर उन्हीं के भरोसे बैठे हैं।"

"उन पर आस्था रखनेवालों के विश्वास में कभी च्युति नहीं होती यह हमारे अनुभव से ज्ञात सत्य है। हरि की इच्छा।" कहते हुए वे उठे।

वे सीधे राजकुमारी के पलंग के पास गये। "हे भगवन्! हरि! इस अम्बा की रक्षा करना तुम्हारे ही हाथ है।" कहकर आँखें मूँदकर हाथ जोड़े।

शान्तलदेवी और बिट्टिदेव उठ खड़े हुए। नागिदेवण्णा पहले ही खड़े हो गये थे। आचार्य ध्यानासक्त हो दो-चार क्षण वैसे ही खड़े रहे। आचार्य की इस भव्य मूर्ति को राजदम्पती ने पूर्णरूप से देखा।

आयु सौ के करीब होने पर भी, उनमें एक वीर योद्धा का गाम्भीर्य झलक रहा था। शरीर की कान्ति, चेहरे पर का तेज देखकर राजदम्पती आश्चर्यचकित हो गये। उनकी उस आकृति में एक अनिर्वचनीय आकर्षण दिख रहा था।

बिट्टिदेव ने भी हाथ जोड़ लिये। आँखें बन्द कीं। आचार्य का यह कथन—'हरि! इस अम्बा की रक्षा करना तुम्हारे ही हाथ है' उनके अंग अंग में व्याप गया था।

आचार्य ने आँखें खोलीं। अपनी अण्टी में से एक छोटी डिबिया निकाली। उससे कुछ चूर्ण निकाला। राजकुमारी का मुँह खुलवाकर उस चूर्ण को मुँह में डाला, फिर कहा, "हरि! इस अम्बा की रक्षा करना तुम्हारे हाथ है।" और फिर वे अपने आसन पर आकर बैठ गये।

"महाराज! इस अवसर पर हमें एक निवेदन करना है। अभी हमने राजकुमारी को जो चूर्ण दिया है वह हमें हमारे गुरुवर्य से प्राप्त हुआ है। वे कहते थे कि यह सर्वरोग निवारक औषधि है। हम वैद्य नहीं। न ही हममें रोग को पहचानने की शक्ति ही है। परन्तु, हमें अपने गुरुवर्य की बात में अटल विश्वास है। उनके कहे अनुसार चलने पर सिद्धि निश्चित होती है। सब हरि की इच्छा है—इसी विश्वास के साथ सेवा करेंगे तो फल प्राप्ति होगी ही। इसलिए कोई यह न समझे कि यह कोई करामात है। इसे विश्वास का फल ही मानें। स्वयं धन्वन्तरी ने ही स्पष्ट कहा है—'औषधे भगवान् विष्णुः सस्मृतो रोगनुद्भवेत्। ध्यातोर्चितः स्तुतो वापि नात्र कार्या विचारणा।' तब राजकुमारी के विषय में

आप निश्चिन्त रह सकते हैं। क्योंकि औषधि, वैद्य—सब निमित्त मात्र हैं। किन्तु इन सबके पीछे पूर्व निश्चित हरि की इच्छा है। कल हमें ऐसा सुख सन्निवेश देखने का सुअवसर मिले कि राजकुमारी को खेलती-कूदती देख सकें—श्रीमन्नारायण यही अनुग्रह करें। अब हम चलते हैं, अनुमति हो। आज की हरि-सेवा समर्पित हुई, हमें संतोष हुआ। अब आप लोग विश्रान्ति लें।" कहकर आचार्य उठ खड़े हुए।

"आपको जिन बातों की सुविधा चाहिए सो सब हमारे सचिव कर देंगे। जो भी आवश्यक हो आप निस्संकोच प्राप्त कर सकेंगे।" बिट्टिदेव ने कहा। उनके कथन में एक तरह की तृप्ति और कृतज्ञता के भाव थे।

"जब तक पोय्सल राज्य में हम हैं हमारे कहने से पहले ही हमारी आकांक्षाएँ पूर्ण हो जाती हैं। इसलिए हमें उसके विषय में कुछ भी चिन्ता नहीं। आइये नागिदेवण्णाजी, अब अधिक समय इन राजदम्पती को कष्ट न दें।" कहकर आचार्य ने आगे क़दम बढ़ाया। सुरिगेय नागिदेवण्णा ने उनका अनुसरण किया।

अन्तःपुर के फाटक तक आकर राजदम्पती ने उन्हें विदा किया। फिर विश्रामागार में आकर पलंग पर बैठ गये।

"चेन्नव्वे! दासव्वे से कह आओ कि सन्निधान के लिए दूध ले आवें। आते वक़्त जक्की को देख आना कि वह चुपचाप लेटी है या कुछ गड़बड़ कर रही है" शान्तलदेवी ने कहा। चेन्नव्वे वहाँ से चली गयी।

उसके जाने के बाद बिट्टिदेव ने पूछा, "देवी, उस घण्टी बजानेवाली को डर लगने की बात कही थी न। वह क्या है?"

"सन्निधान का भयंकर क्रोध।"

"ओह! यह दासी विवेचना, पूर्वापर ज्ञान कुछ भी नहीं जानती क्या? मेरा मन चिन्ताक्रान्त था। उस चिन्ता के भार को ढोते हुए सिर झुकाकर हम इधर आ रहे थे। हमारे दिमाग में राजकुमारी की चिन्ता के सिवाय और कुछ नहीं रहा। जब मैं बहुत निकट था तो उसने ज़ोर से घण्टी बजायी। मेरे हृदय पर एकदम घण्टी की आवाज़ धड़क गयी। दिल घबड़ा गया और आवाज़ स्पंदित हो उठी। ऐसी दशा में ग़ुस्सा किसे न आएगा? एक बार ग़ुस्से से उसे ऊपर से नीचे तक देखा—इतना ही।"

"सन्निधान ने केवल देखा ही। परन्तु, वह दृष्टि ही उस बेचारी के लिए भयंकर ज्वाला बन गयी। इसी से वह थर-थर काँपकर मूर्च्छित हो गिर पड़ी। भय से एकदम फक हो गयी। आखिर है तो दासी, बेचारी ने अपना कर्तव्य निवाहा तो उसपर स्वामी को ऐसा ग़ुस्सा करना चाहिए? इसलिए शायद कहते हैं "गौरय्या पर गोली दागना।"

"जिन्हें इतनी समझ न हो उन्हें राजमहल की नौकरी नहीं करनी चाहिए।"

"राजमहलवालों में भी विवेचना नहीं—यह बात बेचारे दास-दासियों को मालूम भी कैसे हो?"

"तो हम पर यह आरोप कि हममें भी विवेचनाशक्ति नहीं।"

"सन्निधान को ही सोचकर निर्णय करना चाहिए। दासी राजमहल में घण्टी बजानेवाली है। सन्निधान के अन्त:पुर में आने की सूचना घण्टी बजाकर देने के लिए ही वह नियुक्त है। ऐसी कड़ी आज्ञा उसे दी गयी है। उसने कर्तव्य का पालन किया। सन्निधान हमेशा की तरह आये होते तो उसका कर्तव्य-पालन भारी अपराध-सा जो लगा वह तब अपराध न होता। किसी सूचना के बिना सन्निधान का आ जाना ही उसकी घबड़ाहट का कारण हुआ। उसे लगा कि ऐसे समय में कर्तव्य लोप हुआ तो क्यों? घबडाहट के कारण सन्निधान के निकट पहुँचने पर भी दूसरा चारा न देख उसने घण्टी बजा दी। सूचना देना उसका कर्तव्य था। यह अन्त:पुर का नियम है और इसके लिए महाराज की स्वीकृति भी है। ऐसी हालत में सन्निधान ही···"

"कहो देवी! क्यों रुक गयीं? सन्निधान ही उस दासी के स्थान पर होते तो वे क्या करते? यही है न तुम्हारा प्रश्न? हाँ, अब आँख खुली। बेचारी दासी का कोई अपराध नहीं था। हमें इस बात का आश्चर्य हो रहा है कि प्रत्येक छोटी-छोटी बात को भी लेकर इतनी दूर तक सोचा करती हो। अपने दु:ख के भार को दूसरों पर लादने की मनोवृत्ति हममें हो तभी इस तरह असमय क्रोध उपजता है। इसलिए दु:ख के समय में भी हमें संयम से रहना चाहिए। देवी, तुम हमारे लिए वाचस्पति के समान हो। मन्त्रदेवता की तरह हो।"

बिट्टिदेव की इन बातों को सुनकर शान्तलदेवी के चेहरे पर एक तृप्ति की रेखा खिच गयी।

चेन्नव्वे दासव्वे के साथ आयी। दासव्वे जो दूध ले आयी थी उसे बिट्टिदेव ने पी लिया। खाली पात्र लेकर वह चली गयी।

"जक्की का क्या समाचार है?"

"कुछ नहीं, वह चुपचाप पड़ी है।"

"देखिये, राजकुमारी सो रही-सी लग रही है। इतने दिनों तक वह पूरी आँख मूंदकर सोयी ही नहीं। अब पूरी पलक मूंदकर सो रही है। आचार्य जी ने जो चूर्ण दिया—उससे ऐसा लगता है कि वह अच्छी हो जाएगी। इसलिए राज-काज परिशीलन करने के लिए अब सन्निधान जा सकते हैं। अनुमति देंगे तो मैं भी कुछ आराम कर लूंगी। अभी तक आराम की याद ही नहीं रही। अब उसकी इच्छा हो रही है।"

बिट्टिदेव ने राजकुमारी की ओर झुककर देखा। उन्हें भी कुछ शान्ति मिली होगी। "राजकुमारी के जागते ही कहला भेजो। हम कर्मागार में या कोशागार

में, या फिर पाठशाला के कक्ष में रहेंगे।" कहकर बिट्टिदेव वहाँ से चले गये।

"चेन्नव्वे, तुम्हारे साथ रहने के लिए किसी को भेजे देती हूँ। राजकुमारी जाग जाए तो, मैं सो भी क्यों न रही हूँ, मुझे जगाकर लिवा ले आना। समझी ?"

उसने सिर हिलाकर बता दिया—"समझी।"

शान्तलदेवी विश्रान्ति के लिए चली गयीं।

सूर्योदय हुए आधा प्रहर भी नहीं बीता था। जगदल सोमनाथ पण्डित के द्वार पर राजमहल की पालकियाँ पहुँच गयीं। बोकण अन्दर गया। पण्डितजी अपना पूजा-पाठ समाप्त कर बाहर आये ही थे कि बोकण उपस्थित। उसे देखते ही पण्डितजी के मन में जक्की की स्थिति पर चिन्ता व्याप गयी। उन्होंने जो चिकित्सा की थी उससे उनका समाधान हो गया था। इसके अलावा बीच में एक बार उसे देख भी आये थे। घबड़ाने की कोई ज़रूरत नहीं थी।

तो इस बोकण के आने का कारण ?···शायद कुछ और हो !

पण्डितजी के दिमाग़ में तरह-तरह की शंकाएँ उत्पन्न हो गयीं। फिर भी बोकण से पूछा, "इतनी जल्दी आ गये ?"

बोकण ने कहा, "आपके यहाँ कोई आचार्य पधारे हैं न, उन्हें और आपको तुरन्त बुला लाने के लिए सन्निधान ने आदेश दिया है।"

"बात क्या है ?"

"हम नौकरी बजानेवाले मूर्खों को क्यों, क्या का यह ब्योरा कहाँ मालूम होता, पण्डितजी। आदेश हुआ, चले आये। क्यों, क्या यह सब हम पूछ सकते हैं ? हम तो हुक़ुम बरदार हैं। हाँ, जल्दी तैयार हो जाइए, देरी करेंगे तो डाँट हम पर पड़ेगी।"

इस उत्तर से पण्डितजी का कोई समाधान नहीं हुआ। आचार्यजी को आख़िर इतनी जल्दी क्यों बुलवाया ? शायद मेरी सलाह के अनुसार पट्टमहादेवीजी ने राजकुमारी को दिखाने ही आचार्यजी को बुलवाया हो—यही पण्डितजी ने सोचा। पिछले दिन आचार्यजी जो राजमहल हो आये थे सो पण्डितजी नहीं जानते थे। मालूम होता तो यों सोचने की ज़रूरत न होती।

"ख़ाली हाथ जाना होगा या साथ में औषधि-पेटिका भी ले जाना उचित होगा यह समझ में नहीं आ रहा है" पण्डितजी का असमंजस विकलता में बदलने लगा।

"जो आदेश हुआ सो सुनाया। अब आप जैसा उचित समझें, करें। इसी उधेड़बुन में देर कर देंगे तो ठीक न होगा। जल्दी करें। आचार्यजी को भी जल्दी तैयार होने को कहिए!"

"वे यहाँ नहीं हैं। कल ही शाम को नरसिंहस्वामी के मन्दिर चले गये न!"

"बहुत ठीक! इस बात को पहले ही बता देते, पण्डितजी! राजवैद्य के घर को छोड़कर मन्दिर जावें? बहुत अच्छा!"

"हाँ, सुना नहीं—"गुलामी के पकवान से आज़ादी का सत्तू भला।"

"हो सकता है; बड़ों की बातों से हमें क्या सरोकार। पण्डितजी, आप तो इस पालकी में बैठकर सीधे राजमहल चलिए! मैं उन्हें दूसरी पालकी में लिवा लाऊँगा। जल्दी आ जाइए। पालकी यहीं दरवाज़े पर ही रहेगी। बाद में शाल ढूँढ़ने में ही समय मत बिता दीजिए।"—इतना कहकर बोकण चला गया।

सोमनाथ पण्डित बड़े सरल प्राणी हैं। राजमहल के कर्मचारियों के साथ बड़े आत्मीय भी हैं। उनकी रीति-नीतियों से सभी परिचित हैं। लेकिन बोकण का अन्दाज़ ठीक निकला, क्योंकि आमतौर पर राजमहल जाते वक़्त ओढ़ने का शाल सामने ही था। उसी को ओढ़कर वे उसी क्षण निकल सकते थे। पर उनका मन उस पर न लगा।

अब तो आचार्यजी के साथ जाना होगा न? इसलिए वैद्यकीय पुरस्कार देने के समय बिलस्त-भर चौड़े किनारेवाला मयूरी रंग का ज़री के कामवाला शाल ओढ़कर जाना ही उचित मालूम पड़ा। वह शाल पीढ़ियों से उस बृहत् पेटी में सुरक्षित था। उस शाल को खास-खास मौक़ों पर ही बाहर निकाला जाता, जब चाहे तब नहीं। यह इसलिए कि कहीं उस पर धूल न लगे और रंग न उतर जाये।

उस पेटी को खोलने के लिए चाबी लटकानेवाली खूँटी पर हाथ लगाया। परन्तु चाबी वहाँ नहीं थी। घर-भर के लोगों पर अपना गुस्सा उतारा। आख़िर उन्हें याद आया। हाल में वे 'कर्नाटक कल्याणकारक' नाम के एक वैद्यकीय ग्रन्थ की रचना कर रहे थे। उसके लिए आवश्यक तुलनात्मक ग्रन्थ, 'चामुण्डराय का लोकोपकार', 'धन्वन्तरि संहिता', 'औषधि कल्पना', 'रस वैद्य' आदि को देखने के इरादे से उन ताड़पत्र-ग्रन्थों को उसी पेटी से निकाला था। उन्हें, उन्हीं ग्रन्थों के साथ रखी चाबी मिल गयी। इससे उन्हें अपार हर्ष हुआ। पेटी खोलकर उस शाल को बाहर निकाला और उसकी सुन्दरता को देख स्वयं मुदित मन उसे ओढ़ा और पत्नी से कहा, "राजमहल जा रहा हूँ।"

पति को विदा करने के लिए पण्डितानीजी दरवाज़े तक जो आयीं तो बोलीं, "लाल गोटी की ज़रीदार धोती पहनें तो इस शाल के साथ अधिक शोभा देगी।" पण्डितजी को भी यह सलाह अच्छी लगी। इस धोती की वजह से फिर

अर्धघटिका समय और लगा। अब सब तरह से लैश होकर पण्डितजी राजमहल पहुँचे, उसी पालकी में।

देरी हो जाने से पालकीवाहक पण्डितजी को ढोकर भागे-भागे राजमहल पहुँचे।

उनके पहुँचने के पूर्व ही आचार्यजी वहाँ पहुँच चुके थे। राजमहल की उस विशाल बैठक में आचार्य, उनके शिष्य एंबार, सचिव नागिदेवण्णा, मंचिअरस, छोटे मरियाने दण्डनायक, उनके पिता डाकरस दण्डनाथ, गोपनन्दि पण्डित, सुमनोबाण, श्रीपाल वैद्य, शुभकीर्ति, नयकीर्ति, वामशक्ति पण्डित, तेजचमूप, सिंह चमूप, सूजिय सर्वदेव, रविदेव, बेल्लिय वीरशेट्टि, ईश्वर शेट्टि, नरसिंह गौंड, मुद्दगौंड, बहुवन्धमल्ल केसरी पहलवान, आदि-आदि वहाँ मौजूद थे।

देरी से पहुँचने के कारण पण्डितजी शर्मिन्दा हुए, उस पर औषधि-पेटिका न लाने के कारण और अधिक। इतना सब लैस होकर औषधियों की पेटी न लाने की बात उन्हें रास्ते में सूझी भी थी। खैर, अब तो आ ही गये थे, वहाँ बैठे सभी सज्जनों के साथ सम्मिलित हो गये। वहाँ जो बुलवाया गया था, इस विषय में सभी वैसे ही आश्चर्यचकित थे, जैसे पण्डितजी। क्योंकि किसी को भी शायद मालूम नहीं था कि क्यों बुलवाया गया है। आचार्य प्रसन्न मुद्रा में बिराज रहे थे।

चामरधारिणी पोचिकव्वे और चेन्नव्वे अन्दर से आयीं। उनके आते ही, यह जानकर कि पट्टमहादेवीजी पधार रही हैं, छोटे मरियाने दण्डनायक और उसके पिता डाकरस दण्डनायक उठ खड़े हुए। सोमनाथ पण्डित, कवितिलक गोपनन्दि पण्डित, कटकाचार्य सुमनोबाण भी उठ खड़े हुए।

आचार्य, उनके शिष्य, नागिदेवण्णा, श्रीपाल वैद्य, शुभकीर्ति, नयकीर्ति, वामशक्ति पण्डित—ये लोग बैठे थे। शेष सब खड़े थे।

अन्तःपुर से तब पट्टमहादेवी नहीं, धीरे-धीरे चलती हुई राजकुमारी आयी। वही राजकुमारी जो बहुत समय से रोगग्रस्त होने के कारण दुबली-पतली हो गयी थी।

सब चकित रह गये।

इसी राजकुमारी के स्वास्थ्य के लिए मनौतियाँ, पूजा-पाठ आदि बराबर चलते रहे थे। पोचिकव्वे के पति तेजम राजकुमारी के स्वास्थ्यलाभ की कामना करते हुए, तीन दिवस पूर्व बाहुबलि के दर्शन एवं प्रार्थना करने के लिए ही बेलगोल गये थे। इसी राजकुमारी की बीमारी को दूर करने के लिए पधारे अनेक वैद्यशिरोमणि चिकित्सा कर-करके विफल हो गये थे।

परन्तु कल और आज में कितना अन्तर! यह कैसा परिवर्तन!! सब चकित और दिग्भ्रान्त!

इस स्थिति में केवल सोमनाथ पण्डित ही ऐसे रहे कि जिन्हें इसका रहस्य

ज्ञात था। उन्होंने आगे बढ़कर राजकुमारी को गोद में लेना चाहा। पोचिकव्वे ने इंगित किया। पण्डितजी पीछे की ओर सरक गये।

आचार्य की तेज-पूर्ण दृष्टि राजकुमारी पर पड़ी। उनके चेहरे पर एक सन्तोष की आभा झलक पड़ी। ऊपर की ओर देखकर आचार्य ने ध्यान कर भगवान् को नमस्कार किया और कहा—"आण्डवन ! तुम्हारी महिमा अपरम्पार है।"

फिर अन्दर से अंकनायक और कसवय्य नायक आये। उनके बीच उदयादित्य, कुमार बल्लाल और कुंवर बिट्टियण्णा आये। उनके पीछे छोटे बिट्टिदेव और विनयादित्य को गोद में लिये दो दासियां आयीं।

उन्हीं से लगकर, नंगी तलवार लिये अंगरक्षक और रक्षक सेना के सैनिक, अंकणा और कावणा आये। उनके पीछे सोने के रत्नजटित दण्ड लिये भाट थे। दरवाज़े पर पहुँचते ही आमने-सामने दो कतारों में बँट कर खड़े हो गये। उनको देखते ही सचिव नागिदेवण्णा, मंचिअरस दोनों द्वार की ओर बढ़े। श्रीपाल वैद्य, शुभकीर्ति और नयकीर्ति पण्डित तथा वामशक्ति पण्डित उठ खड़े हुए; एंचार भी उठकर खड़े हो गये।

पोय्सल महाराज बिट्टिदेव, उनकी प्रेयसी पट्टमहादेवी शान्तलदेवी, दोनों रानियाँ बम्मलदेवी और राजलदेवी सभी अन्तःपुर से बाहर निकले। आते ही वे सीधे राजकुमारी के पास गये।

आते ही बिट्टिदेव ने राजकुमारी को अपने अंक में उठा लिया और सबके समक्ष आचार्यजी के पास जाने के लिए आगे बढ़े। पट्टमहादेवी शान्तलदेवी ने उनका अनुसरण किया। बच्ची को बिट्टिदेव ने आचार्यजी के सामने उतारा और हाथ जोड़कर प्रणाम किया, फिर कहा—"बेटी, श्री श्री के चरणों में प्रणाम करो।"

राजकुमारी ने पिता की बात पर ध्यान न देकर, चकित नेत्रों से अपलक आचार्यश्री को देखा। कुछ क्षणों तक देखती ही रही।

आचार्यजी ने अपना वरद हस्त आगे बढ़ाते हुए मुस्कुराकर कहा—"आ बेटी, आ ! मैं कौन हूँ जानती हो ?"

राजकुमारी मन्त्रमुग्ध की तरह आगे बढ़ी। उसने स्वयं भी उनकी ओर हाथ बढ़ाये। हँसते हुए आचार्य को देखती रही। उसे कुछ सूझा। कुछ कहने के लिए उसने मुँह भी खोला।

इतने में आचार्य ने राजकुमारी का हाथ अपने हाथ में ले, पास खींच लिया। और पूछा—"मैं कौन हूँ ? तुम जानती हो ?"

दुबारा वही सवाल करने पर वहाँ उपस्थित लोगों को कुछ विचित्र-सा लगा।

राजकुमारी ने कहा—"हाँ, जानती हूँ।"

"तो बताओ, देखूँ, मैं कौन हूँ ?"—कहते हुए आचार्य बच्ची के सिर पर हाथ

फेरने लगे।

"मेरा गला घोंटने के लिए जो दो व्यक्ति आये थे, उनको भगानेवाले आप ही थे न?"—राजकुमारी ने कहा। राजकुमारी की बात सुनकर आचार्यजी को आश्चर्य हुआ।

"तब तो तुमको मालूम नहीं कि मैं कौन हूँ।"—आचार्य बोले।

"आह्-ह्-हा! आप ही थे। यहाँ आपकी तरह कोई तिलक नहीं लगाता। आप ही! मुझे सब मालूम है।" राजकुमारी के स्वर में दृढ़ता थी।

आचार्य ने एंबार की ओर इशारा करके कहा, "उन्होंने भी तो तिलक लगाया है।"

"वे नहीं! आनेवाले तो आप ही थे। जब आये तब वृद्ध लगते थे; अब जवान!"—राजकुमारी की बात में किसी तरह की शंका के लिए अवकाश नहीं रहा।

यह सुनकर आचार्यजी कुछ सोचने लगे।

सब लोग चकित होकर इस सम्भाषण को सुन रहे थे। किसी को इस रहस्य की बात नहीं सूझी। स्वयं आचार्यजी भी राजकुमारी की इस बात को समझ नहीं सके थे।

शान्तलदेवी तब तक मौन ही यह सब सुन रही थीं। उन्होंने श्री श्री जी से निवेदन किया, "मेरी एक विनती है। राजकुमारी की बातों का सारांश क्या है—सो मुझ सूझ गया है। यथावसर निवेदन करूँगी। अब आप अन्दर पधारने की कृपा करें।" उन्होंने झुककर प्रणाम किया। बिट्टिदेव और रानियों ने भी प्रणाम किया। शेष सब लोगों ने भी यन्त्रवत् दोहराया। आचार्यजी ने शान्तलदेवी की ओर देखा। दो-चार क्षणों के अन्तराल से वे उठ खड़े हुए।

राजमहल के वस्त्र-सज्जक ने वस्त्र बिछाना शुरू किया। उसके पीछे अंक-नायक और कसवय्य नायक चले। उनके पीछे परातें लिये दासियाँ और चामर-धारिणी दासियाँ निकलीं। इनके पीछे रत्नखचित सुवर्णदण्डधारी भाट और करवालधारी अंगरक्षक चले। पोचिकव्वे और चेन्नव्वे चामर डुलाती हुई चलीं। उदयादित्य, कुमार बल्लाल और कुँवर बिट्टियण्णा बीच में धीरे-धीरे क़दम बढ़ाते चले। राजकुमारों को अंक में लिये दासियाँ भी उनके पीछे चलीं। बिट्टिदेव और शान्तलदेवी उन राजकुमारों के पीछे चले; उनके पीछे रानियाँ भी साथ चलीं।

आचार्य और उनका हाथ पकड़े राजकुमारी सबसे बाद में चले। उनके पीछे सचिव नागिदेवण्णा, मंचिअरस, एंबार, उनके बाद तीन दण्डनायक, श्रीपाल वैद्य, शुभकीर्ति, नयकीर्ति, गोपनन्दि, पण्डित, सुमनोबाण, सोमनाथ पण्डित, वामशक्ति पण्डित चले; उनके बाद गुल्मनायक कतार बाँधे, श्रेष्ठि, गौण्ड, शेट्टि आदि क्रमशः ढंग से चलने लगे।

पूर्वायोजना के अनुसार वस्त्र-सज्जक आनर्तनशाला की ओर वस्त्र फैलाता गया। आनर्तनशाला के द्वार पर सजी हुई दासियाँ दोनों ओर खड़ी थीं। पूर्व निर्देशानुसार आचार्य एवं राजकुमारी के द्वार पर पहुँचते ही, दासियों ने उनकी आरती उतारी।

आनर्तनशाला में प्रवेश करते ही, वहाँ के व्यवस्थापकों ने और दासों ने सभी आगन्तुकों को पदानुसार निर्दिष्ट आसनों तक ले जाकर बिठाया।

आचार्य के लिए वेदी पर आसन निर्दिष्ट था। उन्हें वहाँ बिठाया गया। आचार्यजी ने राजकुमारी को अपने ही आसन पर बगल में बैठा लिया। राज-दम्पती, रानी, मन्त्री आदि के लिए स्थान सुनिश्चित थे। इन सबकी निगरानी पर आनर्तनशाला में मारसिंगय्या, पद्मलादेवी और उनकी बहनें, माचिकब्बे रहे। उन सबने आचार्य को प्रणाम किया।

आनर्तनशाला बहुत ही सुन्दर ढंग से सजायी गयी थी। तरह-तरह की पुष्प-मालाओं से जगह-जगह उसकी साजसज्जा की गयी थी। अनेक रंग-बिरंगे फूलों की सुगन्ध से सम्पूर्ण स्थान महक रहा था। इसके साथ तालपर्णि, गन्धसार, चम्पा, हरिवालुक, भस्मगन्धिनी आदि तरह-तरह की सुगन्धित धूपसामग्री की सुगन्धी भी मिल गयी थी। वहाँ रहनेवालों को स्वर्गीय सुगन्धागार में रहने का भ्रम हो गया था। राजवैभव के योग्य रंग-बिरंगी पताकाएँ जगह-जगह लटकायी गयी थीं। वह आनर्तनशाला मूर्तिमान कला के रूप में शोभित हो रही थी। थोड़ी-थोड़ी दूर पर सुन्दर कलापूर्ण स्तम्भ और उन स्तम्भों के पास आदमी की ऊँचाई के बराबर दीप-दान, दीपों के प्रकाश से झिलमिल कर रहे थे। वेदी के सामने शाखा की तरह लगनेवाले गज-स्तम्भों की शाखाओं पर दीप जल रहे थे। आँखों को आराम देनेवाली स्वर्णाभ दीपकान्ति से सारी आनर्तनशाला द्योतित हो रही थी। उस जगमग को देख आचार्य का शिष्य एकबार अकचकाकर रह गया। वह भूलोक भूल गया, उसे लग रहा था कि वह कहीं सूर्य या नक्षत्रलोक में आ गया है। सारी आनर्तनशाला मणिमय-दीपमाला से जगमग हो उठी थी। समवस्त्रधारिणी दासियाँ अन्तःपुर में उनके लिए निर्दिष्ट स्थानों में गम्भीर भाव से खड़ी, उत्कीरित प्रस्तर प्रतिमा-सी लग रही थीं। आनर्तनशाला का पूर्ण वातावरण एक नवीन गाम्भीर्य को लिये शोभित हो रहा था। वेदी के पीछे की ओर गहरे नीले रंग का रेशमी परदा, उसी से लगकर फैलाया हुआ नीले रंग के रेशम का धारी-दार तोरण और दोनों तरफ़ गुच्छे की तरह लटकायी गईं। उसी रंग की पार्श्व-यवनिकाएँ। गहरे नीले परदे पर उसके बीचों-बीच पोय्सल व्याघ्र-पताका शोभित थी। दीप सजाने की कलात्मकता के कारण व्याघ्र-पताका ज्योति-वर्तुल के अन्दर सुशोभित हो रही थी। इन सबने मिलकर आनर्तनशाला के सौन्दर्य में चार चाँद लगा दिये थे।

शान्तलदेवी सभी लोगों को अपने-अपने स्थान पर बैठे देखकर, वेदी पर ही अपने आसन से उठ खड़ी हुईं। उनके उठते ही परातवाली दासियाँ आगे आयीं। बिट्टिदेव भी उठकर शान्तलदेवी के साथ आचार्यजी के पास गये।

वहाँ जितने लोग बैठे थे, सब उठ खड़े हुए।

राज-दम्पती ने राजपरिवार की रीति के अनुसार आचार्यजी के चरण धोये, आस्तरण बिछाकर, दोनों ने उनके चरणों की पूजा की। उनकी आरती उतारी।

इस अवसर पर वहाँ उपस्थित राजघरानेवाले, सोमनाथ पण्डित, नागिदेवण्णा और सन्निधानों के दास दासियाँ—इन थोड़े लोगों के सिवाय और किसी को मालूम नहीं पड़ा, यह प्रसंग क्या है—जो कुछ वहाँ हुआ उसे सब लोग चकित होकर देखते रहे।

पूजा की समाप्ति पर राजदम्पती ने फिर से आचार्यजी के चरण छुए। बिट्टिदेव ने नागिदेवण्णा की ओर देखा।

उसने वेदी के पार्श्व में स्थित अंगरक्षक अंकणा की ओर इशारा करके पास बुलाया। आते ही उन्होंने उसके कान में कुछ कहा। उसने वेदी के पास से लौटकर महाद्वार के पास जाकर सन्निधान को प्रणाम किया।

समवस्त्री दो सैनिक रेशम के वस्त्र से ढँके परात लेकर अन्दर आये। उनके पीछे दो फलकपाणि सशस्त्र होकर आये। उनके पीछे एक परात में पुष्पमालाएँ लेकर इंडेय भाइदेव आया। इन सबको साथ लेकर अंगरक्षक अंकणा वेदी पर चढ़ा और झुककर प्रणाम किया।

परातवाले समवस्त्रधारी सैनिकों ने उन परातों पर से आवरण हटाकर परात आचार्य के चरणों के पास रख दिया। सभी पीछे-ही-पीछे सरक आये। परातों में आँखों को चौंधियानेवाली राज-खज़ाने के सोने की मुहरें भरी थीं।

भाइदेव ने पुष्प-माला के परात को बिट्टिदेव के आगे बढ़ाया। बिट्टिदेव ने माला ली और आचार्यजी को पहनायी। तब तक भाइदेव वेदी पर से उतर चुका था।

आचार्यजी को माला पहनाने के बाद बिट्टिदेव ने हाथ जोड़कर आचार्यश्री से निवेदन किया, "यह पोय्सल घराने की एक अकिंचन भेंट है। आचार्यश्री इसे स्वीकार कर अनुग्रह करें।" तदनन्तर वह अपने आसन पर बैठ गये। शान्तलदेवी भी बैठ गयीं। शेष सब लोग भी बैठ गये।

आचार्यजी ने कहा, "पोय्सल चक्रवर्ती! आपका यह राजघराना दान और आश्रित-रक्षा के लिए अत्यन्त प्रसिद्ध है। उदारता में कोई आपका सानी नहीं। परन्तु हम संन्यासी हैं। इस धन से हमारा कोई प्रयोजन नहीं दीखता। रहने के लिए हमें स्थान मात्र चाहिए। सो भी कोलाहल से दूर एकान्त में। हमारे तत्त्व-

प्रसार के लिए और अनुष्ठान आदि कार्यों के लिए सम्भवतः कुछ धन की ज़रूरत हो सकती है। परन्तु वह भी बहुत थोड़ा। और वह गौण विषय है। आवश्यक होने पर कोई-न-कोई भक्त दे ही देंगे। इसलिए इस धन को स्वीकार करना हमसे नहीं हो सकेगा। मान लो कि हमने स्वीकार कर भी लिया तो इसकी रक्षा कैसे कर सकेंगे। हमारे पास ऐसी कोई व्यवस्था या कोई संचालन-यन्त्र आदि तो है नहीं। हमारे पास है क्या? हम तो सबका त्याग कर चुके हैं। यह सब हमें नहीं चाहिए।"

"जो दिया है सो वापस लेना कैसे सम्भव हो सकता है? यह उचित होगा? अश्रेयस्कर नहीं होगा? आप ही कहियेगा।" बिट्टिदेव ने आचार्यश्री से निवेदन किया।

"हमसे पहले एक बार पूछ लेते तो अच्छा होता।" आचार्य ने कहा। बिट्टिदेव की बातों का उत्तर आचार्यजी तुरन्त न दे सके।

"इसकी सुरक्षा की व्यवस्था हमारे मन्त्री नागिदेवण्णाजी देख लेंगे। वह आपका, आपके नाम से राजकोष में रहेगा। जब जितना चाहिए वहाँ से प्राप्त कर सकते हैं।" इतना कह बिट्टिदेव ने इस बात को वहीं समाप्त कर दिया और मन्त्री नागिदेवण्णा से बोले, "नागिदेवजी, सदा हमारे हितचिन्तन करनेवाले इन आह्वानितों को श्री श्री आचार्यजी का परिचय करवाकर, यहाँ आने के मूलभूत उद्देश्य एवं उनकी अद्भुत तपःशक्ति का विवरण समझाकर, इसी सिलसिले में राजशासन (राजाज्ञा) को भी पढ़कर सुनवा दीजिए।"

सचिव सुरिगेय नागिदेवण्णा उठ खड़े हुए। लम्बे हृष्ट-पुष्ट, गम्भीर मुखमुद्रा, कानों में कुण्डल, गले में रत्न के जड़ाऊ हार, उँगलियों में चमकती अँगूठियाँ, अपने पद-प्रतिष्ठा के अनुरूप रेशम की बड़ी लाल किनारीवाली धोती, सोने के तार के कामवाला अँगरखा, ज़री का उपरना और उसी से फबती हुई ज़रीदार पगड़ी। हृष्ट-पुष्ट मांसल, लम्बाई के अनुरूप उनकी देहयष्टि। आकर्षक व्यक्तित्व। उन्होंने हाथ जोड़कर पहले आचार्य को प्रणाम किया, फिर उपस्थित सभा के माननीय सज्जनों की ओर देखकर बोले—

"पोय्सल साम्राज्य के दण्डनायको, विद्वानो, शास्त्रज्ञो, पण्डितो, धर्मदर्शियो, सेनापतियों, सामाजिको और सभासदो! सन्निधान की आज्ञा के अनुसार श्री श्री आचार्यजी के विषय में अपना जितना भी परिचय है, उसे आपके समक्ष निवेदन कर रहा हूँ। मैं श्री आचार्यजी के विषय में जितना विषय-संग्रह कर सका हूँ, उसे सत्य मानकर उन्हीं के समक्ष अब निवेदन कर रहा हूँ। यदि मेरे कहने में भूल-चूक हो तो श्री श्री जी या उनके शिष्य उसे ठीक कर लेंगे।" इतना कह आचार्य जी के विषय में संक्षेप में बताकर, उनकी विद्वता, धर्माधर्म सम्बन्धी उनके सम्यक् ज्ञान, अन्ध-विश्वासों के कारण शिथिल होते हुए वैदिक धर्म के पुनरुत्थान के लिए

उन्होंने जो नयी योजना बनायी थी उस सबके बारे में बताया। सबने दत्तचित्त होकर सुना। एंबार आँखें बन्द कर हाथ जोड़कर, अपने आचार्य के इस गुणगान को सुन, आत्मविस्तृत-से सुखानुभव कर रहे थे।

आचार्यजी निर्विकार निर्लिप्त भावना से एक तरफ़ सिर झुकाये चुपचाप बैठे थे। सचिव नागिदेवण्णा ने अपना निवेदन आगे बढ़ाया—"ऐसे महानुभाव ने पोय्सल राज्य में आकर यहीं बसने का निर्णय किया है, यह इस राष्ट्र के भाग्योदय का प्रस्तर-विन्यास है। अपने जीवन के तीन-चौथाई से ज़्यादा समय अपने जन्म-देश में व्यतीत कर इस ढलती उम्र में और सिद्धि प्राप्त होने के अवसर पर, अपनी सम्पूर्ण तपःशक्ति का विनियोग करने के लिए इस प्रदेश में आये हैं, तो यह इस राष्ट्र का पूर्व संचित पुण्य ही है। आचार्यजी का हमारे यहाँ पधारना अतीव आनन्द का विषय होने पर भी, अपनी जन्मभूमि को छोड़कर, इस ढलती उम्र में किन परिस्थितियों में यहाँ आना हुआ, उसे जानने पर शरीर रोमांचित हो उठता है।"

नागिदेवण्णा भावाविष्ट हो आये। आचार्य ने उनकी ओर देखा, फिर भी उनका भाषण यथावत् चलता रहा—"उनके जन्म-देश के राजा राजेन्द्र चोल द्वितीय हैं, जिनसे आप सभी परिचित हैं। सुनते हैं कि वे कट्टर शैव हैं। श्री श्री आचार्य विष्णुभक्त हैं। राजाओं में धार्मिक सहिष्णुता न हो तो अनेक कष्ट उत्पन्न हो जाते हैं। ऐसे कष्ट व्यक्त रूप से न होने पर भी अव्यक्त रूप से होते ही हैं। आचार्यजी को इस ढलती उम्र में पैदल ही चोल राज्य की सीमा पार कर, नीलाद्रि पर्वत श्रेणी को लाँघकर, इधर हमारे पोय्सल राज्य में आना हो तो उनके जन्म-राज्य में अर्थात् चोल-राज्य में रहने में अनिच्छा हो गयी हो तो कोई-न-कोई ऐसा सन्निवेश अवश्य ही उत्पन्न हुआ होगा, इसमें कोई आश्चर्य नहीं। यदि हमारी यह कल्पना सत्य हो तो यह निश्चित है कि उस चोल-राज्य का प्राबल्य एवं प्राशस्त्य ह्रासोन्मुख होगा ही। हमारे इस भाग्योदय की वजह से यह पोय्सल राज्य इन्हीं सन्निधान के समय में और अधिक वृद्धिगत होगा—इसमें कोई शंका नहीं। श्री श्री के तप का पुण्य-फल हमारा है इसलिए यह बात कह रहा हूँ। जनता में धर्म की सही जानकारी का प्रसार ही उनका लक्ष्य है। इसी उद्देश्य से वे पोय्सल राज्य के एक स्थान में आश्रम बनाना और यहाँ रहकर आवश्यकता के अनुसार पोय्सल राज्य में जहाँ चाहे जाना, जनता से सम्पर्क स्थापित कर अपनी विचारधारा को प्रवाहित करना, यही कुछ वे चाहते हैं। अपने शिष्य-वर्ग के सदस्यों की मण्डली बनाकर, एक-एक को एक-एक प्रदेश में भेजकर, उन्हें अपने तत्त्वों के प्रचारकों के रूप में रखकर जनता में फैलाने का उनका विचार है। हमारा कन्नड प्रदेश शुरू दिन से सर्वदा सबका स्वागत करता आया है। सभी तरह की विचारधाराओं का सहिष्णुता के साथ परिशीलन करनेवाली जनता इस राष्ट्र में है—इस बात को समझकर

श्री श्री आचार्यजी हमारे यहाँ पधारे हैं। हमारे राज्य के विषय में उनके कानों तक जो समाचार पहुँचा है, वह सत्य है। इससे वे प्रोत्साहित होकर यहाँ जो पहुँचे, यह हमारे भाग्योदय का शुभ लक्षण है। ऐसी स्थिति में पोय्सल राज्य की प्रजा उनको सहयोग दे—यही सन्निधान का अभिप्रेत है। हम सब की आदरणीय पट्टमहादेवीजी भी इस विषय में सहमत हैं। इसलिए सन्निधान की आज्ञा के अनुसार निरूपित शासन को आप सबके समक्ष पढ़ता हूँ।" इतना कहकर सचिव नागिदेवण्णा ने अपने पीछे तैयार खड़े लेखपाल को इशारा किया। उन्होंने एक शुभ्र और बिलस्त-भर चौड़े काष्ठ-फलक पर घटित रेशम की डोरी से बँधे उस हस्तलिखित प्रालेख को अपने हाथ में ले झुककर आगे बढ़ाया। सचिव ने डोरी को खोलकर उसकी तह खोली। शुद्ध काषाय वर्ण के रेशमी-वस्त्र पर मसिवज्रलेपित शासन की हस्तलिखित प्रति तैयार करायी गयी थी।

नागिदेवण्णा ने अपनी पदोचित अधिकार वाणी में उस शासन को पढ़ना शुरू किया—

"ॐ स्वस्ति जयश्चाभ्युदयश्च स्वस्ति समस्त भुवनाश्रय श्री पोय्सल वंश रत्नाकर सुधाकर महामण्डलेश्वर यादवकुलांबर-द्युमणि सम्यक्त्व-चूड़ामणि भुजबल-प्रताप-चक्रवर्ती, भुजबल वीरगंजप्रताप चालुक्यमणि माण्डलिक चूड़ामणि के नाम से प्रसिद्ध—

अनून दानी लोकस्तुत श्रीमन्महाराज विनयादित्य प्रभुवर्यात्मजात्मज रविसूनु से सहस्र गुना अधिक दानगुण-प्रसिद्ध श्री महामण्डलेश्वर एरेयंग प्रभुवर्य-तनय, त्रिभुवन-मल्ल-गण्डप्रचण्ड यादवपुरवराधीश श्री श्री बिट्टिग पोय्सलदेव के विजय राज्य के उत्तरोत्तराभिवृद्धि प्रवृद्ध होकर आचन्द्रार्क ताराम्बरावृत रहते समय—

तमिल देशवासी श्रीवैष्णव-मत-सिद्धान्ती संन्यास-स्वीकारानन्तर श्री श्री रामानुजाचार्य नामांकित प्रख्यात तत्पूर्वाश्रम नाम इलेयालवाभिधान से कीर्ति-ख्यात आचार्यवर्य की सेवा में समर्पित—

स्वास्ति श्री शालिवाहन शक वर्ष एक हजार सैंतीस अर्थात् श्री चालुक्य विक्रम शक वर्ष चालीस यानी श्रीमन् मन्मथ वर्ष चैत्र सुदी पंचमी रोहिणी के अन्तिम चरण में—

पोय्सल बिट्टिग का स्वेच्छापूर्वक लिखवाकर दिया हुआ दानपत्र यों हैं—

सीमातीत धर्मक्षय हो रहे इन दिनों में श्रीमदाचार्यजी से अपरिमित लोकोपकार होने के साथ पुनः धर्म-संस्थापन कार्य सम्पन्न होने की बात को समझकर, इस कार्य के लिए करणीय सेवाएँ बिना किसी रोक रुकावट के सर्वदा सम्पन्न होती रहें, निवास-प्रवास, उपयुक्त अर्चन-आहारादि हो सके—

इसके लिए योग्य स्थान, धनबल आदि देना ठीक और आवश्यक समझकर—

यादवपुर के दक्षिण दिशा-भाग में राजवंश के स्वाम्य में स्थित अमराई से युक्त क्षेत्र के पूर्व में छोटी नदी, पश्चिम की ओर राजप्रासाद, और दक्षिण-पश्चिम से उत्तर-पूर्व के कोनों तक फैला हुआ क्षेत्र, दक्षिण से पूर्व की ओर जानेवाला राजमार्ग, दक्षिण में छोटा पोखरा—इस तरह सीमाओं से आवृत्त, त्रिकोणाकार, हरियाली से शोभित, समतल, तीन-सौ गुण्ठा प्रदेश तथा इस निवेशनान्तर्गत जल-तटाक, निधिनिक्षेप, अक्षीण, आगामी सिद्ध और साध्य विष, पाषाण आदि अष्टभोग तेजस्वाम्य को अपने हस्ताक्षर एवं राजमुद्रांकित कर श्रीमदाचार्य को और उनके पश्चात् उनकी इच्छा के अनुसार अविच्छिन्न परम्परागत होकर उस स्थान पर विराजमान शिष्य-वर्ग को स्थायी रूप से स्वामित्वानुभव के लिए धारापूर्वक दत्त दान है, इसके अतिरिक्त पोय्सल राजकुमारी के विचित्र रोग का श्रीमदाचार्य के तपःप्रभाव से परिहार होने के कारण, राजपरिवार एवं वंशोन्नति के लिए श्रेष्ठ साहाय्य करने के उपलक्ष्य में प्रत्यक्षानुभव से देखा और समझा है; उस शुभानुभूति के इस सन्निवेश में—

श्रीमदाचार्य प्रणीत तत्त्वप्रसार के औचित्य को समझकर, उस प्रसार के लिए सुविधा हो—एतदर्थ श्रीमदाचार्य के आश्रम-निर्माण के लिए, दो सहस्र स्वर्ण-मुद्राएँ श्रीमदाचार्य के पावन चरणों में समर्पित हैं। इसे स्वीकार कर राजपरिवार एवं पोय्सल प्रजा-समुदाय के कल्याण के लिए आशीर्वाद दें।[1]

इति

त्रिभुवनमल्ल बिट्टिग पोय्सलदेव

पढ़ने के बाद सुरिगेय नागिदेवण्णा ने सभी सभासदों की ओर एक बार देखा। सभी के चेहरों पर सन्तोष और तृप्ति का भाव विद्यमान था। नयकीर्ति और शुभ

1. यह अनुवाद भाषा की दृष्टि से यत्र-तत्र हिन्दी का पुट लिये मूल दत्त-दान पत्र की भाषा में ही ज्यों-का-त्यों प्रस्तुत किया गया है। इसका उद्देश्य उस दान-पत्र को उन दिनों राजे-महाराजे किस तरह की भाषा में और कैसी शैली में लिखवाया करते थे, इसकी जानकारी देने के साथ-साथ भाषा संस्कृतनिष्ठ होकर किस तरह विचाराभिव्यक्ति के लिए उपयुक्त माध्यम के रूप में विकसित हुई थी—यह दर्शाना भी है। भावाभिव्यक्ति की आवश्यकता के अनुसार जब चाहे तब संस्कृत शब्द-भण्डार से शब्द ले लेकर कन्नड़ को पुष्ट, सक्षम बनाने के कार्य में उस समय के लेखक, साहित्यिक, राजे-महाराजे यत्नशील रहा करते थे—इसका परिचय मिल जाता है। ऐसे अनेक दानपत्र, ताम्र-पत्र, प्रस्तर-लेख मिलेंगे, जिनमें विकासशील कन्नड़ ने संस्कृत से अपने को सम्पन्न करने में कभी संकोच नहीं किया।

कीर्ति के चेहरों पर किसी तरह का भाव प्रकट नहीं था। परन्तु वामशक्ति पण्डित के मुख पर असूया की भावना स्पष्ट लक्षित हो रही थी।

सचिव ने उस दान-पत्र को फिर ज्यों-का-त्यों तहकर रेशम की डोरी से बाँधकर कहा, "इस दान-पात्र को ताम्र-पत्र पर उत्कीर्ण करवाकर श्री श्री के चरणों में में समर्पित किया जायेगा। तब तक यह आपके पास सुरक्षित रहे।"—दोनों हाथों में उसे लेकर आगे बढ़ाकर आचार्यजी को समर्पित किया। फिर वह जाकर अपने आसन पर बैठ गये।

आचार्यजी उस रेशम के पुलिन्दे को हाथ में पकड़े, वैसे ही थोड़ी देर सिर झुकाकर कुछ सोचते रहे। फिर सिर उठाया। उनके चेहरे पर एक अनिर्वचनीय तेज चमक रहा था।

आचार्यजी ने धीर-गम्भीर वाणी में कहा, "पोय्सल-चक्रवर्ती, पट्टमहादेवी शान्तलदेवी, राजमहिषियो, राज-परिवारियो, सचिव नागिदेवण्णा, सामाजिको, और सभासदो! हमने सर्वस्व त्याग करने के संकल्प से संन्यास-स्वीकार किया। परन्तु इस पोय्सल राज्य में आने के पश्चात् 'संन्यासी का संसार' लोकोक्ति के अनुसार हमारी स्थिति हमारे ही वश में न होकर यों बदल गयी है। संन्यासी को लौकिक प्रेम से परे होकर पारलौकिक विश्वप्रेम का अर्जन करना होगा। इस दिशा में हम साधना करने चले तो यहाँ की जनता, राज-परिवार और अधिकारी वर्ग आदि के उच्च सुसंस्कृत हृदयों में उस छलकते हुए मानव-प्रेम को देखा और पाया। यह उसी विश्वप्रेम का दूसरा पहलू है, जिसे हमने यहाँ प्रत्यक्ष देखा-समझा। विश्व का जैसे-जैसे विकास होता जायेगा, तैसे-तैसे मानव की व्यक्तिगत इच्छाएँ बृहत् रूप ग्रहण करती जायेंगी, और और बृहत् होती जाएँगी। इन बृहदाकारों के घर्षण में स्वार्थप्रवृत्ति के बढ़ने से मानव-कल्याण की भावना गौण हो जाती है। इससे मानव-प्रेम का वह शुद्ध स्वरूप मैला होता जाता है। क्रमश: यह मैल जमकर उस सम्पूर्ण मानव-प्रेम की भावना को नष्ट कर देता है; जनता धर्म से दूर हो जाती है, भगवान् पर विश्वास खोकर एक विचित्र तरह के प्रतिक्रियात्मक भाव के वशीभूत होकर प्रलय ही मचा देती है। यही आज तक के हमारे अनुभव से उपलब्ध अनुभूति है। परन्तु पोय्सल राज्य में प्रवेश करने के बाद हमें लग रहा है कि हम किसी एक नवीन संसार को ही देख रहे हैं। क्योंकि यहाँ यद्यपि अनेक भावनाओं के, अनेक मत-सम्प्रदायों के लोग रहते हैं, फिर भी 'जिओ और जीने दो' की नीति का अनुसरण करते हुए परस्पर सहयोग-पूर्ण जीवन व्यतीत कर रहे हैं। वैयक्तिक मत सामाजिक जीवन में किसी तरह की बाधा न बनें, इसकी पर्याप्त सावधानी बरती जा रही है। इसी विशेषता के कारण इस राज्य में एक नवीन चेतना का विकास हुआ है जो परम श्रेयस्कर है। इसमें तिल-भर भी शंका नहीं। मैं इस महान् दान से अत्यन्त सन्तुष्ट होकर ऐसी बात

कह रहा हूँ—ऐसा कोई न समझे । हमारे अन्तरतम में जो सत्य का दर्शन हुआ है उसी को हमने स्पष्ट किया है। धर्म-विमुख मानव में धर्मश्रद्धा स्थापित करना, धर्म-स्वरूप के विषय में डाँवाडोल मन को सद्‌लक्ष्य हेतु सुस्थिर करना—यही हमारा लक्ष्य है।"

आचार्यजी के प्रवचन की धारा धीर-गम्भीर रूप में प्रवाहित हो रही थी। मन की डाँवाडोल स्थिति की बात जब आचार्यश्री की वाणी में सुनी तो शान्तलदेवी ने एक बार बिट्टिदेव की ओर प्रश्नाकुल दृष्टि से देखा। वह दत्तचित्त होकर आचार्य की वाक्-सुधा का पान कर रहे थे। बिना किसी बाधा के आचार्य की बात आगे बढ़ी—

"हमारे लक्ष्य की साधना की प्रमुख शर्त है मानव-प्रेम। वह प्रेम चाहे किसी रूप में प्राप्त हो, वह त्याज्य नहीं। इसीलिए महाराज द्वारा प्रदत्त यह दान हमें स्वीकार्य है।"

इतना कहकर आचार्य ने नागिदेवण्णा की ओर देखा और फिर एक दृष्टि सभासदों की ओर डालते हुए बोले, "नागिदेवण्णाजी ने हमारे जन्म-प्रदेश के चोलराज के विषय में सुनी-सुनाई बातों के आधार पर जो बातें सुनायीं, वह सद्‌भाव को उत्पन्न करने की एक रीति है। आज के मानव की रीति-नीतियों के जानकार, उन्होंने उस सम्बन्ध में अपना अभिमत स्पष्ट किया है। यदि व्यापक दृष्टि से देखा जाए तो उनके अभिमत का कुछ अर्थ भी है। परन्तु चोल राज-वंशियों ने प्रत्यक्ष या परोक्ष किसी भी तरह से हमें कष्ट दिया—ऐसा विचार करना ग़लत होगा। ऐसी भावना का होना संन्यासी के लिए उचित्त नहीं। इसके अलावा ऐसा कहेंगे तो उन बातों की प्रतिक्रिया कुछ उल्टे ही ढंग से कुपरिणाम-दायिनी भी हो सकती है। परिस्थिति चाहे कुछ भी हो, शान्ति, श्रेय और विश्व-प्रेम ही को चाहनेवाले हम इन बातों के बारे में विचार ही नहीं करते। इस सन्दर्भ में एक बात आप लोगों के समक्ष स्पष्ट कह देना चाहते हैं। हम अपनी अन्त-रात्मा की प्रेरणा के अनुसार चलनेवाले हैं। अन्ध-स्वार्थ, वैयक्तिक झगड़ों को देख-देखकर हमारा मन दुःखी था, हम मानसिक शान्ति चाहते थे; उसी की खोज में हम इधर आये। सबकी कल्याण-कामना करनेवाले हम आप और आपके राज्य के लिए शुभ-कामना करते हुए भगवान् नारायण से प्रार्थना करेंगे। भूल कर भी हम कभी किसी की अशुभ-कामना नहीं करते।"—यों कहकर बगल में ही बैठी राजकुमारी पर दृष्टि डाल उसका सिर सहलाते हुए, अपनी बात को आचार्यजी ने आगे बढ़ाया—

"यह पुण्यमयी राजकुमारी, हमारे अपने गुरुवर्य के द्वारा दत्त सर्वरोगहर चूर्ण से स्वस्थ हुई हैं। वास्तव में इन राजदम्पतियों के पुण्य प्रभाव से, यहाँ की प्रजा के राज-प्रेम के रक्षा-कवच की महिमा से यह शुभ फल प्राप्त होना ही चाहिए

था। अगर हम न आते तब भी वह फल अवश्य ही मिलता, इस विषय में रंचमात्र भी शंका नहीं करनी चाहिए। परन्तु ऐसे एक पर्व के समय भगवान् नारायण ने इस रोग की चिकित्सा करने के लिए हमें प्ररित किया—निमित्त-मात्र के लिए। यह हमारा परम सौभाग्य है। हमारी समस्त सेवा महाविष्णु के चरणों में समर्पित है। हमारा सम्पूर्ण जीवन ही इस तरह की सेवा के लिए धरोहर है। इसलिए इस अम्बा का रक्षक हरि ही है, हम नहीं। केवल निमित्त-मात्र के लिए, हमसे यह कार्य हुआ तो भी इस सबको हमारी ही शक्ति का फल मानकर, अत्यन्त उदारता से प्रभूत दान देकर महाराज ने, अपनी उदारता का परिचय दिया है। हमने अपने भगवान् का पहले ही परिचय दे दिया है। इसलिए इस समस्त दान को नारायणार्पित मानकर उस सबकुछ को उसी की सेवा के लिए धरोहर के रूप में रख छोड़ते हैं। हम पर सबका प्रेम-विश्वास सदा-सर्वदा बना रहे, इसके लिए हम प्रार्थना करेंगे"—इतना कहकर आँखें बन्द करके आचार्यजी ने हाथ जोड़े।

उपस्थित सब लोग मन्त्रमुग्ध की तरह बैठे रहे। आचार्य की वह वाणी मानो सभी के हृदय की पुकार थी। आचार्यजी की वाणी के बन्द होते ही, सब सचेत-से हो गये। हाथ जोड़े बैठे आचार्य को देख सबने एक साथ हाथ जोड़ लिये।

बिट्टिदेव में एकदम एक तरह का उत्साह हो आया। उन्होंने उठकर आचार्यजी के पास बैठी बेटी हरियला को गोद में लेकर कहा, "यह अब तक मेरी बेटी रही। आचार्यजी ने जैसा सुनाया—यह अब हरि की कृपा से रक्षित अम्बा है। इसलिए आगे इसे 'हरियब्बे' के नाम से पुकारेंगे। इस नूतन नामकरण के लिए यह शुभ मुहूर्त्त है; आचार्यजी इसे आशीश दें।" कहकर महाराज ने बच्ची को आचार्य के चरणों पर लिटा दिया।

शान्तलदेवी के मुँह पर एक मन्दहास खेल गया। आचार्यजी ने झुककर बच्ची को उठाकर अपनी गोद में बिठा लिया। बाद को उन्होंने कहा—

"हरियब्बे, हरियब्बे! सच है बेटी! तुम हरियब्बे ही हो। पोय्सल राजवंश की यह हरियब्बे इस राज-घराने की प्रथम विष्णुभक्तिन होगी। आगे यह सिंह जैसे पराक्रमी का हाथ पकड़ मातृवंश एवं श्वसुर वंश दोनों की कीर्तिवर्धिनी बनेगी।" कहते हुए उसके सिर पर हाथ फेरते, राजदम्पती की ओर देखते हुए बताया—"हरि का अर्थ सिंह भी है।"

शान्तलदेवी ने बिट्टिदेव को देखा; बिट्टिदेव ने सचिव नागिदेवण्णा को और उसने अंगरक्षकों की ओर देखा। अंगरक्षक अंकणा ने आनर्तनशाला के महाद्वार के पास जाकर द्वारपाल से कुछ कहा। वह वहाँ से अभी लौटा ही था कि इतने में आनर्तनशाला में घण्टे की गूँज तैरने लगी।

इसे सुनकर सभी सभासद उठ खड़े हुए और हाथ जोड़े। वन्दिमागध रत्न-खचित स्वर्णदण्डधारी हो महाद्वार के पास पहुँचे। सामाजिक और सभा के अन्य

जन भी विदा हुए।

राज-परिवार के साथ आचार्य और उनके शिष्य एंबार, नागिदेवण्णा, श्रीपाल वैद्य, छोटे मरियाने दण्डनाथ, डाकरस दण्डनाथ, मंचि अरसु, जगदल सोमनाथ पण्डित-जैसे प्रमुख लोग ही रह गये। आचार्यजी के लिए उस दिन की भिक्षा की व्यवस्था वहीं की गयी थी, इसी वजह से ये सब साथ ही ठहरे।

यादवपुरी में नवागत यतिराज रामानुज ने अपने अद्भुत चमत्कार से राजकुमारी के विचित्र रोग को एक ही दिन में अच्छा कर दिया। जो रोग महीनों की चिकित्सा के होते हुए भी तिलभर कम नहीं हुआ था, ऐसा रोग जिसे दूर करने के लिए बड़े-से-बड़े वैद्य भी कोशिश कर हार गये थे, उसी को एक ही दिन में, पलक झपकते ठीक कर देना कोई साधारण बात नहीं थी। इसे चमत्कार न कहें तो और क्या कहें।...

ऐसे महात्मा ख़ुद ही यादवपुरी में आये तो यही समझना चाहिए कि यह इस राज्य की प्रजा की प्रगति के लिए भावी शुभ-सूचना ही है।

"नन्द से अपमानित चाणक्य की निष्ठा और बुद्धिमत्ता से चन्द्रगुप्त जैसे साम्राज्य के संस्थापक बने वैसे ही चोलराज से त्रस्त, अपमानित आचार्य की महिमा से हमारे महाराज भी अपने राज्य का विस्तार कर पोय्सल-साम्राज्य की स्थापना करेंगे, इसमें कोई सन्देह नहीं।...

"ऐसा हो तो भविष्य में हमारे राज्य में आज से अधिक सुख-सम्पत्ति आसानी से सबको प्राप्त हो सकेगी।..."

"इससे बढ़कर आश्चर्य और क्या हो सकता है? यह इन्द्रजाल है या मेले-वेले में होनेवाला जादू है? भगवान् ही जाने।..."

"हमारे महाराज और पट्टमहादेवी आसानी से धोखे में पड़नेवाले नहीं।..."

"फिर भी सुनने पर रोमांच होता है। दो हज़ार सोने की मुहरें! नदी के पास की तीन-सौ गुण्टे ज़मीन!..."

"भिखमंगे को भाग्य-लक्ष्मी ने ही वर लिया।..."

"हाँ, हाँ, शायद उस संन्यासी की जन्मपत्री में शशिमंगल योग होगा। उसमें भी कुज उच्च रहकर चन्द्र स्वक्षेत्र में रहता होगा; दोनों उच्च वर्ग में अच्छे होंगे।..."

"देखने पर तो बड़े तेजस्वी लगते हैं!..."

"ये वास्तव में सात्विक हैं या ख़ाली ढपोरशंख, कौन जाने ?"

"सचिव की बातें सुनने पर लगता है 'ये सीधे वैकुण्ठ से ही उतर आये हैं।"

"कौन जाने, किस-किस में कौन महत्त्व छिपा रहता है ?"

यों तरह-तरह की विचित्र बातें यादवपुरी की जनता और घर-घर में थोड़े ही समय में फैलने लगीं। आम जनता का यह स्वभाव ही होता है कि जो जी में आये कहे।

चाहे लोगों के बोलने का ढंग और विचार कैसे भी रहे हों, इतना ज़रूर था कि लोग आचार्य को देखने और उनका दर्शन पाने के लिए विकल अवश्य थे। लोगों के मन में यों कुतूहल पैदा करने के लिए उच्चस्तरीय प्रचार-प्रसार बहुत ही मुख्य है।

पिछले दिन जब आचार्यजी यादवपुरी में पधारे तब उनके धीर-गम्भीर व्यक्तित्व को देख लोग एकदम आकर्षित तो हुए परन्तु किसी ने उनके प्रति विशेष आसक्ति नहीं दिखाई थी। उनकी तेजस्विता को देख अन्दर-ही-अन्दर प्रभावित होने पर भी, केवल उन्हें एक निष्ठावान मानकर सब अपने-अपने कार्यों में व्यस्त रह गये थे; अधिक जानने की कोशिश भी लोगों ने नहीं की थी।

जगदल सोमनाथ पण्डित के बच्चे के स्वस्थ होने की ख़बर उनके घर की ड्योढ़ी से बाहर पहुँची थी। वह भी उतना ही महिमामय विषय था तो भी उस घटना के प्रति लोगों का उतना ध्यान नहीं गया था। जगदल पण्डितजी तो यादवपुरी के पोय्सल राज्य के प्रसिद्ध वैद्य थे। उन्हीं की चिकित्सा भी चल रही थी। किसी कार्यकारण संयोग से यह सब हुआ होगा—यों सोचनेवालों की भी कमी न थी।

'सब के यहाँ बच्चे होते हैं, बीमार भी होते हैं, अच्छे भी हो जाते हैं, इसमें कौन-सी ख़ास बात है' कितने ही लोग ऐसा भी सोच रहे थे। परन्तु···

जब राजकुमारी की बात उठती है तो वह साधारण विषय नहीं होता। वह तो घर-घर की बात बन जाती है। इसीलिए सबमें कुतूहल और आसक्ति पैदा हो जाती है। अन्यत्र सम्भव न हो सकनेवाला कोई मानवातीत विशेष कार्य शायद होता होगा—ऐसा भी भ्रम लोगों में रहा होगा—नहीं तो आम लोगों में ऐसी आसक्ति क्यों हो !

सबके घरों में विवाह होते हैं; विवाह के बाद गर्भधारण भी होता है; बच्चे जन्मते भी हैं। पास-पड़ोस के दो-चार लोगों को छोड़कर, अन्य कोई उस विषय में आसक्त नहीं होते। पास-पड़ोस के लोगों की आसक्ति भी केवल तात्कालिक हुआ करती है। परन्तु···

राज-परिवार में महारानी, रानी या अन्य कोई राजघराने की स्त्री गर्भवती होती है तो गर्भ-धारण के समय से लेकर, बच्चे के जन्म होने तक लोग लगातार

उत्सुक रहा करते हैं। ख़ासकर स्त्रियों में हर कहीं चाहे किसी भी प्रसंग में, जब कभी कहीं दो-चार इकट्ठा होती हैं, तो यही बात चलती रहती है।

यह भी लोगों की कैसी प्रवृत्ति है !

पदस्थ अधिकारी कोई व्यक्ति अच्छी तरह बात कहे तो लोग उसकी प्रशंसा करते हैं। उसी अच्छी बात को कोई साधारण व्यक्ति कहे तो उस पर कान भी नहीं देते। इसमें बातों का गुण और उसका महत्त्व प्रधान है या उसे कहनेवाला व्यक्ति प्रधान है? यह प्रश्न महत्त्वपूर्ण हो उठता है। यह एक सार्वकालिक प्रश्न है; एक अनुत्तरित प्रश्न। पहले भी ऐसा ही रहा, आगे भी रहेगा। लोगों का स्वभाव ही ऐसा है। इसलिए वर्तमान रूप में यही मान लें कि ऐसा ही होता है।

चाहे किसी भी कारण से क्यों न हो, आमतौर पर यादवपुरी के लोगों का ध्यान आचार्य की ओर विशेष रूप से लगा था, यह निर्विवाद है।

चाहे जो हो, राजमहल से लौटते समय आचार्यजी को आँखभर देख आनन्दित होने के विचार से लोग रास्ते के दोनों ओर इकट्ठे हुए और मन्दहास-युक्त प्रणामों के साथ उनको देख और अपनी श्रद्धाभक्ति का प्रदर्शन करने के लिए, घर-घ . के ओसारे, आँगन आदि में जुट गये थे।

उधर प्रमुख पौर, गण्यमान व्यक्ति, धनी, विद्वान् आदि आचार्यजी के दर्शनों के लिए और उनसे सम्पर्क कर बातचीत करने के लिए कुतूहली होकर, कोई दूर की आशा-आकांक्षाओं को लेकर नरसिंह मन्दिर के अहाते में एकत्रित हो गये थे।

राज-प्रासाद की भिक्षा के बाद थोड़ा आराम कर साँझ के समय राज-मर्यादाओं के साथ पालकी में बैठकर निकले आचार्यजी।

किसी तरह के पूर्व-आयोजन के बिना ही आचार्यजी को लोगों से महान् गौरवपूर्ण स्वागत प्राप्त हुआ। इस तरह हो सकने की कल्पना भी शायद आचार्य के मन में नहीं हुई होगी। घर-घर के सामने अत्यन्त मनोहर अल्पनाएँ बनायी गयी थीं। वीथियों को भी सजाया और सुन्दर बनाया गया था। समय और सहूलियत होती तो शायद जगह-जगह छप्पर और शामियाने भी बन जाते, वन्दनवारों का तो पूछना ही क्या था।

लोगों के हर्षोद्गार और उनके द्वारा प्रदर्शित श्रद्धा-भक्ति आदि देखकर आचार्यजी का हृदय भर आया। जीवन में पहली बार इस तरह के अपरिमित आनन्द के वशीभूत होने के कारण उनकी दशा विचित्र हो गयी। उस उमड़ते हुए आनन्द से उनकी आँखें भर आयीं। हाथ जोड़कर आँखें बन्द किये वे बैठ गये थे; आनन्दाश्रुओं के प्रवाह को रोकने में असमर्थ होने के कारण उन्होंने आँखें तक नहीं खोलीं। पलकें बन्द !

नगर से बाहर कुछ दूर हटकर मन्दिर बना था। इसने आचार्यजी को कुछ अच्छा लगा, क्योंकि वह स्थान उनके एकान्त-सुख के लिए अच्छा था। वे

समझते थे कि वहाँ पहुँचने पर इस महदानन्द के दबाव से छुट्टी पा सकेंगे। एकान्त में संयम की साधना सम्भव है—इसे एकान्तवासी संन्यासियों ने साधना कर दर्शाया है। परन्तु उस दिन जितनी जल्दी एकान्त चिन्तन-रत होना चाहते थे, वह सम्भव नहीं हो पाया, वहाँ भी।

राजमार्ग से आते हुए जिस जन-समुद्र को देखा, उसमें उनका निर्व्याज-प्रेम और श्रद्धा का अनुभव आचार्य ने किया, जो मन्दिर में एकत्रित जन-स्तोम में नहीं है—यह उन्हें प्रतीत हो रहा था। पालकी से उतरते ही लोगों के झुण्ड-के-झुण्ड आकर घेरने लगे। जितने लोग उतने ही निवेदन। हम अपना सर्वस्व आचार्यजी के लिए समर्पित करेंगे।···हमारे प्रभु विशेष प्रकार के तारतम्य की परख करने में बड़े निष्णात हैं, उनकी रुचि का पता पाना आसान नहीं। लेकिन आपका आगमन होते ही आपके प्रति इतनी श्रद्धा और भक्ति उनकी हो गयी तो मानना ही चाहिए कि आप दैवांश सम्भूत महापुरुष हैं। इसलिए अब हमारे लिए आपका आश्रय राज्याश्रय ही के समान है। यों अनेक तरह की बातें कहते हुए वे जो कुछ भेंट लाये थे उसे आचार्यजी को समर्पित किया।

उनमें से कुछ लोगों का व्यवहार तो आचार्यजी को बनावटी लगा। इस बात से वे अपरिचित तो नहीं थे कि वे लोग मौक़ा पाकर काम साध लेने की प्रवृत्ति रखनेवाले हैं। फिर भी उन सभी आगतों को सन्तुष्ट कर जल्दी ही उन्हें विदा कर दिया। राजमहल के अधिकारी, सिपाही, रक्षक-दल, पालकीवाहक, चामरधारी, मशालची आदि सभी को विदा किया। तब तक सूर्यास्त भी हो गया था।

आचार्यजी सचमुच एकान्त चाहते थे। इसलिए सब के चले जाने के बाद आचार्यजी ने अपने ठहरने के लिए बने विशिष्ट ओट वाले मण्डप में जाने के लिए क़दम उठाया ही था कि उनके बगल में से सामने आ एक मध्यम आयु के व्यक्ति ने हाथ जोड़ प्रणाम किया। आचार्यजी ने अभय हस्त दिखाकर एक बार मुस्कुरा दिया। बाद को दो-तीन सीढ़ी चढ़ वहीं रुक गये। मुड़कर उस प्रणाम करनेवाले की ओर देखा। वह ज्यों-का-त्यों खड़ा था। सीढ़ियों से उतरकर फिर आचार्यजी उसके पास आये। क्षणभर के लिए उसकी ओर देखा।

उस मण्डप के एक कोने में टिमटिमाती ढिबरी का प्रकाश उस व्यक्ति के चेहरे पर पड़ा।

आचार्यजी ने पूछा—"आप कौन हैं?"

"मैं इस तरह के गौरवार्थक 'आप' सम्बोधन के योग्य नहीं।"

"आप की बात ही आपकी योग्यता की साक्षी है। अच्छा, बताइए, आप कौन हैं?"

"मैं एक बटोही।"

"हम सब बटोही हैं। परमात्मा के आदेश के अनुसार उस देश से कूच कर

इस भूलोक में आये हैं।"

"ज्ञानी जनों के मुँह से निकलनेवाली बात का हम मूर्ख क्या उत्तर दे सकते हैं?"

"तो ज्ञानी और मूर्ख—इनमें अन्तर क्या है—सो आप बता सकेंगे ?"

"मैं अज्ञ हूँ। इस तरह की जिज्ञासा करने की शक्ति मुझमें नहीं है।"

"मनुष्य को पीछे हटना नहीं चाहिए। पीछे हटना दुर्बलता का द्योतक है। फिसड्डीपने से कुछ भी नहीं सधता।"

"साधने के लिए कुछ हो, साधने की चाह हो—ऐसे लोगों के लिए वह आवश्यक है। परन्तु मुझ-जैसे के लिए..."

"सभी मानव समान हैं। हम, आप, वह—इस तरह का भेदभाव उचित नहीं। परमात्मा की दृष्टि में सब समान हैं। उनकी इस सृष्टि में इस भूमि पर रहनेवाली समस्त जीवराशि को कर्त्तव्य निरत होना चाहिए। जो कर्त्तव्यविमुख होंगे वे परमात्मा के क्रोध का भाजन होंगे।

"तो !"

"पीछे हटनेवाले सब कर्त्तव्य-पराङ्मुख हुआ करते हैं।"

"सत्य कहने का अर्थ तो पीछे हटना नहीं न ?"

"यह धीरता का प्रश्न है। यह प्रश्न पूछ सकने की शक्ति आप में है। अतः आपका मन आगे से सही रास्ता पकड़ चलेगा। अब तक दुःख का कारण बना रह सकता है, या जीवन पर उदासीनता का कोई कारण भी हो सकता है। कोई अज्ञान आप के मन को घेरे हुए था। अब वह हट गया। इस अवसर पर आपको एक बात का स्मरण रखना चाहिए। वह यह कि सत्य को छिपा रखें या सत्य का ज्ञान न हो तो हमने अभी जो कुछ कहा उसकी अनुभूति तो हुई होगी। उसका दुःख-दर्द उस सत्य को ढँके रखता है। पागल-सा बना देता है। परन्तु सत्य के लिए स्थायी भूमि जब बन जाती है, तब अपनी शक्ति का परिचय हो जाता है। तात्पर्य यह कि वह व्यक्ति अपने आपको पहचान लेता है। अपने आपको जब समझ जाता है, तब ज्ञानी बन जाता है। यह एक विपरीतार्थ-सा लगता होगा; मगर यह अनुभव सिद्ध बात है। हमारी इन बातों को आप अपने विशिष्ट जीवन के साथ समन्वित कर विचारपूर्वक विमर्श कर देखिए। तब आपको पता लगेगा कि ज्ञानी भी इन कारणों से सत्य के स्थायित्व को न पाकर-पागल-सा बरत सकता है—बरतता है। परन्तु उस पागलपन से मुक्ति पा लेना हो तो फिर उसी सत्य का अवलम्बन करना होगा। समझे !"

"प्रकाश मिल गया; इससे अधिक जानकारी प्राप्त करने की कोशिश की जा सकती है।"

"प्रयत्नशीलता ही लक्ष्य की ओर बढ़ने का मुख्य साधन है।"

"ठीक !"

"अब बताइए आप कौन हैं ?"

"एक पान्थ।"

"अभी तक मन की वह डांवाडोल स्थिति गयी नहीं। अच्छा, रहने दीजिए। आपका व्यवसाय ?"

"शिल्पी !"

"भगवान् ही की सृष्टि करनेवाले।"

"यह बहुत बड़ी बात है। बड़ों के मुंह से छोटी बात कैसे निकल सकती है ?"

"यहाँ कब आये ?"

"आज ही, अभी कुछ समय पहले।"

"कहाँ से ?"

"दोड्ड गुद्दुवल्ली से।"

"आप वहाँ के हैं ?

"नहीं !"

"तो फिर ?"

"वहीं कुछ दिन ठहरना पड़ा था।"

"मन्दिर के काम पर ?"

"हाँ !"

"पूरा हो गया ?"

"हाँ।"

"कौन-सा मन्दिर ?"

"लक्ष्मीदेवी का।"

"उस मन्दिर के स्थपति आप ही हैं ?"

"नहीं, विश्वकर्म निर्मित सुभाषित त्रिरुदांकित मल्लोज के माणियोज उसके स्थपति हैं। मैं तो एक साधारण शिल्पी हूँ। महाद्वार का काम मुझे सौंपा गया था।"

"इतना ही ?"

"आठ हाथोंवाली काली की मूर्ति और उस देवी के गर्भगृह के सामने के वेताल समूहयुक्त मुख-मण्डप का भी काम सौंपा गया था।"

"इनमें से आपके मन को अधिक रुचिकर और प्रिय कौन-सा काम लगा।"

"द्वार-स्तम्भ की नग्नता, वेतालों के अस्थि-पंजर की वीभत्सता, काली की वह भयंकर उग्रता, इन तीनों में से कोई भी अच्छा नहीं लगा।"

"तो आपने अप्रिय कार्य किया ?"

पान्थ कुछ हतप्रभ हुआ। उत्तर देने के लिए कुछ युक्ति-संगत बात वह सोच रहा था, शायद। लेकिन उसे अपने मन को भी वश में रखना था। थोड़ी देर मौन रहकर उसने आचार्य की ओर देखा। फिर कहा, "न, न, ऐसा नहीं। काम सब बराबर होता है। कला में अमुक प्रिय है, अमुक नहीं, या अमुक कम प्रिय है—इस तरह का भेद नहीं है। भाव कुछ भी हो, कला में एक स्थायी आनन्द को रूपित करना होता है। इसके अलावा कलाकृति में जिस भाव की अभिव्यक्ति होना चाहिए, वह कलाकार पर हावी न हो, यही अच्छा है।"

"तो क्या वे भाव आप पर हावी हुए थे?"

पान्थ मौन रहा। सिर झुकाये खड़ा रहा। ऐसा लगा कि वह कोई उत्तर देने का प्रयत्न नहीं कर रहा है। आचार्य ने उसकी ओर देखा।

"अच्छा, उसे रहने दीजिए, देखनेवाले कहते हैं न? यह उससे अच्छा है।"

"देखनेवाली आँख है। वह स्वभावतः चंचल है। इसके अलावा देखनेवाले की रुचि भी व्यक्तिगत चांचल्य का कारण बनती है। परन्तु हाथ काम करता है। यदि वह स्थिर न रहकर व्यक्तिगत चपलता के वशीभूत होकर चंचल हो जाय तो छेनी का काम सम्भव ही नहीं होता। कलासाधक को स्थिरता की आवश्यकता है, एकाग्रता की ज़रूरत है। निर्भयता भी चाहिए। परन्तु कला का आस्वादन करनेवाले प्रेक्षक कभी चंचल हो भी जायें तो चलता है। क्योंकि ऐसी चंचलता से उनके कलास्वादन की रुचि ही तो बिगड़ेगी। कला को कोई नुकसान नहीं पहुँचेगा। कलाकार का हाथ भय से कांपने लग जाय तो सचमुच कला बिगड़ जाती है।"

"कला के विषय में आपने अनेक सिद्धान्तों को अनुभव द्वारा समझा है—ऐसा लगता है।"

"सिद्धान्त कुछ भी रहे हों, अनुभव मात्र बड़ा कटु है।"

उस पान्थ ने बात तो कह दी। फिर तुरन्त चुप हो गया। उसकी आँखें एकदम भर आयीं। उसे वह रोक नहीं सका। वैसे ही उसने सिर झुका लिया। आचार्य ने उसकी ओर देखा। उनको लगा कि अब अधिक छेड़ने पर उसके अन्तरंग की वह कटुता ज्वालामुखी की तरह फूट सकती है इसलिए उन्होंने बात का रुख ही बदल दिया।

"यों तो आप पथिक हैं। आज रात चाहें तो आप यहीं बिता सकते हैं। हमारे शिष्य आपकी देखभाल कर लेंगे। कोई संकट आपको बाधा दे रहा है। उसे शान्ति चाहिए। कल बात क्या है सो जानकर उस पर विचार करेंगे। आइए, ऊपर आइए।" कहकर आचार्य सीढ़ियों पर चढ़े और परदे के पास पहुँचे।

पान्थ भी यन्त्रवत् उनके पीछे चला आया।

परदे के पास खड़े होकर आचार्यजी ने एक तरफ़ हाथ से दिखाकर कहा—

"आप यहाँ यात्रा की थकावट मिटाइए। शीघ्र ही हम शिष्य को आपके पास भेजेंगे।" कहकर वे परदे के पीछे आड़ में हो गये।

पान्थ बगल के मण्डप में जाकर अपने कन्धे पर के थैले को उतारकर एक खम्भे के सहारे पैर पसारकर बैठ गया। अन्दर आकर आचार्य ने अपने शिष्यों को बुलाकर धीरे से कहा—

"एंबार, अच्चान! सुनो, बगलवाले मण्डप में विश्राम करनेवाले एक महाशिल्पी हैं। कलाकार हैं। पता नहीं, शायद किसी दुःख-दर्द के कारण इस तरह भटक रहे हैं। बड़ी तत्परता से उनकी देखभाल करना। उनके दुःख-दर्द के कारण जानने के लिए उन्हें छेड़ना नहीं। बाद में उसकी कैसी प्रतिक्रिया होगी—सो कहा नहीं जा सकता। एक तरह से हमने उनके मन को पहचान लिया है। यदि हमारी धारणा सच होगी तो उनकी चित्तवृत्ति बहुत ही कोमल है। एक विचित्र तरह का संकोच उनमें घर कर गया है। ख़ासकर वे अपना परिचय देने में भी हिचकते हैं। भूलकर भी अपना परिचय मुँह से न निकले—इस ओर उनका विशेष ध्यान रहता है। ऐसे व्यक्ति को छेड़ना नहीं चाहिए। उनका बाहरी वेश आकर्षक न दिखने पर भी, जो भी उनकी आँखों में तेज देखेगा तो एक उच्च कलाकार की तेजस्विता देखे-पहचाने बिना न रहेगा। अच्छी तरह प्रकाश देनेवाली बत्ती जलकर जब कड़क बनती है तो उसका प्रकाश मन्द पड़ जाता है। उसी तरह वह जो दुःख अनुभव कर रहे हैं, उसकी वजह से तेजस्विता धूमाच्छन्न-सी हो गयी है। कल सुबह हम स्वयं पूछेंगे। समझे? अब यदि स्नान आदि करना चाहें तो उसके लिए व्यवस्था कर देना, खिला-पिलाकर आराम करने की व्यवस्था कर देना। आज के राजमहल के प्रेमपूर्वक आदर-सत्कार और वहाँ के वे यान्त्रिक कार्य-कलाप, पालकी पर सुदीर्घ यात्रा आदि के कारण, हम भी कुछ क्लान्त हैं, आराम करना चाहते हैं। हम अपना सायंकालीन पूजा-पाठ एकान्त में कर लेंगे और वैसे ही विश्रान्ति लेंगे। हमारे विश्राम में व्यर्थ का विघ्न न पड़े इसका ध्यान रखना। अच्छा, अब तुम लोग जाओ।"

अच्चान पाकशाला की ओर चला गया और एंबार उस पथिक के पास।

"गुरुजी की आज्ञा है, आप स्नान आदि से निवृत्त होकर भोजन कर लें। वे थके हैं, इसलिए अब आप कल सुबह उनके दर्शन कर सकते हैं। आइए।"

पथिक कुछ सोच में पड़ा था। उसने एंबार की ओर देखा, पर एकदम उत्तर नहीं दिया।

"क्यों? क्या सोच रहे हैं?" एंबार ने पूछा।

बटोही थोड़ी देर चुप रहा। फिर बोला, "स्नान हो चुका है।"

"कहाँ?" एंबार ने तुरन्त पूछा।

बटोही थोड़ी देर उसी को देखता रहा, कुछ बोला नहीं। एंबार को गुरुजी

की बात याद आयी। उसे लगा कि प्रश्न नहीं पूछना चाहिए था। पर अब क्या हो सकता है, पूछ बैठा था न ?

जो गलती हो गयी उसे ठीक करने के उद्देश्य से एंबार ने कहा, "यह जानकर मुझे क्या करना है। यों वैसे ही पूछ लिया। यदि इसे ज़्यादती समझें तो मुझे क्षमा कर दीजिए।"

"न, न, यह कैसी बात, ऐसा कुछ नहीं !"

"तब ठीक है, अब विलम्ब क्यों ? चलिए भोजनालय में चलेंगे।"

"क्या भोजन करना ज़रूरी है ?"

"गुरूजी ने मुझे यही आज्ञा दी है।"

"ठीक है, चलिए।"—दोनों पाकशाला की ओर चल दिये।

अच्चान ने वहाँ पीढ़ा लगाकर केले का पत्ता बिछा, पानी वग़ैरह तैयार रखा था। नवागन्तुक जाकर पीढ़े पर बैठ गया। एंबार वहीं कुछ दूर पर एक प्रस्तर-स्तम्भ से टिककर बैठ गया।

अच्चान ने परोसते हुए कहा, "यथोचित भोजन कीजिए। पता नहीं कितनी दूर से चलकर आये हैं, थके होंगे।"

"रोज़ घूमनेवालों के लिए थकावट कहाँ से ?"

"तो क्या घूमते रहना ही आपकी वृत्ति है ?"

"नहीं, फिर भी घूमता रहता हूँ। घूमते रहना है। फिलहाल तो एक पान्थ ही हूँ।"

भोजन प्रारम्भ हो गया था। अच्चान ने पूछा, "आप कहाँ के निवासी हैं ?"

पान्थ के हाथ का कौर वहीं रुक गया, मुँह तक नहीं गया। उसने सवाल करनेवाले अच्चान की ओर एक विशेष दृष्टि से देखा।

"क्यों क्या हुआ ?" अच्चान ने घबड़ाकर पूछा।

"कुछ नहीं, कोई बात याद आ गयी। इतना ही।" उसने कौर को मुँह में डाला।

"स्मृति कड़वी नहीं है न ?"

"उसका स्वाद दूसरे को मालूम ही नहीं हो सकता।" कड़ा जवाब दिया यात्री ने। जल्दी-जल्दी, पत्तल पर जो परोसा था उसे खाकर समाप्त किया।

तब अच्चान को गुरुजी की बात याद आ गयी। उसके मन में शंका होने लगी कि उसने जो बात कही वह ठीक थी या नहीं।

"क्या परोसूं ? क्या चाहिए ? और थोड़ा परोसूं ? संकोच न करें, भोजन स्वादिष्ट है या नहीं ? नमक-मिर्च सब बराबर लगा है या नहीं ? मिर्च कुछ अधिक हो तो घी देने से ठीक हो जायेगा।" आदि-आदि समयानुकूल औपचारिक बातें

करते, खाने पर अधिक ज़ोर न देकर युक्ति से भरपेट खिलाने की कला में अच्चान बहुत निष्णात था। परन्तु अब वह एकदम मूर्ख-सा खड़ा रह गया था।

वहीं बैठकर एंवार यह सब देख रहा था, पत्तल को खाली देख कहा—"देखो, अच्चान पत्तल खाली है, उन्हें जो चाहिए उसे पूछकर परोसो।"—एंवार की इस बात ने उसे सहज स्थिति में ला दिया।

भोजनोपरान्त तीनों उसी मण्डप में आये जहाँ पान्थ का नाममात्र का सामान था और बैठ गये। आचार्य के दोनों शिष्य उसके बारे में जानने को बहुत उत्सुक थे। परन्तु इस बात का डर भी बना हुआ था कि उसे जानने के प्रयत्न में कोई अनहोनी बात हो गयी तो क्या होगा? क्योंकि गुरुजी की बातों को वे कभी भूल नहीं सकते थे। जाने-अनजाने यही द्वन्द्व उनके मन में चल रहा था। आख़िर जिज्ञासा की ही जीत हुई।

एंवार ने पूछ ही लिया—"सुनते हैं कि आप बहुत बड़े शिल्पी हैं।" उसने सोचा कि इस व्यक्ति के बारे में जानने के लिए इसी तरह कोई सूचना मिल जायेगी।

"शिल्पी हूँ, सच है।"

"यहाँ किसी-मन्दिर के निर्माण-कार्य पर आये हैं?"

"हमें बुलानेवाले कौन?"

"ऐसा क्यों कहते हैं?"

"किसी को मालूम ही नहीं कि मैं कौन हूँ।"

यह सुन एंवार की आँखें चमक उठीं। उसने सोचा कि जिसे जानने का कुतूहल रहा उसके लिए एक सूत्र हाथ आया। उसने कहा, "तो बताइए न, आप कौन हैं?"

"बताऊँ तो भी कुछ हल न होगा।"

"बताकर देखिए तो सही। बाद को प्रयोजन मालूम पड़ेगा।"

"भगवान् ही जाने, क्या प्रयोजन है।"

"उन पर सारा उत्तरदायित्व डाल दीजिए। वह बिना किसी विघ्न-बाधा के सब कुछ ठीक कर देंगे। हमारे गुरुजी यही कहा करते हैं।"

"ये गुरु कौन हैं?"

"सो भी मालूम नहीं? बिना जाने ही आप उनके आश्रय के लिए आये?"

"आश्रय के लिए? आपकी बात मेरी समझ में नहीं आयी?"

"नहीं तो आप पर इतना अभिमान गुरुजी को क्यों…?"

"सो सब मैं नहीं जानता। अचानक इस गाँव में आया। देखा, गाँव-भर में उत्साह की लहर है। सुना कि कोई गुरुजी आये हैं और मन्दिर में मुक़ाम किया है। जो भी हो, महात्माजी के दर्शन करने के इरादे से प्रतीक्षा में खड़ा था।

दर्शन मिल गया। उन्होंने स्वयं मेरे बारे में पूछताछ की। यही मेरा अहोभाग्य है। मेरे न चाहने पर भी उन्होंने स्वयं आश्रय दिया। बड़ों की रीत ही ऐसी होती है।"

"क्या आपने बताया है कि आप कौन हैं ?"

"बता भी दूँ तो उससे उनका क्या प्रयोजन सिद्ध होगा ? लोककल्याण के लिए जन्म धारण करनेवाले महापुरुषों को हमें अपने व्यक्तिगत दुःख-दर्द सुनाकर कष्ट नहीं देना चाहिए।"

"आप नहीं बतावेंगे तो वे कहाँ चुप रहेंगे ? कल अपने आप रहस्य खुल जायेगा। मीठी बातों से ही रहस्य को जानने की युक्ति वे जानते हैं।"

"मतलब ?"

"मतलब, कल वे ख़ुद सब पूछ-ताछ करेंगे। तब आप कहे बिना कैसे चुप रह सकेंगे ? इसीलिए उन्होंने सावधानी से आपकी देखभाल करने का हमें आदेश दिया है।"

पान्थ कुछ चिन्ताक्रान्त हुआ। थोड़ी देर मौन रहकर फिर बोला, "उन्हें रोक कौन सकता है ?" आपने यह तो नहीं बताया कि वे कौन हैं ?"

"अच्छा, बताऊँगा।" कहकर अच्चान बिछाने के लिए दरी लेने चला गया। "हम भी इन्हीं के साथ रहकर रात बितावेंगे और जब तक नींद न आवे तब तक गुरुजी के बारे में बतायेंगे।" एंबार ने कहा।

अच्चान दरी लेकर आ गया।

एंबार की बातों ने यात्री के मन पर गहरा प्रभाव डाला। उसी धुन में वह चिन्तन करता रहा। सर्वत्र मौन छाया रहा।

दरी लाते ही बिछाकर अच्चान लेट गया। पाकशाला के इस पाकशास्त्री को विशेष थकावट हुई होगी, या आज अधिक काम न होने के कारण, कुछ आलस्य हुआ होगा। अलावा इसके आचार्यजी के विषय में एंबार ऐसी कोई विशेष जानकारी नहीं रखता जिसे वह स्वयं नहीं जानता हो—ऐसी भी भावना होने के कारण लेटते ही उसे बहुत जल्दी नींद आ गयी। थोड़ी देर बाद एंबार ने मौन को तोड़ा। पूछा, "जग रहे हैं ?"

"हाँ"

"आचार्यजी के विषय में बताऊँ ?"

"हाँ"

एंबार ने कहना शुरू किया। पथिक ने शुरू-शुरू में विशेष रुचि दिखाई, हाँ-हूँ कहता रहा। एंबार ने समझा कि उत्साह से सुन रहा है, उसका उत्साह दुगुना हो गया। गुरुजी का गुणगान करते समय वह सहस्रजिह्व आदिशेषनाग ही बन जाता। अब तो पूछना ही क्या ! आचार्यजी का जीवन-चरित एक कलाकार

को बताने का यह अवसर उसे अत्यन्त महत्त्वपूर्ण प्रतीत हुआ था। बहुत उत्साह तो होना ही चाहिए। उसके कथन का रंग-ढंग, रसभावपूर्ण उसके ध्वनि-विन्यास की रीति, जीवन-चरित को अभिव्यक्त करने की शैली आदि बहुत आकर्षक बनकर रंग जमाते लग रहे थे।

पथिक को लग रहा था रात-भर कहते जाएँ तो भी यह क़िस्सा ख़तम होनेवाला नहीं। फिर भी क़िस्सा चलता रहा।

आचार्य के तप की रीति, उनका साधना मार्ग, सबसे बढ़कर उनका निष्कल्मष पवित्र हृदय—आदि का स्पष्ट चित्र पथिक के मानस में अंकित हो गया।

"कैसा तेजपूर्ण व्यक्तित्व! कैसा महान् जीवन! कैसी अद्‌भुत साधना! साधना में कैसी अपरिमित निष्ठा!"—यह सब सुनकर उसका दिल भर आया।

"जन्म लेना हो तो ऐसा जन्म हो, जीना हो तो ऐसा जीवन जियें।"—उसे लगा।

परन्तु?

अपने ही जीवन का क़िस्सा उसकी आँखों के सामने चित्रपट की तरह एक-एक कर गुज़रने लगा। उसे आत्म-निरीक्षण-सा लगा। दर्पण-दृश्य नहीं, दो अलग-अलग व्यक्तित्व-से लगे। दुनिया के द्वन्द्व के विषय में एक नयी सूझ-सी उसके मन में उत्पन्न हो गयी। इसी धुन में उसका 'हूँ-हाँ' कहना बन्द-सा हो गया। क्योंकि उसका मन कुछ और ही सोचता हुआ अन्यत्र ही विचरण करने लगा था।

एंबार समझ गया। पूछा, "क्यों मन नहीं लग रहा है?"

एंबार के इस सवाल ने पान्थ को जगा दिया। उसने कहा, "नहीं ऐसी बात नहीं है।" परन्तु, वह सत्य-सा उसे नहीं लग रहा था। इस बात को कहते वक़्त उसकी ध्वनि में कुछ घबड़ाहट-सी थी। एंबार यह समझ गया।

उसे कुछ सूझा। बेचारे, पता नहीं कितने थके होंगे, कितनी दूर से चलकर आये हैं। आराम करने न देकर, अपने उत्साह में उन्हें कष्ट देना उचित नहीं। अब आराम करने दें। कल रहेंगे न? बाक़ी बातें तब बता देंगे। यों एंबार ने सोचा। अन्त में कहा, "अब आपके लिए आराम की ज़रूरत है, सोइए।"

"आराम? सो भी मुझे?"

"क्यों, ऐसा क्यों कहते हैं?"

"इस जन्म में सम्भव नहीं।"

"इतना निराश होने की ज़रूरत नहीं। कल आप स्वयं देखेंगे। हमारे गुरुजी कल कैसा जादू करेंगे। तब आप ही समझेंगे। कल आचार्यजी के दाम्पत्य-जीवन से सम्बन्धित ऐसा क़िस्सा सुनाऊँगा जिसने उन्हें अत्यन्त दुःख का शिकार बनाया था। अब आप जाकर शयन करें।"

यात्री के मुँह से कोई बात नहीं निकली। उसके मौन को ही सम्मति का सूचक मानकर एंबार ने आँख बन्द कर हाथ जोड़कर प्रणाम किया और दरी पर करवट लेकर सो गया। उसे जल्दी नींद आ गयी।

ऐसे महापुरुष को भी अत्यन्त दुःखी बनाया इस कमबख़्त दाम्पत्य जीवन ने ?

यात्री के दिमाग़ में ये विचार और एंबार की और भी अनेक बातों के कारण उत्पन्न अनेक चिन्ताएँ चक्कर काट रही थीं, एक-दूसरे से टकरा रही थीं। उसे नींद लगने का-सा कुछ नहीं लग रहा था। केवल पुरानी कड़वी यादें घूम-घमकर उसे सता रही थीं।

प्रतिदिन ब्राह्म-मूहूर्त में जगना, स्नान आदि से निबटकर आचार्यजी के स्नान-पूजा-पाठ आदि के लिए तैयारी रखना—शिष्यों का यह सब दैनिक कार्यक्रम था।

अच्चान रोज़ की तरह समय पर सोया था। वह जल्दी उठा और अपने काम पर लग गया। एंबार देरी से सोया था, साथ ही राजमहल के कार्यकलापों के कारण थका होने के कारण रोज़ की तरह वक़्त पर न जग सका।

उधर अच्चान ने स्नान आदि से निबटकर कढ़ाही में पानी भरा और चूल्हे में आग देकर आचार्यजी के स्नान की व्यवस्था करने में लग गया। अब तक एंबार को स्नान आदि समाप्त कर आ जाना चाहिए था। अभी तक न आने के कारण अच्चान कुछ चकित हो गया, और वह स्नानागार से बाहर निकलकर उस कुएँ के पास गया जहाँ वे नहाया करते थे। सोचा था कि एंबार वहाँ होगा। परन्तु वह वहाँ भी नहीं था। यह सोचकर कि कहीं जंगल की तरफ़ गया होगा, वह लौटकर फिर स्नानागार में आ गया। पानी गरम हो रहा था, चूल्हे में अधजली लकड़ी को ठीक किया, फूँककर आग जलायी और फिर एंबार की प्रतीक्षा करता बैठ गया। थोड़ा समय और बीत गया। एंबार नहीं आया।

सूर्योदय हो रहा था, प्रातःकालीन अरुणिमा से प्रकृति शोभित हो रही थी। पक्षीगण चहकते हुए घोंसलों से निकलकर उड़ने लगे थे। यही आचार्यजी के प्रतिदिन के प्रातसंध्या आदि के आरम्भ करने का समय था।

फिर भी एंबार का अता-पता कुछ नहीं लगा, अब ?

एंबार कभी कर्त्तव्य-च्युत होनेवाला न था। अच्चान भी वैसा ही था। कभी समय पर काम करने से वे चूकते ही नहीं थे। एंबार और अच्चान दोनों कार्य को आपस में बाँट लेते और आचार्य की सेवा बराबर ठीक ढंग से करते आये थे।

एंबार स्वयं पहले जाग जाता, स्नान आदि से निवटकर आचार्यजी को जगाता और उनके शौच आदि की व्यवस्था अच्चान को सौंप देता, फिर खुद आचार्य के जप-तप, पूजा-पाठ आदि के लिए तैयारियाँ करने में लग जाता। यही उसका प्रातःकालीन प्रथम कर्त्तव्य था।

आचार्यजी के आने के पहले स्वयं स्नान कर, शुद्ध वस्त्र धारण कर, पानी गरम कर रखना, उनके शौच आदि से निवृत्त होने के बाद स्नान आदि कराकर एंबार को सौंप देना, यह अच्चान का प्रातःकालीन प्रथम कर्त्तव्य था।

एंबार को सौंपने के बाद अच्चान पाकशाला की तरफ़ निश्चिन्त होकर अपने काम पर चला जाता। परन्तु पहले आचार्यजी की सेवा समाप्त होने तक उसमें एक तरह की बेचैनी रहा करती थी। प्रतिदिन वही दृश्य उसकी आँखों के सामने गुज़र जाता। पर वह वर्षों की पुरानी बात होने पर भी रोज़-रोज़ नयी ही दिखती थी।

पहले एक बार कावेरी नदी के तीर पर गरम हुए बालू पर महर्षि गोष्ठिपूर्ण खड़े थे। उपवास से कृश आचार्य ने उन्हें साष्टांग प्रणाम किया था। प्रणाम करने के निमित्त आचार्य ने अपने शरीर को गरम रेत पर फैला दिया था। गोष्ठि-पूर्ण जानते थे कि रेत तप रहा है, फिर भी वे चुप रहे। प्रणाम करनेवाले आचार्य को आशीर्वाद नहीं दिया। आचार्य के पास उनका प्रिय शिष्य अच्चान था। वह स्थिति को देखकर काँप गया। इस गरम रेत में तपकर कहीं आचार्य भस्म न हो जाएँ, यही सोच वह छटपटा गया था। इस वजह से उसे गुस्सा आ गया। उसे यह भी मालूम था कि गोष्ठिपूर्ण उसके गुरु के गुरु, उसके लिए परमगुरु थे। परन्तु उसमें वह गौरव-भावना जलकर नष्ट हो चुकी थी। लाल-लाल आँखों से उस परम गुरु की ओर देखा। कहा, "आपके पावों में पादुकाएँ हैं। शायद इसलिए तपते रेत की गरमी का पता नहीं लगा होगा। ये गुरु हैं? गुरु? निर्दयी!" एकदम कह गया। न आव देखा न ताव। तब हँसते हुए गोष्ठिपूर्ण आचार्य को उठाकर अच्चान को सौंपते हुए बोले, "तुम जैसे एक व्यक्ति की हमें ज़रूरत थी, इस निष्कपट शुद्ध हृदय के अपने शिष्य की देखभाल करने के लिए। अब हम निश्चिन्त हैं। आज से आजीवन हमारे प्रिय शिष्य रामानुज की रक्षा का उत्तरदायित्व तुम्हारा।" उस दिन व उस दृश्य को वह कभी भूल नहीं सका था।

यह क्या कोई साधारण जिम्मेदारी है?

उसे यही चिन्ता रहा करती कि स्नान कराते वक़्त पानी कम गरम है या ज़्यादा? स्नान करने योग्य समोष्ण और शरीर को सुखद लगे—इसे वह जानता था, इसे अच्चान के सिवाय दूसरा नहीं जानता था। पानी की इस स्थिति को परखने में वह सदा सतर्क रहा करता। तपे बालू पर का वह दृश्य तुरन्त उसकी आँखों के सामने आ जाता। आचार्यश्री की रक्षा का उत्तरदायित्व

बहुत भारी था—इसे वह जानता था, फिर भी इस दायित्व को वह अपने लिए एक अनुग्रह ही मानता था। इस उत्तरदायित्व को निभाने की सदा तत्परता उसमें रहा करती।

उसने तुरन्त उठकर कढ़ाही के अन्दर हाथ डालकर देखा, पानी बहुत गरम लगा। हाथ खींच लिया और चूल्हे से लूके निकाले। अभी भी एंबार का पता नहीं!

अब अच्चान को लगा कि एंबार अभी तक जगा भी नहीं होगा। कथा सुनाने की धुन में बहुत देर तक सोया न हो, यह भी सम्भव है। एंबार के स्वभाव से अच्चान परिचित न हो सो बात नहीं। इसलिए उसे जगाने के लिए गया।

एंबार नींद में बड़बड़ा रहा था—"पत्नी के हाथों आचार्यजी के प्राण चकनाचूर हो गये।"

"नहीं, नहीं, तुम्हारे हाथों मेरे प्राण। उठो, उठो, यह क्या कुम्भकर्ण की निद्रा?···" अच्चान ने कहा। अच्चान के हाथ के डण्डे ने उसे हिलाना शुरू किया।

एंबार एकदम ऐसे उठ बैठा मानो स्वप्न से जाग उठा हो। वह घबड़ा रहा था। चारों ओर देखा। अच्चान को भी देखा। वह उठ खड़ा हुआ। "यह कैसा काम हुआ?" कहता हुआ हाथ मलने लगा। इर्द-गिर्द देखा। वह यात्री वहाँ नहीं था। एंबार घबड़ा गया।

"वह कहाँ गये?" उसने अच्चान से पूछा।

"कहीं जंगल गये होंगे। आ जायेंगे, चलो, देरी हो गयी। अब अपना सब काम झटपट ख़तम कर लो।"—कहकर उत्तर की प्रतीक्षा किये बिना ही अच्चान वहाँ से स्नानागार की ओर चला गया।

अच्चान की बात से कुछ राहत तो हुई, फिर भी एंबार के मन में शंका-सी रही आयी। उसने जाकर उस जगह को देखा जहाँ वह पान्थ सोया हुआ था। सब सूना-सूना था।

कहीं जंगल-वंगल गया होगा—यही सोचता हुआ वह दरी उठाकर वहाँ से जल्दी-जल्दी निकला।

अपने सब काम थोड़े में समाप्त करके तथा जल्दी ही आचार्यजी को अच्चान के सुपुर्द करके ख़ुद आचार्यजी की संध्या, पूजा-पाठ आदि की तैयारी में लग गया।

समय-समय पर होनेवाले कार्य कुछ उलट-फेर से हो जाएँ तो नियमित क्रम से कार्य करनेवाले मन को कुछ उलटा-सीधा लगने लगता है। गुज़रे हुए समय को मिलाकर उक्त निर्दिष्ट समय के अन्दर कार्य को सँभाल लेना हो तो काम में गड़बड़ी हो ही जाती है। यह मालूम होने पर भी संयम से काम लेना अभी तक मानव ने सीखा नहीं। आचार्य स्नानागार में अभी ठीक तरह से बैठे भी नहीं थे,

कि अच्चान के हाथ के लोटे का गरम पानी आचार्य पर पड़ा। स्नान हेतु समशीतोष्ण पानी शरीर पर पड़ने से अच्छा लगता है। अभी आचार्य ठीक वैठे भी न थे कि इतने में गरम-गरम पानी उनके कान में पड़ गया। आचार्य विचलित हो गये। तुरन्त दर्द के मारे एक आह आचार्य के मुँह से निकल गयी।

आह सुनकर अच्चान घवड़ा गया। पूछा, "क्या हुआ, गुरुजी ?"

"कुछ नहीं, पानी कन्धे पर पड़ने के वदले आज कान में गिर गया। वेचारे पानी को क्या मालूम कि कान में नहीं पड़ना चाहिए।"

लोटा हाथ में लिये अच्चान फक पड़ गया। ज्यों-का-त्यों वह खड़ा रहा।

"क्यों ऐसे खड़ा हो गया, क्या अभी पानी कम गरम है ?" आचार्य ने पूछा।

अच्चान ने घड़ा उठाया, कढ़ाई में ठण्डा पानी उँडेला। पानी को अपेक्षित गर्म पाकर घड़ा नीचे रख लोटे में पानी भरने लगा।

आचार्यजी ने यह सब देखा। सोचा आज इसे यह क्या हो गया ? गरम-गरम पानी पड़ने पर लगातार ऐसा पानी पड़ता रहे तो ठीक होता है, विलम्ब होने के कारण आचार्यजी के शरीर में कम्पन पैदा हो गया। अच्चान ने सुखोष्ण पानी आचार्य के शरीर पर डाला।

"अब ठीक है ?" उसके मुँह से निकला।

"ठीक," अब आचार्य स्नान के लिए तैयार हुए। स्नान आदि के वाद मौन होकर अपनी सन्ध्या-पूजा आदि के लिए आचार्यजी चले गये।

परन्तु अच्चान वैसे ही विचलित हो गया था। उनके मन में यही चिन्ता हो रही थी कि आज के काम ऐसे उल्टे-सीधे हो क्यों रहे हैं ? वह एक-एककर सभी कार्यों पर विचार करने लगा। मैंने कोई ग़लती तो नहीं की ? कान में पानी क्यों पड़ गया ? आज पानी की स्थिति मुझे क्यों मालूम नहीं पड़ी ? खौलता हुआ पानी डाल दिया न ? यह कैसा पापी हाथ है !···"

सदा रसोई के गरम वरतनों के साथ, आग से खेलनेवाले इन हाथों को शायद गरमी का पता न चले, लेकिन आचार्यजी के लिए नहलानेवाले पानी के विषय में तो काफ़ी परिचित हाथ थे। आज कैसे धोखा खा गये ! यह कभी हल न होनेवाली समस्या-सी हो गयी थी। इसलिए उसने सोचा कि वाद को इस सम्बन्ध में एंबार से मालूम करेगा। इससे उसके मन को कुछ सान्त्वना मिली। वह पाकशाला की ओर चला गया।

इधर एंबार अपने काम में लगा हुआ था फिर भी उसका मन यात्री की ओर लगा था। देरी से जगने पर उसे खुद आश्चर्य-सा लग रहा था। मदिरा पीकर सोये पड़े की तरह घोड़ा वेचकर सो गया। ऐसा क्यों हुआ ? देरी से सोया, सच है। वह भी तो देरी से सोया, वह भी पद-यात्रा से थका था न ? वह कैसे जल्दी

जग गया ? या सोया ही नहीं ? मुझे ही ऐसी नींद लग गयी ? तो चलते-चलते थककर आये हुए उसको नींद का न आना सम्भव है ? शायद हो सकता है कि जैसा अच्चान ने कहा, कहीं शौच-वौच के लिए गया हो। फिर भी जागने पर एक बार दिख जाता तो अच्छा था।

इस तरह चिन्ता कई धाराओं में दिमाग़ में बहने लगी। वह अपना कार्य यन्त्रवत् करता रहा।

पूरब की ओर मुँह कर बैठने योग्य दीवार से सटाकर एक पीढ़ा लगाया। उसपर कृष्णाजिन और ऊपर से एक पटसन का वस्त्र बिछाया। अर्घ्य-पाद्य आदि के लिए शुद्धोदक भरकर तैयार रखा। तरह-तरह के रंग-बिरंगे पुष्प परात में भर रखे। पूजा की अन्य सब सामग्री सजाकर रखी। निर्माल्य निकालकर रखा। यह सारा काम यन्त्रवत् चल रहा था। मगर उसका मन उस यात्री की ओर ही लगा था। अचानक उसे सीने में कुछ दर्द-सा लगा, हाथ में साफ़ करने के लिए पकड़ी हुई घण्टी फिसलकर नीचे गिर गयी, आवाज़ हुई; उस आवाज़ में एक चीत्कार भरा हुआ-सा लगा। अप्रतिभ होकर इधर-उधर झाँका। घण्टी को उठाकर ऊपर रखा; एकदम उठा और वहाँ गया जहाँ वह यात्री सोया था।

वहाँ आकर चारों ओर एंबार ने ढूँढा। कोने-कोने में देखा, स्तम्भों पर, आले पर, सब जगह ढूँढ डाला। आख़िर एक लम्बी साँस ली। छेनी, हथौड़ा—ये ही तो उस यात्री के थैले में थे; जब उसकी यह थैली ही यहाँ नहीं है, तो वह कहीं खिसक गया होगा—यही उसने सोचा। यह बात सच निकली तो ? गुरुजी ने कहा था न कि 'वह व्यक्ति प्रकृति से बहुत सूक्ष्ममति है; बड़े ध्यान से उसकी देखरेख करना।' अब गुरुजी पूछेंगे तो उन्हें क्या उत्तर दूँगा—यह सवाल उसे काँटे की तरह गड़ रहा था।

अच्चान ने एक बात कही थी—सो उसे याद आयी। 'उस यात्री के पास केवल एक थैला ही तो था। उसकी सारी सम्पत्ति, कपड़े-लत्ते सभी उसी में होंगे। शौच आदि के लिए बाहर जाते हुए उसे भी साथ ले गया होगा, वैसे ही वहीं कहीं स्नान आदि से निबटकर लौटने की बात सोची होगी; इसलिए उसने अपना थैला भी साथ ले लिया होगा।' अच्चान की इस बात की याद ने उसे कुछ तसल्ली दी। इसलिए वह वहाँ से लौट आया, वहाँ जहाँ पूजा-पाठ की व्यवस्था करनी थी।

एंबार के लौटने के पहले ही आचार्यजी आकर अपने लिए तैयार आसन पर बैठ गये थे और तिलक धारण करने की तैयारी कर रहे थे। इसे देख एंबार को कुछ खटका, उसने सोचा, "शायद न जाता तो अच्छा था। तिलक धारण के बाद आचार्यजी ने प्रात-सन्ध्या समाप्त की। अब षोडशोपचार-पूजा के क्रम का आरम्भ करना था। एक-एक वस्तु को पूजा के लिए तैयार रख, समय-समय जिसे

जब देना चाहिए, उसे आचार्यजी के हाथ में देने का काम एंबार का था। घण्टा, शंख, कलशोदक, दूध, दही, मधुपर्क, शुद्धोदक, धूप-दीप-फल-पुष्प आदि को क्रमबद्ध रीति से आचार्य के हाथ में पहुँचाना था। परन्तु, आज पता नहीं क्यों एंबार इसे उक्त क्रम से देने से चूक रहा था। एक के बदले दूसरा दे देता। इसे देख आचार्य चकित हो रहे थे।

एक बार, दो बार, चार बार देखा, आख़िर आचार्यजी ने पूछ ही लिया—"एंबार, तुम्हारी तबीयत तो ठीक है न?" वैसे पूजा करते वक़्त वे कभी बातचीत नहीं करते थे।

"ठीक है।" कहकर एंबार कुछ चेत गया। अब आगे की पूजा-विधि यथाक्रम चली। एंबार का हाथ रोज़ की तरह फुर्तीला नहीं रहा। हाथों पर उसका वश जाता रहा, यत्नपूर्वक कार्य मुश्किल से चल रहा था। आचार्य को लगा कि रोज़ की तरह की सरलता, सहजता उसके काम में नहीं है।

आचार्यजी का अन्तरंग कह रहा था कि दोनों शिष्य प्रकृत और सहज नहीं हैं। पता नहीं क्यों, दोनों में स्थिरता नहीं दिखती। पूजा की समाप्ति के बाद ही पूछा जायेगा, सोचकर आचार्यजी पूजा में लग गये।

वेदोक्त पूजा-विधान के समाप्त होने पर आचार्यजी रोज एकाध प्रहर तक एकान्त चिन्तन किया करते थे। उस समय एंबार को भी वहाँ रहने की अनुमति नहीं थी। एकान्त चिन्तन के बाद वे बहिर्मुख होते और बाहर आकर दर्शन देते।

इसके बाद वे अपने दैनिक अन्यान्य कार्यों में लगते।

प्रातःकालीन कृत्यों से निपटकर बाहर आने तक वे किसी से बोलते-चालते नहीं थे। केवल आज ही बीच-बीच में बोलते रहे। बोलना पड़ा था। इस कार्य का प्रभाव उन पर भी हुआ था। उनके अन्तरंग में यह विचार आ ही जाता था कि आज ऐसा क्यों हुआ। इससे उनकी पूजा में बाधा न होने पर भी उन्हें रोज़ की तरह की तृप्ति नहीं थी।

पूजा समाप्त कर वे एकान्त चिन्तन करने बैठे, तो एंबार बाहर आ गया।

इधर अच्चान पकाने के लिए चूल्हे पर बरतन चढ़ा, बैठा हुआ एंबार की प्रतीक्षा कर रहा था। आज की इस असंगति का कारण जानने के लिए वह विकल हो रहा था। वक़्त बीतने के साथ-साथ उसकी विकलता बढ़ती जाती थी।

एंबार ख़ुद अपने बारे में सोचता हुआ बाहर निकला था। वह इधर-उधर देखे बिना किसी गहरी चिन्ता में डूबा हुआ था—यही अच्चान को लगा। अच्चान ने कभी एंबार को इस तरह चिन्तामग्न नहीं देखा था। ख़ुद एंबार को ही यों चिन्तामग्न होने के बारे में शंका हो रही थी।

सिर झुकाकर जो बाहर आया, तो वह सीधा उसी मण्डप में गया जहाँ रात को सोये थे। वहाँ अच्चान जो था उसकी ओर उसका ध्यान ही नहीं गया।

उसकी उसे कल्पना तक नहीं थी कि वह वहाँ होगा। क्या करना, क्या न करना —यह कुछ भी उसकी समझ में नहीं आ रहा था, हतोत्साहित होकर अच्चान एंबार के पीछे चल दिया।

मण्डप सूना पड़ा था। थोड़ी देर खड़े रहकर इधर-उधर ताक-झाँककर एंबार ने लौट जाना चाहा वह मुड़ा।

सामने अच्चान! वह भी हतप्रभ। एक ने दूसरे को देखा। उस दृष्टि में चिन्ता, दुःख और एक-दूसरे के प्रति शंका थी।

"यह क्या अच्चान! पाकशाला छोड़कर इस वक़्त तुम यहाँ कैसे?"

एक ने दूसरे से सवाल किया। मगर किसी ने किसी को कोई जवाब नहीं दिया। एक-दूसरे को नये से लग रहे थे। दोनों के मन असहज थे। दोनों जानते थे कि मन में कुछ बाधा है। इसका क्या कारण था सो तो दोनों को मालूम नहीं हो रहा था। दोनों कुछ देर मौन रहे आये।

अच्चान एंबार से पूछ बैठा "एंबार, आज यह क्यों ऐसा हुआ?"

"हाँ, आज, क्यों ऐसा हुआ?" एंबार के भी मन में वही सवाल उठा था। मगर जवाब नहीं मिल रहा था। इसी सवाल को दुहराता हुआ एंबार आगे बढ़ा। फिर एक बार उस जगह को देखा।

"अच्चान, गुरुजी पूछेंगे तो क्या कहेंगे?"

"क्या पूछेंगे?"

"वही, उस यात्री के बारे में।"

"अभी नहीं आया? शायद आ जाय। कहीं शौच आदि के लिए गया होगा। वैसे ही कहीं नहा-धोकर सम्भवतः आयेगा धीरे-धीरे।"

"आयेगा तो?"

"और क्या?"

"अगर वह नहीं आया तो···?"

"हाँ, अगर नहीं लौटा तो?"—अच्चान के मन में भी शंका थी। एंबार के इस प्रश्न ने उसके दृढ़ निश्चय को हिला डाला।

"हाँ, न आये तो? गुरुजी पूछेंगे तो क्या कहेंगे?"—दोनों के अन्तरंग में वही सवाल था। दोनों सोचते रहे। उन्हें अपनी कोई ग़लती मालूम नहीं पड़ी।

मनुष्य का स्वभाव ही ऐसा होता है। वह कभी अपनी ग़लती को नहीं पहचान पाता। पहचानने पर भी स्वीकार नहीं करता। स्वीकार करने पर भी दूसरों के सामने मानता नहीं।

सोचते हुए दोनों आगे बढ़े। पाकशाला में पहुँचे। चूल्हे की अधजली लकड़ियाँ बुझने को थीं। अच्चान का ध्यान उस ओर गया। चूल्हे के पास जा बैठा, फिर लूके जोड़कर जलाने लगा। दाल कभी की उबल-उबलकर थम गयी थी, नीचे से गरमी

लगते ही फिर उबलने लगी।

एंबार वहीं एक पीढ़े पर बैठकर सोचने लगा—"आज पूजा के समय ऐसा क्यों हुआ, सब काम उल्टे-सीधे क्यों हुए ? कभी ऐसा नहीं हुआ था। मेरी ग़लती के कारण पूजा के वक़्त कभी न बोलनेवाले आचार्य को आज बोलना पड़ा। मैं उनके व्रतभंग का कारण बना। अब वह यात्री यदि न लौटा तो गुरुजी से क्या कहेंगे ? रात बीती, सुबह हुई—इतने में कितना उलट-फेर हो गया ! कितना द्वन्द्व ! कल के राजमहल के उत्सव का सारा आनन्द ही जाता रहा।" यों उसके मन में विचार-संघर्ष चल रहा था।

अच्चान की भी यही दशा थी। वह भी सोच रहा था—आज आचार्य के कान में गरम पानी क्यों पड़ गया इस पापी हाथ से ? आचार्यजी का कोमल शरीर गरमी के कारण झुलस गया होगा न ? भगवान् ने आज ऐसा बेहोश क्यों कर दिया ? इस बीच में वह यात्री तूफ़ान-सा आया, बवण्डर-सा गया…यदि एंबार के कहे अनुसार वह न लौटा तो गुरुजी से क्या कहेंगे ? यों सवालों का तांता ही बन गया था।

कहीं बारिश और कहीं बाढ़।

अचानक वही चिरपरिचित आचार्यजी की आवाज़—"अच्चान ! एंबार !" सुन पड़ी।

आवाज़ सुनते ही दोनों ने एकदम अचकचाकर उठ खड़े होने की कोशिश की। उठ न सके। चलना चाहा, पर पैर उठे ही नहीं। उन्हें लग रहा था कि उनकी सारी शक्ति समाप्त हो चुकी है। मुँह से बात तक न निकली। गला रुँध गया। एक-दूसरे को प्रश्नवाचक दृष्टि से देखने लगे। उनके उत्तर देने के पहले आचार्यजी ख़ुद ही पाकशाला में पहुँच गये।

इन दोनों को देखते ही आचार्यजी समझ गये कि दोनों पर कुछ आतंक छाया हुआ है। सुबह से ही इन शिष्यों के आचरण को देखकर समझ गये थे कि वे रोज़ की तरह सक्रिय नहीं हैं। वे इसका कारण जानना चाहते थे। वे भी कुछ अशान्ति का ही अनुभव कर रहे थे। उन्हें भी लग रहा था कि आज पूजा के वक़्त कभी न बोलनेवाले को बोलना क्यों पड़ा। अपनी त्रुटि की जानकारी होने पर भी उसका अता-पता नहीं लग रहा था। इसी वजह से आज एकान्त चिन्तन में भी बाधा पड़ गयी थी। जल्दी ही वे उठकर चले आये थे।

"वह शिल्पी कहाँ है ?" आचार्य का सीधा सवाल था।

उन दोनों के अन्तरंग में भी यही सवाल घुमड़ रहा था; अब गुरुजी के इस सवाल ने एक बृहत् रूप धारण कर लिया। दोनों एकदम उठ खड़े हुए। खोयी शक्ति उनमें फिर आ गयी थी। अच्चान ने एंबार को और एंबार ने आचार्य की ओर देखा।

"हम भी वही सोच रहे हैं, गुरुजी।" एंबार के मुँह से मन्द स्वर में निकला।

आचार्यजी कुछ बोले बिना लौट गये। एंबार उनके पीछे चला गया। आचार्यजी अपने स्थान पर गये और बैठकर कुछ सोचने लगे। एंबार खड़ा ही रहा। उसकी ओर भी उनका ध्यान नहीं गया। इस विषय में एंबार जो सोच रहा था सो सब आचार्यजी से कह देने के लिए वह तड़प रहा था।

उधर पाकशाला में अच्चान भी यही सोचता हुआ बैठा रहा। इतने में राजमहल के नौकरों का एक झुण्ड ही वहाँ आ गया। दो भरी गाड़ियाँ भी उनके साथ आयीं। नौकर आहार-सामग्री से भरी टोकरियाँ, शाक-भाजी की टोकरियाँ—दूध, दही, मक्खन के घड़े आदि लाये थे। उन सब चीज़ों को पाकशाला से संलग्न कमरे में करीने से रखा गया। इसके बाद नौकरों में से एक ने कहा, "अब थोड़ी देर में मन्त्रीजी पधारनेवाले हैं। स्वामीजी को ख़बर देने के लिए कहा है। उनकी आज्ञा के अनुसार सारा सामान आपको सौंपकर आने को कहा, सब वहाँ रख दिया है; अब आज्ञा हो तो हम चलेंगे।" और प्रणाम करके वे चले गये।

अच्चान ने इतनी सारी चीज़ें एकसाथ, जीवन-भर में कभी देखी न थीं। वह ख़ुशी से फूल उठा। परन्तु उसके मन में जो चिन्ता थी उसके कारण वह इस सन्तोष का वास्तविक सुख अनुभव नहीं कर सका। फिर भी चिन्ता का भार कुछ कम हुआ-सा लग रहा था। चूल्हा ठीक-ठाक करके बरतन-बासन ढँककर वह सीधा आचार्यजी के पास आ गया।

एंबार परदे के पास में खड़ा रहा। उसकी ओर अभी तक आचार्यजी का ध्यान नहीं गया था। अच्चान ने उसे देखा। इशारे से बाहर बुलाया। एंबार ने राजमहल से सामग्री के आने और मन्त्रीजी के पधारने की सूचना दी।

इस समाचार को आचार्यजी के कानों तक पहुँचाना उसका कर्त्तव्य था। कर्त्तव्य-पालन की निष्ठा के कारण अन्तर की चिन्ता कुछ मन्द पड़ी।

उसने ख़ुद आचार्यजी को समाचार सुना देने की बात कहकर अच्चान को भेज दिया। एंबार अन्दर गया। आचार्यजी वैसे ही बैठे रहे।

"गुरुजी !" एंबार ने कहा।

आचार्यजी ने सिर उठाया। एंबार को देखा। वह डरकर सिर झुकाये रहा। मुँह मलिन-सा हो गया था।

"क्या है, एंबार ?" आचार्यजी ने पूछा।

"मन्त्री नागिदेवण्णाजी अब थोड़ी ही देर में यहाँ पधारनेवाले हैं।"

"अच्छा।"

"गुरुजी, वही···वह यात्री···"

"वह नहीं आयेगा। हमने सावधान किया था, फिर भी तुम लोगों ने उसे छेड़ दिया। इसलिए वह चला गया।" आचार्यजी ने मानो फैसला ही सुना दिया।

"स्मरण नहीं होता कि हमने ऐसी कोई बात की हो।"

"स्मरण नहीं रह सकता है। जो बातें जोश में होती हैं, वे याद नहीं रहतीं। और फिर जो बात हमारे लिए बिलकुल साधारण लगती है वह भी सूक्ष्ममति-वालों पर बहुत प्रभाव डालती है।"

"हमें कुछ सूझा नहीं, गुरुजी। जब से जगे तब से उसे एक बार भी देखा नहीं। इसलिए मन खिन्न हो गया है। यह सत्य है।"

"इसीलिए तुम्हारे और अच्चान के काम आज कुछ उल्टे-सीधे हो रहे थे। अच्छा जाने दो। तुम लोग क्या करोगे? सब सबके अन्तरतम को नहीं समझ सकते।"

"अन्तरंग को समझने की शक्ति न होने पर भी, दूसरों को दुःख न हो—इस तरह व्यवहार करना—यह बात आपकी सेवा में रहकर थोड़ा-बहुत तो सीख गये हैं।"—एंबार की बातों में अपने व्यवहार के समर्थन की ध्वनि स्पष्ट लगती थी।

"ऐसा है तो कल रात को जो बातें हुईं उन्हें ज्यों-का-त्यों बताओ।"

एंबार ने सब बताया। आचार्यजी ने मौन होकर सब सुना। और कहा—

"तुम लोगों का व्यवहार सहज है। फिर भी उसके बारे में जानने की एक तीव्र जिज्ञासा थी, यह तुम लोगों की बातों से स्पष्ट है; तुम लोगों की दृष्टि ओप-लगाम लगी दृष्टि-सी है। अब जो हाथ से निकल गया उसे सोचने से भी क्या फायदा है। उसे भूल जाओ। उसके यहाँ आने पर हममें एक आशा उत्पन्न हुई थी। उसके न रहने पर वह आशा आशा ही रह गयी। शायद हमारी आशा में कुछ स्वार्थ की बू होगी। इसीलिए ऐसा हुआ।"—कहकर आचार्यजी ने ऊपर की ओर देखा, फिर मौन हो गये।

एंबार सोचने लगा—हाँ, हममें उनके बारे में जानने का हठ तो नहीं रहा। फिर भी···गत रात की सारी बातें याद हो आयीं। स्नान की बात, कहाँ हुआ था, छान-बीन की थी। फिर अच्चान का यह पूछना, आपका निवास-स्थान कौन-सा, प्रश्न सुनकर हाथ का कौर हाथ ही में रह जाना, कड़वी याद की बात आने पर उसके उत्तर देने की रीति, जल्दी-जल्दी खाने का यह ढंग—आदि सब बातें एक के बाद एक याद आयीं। आचार्यजी से बातचीत हो जाने के बाद सुबह से जो संघर्ष मन में चल रहा था वह अब नहीं रहा। मन स्थायित्व को प्राप्त कर रहा था। एक-एक बात को तौलकर देखा। आचार्यजी का निर्णय उसे ठीक लगा। उसके बारे में जानने की तीव्र आसक्ति ने कितना अनर्थ कर डाला—इस बात का पता भी उसे लग गया।

तुरन्त उसने आचार्यजी के चरणों में दण्डवत् किया, क्षमा-याचना की। कहा, "अपनी जीभ को किस तरह वश में रखना चाहिए—यह पाठ आज इससे

सीखा।"

एंबार की पीठ पर हाथ फेरते हुए आचार्य बोले, "उठो, एंबार। यह सब भूल जाओ। क़दम-क़दम पर होनेवाला अनुभव ही 'गुरु' है। अपनी ग़लती को समझकर, स्वीकार कर अपने को सुधारने की कोशिश करनेवाला ही सच्चा मानव बनने के रास्ते पर चलता है। मन्त्रीजी आयेंगे, उन्हें भोजन के लिए यहीं ठहरायें। अच्चान से जाकर कहो। वह भी स्वस्थ चित्त हो जाय। नहीं तो रसोई की रुचि को बिगाड़ देगा। मन्त्री भोजन के विषय में काफ़ी रसिक हैं। कल ही राजप्रासाद में हमने देखा है। जाओ, पता नहीं, मन्त्रीजी के साथ और कौन-कौन आयेंगे। चार-छः लोग आ भी जाएं इतना तो खाना तैयार रहे।"

एंबार उठकर स्वस्थ चित्त हो पाकशाला की ओर चल पड़ा।

आचार्यजी ने जो बताया सो सब अच्चान को एंबार ने सुना दिया। इससे उसे भी कुछ तसल्ली मिली। अब उसका ध्यान रुचिकर भोजन तैयार करने की ओर लग गया। एंबार भण्डारघर की ओर जाकर जो सामान राजमहल से आया था, उसको एक बार देखकर बाहर आया।

इतने में मन्त्रीजी की पालकी मन्दिर के द्वार पर उतरी। उसने यह सूचना गुरुजी को दी और उपरने को कमर में कसकर मन्त्री की अगवानी करने के लिए द्वार की ओर दौड़ा। हाथ जोड़े, स्वागत किया। सचिव नागिदेवण्णा ने भी मुस्कुराते हुए प्रति नमस्कार किया।

"आचार्यजी के जप-तप, पूजा-पाठ सब समाप्त हुए न ?"

"समाप्त हो चुके, अब आपके आगमन की प्रतीक्षा कर रहे हैं।"

"मेरा अहोभाग्य !"

दोनों परदे के अन्दर गये। आचार्यजी ने हंसमुख हो स्वागत किया। नागिदेवण्णा ने दण्डवत् किया। उसके बाद वे एक आसन पर विराज गये।

आचार्यजी ने कहा, "एंबार नागिदेवण्णाजी के लिए कुछ गरम दूध ले आ।"

एंबार चला गया।

"पी चुका हूं। अब क्यों ? नहीं चाहिए।" कहना चाहते थे, परन्तु इनकार करना ठीक नहीं जंच रहा था। इसलिए चुप रहे।

आचार्यजी ने कहा, "आज आप सुबह-सुबह आयेंगे, ऐसी कल्पना भी नहीं थी।"

"क्यों ?"

"कल आप कार्यभार के कारण बहुत थक गये होंगे।"

"आचार्य की सेवा आनन्द देती है, थकावट नहीं।"

"यह आपकी सहृदयता है।"

"यह केवल सहृदयता नहीं, वास्तविकता भी है।"

"कुछ ज़रूरी काम है ?"

"इसीलिए आया। आज सारे यादवपुर में उत्सव मनाया जा रहा है। राजकुमारी की अस्वस्थता के कारण सम्पूर्ण राज्य चिन्तित हो गया था न। आपकी कृपा से वह स्वस्थ हो गयी। इसलिए अपने संकट का निवारण हो जाने के कारण यादवपुर की जनता अपने-अपने मत-सम्प्रदायों के अनुसार अपने-अपने घरों में विशेष पूजा-अर्चना कर रही है और उत्सव मना रही है। कल रात को इस बात का निर्णय हुआ। स्थानीय प्रमुख पौरों ने मिलकर इस बात का निर्णय किया; उसी के अनुसार घर-घर में ख़बर पहुँचा दी गयी है। सारे शहर में हर्ष का पारावार उमड़ पड़ा है। इसके साथ-साथ आज शाम को राजमहल के बाहरी प्रांगण में एक सार्वजनिक सभा का भी आयोजन किया गया है। आचार्यजी आज शाम को वहाँ पधारकर यादवपुर के पौरों के लिए अनुग्रह भाषण दें।"

"आण्डवन् भगवान् की सेवा; चलेंगे।"

"एक बात और है। आज अपराह्ण के बाद आचार्यजी को समस्त राज-मर्यादाओं के साथ यादवपुरी की प्रमुख राजवीथियों में ले जाने का भी निर्णय हुआ है। इस बात को भी चरों के द्वारा इर्दगिर्द के दस-बीस गाँवों में भी प्रसारित कराया गया है। इस सबकी व्यवस्था हो चुकी है।"

"हमें बताये बिना ही यह सारी व्यवस्था हो चुकी ?"

"इसके लिए आपकी सलाह की आवश्यकता प्रतीत नहीं हुई। यह सारी व्यवस्था जनता में उमड़ते हुए उत्साह का प्रतीक है। जनता के इस उत्साह को रोकना सम्भव नहीं था।"

"फिर भी······"

"क्या इसमें कोई बाधा है ?"

"बाधा तो नहीं। पता नहीं, क्यों आज मन कुछ उद्विग्न-सा है।"

आचार्य के मुँह से ऐसी बात सुनकर नागिदेवण्णा कुछ अवाक् रह गये।

आचार्य के मन को सन्ताप ? यह कैसे सम्भव है ? सो भी आचार्यजी जब स्वयं कह रहे हैं, इसमें शंका ही कैसे हो सकती है ? परन्तु उनकी उस उद्विग्नता का स्वरूप क्या है ? उसका मूल हेतु क्या है ? नागिदेवण्णा का मन भी द्वन्द्वमय हो उठा।

"इस तरह की उद्विग्नता आचार्य के मन में कैसे उत्पन्न हो गयी ? कुछ प्रकाश डालें······"

"दण्ड देंगे न ?"

"इसमें सन्देह ही नहीं।"

"तो आपसे कहने से कोई प्रयोजन नहीं।"

नागिदेवण्णा आचार्यजी के इस निर्णय को सुन कुछ हतप्रभ हो गये। आचार्यजी को ही देखते बैठे रहे। आचार्यजी भी कुछ सोचते बैठे रहे।

इतने में एंबार दूध ले आया, मन्त्री के सामने रखा। कहा, "स्वीकार करें।" आचार्यजी ने भी कहा।

सचिव नागिदेवण्णा ने पात्र हाथ में लिया, पिया नहीं, थोड़ी देर यों ही बैठे रहे।

"एंबार ! उन पालकी-वाहकों को दूध देने के लिए कहा है न ?"

एंबार वहाँ ठहरा नहीं, कोई उत्तर न देकर अपने काम पर चला गया।

"दूध ठण्डा हो जायेगा।"

लाचार होकर पीना पड़ा। जब आचार्यजी स्वयं मन से अस्वस्थ हैं तब दूध पसन्द भी कैसे हो। किसी तरह एक घूँट तो निगलें। आचार्यजी ने इसे लक्ष्य किया।

"आप पीजियेगा। हमारी मानसिक चिन्ता को लेकर आपको चिन्तित होने की ज़रूरत नहीं। कोई ऐसी भयानक बात नहीं है। आप दूध पी लें। बाद को बात बता देंगे।"

नागिदेवण्णा ने दूध पी लिया।

"कल अचानक एक बहुत दुःखी व्यक्ति से भेंट हुई। मुझे उस व्यक्ति में शिल्प कलाभिज्ञता दिखी। उसके उस दुःख को समझकर उसे दूर करने की हमें इच्छा थी।" यह कहकर उस यात्री के विषय में विस्तार के साथ आचार्यजी ने बताया। अन्त में कहा, "भगवान् को आज हम पर दया नहीं आयी। कल हम पर भगवान् की जो कृपा रही, वह आज नहीं रही—यही हमारी मानसिक उद्विग्नता का कारण है।"

"कहाँ जायेगा ? चारों ओर दूत भेजकर चाहे कहीं हो, पकड़ लाने की व्यवस्था करूँगा। आप चिन्ता न करें।"

"न, न, ऐसा न करें। दुःखी जीव स्वेच्छा से रहना पसन्द करता है। उसकी उस स्वेच्छा में एक तरह का आक्रोश है। उसके मन को पकने में समय की आवश्यकता है। तब वह अपने आप ठीक हो जायेगा। या यों हो सकता है कि भगवान् ने उस दुःखी व्यक्ति के दुःख दूर कर उसे तसल्ली देने के लिए किसी अन्य पुण्यवान् व्यक्ति को नियोजित किया होगा। इसी वजह से वह कलाकार हमारे हाथ से छूट गया हो। दूसरों को प्राप्त होनेवाले पुण्य को हम अपने लिए चाहें—यह ग़लत है। यही समझकर हम अपने को शान्त कर लें, यही ठीक होगा। परन्तु उससे बातचीत करते वक़्त हमें एक बात सूझी थी। पोय्सल चक्रवर्ती ने हमें जो अपार सम्पत्ति दी है उसका विनियोग यादवपुरी ही में एक मन्दिर का निर्माण करने में क्यों न किया जाय ? आपकी क्या राय है ?"

"आपकी इच्छा। इसमें मुझे क्या कहना है। इस कार्य में मैं अपनी शक्ति-भर खुद की सेवा समर्पित करने के लिए तैयार हूँ।"

"परन्तु वह शिल्पी ही नहीं है।"

"उसे पकड़कर बुलवाने के लिए हम तो तैयार हैं, मगर आपने मना कर दिया न।"

"हाँ, क्योंकि अधिकार बल से करायी जानेवाली कृति में सजीवता नहीं होती। इसलिए उस पर क्यों विचार करें?"

"सारे राज्य में वह अकेला ही शिल्पी है? ऐसे सैकड़ों इस पोय्सल राज्य में हैं। पीढ़ियों से इस शिल्पकारिता में निष्णात अनेक परिवार यहाँ बसे हुए हैं। और ये घराने काफ़ी मशहूर भी हैं। आप आज्ञा दें तो कल ही उनमें से सर्वश्रेष्ठ को बुलवा लाऊँगा।"

"अब रहने दीजिए; सोचकर निर्णय करेंगे। आज प्रसाद-स्वीकार यहीं हो।"

नागिदेवण्णा कुछ कह न सके। अपने घर सूचना भेजकर वह वहीं भोजन के लिए ठहर गये।

भोजनोपरान्त कुछ देर इधर-उधर की बातें होती रहीं। इन बातों के सिलसिले में धीरे से नागिदेवण्णा ने मन्दिर की बात छेड़ी। उनके मस्तिष्क में यह बात समा गयी थी। आजकल में ही निर्णय कर लेना उचित समझते थे। क्योंकि गत रात को मन्त्रणालय में विचार-विनिमय करने के लिए सभा जब बैठी तब महाराज ने अपने इस आशय को व्यक्त किया था कि आगे चलकर वेलापुरी को ही अपना प्रधान निवास बना लेना चाहिए। शायद राजकुमारी की इच्छा के कारण यह निर्णय इतनी जल्दी हो गया था। चाहे कुछ भी हो, सन्निधान का वेलापुरी में निवास हो तो वही राजकाल का भी केन्द्र होगा। तब यादवपुरी का महत्त्व घट जाएगा, ऐसा उन्हें लगा। यादवपुरी पर उनका अधिक लगाव रहा। आचार्यजी का विचार यदि दृढ़ होगा तो एक सुन्दर मन्दिर यहाँ बन जायेगा। अपने ही नेतृत्व में उसके निर्माण का कार्य कराने की बात को स्वीकार करवाकर स्वयं करा सकेंगे। यही सोचकर नागिदेवण्णा ने इस बात को छेड़ा था—

"तो यहाँ कौन-सा मन्दिर बनाने का विचार है?"

"मन्दिर-निर्माण के बारे में अभी हमने निर्णय नहीं लिया है।"

"अच्छा, अगर कभी निर्णय किया तो···"

"हमने महालक्ष्मी का यहाँ पहली बार साक्षात्कार किया। महालक्ष्मी के ही मन्दिर-निर्माण-कार्य को सम्पूर्ण कर वह शिल्पी यहाँ आया था। उसे देखने के बाद मन्दिर-निर्माण की बात हमारे मन में उठी। इसके अलावा हमारे आराध्य नारायण हैं। इन तीनों बातों को सम्मिलित कर विचार करेंगे। वैसे एक बात सूझती है। जिस महालक्ष्मी ने हमें यहाँ दर्शन दिया, वह यहाँ स्थायी रूप से रहे, इसलिए

लक्ष्मीनारायण का मन्दिर ही बनवाने का विचार है। वह हमारे श्रीवैष्णव पन्थ का भी संकेत बन जाता है।"

"उचित ही सोचा है। सन्निधान से कह दूंगा।"

"न, न ! उनसे नहीं कहना चाहिए। वे फिर ख़ज़ाने में हाथ डालेंगे। यह काम हमारा ही होकर चले। आपका वैयक्तिक सहयोग तो रहेगा ही। निर्माण करना हो तो हमारे इन निर्णयों को मानना होगा। प्रभु को मालूम न होने दें—ऐसा नहीं। उन्होंने जो अपार धनराशि दी है उसका विनियोग, उनकी तरफ़ से हम आप करेंगे। आप ही करायेंगे। इस शर्त को आप स्वीकार करेंगे तभी हम इस पर विचार करेंगे।"

"मन्दिर का निर्माण होना ही चाहिए। आपका निर्णय मान्य है। मैं स्वीकार करता हूं।"

"अच्छा, हम विचार करेंगे।" इतना कहकर आचार्यजी ने इस विषय को वहीं समाप्त किया। और भी अनेक कार्य करने थे आज, इसलिए नागिदेवण्णा आचार्यजी की सम्मति लेकर वहाँ से विदा हुए।

सिंह लग्न, जब लग्नाधिपति भाग्य स्थान में उच्च हो, तब राजोचित ढंग से आचार्यजी के जुलूस का मन्दिर के महाद्वार से निकालने का निर्णय हुआ। निश्चित मुहूर्त में जुलूस निकला। दण्डधारी, पताकाधारी, मशालची, वस्त्रवाहक, वाद्यवृन्द, समवस्त्रधारी सैनिक, फलक-तोमरधारी, मन्त्री, दण्डनायक, सेनानायक, वेदघोष करनेवाले ब्राह्मण, सजाये गये हाथी, घोड़े, गाय सब क्रमपूर्वक कतारों में प्रमुख राजवीथियों से होकर जुलूस के साथ निकले। राजवीथियों से होकर सार्वजनिक सभा के लिए निर्मित वेदी तक पहुंचने की व्यवस्था थी।

पिछले दिन जो व्यवस्था करने का विचार था वह आज की जा चुकी थी। रास्ते-भर यत्र-तत्र वन्दनवार, शामियाने, लीपापोती, चौकपूरना, छिड़काव आदि से राजमार्ग सज गया था। यादवपुरी के पौरों ने अपनी-अपनी श्रद्धा-भक्ति का प्रदर्शन किया। किसी भेदभाव के बिना भिन्न-भिन्न मतानुयायी, अलग-अलग सम्प्रदाय के लोग इस जुलूस में सम्मिलित थे। इर्द-गिर्द के गाँवों से भी अनगिनत लोग जमा हो गये थे। कहीं भीड़ में क्रम बिगड़कर अव्यवस्था न हो, इसकी देख-रेख के लिए अच्छी व्यवस्था भी की गयी थी।

हर्षोद्गार को सुन लेता। उसकी यह भावना बन गयी थी कि पालकी में पल्थी मारकर बैठे आचार्य ही साक्षात् महाविष्णु हैं, और खुद द्वारपाल या अंगरक्षक बनकर खड़ा है।

आचार्यजी को माला समर्पित करनेवाला, आरती उतारनेवाला, भेंट समर्पित करनेवाला, फल-ताम्बूल हस्तस्पर्श करवाकर लौटानेवाला—सब कुछ वही था। उसकी खुशी का क्या कहना!

उसे एकदम वहीं अपने दैनिक कार्य का दृश्य याद हो गया। वह गरम रेत, उस पर फैला हुआ आचार्य का कोमल शरीर, रक्षक बनने की उसकी जिम्मेदारी!

हाँ उस दिन से मातृवात्सल्य भाव से उसने आचार्य की देखभाल की थी। उस दिन और आज का यह दिन—कितना अन्तर है! तब भी वह साथ रहा, आज भी है। परन्तु उस और इस दिन में इतना अन्तर!

पुत्र के वैभव से माँ को होनेवाला आनन्द, भक्त का आनन्द, शिष्य, सेवक का आनन्द, रक्षक की कृतकृत्यता—पता नहीं क्या-क्या—सभी से हो सकनेवाले आनन्द को उसने एक साथ अनुभव किया।

जुलूस राजवीथियों से होता हुआ सभा-मंच के पास पहुँचा। आचार्यजी पालकी से उतरकर मंच पर जा विराजे। चारों ओर नज़र दौड़ायी। इशारे से नागिदेवण्णा को पास बुलाया। पूछा, "महाराज अभी नहीं आये?"

"नहीं, वे नहीं आयेंगे। उनकी राय है कि खुद उपस्थित रहेंगे तो जनता के हृदय तक पहुँचने में आचार्यजी को विशेष सहूलियत न रहेगी। इसलिए नहीं आये।"

"यह बात आपने पहले नहीं बतायी?"

"आपने पहले इस बारे में पूछा नहीं, यह भाग्य की बात है। मन्त्री-पद सुख-सन्तोष की गद्दी नहीं। यह काँटों का बिछौना है। सन्निधान की आज्ञा का उल्लंघन नहीं होना चाहिए, यही हमारा कर्त्तव्य है। सब कार्य इंगितज्ञता से करना होता है; यह काम बहुत कठिन है। एक अकेली हमारी पट्टमहादेवीजी हैं जो महान् हैं। बहुत मेधाविनी इंगितज्ञा हैं। उनके कारण हम जीवित हैं।" नागिदेवण्णा ने कहा।

"सो ठीक भी है।"

"क्या?"

"महाराज ने जो सोचा है। जनता के साथ सीधा सम्पर्क रखना हमारे लिए बहुत ही आवश्यक है। कितनी दूरदर्शिता की बात है! अच्छा अब आगे का कार्यक्रम चले।" आचार्यजी ने कहा।

नागिदेवण्णा ने समझा था कि यह बात पेचीदा बन जायेगी, लेकिन वह आसानी से एक तरह से हल हो गयी। कार्यारम्भ हुआ।

पहले आचार्यश्री की प्रशंसा में रचित स्तोत्रमाला सुश्रव्य कण्ठ से स्वयं रचयिता कवि मौक्तिक ने गाकर सुनायी।

बाद को नागिदेवण्णा ने पिछले दिन से कुछ अधिक लम्बा भाषण दिया। आचार्यजी के स्वागत करने के बहाने यत्र-तत्र अपने विशिष्ट विचार भी इसी सिलसिले में कहते जाते। अपने ऊपर भारी ज़िम्मेदारी लेकर आचार्यजी का परिचय प्रभु और पट्टमहादेवीजी से कराया न होता तो राजकुमारीजी की बीमारी इतनी जल्दी शायद दूर न हुई होती। चाहे जो भी हो, आचार्यजी पर हमने जो विश्वास रखा, वह सार्थक हुआ। इतना कहकर अनुग्रह-भाषण के लिए आचार्यजी से प्रार्थना की।

आचार्यजी ने अपनी गम्भीर वाणी में बड़े आकर्षक ढंग से अपने उद्देश्यों को स्पष्ट किया। उन्होंने जो कुछ कहा वह लोगों की समझ में आया या नहीं, कहना कठिन है। फिर भी लोग श्रद्धा और लगन के साथ बैठे शान्तचित्त सुनते रहे। क्लिष्ट विषय आम लोगों की समझ में आसानी से आ जाये—इस ढंग से कहना कठिन है। फिर भी, आचार्यजी ऐसे विषयों को बताते समय आम लोगों के दैनिक जीवन से सम्बन्धित अनुभवों के उदाहरण देकर हृदयंगम कराते जाते थे।

अपने सिद्धान्त के लिए प्रस्थानत्रय को ही आधार बताकर, उसका अर्थ विवरण देकर, स्वयं जिस मार्ग का अनुसरण कर रहे हैं उसे समझाकर, अद्वैत और विशिष्टाद्वैत इन दोनों में वास्तविक अन्तर क्या है—सो समझाया। कहा—अद्वैत केवल ज्ञान पर आधारित है; केवल एक ही शाश्वत है, दूसरा कुछ नहीं; वही 'ब्रह्म' है; शेष जो भी दिखता है, वह सब मिथ्या है। इतने दृढ़ और निश्चित ज्ञान के लिए चिन्तन की एक बहुत ही मज़बूत नींव होनी चाहिए। वह बहुत ही क्लिष्ट मार्ग है। इसीलिए भक्ति ही हमारे सिद्धान्त का मूल आधार है। इस बात को विस्तार के साथ समझाया।

सर्वश्रेष्ठ परतत्त्व पृथक् है। उस परतत्त्व का साक्षात्कार ही मोक्ष है। मोक्षाकांक्षा का जीवराशि में होना स्वाभाविक है। इसलिए इस आकांक्षा को रखनेवाली जीव-कोटि पृथक् है। मोक्ष साधक परतत्त्व पृथक् है। उस मोक्ष साधना के लिए भक्ति ही राजमार्ग है—इस बात को सुन्दर ढंग से समझाया। इसके लिए जो नया रूप दिया गया है—इसे समझाने के लिए उन्होंने अनेक दृष्टान्त दिये।

"हर परिवार में सन्तान और माता-पिता होते हैं न। कुछ कार्य ऐसे होते हैं जिन्हें बच्चों के लिए पिता को ही करने होते हैं। सीधा पिता से सम्पर्क करने का साहस बच्चों में नहीं होता। इसलिए माँ का आश्रय ले, माँ के ज़रिये पिता के प्रेम का अर्जन कर अपनी आकांक्षाओं को पूर्ण कर लेते हैं न। उसी तरह वह परतत्त्व महाविष्णु है। उनका प्रेम अर्जित करना हो तो श्रीदेवी का आश्रय लेकर उनके द्वारा प्रेम अर्जित कर साधना में सिद्धि प्राप्त करना भक्तिप्रधान मार्ग

है। वह सुलभ मार्ग है और वही औचित्यपूर्ण मार्ग है।" यह बात अच्छी तरह से आचार्यजी ने लोगों को समझायी।

इन बातों को समझाते समय जनता में अधिक अभिरुचि उत्पन्न हो गयी थी, यह स्पष्ट लक्षित हो रहा था।

प्रतिदिन अपने जीवन में जो घटता रहता है उसी को उदाहरण के रूप में लेकर समझाने पर कौन नहीं समझ सकता ? उन्होंने बौद्धिक ज्ञान मार्ग से, भक्ति-भाव के लिए अधिक प्रमुखता दी थी। श्रोताओं की प्रतिक्रिया को बहुत जल्दी समझ सकने की उनकी शक्ति अपार थी। उनकी आँखें श्रोताओं के हृदयतल तक पहुँच सकती थीं। श्रोताओं के मुख पर भावावेश की स्फूर्ति लक्षित हो रही थी; इसे देखकर आचार्य की ध्वनि और गम्भीर हो गयी। उन्होंने कहा—

"इस भक्त-समूह के सामने हमें एक बात स्वीकार करना है। आप सभी के प्रीतिपात्र, आपके आराध्य राजदम्पतियों ने कल हममें भी लोभ उत्पन्न हो—इस तरह का महान् दान दिया है। हम इस उक्ति पर विश्वास करते हैं—"नो विष्णुः पृथ्वीपतिः।" साथ ही, हमारे परतत्त्व भी महाविष्णु के रूप में हमारे आराध्य देव हैं। आपके प्रभु का नाम कुछ भी रहे हमारे लिए वे विष्णु हैं। हम आइन्दा उन्हें विष्णु के ही नाम से सम्बोधित करेंगे। इसके लिए एक कारण और है। अपने आराध्य देव महाविष्णु में हमने जिस भक्ति को समर्पित किया, उनके आश्रयदाता बनकर उन्होंने श्रीवैष्णव सिद्धान्त के वर्धन-कार्य में हमें आशातीत सहायता दी है। आगे भी वे मदद करेंगे। विष्णुवर्धन के नाम से ख्याति प्राप्त होकर उनकी कीर्ति आचन्द्रार्क स्थायी होकर रहेगी। हमारे अन्तरंग में अंकुरित यह भावना अब इस रूप में प्रकट हुई है। हमारी इस भावना के साक्षी के रूप में हम इस निर्णय पर पहुँचे हैं। इसी यादवपुरी में विष्णुवर्धन बने आपके महाराज ने जो अपार धन दान दिया है, उसे व्यय करके उन्हीं के नाम से लक्ष्मीनारायण मन्दिर हमारे राज-दम्पती के मनोनैर्मल्य और हृदय की विशालता के प्रतीक के रूप में निर्माण कराने का निर्णय किया है। हमारे सचिव नागिदेवण्णाजी ने इस कार्य में मदद देने का वचन दिया है। हमारे महाराज से कहकर और अधिक मदद कराने की भी बात उन्होंने कही। हमने उसे स्वीकार नहीं किया। देनेवाले दाता समझकर लूटना उचित नहीं। इसके अलावा मन्दिर तो जनता की भक्ति का प्रतीक होना चाहिए। हमारे इस संकल्प की सिद्धि के लिए यादवपुर की जनता को सहायक बनना होगा। यही हमारी विनती है।" इतना कहकर भाषण समाप्त किया।

"मदद करना हमारा अहो भाग्य है।"

"मदद करना परम भाग्य की बात है।"

"इससे बढ़कर श्रेष्ठ कार्य और हो ही क्या सकता है ?"

यों भावावेशपूर्ण उद्गार एक के बाद एक निकलने लगे।

उस भरी सभा में से एक व्यक्ति उठा। आचार्यजी के सामने आया, झुककर प्रणाम किया। कहा—"श्री श्री जी से मेरी एक विनती है। मैं एक प्रसिद्ध खनक हूँ। लक्ष्मीनारायण मन्दिर के लिए आवश्यक पत्थर मैं अपनी तरफ़ से दूँगा।"

इसी तरह से लकड़ी पहुँचाने के लिए आवश्यक शकट, भोजन आदि सामान-सरंजाम के लिए आवा-जाही की व्यवस्था आदि अनेक कार्यों की व्यवस्था का उत्तरदायित्व स्वयंप्रेरित होकर लोगों ने अपने ऊपर लिया। जो कुछ न दे सकते थे उन्होंने श्रमदान को स्वीकार कर लिया।

आचार्यजी ने कृतकृत्यता के आनन्द का अनुभव किया। प्रसन्नतापूर्वक सभा में प्रवाहित उत्साह की धारा का आचार्य ने आनन्दपूर्वक अनुभव किया। उनका अन्तरंग कह रहा था—"काश ! इस समय यदि वह शिल्पी होता।"

दूसरे दिन मन्दिर के निर्माण हेतु प्रमुख पौरों की एक सभा नागिदेवण्णा के नेतृत्व में बुलाने का निर्णय करने के पश्चात् मंगलगीत के साथ सभा को विसर्जित करना शेष था।

तभी सभा के बीच में से एक व्यक्ति उठ खड़ा हुआ। एक कम्बल ओढ़ा हुआ था। हाथ भर की मोटी पगड़ी, पगड़ी के भार से कुछ झुककर रास्ता बनाता हुआ वह व्यक्ति मंच पर चढ़ा। सिर झुकाकर आचार्य को प्रणाम किया।

पास खड़े नागिदेवण्णा कुछ घबड़ा गये। वह पीछे हट गये।

आचार्यजी ने उस व्यक्ति के चेहरे को देखा; विस्मयपूर्ण सन्तोष की एक लहर उनके चेहरे पर दौड़ गयी।

"श्री श्री जी को मेरा परिचय है?"

"हमारा विष्णु सर्वान्तर्यामी है"—कहकर आचार्यजी मुस्कुराये।

मंगल गीत के साथ सभा विसर्जित हुई।

यह सब जानकर पट्टमहादेवीजी अपने मन में कहने लगीं—"यह कुछ ज़्यादती ही हुई है।"

दूसरे दिन भोजन के बाद पान खाने के लिए प्रांगण में महाराज, रानियाँ आदि सब इकट्ठ हुए। इस अवसर पर शान्तलदेवी ने कल सम्पन्न हुई सार्वजनिक सभा की बात छेड़ी।

"सन्निधान यदि मेरी ग़लती हो तो क्षमा करें। राजमहल का व्यवहार सारी प्रजा के सन्तोष का भाजन बनेगा—ऐसा मुझे नहीं लगता।"—शान्तलदेवी ने

कहा ।

"कौन-सा व्यवहार ?" बिट्टिदेव ने पूछा ।

"राजकुमारी का स्वास्थ्य आश्चर्यजनक ढंग से सुधरा—यह सत्य है। परन्तु इसके लिए हमने राजमहल में जो सम्मान दिया—वही पर्याप्त था । वह उचित भी था । फिर श्री आचार्यजी की नगर-प्रदक्षिणा, राजमहल के अहाते में सभा—यह सब कुछ ज्यादती हुई न ? इन सबका दुरुपयोग होगा न ? राजमहल को ऐसी बातों के लिए अवसर नहीं देना चाहिए न ?" शान्तलदेवी ने प्रश्न किया ।

"ऐसा कहीं होता है ? वास्तव में वह राजमहल की कृतज्ञता का प्रतीक है ।" बिट्टिदेव बोले ।

"राजमहल के अन्दर आह्वानित प्रतिष्ठित व्यक्तियों के बीच जो हुआ वह क्या था ?"

"वह भी कृतज्ञता का ही प्रतीक था ।"

"तो कृतज्ञता के प्रदर्शन की ऐसी क्रियाएँ और भी हैं ?"

"क्यों, पट्टमहादेवी को यह अच्छा नहीं लगा ?"

"यह अच्छा लगने या न लगने की बात नहीं । यह प्रजा की प्रतिक्रिया की बात है ।"

"तो क्या यही निर्णय है कि जो किया सो अनुचित है ?"

"निर्णय करने का अधिकार सदा सन्निधान का है । मैं क्या चीज़ हूँ ?"

"पहले पूछा नहीं, इसलिए अपनी असन्तुष्टि दिखाने की रीति है यह ?"

"मैंने कभी नहीं चाहा कि मुझसे पूछें। परन्तु, मुझे इससे जो प्रतीत हो रहा है, उसे कहे बिना स्वयं को वंचित रखना भी नहीं चाहती । एक बात बता दूँ ? पहले राज करनेवाले महास्वामी की प्राणरक्षा करनेवाले चारुकीर्ति पण्डितजी को 'बल्लाल जीवरक्षक' की उपाधि से अलंकृत किया, उनकी भी इतनी प्रशंसा नहीं की; प्राण रक्षा करनेवाली चट्टलदेवी या बम्मलदेवी का इस तरह जुलूस निकाला गया ? उन लोगों ने जो कार्य किया वह अभी जो हुआ उससे कम है क्या ?"

इस बात को सुन बम्मलदेवी का चेहरा खिल उठा ।

"यह एक चमत्कार है । ये देवांश सम्भूत महापुरुष हैं ।" बिट्टिदेव ने कहा ।

"चमत्कार में सन्निधान का विश्वास है ?"

"मन अब विश्वास करना चाहता है ।"

"अब क्यों ?"

"हमने अपनी आँखों देखा, इसलिए ।"

"यदि सन्निधान को ऐसा लगा तो उसे अपने तक सीमित रखते तो अच्छा होता । समझते हैं, अब क्या हो गया ? वे देवांश सम्भूत महापुरुष हैं—इस बात की घोषणा स्वयं सन्निधान ने राज्य-भर में की, यही हुआ ।"

"हो, इसमें क्या ग़लती है? जो अच्छा है उसकी सबको जानकारी मिलनी ही चाहिए। अभी सारे राष्ट्र को कहाँ मालूम हुआ? अभी तो जानकारी देनी है।"

"वह काम अब अपने आप होता जायेगा। राज्याश्रय, मुद्रांकित साहाय्य है—यही कहकर ये स्वयं प्रचार करेंगे। प्रचार करनेवाले चेलों को इकट्ठा कर जल्दी-जल्दी यह काम करायेंगे।"

"करने दें, इसमें ग़लती क्या है? जिसकी इच्छा हो वे उनका अनुसरण करेंगे, उनके अनुयायी बनेंगे।"

"तो मतलब यह हुआ जिस विश्वास में जन्मे, जिसको लेकर जिये, उसे निकालकर अन्य तरह के विश्वास को बिठाना हुआ न?"

"वे द्वेष तो नहीं करते। अपने विचार प्रस्तुत करते हैं। उन विचारों में उनकी आस्था स्थायी बन गयी है। उसी का वे प्रतिपादन करते हैं। आपको वह ठीक जँचे तो आप भी अनुकरण कर सकती हैं।"

"चर्चा करने के लिए बातें ठीक हो सकती हैं। वास्तव में ऐसा नहीं होता। महाराज स्वयं प्रभावित हुए हैं इसलिए इसमें कुछ है—यही समझकर आगे-पीछे कुछ सोच-विचार न कर लोग अपने विश्वास को बदल भी सकते हैं। क्योंकि हम जो कदम उठाते हैं, वह हमारे लिए प्रधान होने पर भी हमसे अधिक उसकी प्रतिक्रिया देश में अधिक होगी। इसलिए राजमहल को इन बातों से दूर रहना अच्छा है।"

"राजमहल तो दूर ही है। हमने सभा में भाग नहीं लिया न? अधिक लोगों के बैठने के लिए अन्यत्र विशाल स्थान के न मिलने पर यहाँ सभा बिठायी गयी।"

"तो क्या वेश बदलकर लोगों के बीच में बैठने के माने उसमें भाग लेना नहीं है?"

"सो भी आकस्मिक है। लोगों की प्रतिक्रिया जानने की इच्छा हुई थी।"

"चरों को भेज सकते थे?"

"खुद के सुनने-समझने में एक रस है। आज के इस वेश-परिवर्तन से जो काम हुआ वह अनुसरण करने योग्य लगा।"

"तो सन्निधान इसी को आगे बढ़ायेंगे?"

"यही विचार है।"

"ऐसे प्रसंग में सन्निधान की रक्षा कौन करेंगे?"

"सन्निधान हैं। इसकी लोगों को जानकारी हो तो रक्षा की ज़रूरत पड़ती है। जब भीड़ में एक बन जाते हैं, तब इस बात का डर ही नहीं रहता।"

"गुरु-शिष्य की जोड़ी अच्छी है।"

"इसका मतलब? कौन गुरु-शिष्य?"

"श्री श्री रामानुजाचार्य जी गुरु; समधिगत पंचमहाशब्द शिष्य।"

"किसने ऐसा कहा?"

अभी फिलहाल मैं तो। वे चमत्कारी हैं और सन्निधान वेष बदलने में निपुण। इन दोनों की जोड़ी से सामूहिक परिवर्तन ही महती साधना..."

"उन्होंने ऐसा कहाँ कहा? हमने भी ऐसा क्या किया है?"

"उन्होंने अभी कहा नहीं। सन्निधान ने अभी किया नहीं। परन्तु अभी मैंने जो कहा वह भविष्यवाणी ही है।"

"न, न, वे केवल स्वानुष्ठान-निरत हैं, साधक हैं, प्रचारक नहीं।"

"मुझे इस बात में विश्वास नहीं। ऐसी हालत में अपना देश छोड़कर दूसरे देश में आने की जरूरत नहीं थी। वे केवल आत्मसाधक ही होते तो चोल राजा उन्हें देश निकाले का दण्ड न देते।"

"उन्होंने यह बात नहीं कही न?"

"वे क्यों कहेंगे? कोई अपनी ग़लती को आप नहीं कहता।"

"हमें विश्वास नहीं होता कि उन्होंने ग़लती की है।"

"सन्निधान में यह विश्वास उत्पन्न होने के लिए कौन-सी गवाही दी है उन्होंने?"

"राजकुमारी की बीमारी के निवारण से भी ज्यादा साक्ष्य और क्या हो सकता है? अनेक वैद्य जो काम नहीं कर पाये, उसे उन्होंने करके दिखा दिया।"

"अपने देश के ही राजा को ऐसी करामात दिखाकर उसे भी तो अपना अनुयायी बना ले सकते थे न?"

"हाँ, शायद ऐसा भी कर सकते थे।"

"ऐसा न कर देश भ्रष्ट होकर यहाँ आये क्यों?"

'शान्ति-प्राप्ति की इच्छा से एक देश को छोड़ दूसरे देश जाया करते हैं। ऐसे न आये होते तो बलिपुर में बाप्पुरे नागियक्का के महान् कार्य के लिए जगह कहाँ थी? बेलगोल में बाहुबली स्वामी की स्थापना के लिए मौक़ा कहाँ मिलता? बुद्ध, महावीर स्वामी तो कर्णाटक में जन्मे नहीं थे न? तुम्हारा घराना महावीर के जन्म-स्थान से आकर यहाँ बसा कि नहीं? हमारे पूर्वज पुराने ज़माने के यदुवंशी कहलाते हैं; हमारी जानकारी में तो हमारा स्थान कर्णाटक का सह्याचल प्रदेश ही है; यही हमारे वंश का मूल स्थान है। परन्तु हम सब जिन-भक्त हैं। कैसे? साधना के मार्ग में समय-समय पर परिवर्तन होता आया है। भगवान् की कल्पना ही मानव-प्रज्ञा-प्रसूत है; वह भी उस समय से आज के इस समय तक एक ही रूप में नहीं है; वह भी स्थायी नहीं रही है। ऐसी हालत में विश्वास के मूल्य के लिए मानदण्ड कौन से हैं? किवाड़ बन्द कर, अन्दर जितना प्रकाश

होगा—उतना ही प्रकाश है, मानना ग़लत कल्पना है ? हमारी जानकारी से भी अधिक प्रकाश है—इस वात का ज्ञान होने के वाद उस प्रकाश से फ़ायदा उठाना क्या ग़लत है ?"

"प्रकाश के होने की वात सप्रमाण सावित हो जाय तो उसका उपयोग, हममें स्थित विश्वास के साथ समन्वित कर करना चाहिए, न कि अपनी वद्धमूल विश्वास की जड़ को ही हिला देना चाहिए।"

"यह भी एक रीति है। साथ ही, जहां प्रकाश हो वहां मन को केन्द्रित करना भी एक रीति है।"

"यह पतंगे की रीति है।"

"पतंगे की रीति में शारीरिक आकर्षण है। परन्तु यहां चित्ताकर्षण है।"

"चित्ताकर्षण सामूहिक नहीं होता, वह सदा वैयक्तिक होता है।"

"सच है। वेदों की भूमि पर स्थित धर्म वैयक्तिक है। हर व्यक्ति परिपूर्ण हो जाय तो सम्पूर्ण समाज पूर्णता को प्राप्त कर सकता है। यह उपनिषदों के समय से प्रचलित रीति है।"

"परन्तु सन्निधान का अत्यन्त उत्साह व्यक्तिगत होने पर भी वह वहीं तक सीमित होकर पर्यवसित नहीं होता, वह सामूहिक अन्धश्रद्धा के लिए रास्ता खोल देता है। इसलिए सन्निधान जो भी क़दम उठावें बड़ी सतर्कता से उठावें। यही होना चाहिए।"

"मतलव ?"

"सन्निधान जानते हैं कि लगाम मेरे हाथ में नहीं है, इसलिए इतनी सारी बातें कहनी पड़ीं।"

"वात की लगाम लगाने पर ज्ञानोदय के रास्ते में परिवर्तन हो जायेगा—पट्टमहादेवी की राय है ?"

"मतलव हुआ कि ज्ञानोदय हुआ है। उनके लिए एक नया मार्ग मिला है। किसी से भी उसका परिवर्तन सम्भव नहीं; यही न हुआ ?"

"हां !"

"माने यह कि अव भविष्य में सन्निधान वासन्तिका देवी के प्रसादरूप नहीं। श्रीमुकुन्दपादारविन्द वन्दन नन्दन—है न ?"

"इसमें क्या ग़लती है ?"

उत्साह दिख रहा है वह भी ऐसा ही है।"

"तो पट्टमहादेवीजी को श्री आचार्य का मार्ग ग़लत प्रतीत हुआ है ?"

"मैंने ऐसा कब कहा ? हमारा रास्ता भी सुभद्र नींव पर स्थित है, खरा है। ऐसी हालत में अन्य मार्ग क्यों ?—यही मेरा मत है।"

"यह मत की बात हुई। जब मत बदल जाता है तब क्या करना चाहिए ? पुराना ढीला प्रतीत हो और नया सुभद्र मालूम पड़े तब करना चाहिए ?"

"ऐसी भावना जब हो जाय तो इसकी कोई दवा ही नहीं।"

इतने में रेविमय्या आया और बोला, "बाहुबली स्वामी के दर्शन करने के लिए पोचिकव्वे का पति तेजम, जो श्रवणबेलगोल गया था, दर्शन करने आया है। आज्ञा हो तो…"

"यहीं बुला लाओ" शान्तलदेवी ने कहा।

कुछ ही क्षणों में रेविमय्या, तेजम के साथ आया और विनीत हो महाराज और पट्टमहादेवी को प्रणाम कर एक ओर खड़ा हो गया।

"कब आये तेजम ?" शान्तलदेवी ने पूछा।

"अभी आया। सुना कि पोचि को यहीं रख लिया गया है। घर में भोजन आदि से छुट्टी पाकर प्रसाद लेकर यहाँ चला आया।"

"प्रसाद…कहाँ…?"

"अभी आया जाता है। परात में सजाकर पोचि अभी लेकर आ रही है।" तेजम कह ही रहा था कि इतने में पोचिकव्वे धीरे-धीरे प्रसाद के परात को लेकर आयी। पट्टमहादेवी के सामने प्रस्तुत किया। और कहा, "स्वीकार करें।" तेजम ने भी पोचिकव्वे का साथ दिया।

शान्तलदेवी ने परात को लेकर पास के एक पीठ रख दिया। और पूछा—"तुम्हारी यात्रा सम्पूर्ण रीति से ठीक चली ?"

"हाँ, इसी के फलस्वरूप राजकुमारीजी स्वस्थ हुई हैं।"

"तुम्हारी यात्रा और राजकुमारी का स्वस्थ होना—इन दोनों का क्या सम्बन्ध ?" बीच में बिट्टिदेव ने पूछा।

शान्तलदेवी ने अपने और पोचिकव्वे के बीच जो बातचीत हुई थी उसे हू-ब-हू विस्तार के साथ सुनाया।" राजकुमारी स्वस्थ हो जाएँ—इसी उद्देश्य को लेकर इस पति-पत्नी ने मनौती मान ली थी और उस मनौती को चढ़ाने के लिए वांछित फल प्राप्त करने के इरादे से ही वह वहाँ गया था। उसके उस विश्वास का फल वहाँ से लौटते ही उसे मिल गया—यही न हुआ ?" कहकर उन्होंने बिट्टिदेव की ओर देखा।

वह कुछ विचलित हुए। इतने में तेजम ने कहा, "यहाँ आने तक मुझे प्रतीक्षा करने की आवश्यकता नहीं रही, पट्टमहादेवीजी। वहाँ स्वामी ने ही अपने

दायें अँगूठे से प्रसाद देने की कृपा की। तभी मुझे लगा कि मेरा अभीष्ट पूरा हो गया। हमारे बाहुबली स्वामी पर जो विश्वास रखते हैं वे अवश्य उनका उद्धार करेंगे ही। वे महान् त्यागमूर्ति ही हैं न?"—उसके कहने में बहुत उत्साह था।

"तुमने मनौती कब चढ़ायी?" शान्तलदेवी ने पूछा।

"आज सप्तमी है न? परसों चौथ के दिन।" तेजम ने कहा।

"मनौती चढ़ाते वक़्त तुमने पुजारीजी से यह बात कही थी?" शान्तलदेवी ने पूछा।

"कही थी। राजमहल की बात कहने पर श्रद्धा बढ़ती है। मैं तीज की शाम तक वहाँ पहुँच गया था। उसी दिन शाम को उनसे मिलकर सब विस्तार के साथ समझा दिया। उन्होंने विधिवत् सांगोपांग अर्चना की। दूसरे दिन सुबह तड़के उठकर स्नान आदि से निवृत्त हो, वे और मैं दोनों विन्ध्यगिरि पर चढ़ गये। उनकी पूजा दो प्रहर तक चली। उस समय मुझे एक तरह की मानसिक शान्ति मिली जो अनिर्वचनीय है।"

"तुम्हारी मनःशान्ति और तुम्हारी मनौती के लिए प्राप्त फल—इस सबका मूलाधार तुम्हारा अटल विश्वास और तुम्हारी श्रद्धा और भक्ति है। पोचिकब्बे! राजकुमारी को दिखाओ, तुम्हारे पति देखें। उसकी मनौती के फल को वह प्रत्यक्ष देख लें। आज तुम अपने घर जा सकती हो। जब तुमसे हो तब आकर यहाँ का काम जितना हो सकता हो देख लेना। ठीक, अब जाओ।" शान्तलदेवी ने कहा।

वे दोनों अपने को कृतकृत्य समझकर हर्षित होकर वहाँ से चले गये।

"एक ही दिन, एक जगह, एक को प्रत्यक्ष साक्षात्कार! दूसरी जगह परोक्ष साक्षात्कार। यों देखा जाय तो दोनों ही चमत्कार हैं। दोनों ही विश्वास का फल हैं। इन दोनों में कौन अधिक और कौन कम? सन्निधान ही कहें।"—शान्तलदेवी ने कहा।

"यहाँ की बात जानकर उसके अनुरूप अपना किस्सा गढ़ लिया होगा।" बिट्टिदेव ने कहा।

"यह तो दोषारोपण हुआ। निर्णय देने के स्थान पर रहनेवाले सन्निधान को दोषारोपण नहीं करना चाहिए।"

"उसने जो कहा उसकी सत्यता के लिए गवाही चाहिए न?"

"सन्निधान की आज्ञा पाकर उसने मनौती नहीं मानी। सन्निधान की आज्ञा लेकर वह बेलगोल नहीं गया। उसकी उस क्रिया में सत्यनिष्ठा के सिवा और कुछ हो ही नहीं सकता। ऐसी हालत में परोक्ष रूप से उसने जो देखा उसे मान लेने की उदारता हममें नहीं हो तो, उसने हम पर और राजकुमारी पर स्वयं प्रेरित होकर जो प्रेम और श्रद्धा दर्शायी उसका मूल्य ही क्या रहा? केवल कुछ

करके राज्य का विस्तार कर खुद अपनी शाबाशी कर लेने मात्र से ही प्रभु का कर्तव्य पूर्ण नहीं हो जाता । प्रजा की प्रीति, प्रेम और उन पर विश्वास हमारी ओर से उन्हें मिलना ही चाहिए ।"

"हाँ, तुम्हारी इच्छा ! अभी यह विषय गौण है। उस पर और जिज्ञासा नहीं ।"

ख़ुद चाहें तो प्रधान होता है। नहीं तो गौण ? तेजम जैसे प्रजा की शक्ति ही राजघराने का बल है। वह कभी गौण नहीं हो सकता । यह मेरी राय है।"

"हाँ, हमने माना ।"

बात वहीं तक रुक सकती थी। तब तक मौन प्रेक्षिका की तरह बम्मलदेवी ने कहा—"अविनय के लिए क्षमा करें, हमें जो ठीक जँचे उसका प्रसार करने में ग़लती क्या है ?"

"ग़लती कुछ नहीं। परन्तु उस प्रसार के सूत्रधार कौन हैं—इसपर उचित-अनुचित की बात का विचार करना होता है।" शान्तलदेवी ने कहा।

"तो श्री श्रीआचार्यजी प्रचार कर लें। सन्निधान को उसमें भाग लेना उचित नहीं। यही पट्टमहादेवी की राय है न ?"

"हाँ, यह मेरी निश्चित राय है ।"

"स्वयं सन्निधान इसमें भाग लेना सही मानें तो उन्हें क्या करना होगा ?"

"इसके लिए उत्तर दूँगी। पहले यह मालूम होना चाहिए कि श्री आचार्यजी के मार्ग के विषय में सन्निधान की क्या भावना है।" शान्तलदेवी ने कहा।

"मुझे वह सही लगता है और वह आसान मार्ग भी है।" बिट्टिदेव ने कहा।

"तो यही अगला क़दम होगा···उनका अनुयायी होना। इसका मतलब हुआ भिन्न मत स्वीकार—यही न ?" शान्तलदेवी ने प्रश्न किया।

"हाँ, मतलब यही हुआ।" बिट्टिदेव बोले।

"तब क़िस्सा ख़त्म !" शान्तलदेवी ने कहा। उनके स्वर में एक दृढ़ता थी।

"इसके क्या माने ?" बिट्टिदेव ने प्रश्न किया।

"सन्निधान, प्रजा की एकता का प्रतीक हैं। इसलिए सन्निधान को सभी मत, धर्मों पर समान रूप से प्रीति और आदर की भावना होनी चाहिए। अब एक अन्य मत स्वीकार कर लें तो बाक़ी लोगों का क्या हाल होगा ?" शान्तलदेवी ने प्रश्न किया।

"अब भी सन्निधान का मत राष्ट्र में रहनेवाले अन्य मतों में से एक है। तब भी एक ही रहेगा, इसमें क्या फ़र्क़ पड़ता है ?" बम्मलदेवी ने प्रश्न किया।

"एक साधारण व्यक्ति मत-परिवर्तन कर ले तो उसपर लोग ध्यान नहीं देंगे। लेकिन महाराज कर लें तो लोग क्या कहेंगे, समझी हैं ? कहेंगे महाराज अब तक

जिस मत के अनुयायी रहे, उसमें कोई सार नहीं; इसलिए उन्होंने दूसरे मत का अवलम्बन किया।" शान्तलदेवी ने कहा।

"कहने दीजिए, उससे होता क्या है?" बम्मलदेवी ने कहा।

"उससे भारी आन्दोलन उठ खड़ा होगा। अब तक अपने आप में सन्तुष्ट रहनेवाले जैनों को यहाँ रहना मुश्किल हो जाए।" शान्तलदेवी ने कहा।

"वह भी तो धर्म-प्रेम के स्वाभिमान की एक भावना है।" धीरे से राजल देवी ने कहा।

"तो!" शान्तलदेवी ने कहा।

"पट्टमहादेवी को जैन मत में प्रेम और अभिमान है, इस कारण से ऐसा भय उत्पन्न हुआ है। जैनियों में यदि ऐसा साहस हो, सत्व हो तब वे सबका सामना करेंगे। बड़े-बड़े भट्टारक जब मौजूद हैं तब चिन्ता क्यों?" राजलदेवी बोली।

"यह श्रीमदाचार्य और जैन गुरुओं में होनेवाले वाद के लिए लागू हो सकने वाली बात है। इस सम्बन्ध में प्रभु के व्यवहार के कारण किसी को भी प्रत्यक्ष अथवा अप्रत्यक्ष रूप से अड़चन नहीं होना चाहिए। प्रजा तक क्यों जाएँ, मेरे लिए ही यह अड़चन बन जायेगी।" शान्तलदेवी ने कहा।

"अड़चन क्यों? प्रभु का अनुगमन करेंगी तो अड़चन का प्रश्न कहा?" राजलदेवी ने कहा।

"तो क्या आप लोग हाल में जैन मतावलम्बी हुई?"

"नहीं। ऐसा होता तो हम स्वीकार कर लेतीं। हम केवल अनुयायी मात्र हैं।" राजलदेवी ने कहा।

"तो आज शैव, कल जैन, परसों वैष्णव...?" शान्तलदेवी ने कहा।

"सन्निधान बार-बार मतान्तर करनेवाले तो नहीं हैं न?" राजलदेवी ने कहा।

"कौन जाने? एक बार जब मन बदलता है, तब कौन जाने वह दुबारा भी न बदलेगा, कैसे विश्वास करें?" शान्तलदेवी ने शंका प्रकट की।

"आपसे अधिक उन्हें समझनेवाला है ही कौन? यदि आप ही उन पर अविश्वास करेंगी तो इस राजमहल में समरसता कैसे रहेगी?" बम्मलदेवी ने पूछा।

"कोई किसी को पूर्ण रूप से समझ नहीं सकता। उन्हें जितने लोग जानते हैं उन सबसे कुछ अधिक मैं जानती हूँ—इतना ही कह सकती हूँ। वास्तव में दिल खोलकर कहूँ तो यह कह सकती हूँ कि मैंने कभी सोचा तक न था कि किसी-न-किसी दिन इस मतान्तर की भावना उनके मन में आ सकती है। मुझसे इस राज-परिवार की समरसता को धक्का कभी न लगे—इसका सदा मैं ध्यान रखूँगी। लेकिन आप लोगों पर भी तो उत्तरदायित्व है न?"

"हम उनके अनुवर्ती हैं, इसलिए मत के सम्बन्ध में अभिप्राय भिन्नता का कोई कारण ही नहीं।" राजलदेवी बोलीं।

"तो भी अब तक आप लोगों को जिनाराधिका बनने की चाह नहीं हुई। अब आप लोग भी मुकुन्दपादारविन्द की आराधिका बनेंगी। यहीं न?"

"सन्निधान जो बनेंगे, हम उन्हीं का अनुसरण करेंगी। वह पत्नी का सहज व्यवहार है।" बम्मलदेवी बोली।

"तो क्या आप लोगों में मत-सम्बन्धी और देव सम्बन्धी कोई निश्चित वैयक्तिक भावना नहीं रही?"

"थी। न रहे यह कैसे? विवाह के समय तक मायके का, विवाह के बाद पतिगृह का दैव। आपको अब तक यह समस्या न थी। अब वह उत्पन्न हो सकती है। हमारी सलाह मान्य हो तो सन्निधान का अनुसरण करना अच्छा है।" बम्मल-देवी ने कहा।

"पति की अनुवर्तिनी जो नहीं होंगी वह पतिद्रोही होंगी—यही है न आपकी राय?"

"छिः छिः आपके विषय में यों कहनेवालों की जीभ में कीड़े पड़ेंगे। सन्नि-धान का आप पर अटल विश्वास है। दैव सम्बन्धी भिन्न विचार होने पर भी परिवार में सामरस्य स्थापना करनेवाले दाम्पत्य का परिपाक आप···यह सन्निधान अच्छी तरह जानते हैं। फिर भी उस परिवार में आप तीनों ही तो रहे। आपके माता-पिता हिल-मिलकर रहे। आप उन दोनों को अत्यन्त प्रिय हैं। तीसरे के लिए वहाँ जगह ही नहीं। परन्तु यहाँ ऐसी बात नहीं। सन्निधान और हम तीन, आपकी सन्तान और आगे हो सकनेवाली सन्तान—यों दस-दस हों तो मन भी दस-दस होंगे। इसलिए यहाँ अनुवर्तन की व्याप्ति ही भिन्न है। यह भी विचारणीय है।" बम्मलदेवी ने कहा।

"सब कुछ अभी जैसा है वैसा ही रहे यही उत्तम है। यही मेरी भावना है। एक तरह से हिल-मिल गये हैं। सन्निधान इसे इसी तरह रहने दें—यही उत्तम होगा। इसे छोड़कर अन्य निर्णय करें तो उसका परिणाम अनेक मुखी होकर विकृत रूप धारण करेगा। यह बात जानकर भी यदि सन्निधान अपना व्यवहार आगे बढ़ावेंगे तो यही समझना चाहिए कि आगे जो होगा उसका सामना कर निवारण कर सकने का दृढ़ विश्वास उनमें है।" शान्तलदेवी ने कहा।

"माने···" बात को वहीं रोक दिया बिट्टिदेव ने।

"क्यों? कहिए!" शान्तलदेवी ने कहा।

"पट्टमहादेवीजी जैसी की तैसी ही रहेंगी। मतान्तर के विषय में वे पति की अनुवर्तिनी नहीं होंगी। यही न?" बिट्टिदेव ने पूछा।

"वह दोष मुझे न लगे—ऐसा मार्ग सन्निधान निरूपित कर लें तो मैं कृतार्थ

होऊँगी।"

"तो यह पूर्व की ही स्थिति हुई। पट्टमहादेवीजी हमारे सुनिश्चय का विरोध करेंगी—यही न ?"

"विरोध करनेवाली मैं कौन होती हूँ ? अपने आराध्य देव को चुनने का स्वातन्त्र्य हर व्यक्ति को है। ऐसी स्थिति में सन्निधान के स्वातन्त्र्य को छीनने की या सन्निधान को दाम्पत्य के नाम से मेरे अधिकार को छीनने की बात सही नहीं है—यह मेरी निश्चित राय है। पहले ही मैंने निवेदन किया है कि प्रजा में आन्दोलन चलाने का काम सन्निधान को करना उचित है या नहीं ?—इसपर विचार कर निर्णय करें। मुझे आचार्यश्री के प्रति उतना ही गौरव है जितना अपने गुरु प्रभाचन्द्र सिद्धान्तदेवजी पर है। किसी को यह नहीं समझना चाहिए कि मैं आचार्य का विरोध करती हूँ। पोय्सलराज के लिए अभी एक महान् पर्व है। आन्तरिक रूप से एक तरह की एकता रूपित हुई है। जनता को प्रोत्साहित करके उनमें राष्ट्रप्रेम की भावना जाग्रत की गयी है। ऐसे समय में इस मत सम्बन्धी जिज्ञासा के लिए स्थान देना युक्तियुक्त नहीं – यह मेरा मत है। चाहें तो मैं इस विषय को लेकर आचार्यजी से चर्चा करने के लिए भी तैयार हूँ। मन में उत्पन्न शंकाएँ या भिन्न-भिन्न भावनाएँ मन ही में चक्कर काटते हुए सड़ती रहें इसकी अपेक्षा खुले दिल से विचार-विमर्श करना उचित होगा।"

"श्री आचार्यजी को वचन देकर अब फिर जिज्ञासा करें ?" कुछ संकोच मिश्रित ध्वनि में बिट्टिदेव ने कहा।

"वे यदि खुले हृदय के होंगे तो बाह्य परिवर्तन से अधिक आन्तरिक भावनाओं को प्रधानता देंगे। उनके बाह्य और अन्तरंग को हमें समझने का अवसर मिलता है। हम भी कोई सर्वज्ञ नहीं। लौकिक व्यापारों का त्याग कर इस तरह चिन्तन करनेवाले व्यक्ति जब सामने हैं तब उनसे चर्चा करने में ही लाभ है। सम्भव है कि मुझमें भी परिवर्तन आ जाय या मेरी भावना को नया रूप प्राप्त हो जाय। क्योंकि मेरा विश्वास परम्परागत है। उस विश्वास के सन्दर्भ में विचार-मन्थन नहीं हुआ है। अब जब मौक़ा मिला है तो उसका उपयोग करना चाहिए। सन्निधान इसके लिए मौक़ा दें।" शान्तलदेवी ने कहा।

बिट्टिदेव ने तुरन्त कुछ कहा नहीं। कुछ क्षणों के बाद, "हमें सोचकर निर्णय करना होगा, इसके लिए कुछ समय चाहिए।" कहकर वह मन्त्रणालय की ओर चले गये।

आगे उन लोगों ने कोई बातचीत नहीं की।

चट्टला के शिशु-जन्म की प्रसन्नता फैल गयी। अभी दो-तीन दिन से वह चाह रही थी कि अपने बच्चे को पट्टमहादेवी, रानियों और सन्निधान को दिखाये। राजमहल में वातावरण भी अभी शान्त था। राजकुमारी के स्वास्थ्य सुधरने के

द ही रेविमय्या ने विनती की। तुरन्त सम्मति भी मिल गयी। वास्तव में विषयान्तर की इच्छा भी थी। ये दम्पती शिशु के साथ आकर सहायक ही बने।

चट्टला को राजमहल की बहुत-सी बातें मालूम नहीं थीं। इस प्रसंग के कारण वे सब मालूम हुईं। शान्तलदेवी को तो मायण-चट्टला का जीवन इस तरह सुखमय बन जाने की सूचना पाकर अत्यन्त सन्तोष हुआ। उसे भरे हृदय से उन्होंने व्यक्त भी किया।

बम्मलदेवी और राजलदेवी को चट्टला-मायण के जीवन के विषय में सारी बातें मालूम थीं। वे दोनों भी उस खुशी में केवल भागीदार ही नहीं थीं, उसे व्यक्त भी कर रही थीं—"चट्टला, तुम्हारा जीवन इतना सुन्दर और ऐसा फल-प्रद बना इसमें पट्टमहादेवी भी सहायक हैं। किसी पूर्वजन्म के तुम्हारे पुण्य ने तुमको उनके हाथों में सौंपा। बिगड़ा जीवन वन गया। पोय्सल साम्राज्य की भलाई के लिए तुम दोनों ने प्राणों की भी परवाह न कर परिश्रम किया है। राष्ट्र-गौरव के सामने अपने व्यक्तिगत मानापमान को तुच्छ मानकर प्रमाणित किया है कि राष्ट्रगौरव सबसे बढ़कर है। आप लोगों ने जो फल पाया है वह अनन्त काल तक कीर्तिवान होकर जीये।" बम्मलदेवी ने कहा।

"क्या नाम रखा है शिशु का ?" राजलदेवी ने पूछा।

"बल्लु"—चट्टला ने कहा।

"पहले राज करनेवाले महास्वामी का नाम है ?"

"हम उन्हें बचा न सके। परन्तु उनकी उदारता को हम भूल नहीं सकते। वह नाम हमारे लिए परम पूज्य है। बच्चे को वही नाम दें तो उनकी स्मृति हमारे दिलों में स्थायी रह जायेगी।"

"इसे क्या बनाने का विचार है ?" बम्मलदेवी ने पूछा।

"हम पोय्सलसेवक किस योग्य हैं ?" चट्टला ने कहा।

"हम सब सेवक हैं। मैंने पूछा कि उसको गुल्म-नायक बनायेंगे या सवार नायक ?"

"सन्निधान उन्हें हेग्गड़े बना चुके हैं।" चट्टला ने कहा।

"हाँ मैं तो भूल ही गयी थी। विजयोत्सव के बाद मायण हेग्गड़े बना न ?" बम्मलदेवी ने कहा।

"विजयोत्सव के बाद नहीं, पाणिग्रहण महोत्सव के बाद।" चट्टला ने कहा।

"हैं, क्या ? तब तो तुम्हारे लड़के को सवार-नायक ही बनाना होगा।" बम्मलदेवी ने कहा।

"पट्टमहादेवीजी उसे जब जो चाहें बना सकती हैं।" चट्टला ने कहा।

"हाँ···मैं तो उसे केवल सवार-नायक ही बना सकती हूँ। हमारी पट्टमहादेवीजी जो चाहे बना सकती हैं।" बम्मलदेवी ने कहा।

"वे कभी कोई काम दूसरों के कहने पर करनेवाली नहीं हैं। प्रेम है, इसलिए जिस स्थान के लिए योग्य न हो उस स्थान पर बिठानेवाली भी नहीं। इसलिए बल्लु बढ़ेगा तब वह क्या करना चाहेगा, कौन जाने? क्या बनने की शक्ति वह अर्जन करेगा—सब उसकी शक्ति और सामर्थ्य पर निर्भर है। अभी उस पर क्यों सोचें? इस राजमहल के आश्रय में वह सुरक्षित है इसलिए हमें उसके बारे में चिन्ता ही नहीं।" चट्टला बोली।

"अच्छा विश्वास है यह।" बम्मलदेवी ने कहा।

"नायक ने कुछ बात ही नहीं की?" शान्तलदेवी ने पूछा।

"हम बात करनेवाले कौन?"

"हाँ, हाँ, काम करनेवाले हो। काम का फल उठा लाये हो न!" शान्तलदेवी ने कहा।

सब एकदम हँस पड़े। सेविका शिशु के लिए सोने का कड़ा, नया वस्त्र, मिश्री, दो मोहरें एक परात में रखकर ले आयी। शान्तलदेवी ने अपने हाथ से शिशु के दोनों हाथों में एक-एक सिक्का दिया। छोटे बल्लु ने छोटे हाथों में पकड़ लिया।

"मूठ मजबूत है। योद्धा बननेवाले की मूठ मज़बूत होना चाहिए। रेविमय्या, समय हो तो बच्चे को सन्निधान को दिखाने की व्यवस्था करो। यह मिलना चाहते हैं। चट्टला जाओ, उनका भी आशीर्वाद लेकर आओ।" शान्तलदेवी ने कहा।

इंगित को समझनेवाला रेविमय्या देख आया और चट्टला-मायण और बल्लु को ले गया।

रानियाँ अपने-अपने विश्रामागार की ओर चली गयीं।

मतान्तर के विषय में चाहे कुछ भी चर्चा हुई हो, इतना तो अवश्य हुआ कि खुलकर विचार-विमर्श हो गया। सभी अपने-अपने मत के बारे में स्वयं शान्तिपूर्वक विचार रख सके।

शान्तलदेवी सब तरह से विचार कर अपने निर्णय पर ही पहुँच चुकी थीं। विश्वास ऐसी वस्तु है जिसे हिला-डुलाकर देखने की ज़रूरत नहीं। वह जन्म से मृत्युपर्यन्त स्थायी रहना चाहिए। इसमें परिवर्तन होने का अर्थ है फिर से शुरू से जानने-सीखने की कोशिश! बाल्य, यौवन, वार्धक्य, फिर अन्त—यही क्रम शाश्वत है। उसे छोड़कर उस क्रम से हट जाना अच्छा नहीं। "दूसरे चाहे जसा बरतें, मैं अपने विश्वास से हटनेवाली नहीं"—इस दृढ़ निश्चय पर शान्तलदेवी पहुँच गयी थीं।

बम्मलदेवी में वास्तव में इस विषय में विशेष सोचने-विचारने की शक्ति नहीं थी। एक तरह से उसका यही विश्वास था: 'पति का जो निर्णय होगा वही

अपना निर्णय है। वही हितकर है। उसकी अच्छाई-बुराई स्वामी के ही हाथ होगी। मैं उनकी पदानुगामिनी मात्र हूँ'—यही उसका निर्णय था।

बाल्य से पालन-पोषण करनेवाले मंचिअरस के आराध्य शिव थे इसलिए राजलदेवी भी शिव पर विश्वास रखती रहीं। वास्तव में वह परिस्थिति के जाल में फँसकर वैयक्तिक भावनाओं को प्रकट करना नहीं चाहती। किसी दायित्व के बिना जो मिले उसी के साथ हिल-मिलकर रह जाना अच्छा—संघर्षरहित जीवन के लिए बम्मलदेवी का ही अनुसरण अपने लिए भी श्रेयस्कर मान लिया था राजलदेवी ने।

बिट्टिदेव का मानसिक संघर्ष बढ़ गया। सच है, उत्साह में वे वचन जो दे बैठे। उस समय उनके मन में दो ही बातें थीं। एक, अन्य किसी से जो न हो सका था उसे साधकर दिखानेवाले में महानता ज़रूर है। उनका अनुसरण करने में कोई बुराई नहीं, क्यों नहीं होना चाहिए? ऐसा वह सोचते थे। अब यह इतने से ही समाप्त नहीं हो जाता। यह अधिक व्यापक है। खुद महाराज की अपने व्यवहार की रीति अनुकरण योग्य होनी चाहिए, क्योंकि प्रजा उसका अनुसरण करेगी। जिस विश्वास का त्याग किया, उसपर दूसरों का विश्वास कैसे जमेगा? शान्तलदेवी ने जो सवाल उठाया वह विचारणीय अवश्य है। उनकी शंका के अनुसार इसकी प्रतिक्रिया यदि सारे राष्ट्र में हुई तो वह राष्ट्र की उन्नति के लिए कण्टक ही बन जाएगी। परन्तु वचन दिया है। शान्तलदेवी के कहे अनुसार इस पर खुले दिल से विचार करना ही उचित है।

यों इन्होंने अपना-अपना निर्णय कर लिया। फलस्वरूप राजमहल का वातावरण शान्त रहा, इसी तरह कुछ समय बीता। इस विषय की चर्चा करने के बात को लेकर फिर शान्तलदेवी ने सवाल नहीं उठाया। चर्चा करना अच्छा है उनकी सलाह के अनुसार—यह बिट्टिदेव की भी भावना रही। इसकी व्यवस्था करने के हेतु उन्होंने रेविमय्या से विचार-विनिमय किया।

इसके फलस्वरूप एक दिन आचार्यश्री अपने शिष्य एम्बार के साथ दोपहर के समय राजमहल में पधारे। यह चर्चा केवल अन्तःपुर तक ही सीमित रही। आचार्य, एम्बार, बिट्टिदेव, शान्तलदेवी, उदयादित्य, बम्मलदेवी, राजलदेवी—इतने ही लोग मन्त्रणालय में इकट्ठे हुए थे। रेविमय्या चूँकि सभी बातों से परिचित था, इसलिए वह भी उपस्थित रहा।

श्री आचार्यजी को राजमहल के गौरव के साथ मन्त्रणालय में बुला लाये। उनके आसनासीन हो जाने के बाद सब लोग अपने-अपने आसनों पर बैठ गये। थोड़ी देर मौन छाया रहा। यह विचार नहीं किया गया था कि पहले कौन बोले। बिट्टिदेव ने सोचा था कि सामयिक स्फूर्ति के अनुसार जैसा जो होगा हो जाय।

शान्तलदेवी ने देखा कि सब मौन हैं; कब तक ऐसा रहे—इसलिए

शान्तलदेवी ने ही आरम्भ किया—"श्री श्री जी के सम्मुख एक बात का निवेदन कर उसके बारे में हम स्पष्ट कर लेना चाहते हैं। इसीलिए आपको कष्ट देना पड़ा। राजमहल पर कृपा करके श्री श्री जी हमें क्षमा करें।"

"हम जनार्दन के सेवक हैं। वह सर्वान्तिर्यामी है, इसलिए उनकी सेवा के लिए हम सदा सर्वदा तैयार हैं। ऐसी सेवा के लिए हम सदा अवसर की ताक में रहते हैं। ऐसा मौका अपने आप मिले तो वह सौभाग्य की बात है। भगवान् के लिए अपरिहार्य कुछ भी नहीं। उनकी प्रेरणा के अनुसार करेंगे। देखें वह क्या प्रेरणा करेंगे।" आचार्य ने कहा।

"अब तक हमने न मत-परिवर्तन को देखा, न सुना था, वही बात अब उठ खड़ी हुई है। अब तक हमारा निश्चय था कि मतान्तर अच्छी प्रवृत्ति नहीं। इस विषय में श्री श्री की क्या राय है? हम जानना चाहते हैं।" शान्तलदेवी ने विनम्र भाव से कहा।

"पट्टमहादेवीजी का सवाल बहुत ही गम्भीर है। मतान्तर अच्छा-बुरा दोनों हो सकता है। निश्चित सन्दर्भ, सम्भावित सन्निवेश, व्यक्ति—इनके बारे में निर्दिष्ट रूप से जानकारी हो जाय तो भगवान् की प्रेरणा होगी उसके अनुसार कहेंगे।"

"मनुष्य जिस मत का होकर जन्म लेता है उसका उसी में रहकर साक्षात्कार प्राप्त करना श्रेष्ठ है न?" शान्तलदेवी ने पूछा।

"कौन नहीं कहेगा? वही श्रेष्ठ मार्ग है।" आचार्य ने कहा।

"तो मतान्तर से गड़बड़ी ही पैदा होगी न? अपने श्रेष्ठ मार्ग को छोड़कर किसी दूसरे को ढूँढ़ने जाना मूर्खता न होगी?"

"विश्वास यदि अच्छी तरह से जड़ जमाये हो तो मतान्तर की आवश्यकता नहीं होगी। क्योंकि विश्वास के ही आधार पर साक्षात्कार सम्भव है। परन्तु विश्वास की जड़ें अच्छी तरह जमी न हों, अनेक तरह की शंकाएँ उठ खड़ी हो जाएँ, तब जो ठीक लगे उसके अनुसार चलना वास्तविक मार्ग है। उसे अगर मना कर दें तो अनिश्चितता, अविश्वास में परिणत होकर साक्षात्कार के लिए मार्ग ही नहीं रह जायेगा। ऐसे प्रसंग में जिसने विश्वास पैदा किया उसका अनुसरण करने से अच्छा होता है।"

"श्री श्री ने जो कहा वह व्यक्तिगत साधना के बारे में है।"

"भारतीय धर्म ही व्यक्तिगत साधना पर अवलम्बित हैं।"

"हमारा भी वही विश्वास है। परन्तु किसी अन्य मार्ग को श्रेष्ठ बताकर उसका प्रचार करने लगें तो पहले से अनुसृत मार्ग सारहीन है—यही न इस तरह के प्रचार का अर्थ होगा।"

"हम जिस मार्ग का प्रतिपादन करते हैं वह श्रोताओं को ठीक लगे तब पूर्व

की जो भावना रही, वह सारहीन प्रतीत हो सकती है।"

"तो ऐसे सभी लोग मतान्तर के योग्य हैं—यही आचार्यजी का मन्तव्य है ?"

आचार्यजी के मुँह पर हँसी की रेखा खिच गयी।

"पट्टमहादेवीजी ने इस विषय को मेरे ही ऊपर डाल दिया न ? अच्छा हुआ। इस सन्दर्भ में एक वात को हम स्पष्ट करना उचित समझते हैं। क्योंकि अब यह सवाल उठा है, हमारे यहाँ आकर राजाश्रय प्राप्त करने के बाद। इस मतान्तर की वात भी हमारे ही कारण उत्पन्न हुई है—ऐसा ध्वनित होता है। हम नहीं कह सकते कि इस ध्वन्यर्थ का कोई माने नहीं। हम यह आश्वासन देते हैं। हमारी रीति को स्वीकार करो, इसे मानो, इसका अनुसरण करो—इस तरह लोगों को हम उकसाते नहीं फिरेंगे। भारतीय धर्म की रीति-नीतियों को जानने-वाला कोई भी यह बात अस्वीकार नहीं करेगा। अविद्या और अज्ञान के कारण सुदृढ़ विश्वास अन्धविश्वास बन गया है और धर्म ने अपने मौलिक मानवीय मूल्यों को खो दिया है; सार्वजनिक हित का उसका स्वरूप नष्ट होकर कुछ लोगों के स्वार्थ का शिकार हो गया है। ऐसे मौके पर कोई-न-कोई साधक अवनति-प्राप्त धर्म का पुनरुत्थान करने के लिए जन्म लेते आये हैं। वे जिस सत्य का अनुभव कर सके उसका प्रचार जनता में करते आये। अपना अनुसरण करनेवालों का स्वागत तो किया है। पर, उन्होंने कभी दूसरों की निन्दा नहीं की। ऐसे मौकों पर मतान्तर होता आया है। इससे उपकार भी हुआ है। परन्तु ऐसे समय पर खुले दिल से जिज्ञासा न कर सकनेवाले, असूयाग्रस्त होकर, धार्मिक कट्टरता के आवर्त में फँसकर, स्वार्थ साधक बन विद्वेष पैदा कर, अमुक मतान्तर को एक भयंकर सामाजिक बीमारी कहकर ग़लत भावना उत्पन्न करने की कोशिश करते हैं। कई एक बार इस स्थिति के कारण रक्तपात की स्थिति भी उत्पन्न हुई है। इसीलिए हमने कहा कि मतान्तर से अच्छाई-बुराई दोनों हो सकती हैं। जब समझते हैं कि मतान्तर में अच्छाई है तो उसका अवश्य प्रसार करना चाहिए। लालच दिखाकर करना ठीक नहीं। वह मार्ग कभी अच्छा नहीं। ज़ोर-ज़बर्दस्ती के पीछे क्रोध की आग लगी ही रहती है। मानसिक शान्ति देनेवाले धर्म और मत को रोष का उत्पादक साधन नहीं बनना चाहिए।

"नूतन पन्थ के अनुयायियों ने कभी दूसरों की निन्दा नहीं की, श्री श्री ने कहा न ? अपने मार्ग को श्रेष्ठ बताते वक़्त यह अवश्य बोध होता है कि दूसरों का मार्ग सारहीन है। पहले ऐसा सब हुआ है—इसे हमने ज्ञानियों से जाना है। मतप्रवर्तकों द्वारा वाद-विवाद करके अपनी बड़ाई को साबित करने के लिए ज़िद पकड़कर भिन्न-भिन्न पन्थों का निर्माण कर देने के अनेक प्रसंगों का उल्लेख है। तब यह ज़ोर-जबरदस्ती भी एक अनिवार्य अस्त्र बन जाती है, ऐसा मेरी अल्पमति को लगता है।" उदयादित्य ने बीच में कहा।

"कहनेवालों की बात पर विश्वास कर हमें किसी निश्चय पर नहीं पहुँचना चाहिए। हमें अपना-अपना अनुभव ही आधार है। यदि अपनी बात को स्पष्ट करना चाहें तो हम यही कहते हैं कि हमने अन्य मत को कभी दूषित नहीं कहा है। ऐसा काम न हमने किया है, न करेंगे। एक नवीन मत का प्रतिपादन करना हो तो उसके लिए एक पुष्ट भूमिका, अनुभव, चिन्तन-मनन यह सब होता है। परात्पर शक्ति का ज्ञाता केवल एक व्यक्ति होता है तो वह उसके प्रभाव से निस्वार्थ होता है। लोककल्याण के सिवा उसका दूसरा लक्ष्य होता ही नहीं। लोककल्याण का अर्थ केवल कुछ का अथवा बहुसंख्यकों का हित नहीं है, सभी मानवों को उस परात्पर शक्ति की जानकारी होनी चाहिए। तभी शान्ति स्थापित हो सकती है। उसके लिए अनेक रास्ते हैं। सुलभ मार्ग का अनुसरण कर जो उसे साध लेते हैं, वे अपने अनुभव-निरूपण के सिवा दूसरा कोई निन्दाजनक कार्य कर ही नहीं सकेंगे। अन्य मार्गों के कष्ट या क्लिष्टताओं को स्पष्ट करने का अर्थ उसकी निन्दा करना नहीं। जब हम यहाँ आये तो राजमहल से सम्पर्क स्थापित करने के इरादे से नहीं आये। हमने पहले ही बता दिया कि हम केवल शान्ति की खोज में आये। यहाँ का संस्कार उत्तम है। हमारा इन्होंने आदरपूर्वक स्वागत किया। महाराज ने जो उदारता दिखायी, उसके लिए क्या हम पात्र हैं ? यह हम ही को आश्चर्य होता है। जिस राज्य में जन्मे, वहाँ के राजा के कानों तक हमारी आवाज़ पहुँची ही नहीं। यहाँ वह आवाज़ सचेतन हुई। हमारा मार्ग आपके सन्निधान को ठीक लगा तो उन्होंने हम पर विशेष भक्ति दिखायी। उन्होंने विशेष उत्साह से कहा कि वे भी उस मार्ग का अनुसरण करेंगे। इस सबके पीछे कोई योजना-बद्ध प्रयत्न नहीं। सब उस केशव का आदेश है। आन्तरिक प्रेरणा है। आपके सन्निधान ने जो उदारता दिखायी उसके लिए बाह्य दबाव नहीं, यह तो सबको मालूम है। यही हम मानते हैं।"

बम्मलदेवी और राजलदेवी के चेहरे पर जैसे विजय का भाव झलक पड़ा। शान्तलदेवी ने भी उनके इस भाव को पढ़ लिया। सन्निधान शायद कुछ कहें; इस इरादे से उन्होंने उनकी ओर देखा। वे निर्लिप्त-से बैठे थे।

"सन्निधान की पाणिगृहीता सन्निधान का मार्ग ही अनुसरण करे—यही उनका धर्म है न ?" बम्मलदेवी ने मौन को तोड़ते हुए कहा। उसे अब एक आधार मिल गया था। उसे लगा था कि सन्निधान की रीति में कोई अनुचित बात नहीं थी; इसी धीरज के साथ उसने कहा।

शान्तलदेवी ने सोचा—यह तो विषयान्तर हो गया। इसीलिए कहा, "इस बात को रहने दें, यह कोई समस्या नहीं। उससे अधिक प्रमुख बात वह है। क्योंकि उसकी व्यापकता, उस हवा पर अवलम्बित है जो जिधर चाहे बह सकती है···" बम्मलदेवी की बात को वहीं तक रोक दिया।

"पट्टमहादेवीजी का मनोगत क्या है—सो हमारी समझ में नहीं आया।" आचार्य ने कहा।

"आपने बताया कि आपके जन्म-देश के राजा के कानों तक आपकी आवाज़ पहुँची ही नहीं। इसके पीछे 'यदि पहुँचती तो अच्छा था' यह आपके कथन का निहितार्थ है। क्या मैं यह समझूँ कि उनके कानों तक पहुँचाने की कोशिश की गयी थी?"

"अपने अनुभव के सार-सर्वस्व को पहुँचाना और उसे समझाना ही जब हमारा उद्देश्य है तो राजा उस प्रेरणा के अपवाद कैसे हो सकेंगे?"

"तो मतलब हुआ कि आपका प्रयत्न सफल नहीं हुआ, यही न?"

"हमने ही कहा न कि नहीं हुआ।"

"इसी परिस्थिति की पृष्ठभूमि पर विचार करेंगे तो श्री श्री के आने का उद्देश्य यहाँ के राजा के कानों तक अपनी आवाज़ पहुँचाना ही था, यह सहज सिद्ध है। है न?"

"इसमें ग़लती क्या है?" आचार्य ने प्रश्न किया।

"मेरे मन में ग़लती का विचार नहीं। पाण्ड्य और चेर प्रदेश में जाना छोड़कर इतनी दूर आचार्यजी ने आने का विचार किया तो ख़ूब सोच-समझकर ही किया होगा?"

"हाँ, कावेरी पुण्य-सलिला है। हमने श्रीरंग के रंगनाथ को भी अपने बाहुओं में लेकर मातृप्रेम का प्रदर्शन किया है। ऐसी पावन-सलिला कावेरी के जन्म-देश में आना और अगस्त्याश्रम का संदर्शन कर उसी पवित्र-सलिला का अनुसरण करते हुए मातृभूमि की ओर लौटना भी यह एक कारण है। 'पोय्सल राज्य में शैव, बौद्ध, जैन आदि सब मत-धर्म समान रीति से गौरवान्वित हैं, वहाँ के राजा धर्मान्ध नहीं, सहिष्णु हैं यह बात हमें मालूम हुई थी। परन्तु इतनी सफलता मिलेगी—यह आशा नहीं थी। यह केवल केशव ही की प्रेरणा है।" आचार्य ने कहा।

"सन्निधान चाहे किसी भी कारण या प्रेरणा से आज मतान्तर को स्वीकार करें तो उसका परिणाम क्या हो सकता है इसपर आचार्यश्री ने विचार किया है?" शान्तलदेवी ने पूछा।

"परिणाम क्या होता है? जनता की आँखें खुलेंगी।"

"मतलब यह कि जनता में अब तक जो विश्वास रहा, इस परिवर्तन से वह तितर-बितर हो जायेगा—ऐसा आचार्यजी को बोध हुआ है। इस पर भी विचार किया ही होगा।"

"विश्वास तितर-बितर हो जायेगा—ऐसा कहने के बदले यों कहें कि नया विश्वास एक सुभद्र भूमिका पर पनपेगा।" आचार्य ने कहा।

"एक बात की ओर मैं आचार्यजी का ध्यान आकर्षित करना चाहती हूँ। यह

पोय्सल राज्य अब तक मतान्तर के झमेले में न पड़कर जो जिस मत में जन्मे उसीमें अपनी मुक्ति मानकर सौहार्दपूर्ण एवं सहिष्णुतापूर्ण ढंग से बड़ी सुगमता एवं सहजता का जीवन गुजारता आया है। यह राजघराना जिनाराधक घराना है। अब सारे जैन मतावलम्बी अपने विश्वास के बारे में राजघराने के व्यवहार को अपना आदर्श मानते हैं। ऐसे अवसर पर सन्निधान नये पन्थ का अनुसरण करेंगे, यह बात जनता को मालूम हो जाय, तब जनता में, खासकर जैन-जनता में अपने मार्ग पर अविश्वास पैदा हो जायेगा। उसका क्या परिणाम हो सकता है, इसपर विचार नहीं किया? इस राष्ट्र के चारों ओर शत्रु हैं। हमारे प्रथम बड़े शत्रु चोल हैं जो आचार्यश्री के जन्मप्रदेश के राजा हैं। आचार्यश्री के कारण यह मतान्तर हुआ तो वह रक्त की नदी बहाने के लिए आह्वान देने का-सा हो जाता है। प्रेममयी कावेरी मैया का शरीर मंगलमय होकर विराजने के बदले वह रक्ताक्त होकर भयंकर रूप में दिखेगा। राष्ट्र की एकता की रक्षा करने के मौक़े पर यह परिवर्तन, मतान्तर आदि एक शाप बन जायेगा, यह मेरी निश्चित राय है। शान्ति चाहकर पधारनेवाले श्री श्री जी से ऐसी स्थिति उत्पन्न हो, यह ठीक नहीं; फिर लोग कल यदि इस वजह से आचार्य की निन्दा करने लगे, यह अच्छा नहीं। इसलिए मेरी इतनी ही विनती है कि मतान्तर के विषय में जल्दबाज़ी न हो; प्रचार तो कतई न हो।"

"पट्टमहादेवी के सोचने की रीति अलग है। हमारी रीति अलग है। ऐसे संकीर्ण विचार हमारे दिमाग में प्रवेश ही नहीं करते। हमने अपने अनुभव से एक सत्य को जाना है। अचल विश्वास का निवारण एक असाध्य कार्य है। बदलने की इच्छा जब बलवती हो तो उसे रखना भी साध्य नहीं। दोनों स्थितियाँ आन्तरिक प्रेरणा से उत्पन्न होती हैं। दोनों में एक ही तरह की निश्चित मनोवृत्ति रहती है। इसमें विलम्ब-शीघ्रता के विषय को आगे करके सन्दिग्धावस्था पैदा करना ठीक नहीं। प्रचार की आवश्यकता नहीं, इस बात को हम भी मानते हैं। सन्निधान और आप दोनों बड़े विचक्षण और तत्त्वज्ञ हैं। पूर्वापर विचार करके ही निर्णय करने-वाले हैं। ऐसी हालत में हमारी राय निष्पक्ष होनी चाहिए। मनुष्य का मन बहते पानी जैसा है। जिधर उतार हो उधर बहता है। उसके मार्ग को बदलना साध्य नहीं।"

"बाँध बाँधकर रोका जा सकेगा न?" शान्तलदेवी ने पूछा।

"पानी के प्रवाह के ज़ोर को रोकने की ताकत बाँध में हो तो रोकना साध्य है।" आचार्य ने कहा।

"ऐसी शक्ति यदि न हो तो बाँध टूटकर बड़े भारी अनिष्ट का कारण होगा न? अब तक विश्वास पक्का रहने के कारण उसका एक निर्णीत मार्ग और गति रही। उसे रोकेंगे, बाँधेंगे, इस प्रयत्न के फल में अनिश्चितता की सम्भावना

नहीं है ? जैसे आचार्यजी ने बताया वह उस बाँध की शक्ति पर निर्भर है न ? मतलब हुआ कि यह पन्थानुसरण एक अनिश्चितता पर अवलम्बित होकर आरम्भ होगा।"

"वह अनिवार्य लगता है। फिर भी भावना गहरी हो जाय तो उसके मजबूत होने की ही सम्भावना अधिक है।"

जल्दबाजी की भावना शीघ्र कोंपल देनेवाले पौधे की तरह होती है। उसकी गहराई की परख करने जाएँ तो जड़ ही उखड़ आयेगी। इसलिए वर्तमान परि-स्थिति में गहराई की कल्पना करना असहज है। इसी वजह से मैंने विनती की कि जल्दबाजी न हो। इतनी बातें होने पर मन कुछ हल्का हुआ। हमें जो सूझे और जो सही लगे उसे कह देना चाहिए ताकि कल इसके लिए पछताना न पड़े। आगे स्थिति, पता नहीं कैसी हो ? यह आवश्यक न मानने की निश्चित धारणा रखने-वाली मुझ जैसी के लिए भी स्थिति सन्दिग्ध है,' शान्तलदेवी ने कहा।

"इसीलिए हमारा विचार है कि पति के मार्ग का अनुसरण करना ही श्रेष्ठ मार्ग है।" बम्मलदेवी ने कहा।

"वह आपका मार्ग है।" बीच में उदयादित्य बोल उठे।

"तो क्या वह सही मार्ग नहीं, यही आपका मतलब है ?" बम्मलदेवी ने पूछा।

"मार्ग अपनी-अपनी दृष्टि से सही होता है।" उदयादित्य ने कहा।

"हम इतनी प्राज्ञा नहीं। आचार्यजी ही स्वयं इस सम्बन्ध में कह सकते हैं। सभी बातों में पति की अनुवर्तिनी बनकर रहना ही सती का धर्म है, यह ठीक है या नहीं इस सम्बन्ध में हमें जानकारी दें।" बम्मलदेवी ने कहा।

"संन्यासी इस विषय में क्या कहेंगे। उन्हें अनुभव ही क्या है ?" चटपट उदयादित्य ने कह दिया।

"न, न, तुमको आचार्यजी के विषय में ऐसा नहीं कहना चाहिए। वे महान् ज्ञानी और तपस्वी हैं। हमारे छोटे राजा अभी बचपना करते हैं। जल्दबाज हैं। आचार्यजी को अन्यथा नहीं समझना चाहिए।" शान्तलदेवी ने कहा।

"पट्टमहादेवीजी को परेशान होने की जरूरत नहीं। हमारी किसी भी बात से शान्ति में बाधा नहीं पड़ेगी। अलावा इसके जब विचार-विनिमय होगा, तब सभी के अभिमत व्यक्त होंगे; तभी वास्तविक सत्य प्रकट होता है। अब हम संन्यासी हैं, लेकिन हम भी किसी ज़माने में गृहस्थ जीवन से परिचित हुए थे। इतने मात्र से हम नहीं कह सकते कि हमारा अनुभव बहुत विस्तृत है। हम उस भगवान् को 'अणोरणीयान् महतो महीयान्' कहकर पुकारते हैं। अणु भी नहीं, महान् भी नहीं, अणु को महान् और महान् को अणु बना सकने की सामर्थ्य भी हममें नहीं। तब हम केवल उसके सेवक ही बन सकते हैं, इतना ही हम जानते हैं।

इसीलिए साक्षात्कार कर सकते हैं। भगवान् हमारे मार्गदर्शक हैं। हम केवल उनके अनुवर्ती मात्र हैं। अपने धर्म में व्यवस्थित जीवन व्यतीत करना आवश्यक है, यह कल्पना होने के कारण स्त्री को पति की अनुवर्तिनी होकर रहना कुशल-दायक है, यह भाव हुआ। उसी को लेकर जीवन चला आया है। इसलिए छोटी रानीजी के कहने में सत्य है। परिवार में सामंजस्य का होना आवश्यक है। हमें भी यही लगता है।"

"यह ठीक बात है। हम तो वैसे ही चलनेवाली हैं। कितना ही मिलजुलकर रहें, कितनी ही विशाल मनोभावना हो, पति का मत ही सती के लिए श्रेष्ठ मत है।" बम्मलदेवी ने कहा।

"जिनमें आत्म-विश्वास न हो ऐसे लोगों के लिए यह मार्ग है। उससे आत्मोन्नति साध्य नहीं होती, यह मेरी धारणा है। आचार्यजी का क्या अभिमत है?" शान्तलदेवी ने उनकी ओर देखा। उसके पहले बम्मलदेवी की ओर जो देखा, जिसका सामना बम्मलदेवी नहीं कर सकी।

"बिट्टिदेव प्रस्तर प्रतिमा की तरह बैठे रहे।

"आत्मोन्नति होना हो तो आत्म-विश्वास होना ही चाहिए। स्त्रीधर्म में ही अटल विश्वास हो तो पति की अनुवर्तिनी होकर भी आत्मोन्नति साधी जा सकती है।" आचार्य ने कहा।

"ऐसी स्त्रियों की आत्मोन्नति की प्राप्ति की सीढ़ी पति ही है, यही हुआ न?" शान्तलदेवी बोलीं।

"हाँ, वह तो स्वयंसिद्ध बात है।" आचार्य ने कहा।

"उस सीढ़ी के लिए सुभद्र आधार न हो और वह खिसक पड़े तो चढ़ना या गिरना?" शान्तलदेवी ने कुछ कड़ी आवाज़ में कहा। बम्मलदेवी को यह व्यंग्य-सा लगा।

"हमें उनके बारे में पूर्ण विश्वास है। यह तो उन लोगों की बात हुई जिन्हें पति में विश्वास नहीं।" बम्मलदेवी ने कह दिया।

"ऐसा हो तो आप लोग अब तक जैन मतावलम्बिनी क्यों नहीं बनीं? इस क्षण तक भी आप लोग शैव ही हैं न?" शान्तलदेवी ने सवाल किया।

"हैं?" आचार्य ने प्रश्न किया।

"हाँ। छोटी दोनों रानियाँ शैव हैं। मेरे पिताजी शैव और माताजी जिनाराधिका। भिन्नमतीय होने पर भी उनका दाम्पत्य जीवन चकित करने-वाला है। पूजा-अर्चा आत्मोन्नति के लिए है। वह वैयक्तिक स्वातन्त्र्य है। परन्तु दाम्पत्य का सम्बन्ध लौकिक है। उसमें सरसता उत्पन्न होना हो तो आपस में विश्वास के साथ परस्पर व्यवहार होना चाहिए। इस तरह साध्य है, इसके लिए वे प्रत्यक्ष साक्षी हैं। उन दोनों में मुझे अपने जैसा परिवर्तित कर लेने का हट होता

तो जीवन नरक बन जाता। उन्होंने एक-दूसरे को अच्छी तरह समझा है। उनके जीवन की रीति एक आदर्श है। यहाँ एकमुख अनुवर्तन नहीं। उनके जीवन में दोनों ओर से अनुवर्तन है। अन्धविश्वास की तरह अन्धानुवर्तन कभी भी पेचीदगी पैदा कर सकता है। इसलिए अनुवर्तन पर ज़ोर दें तो वह कभी-न-कभी जीवन को नुकसान ही पहुँचायेगा।" शान्तलदेवी ने कहा।

"तो महाराज यदि मतान्तर को स्वीकार करेंगे तो पट्टमहादेवी इस विषय में उनकी अनुवर्तिनी नहीं होंगी, ऐसा ही समझना चाहिए?" आचार्य ने प्रश्न किया।

"हाँ, निश्चित रूप से।" शान्तलदेवी ने दृढ़ता से उत्तर दिया।

"यही निर्णय है? सोच सकती हैं न?" धीरे से आचार्य ने कहा।

"यही निश्चित है।"

"यदि जनता को मालूम हो जाय कि राजदम्पती में धर्मावलम्बन के विषय में भिन्न मत है, तो उसका उन पर क्या प्रभाव होगा? इसपर पट्टमहादेवीजी विचार नहीं करेंगी?" आचार्य ने प्रश्न किया।

"जनता की जिम्मेदारी प्रधानतया सन्निधान की है। उन्होंने इस सम्बन्ध में विना सोचे-विचारे जल्दी में किसी प्रसंग के प्रभाव में पड़कर मतान्तर की बात सोची है। अपने विषय में निर्णय करने का अधिकार उनको है। पट्टमहादेवी होने के नाते जनता के विषय में मेरी ज़िम्मेदारी उतनी अधिक न होने पर भी थोड़ी-बहुत तो है ही। इसीलिए मेरा यह अटल निर्णय है। मेरे इस निर्णय के कारण अनेक अप्रबुद्ध जैन मतावलम्बियों को सहारा मिल जायेगा। उनका विश्वास ज्यों-का-त्यों बना रहेगा। सन्निधान के मतान्तर को स्वीकार करने पर भी पट्टमहादेवी ने मतान्तर नहीं स्वीकार किया। तात्पर्य यह कि लोग समझेंगे कि जैनमत में सत्व है। मेरे इस निर्णय के लिए तीन कारण हैं। एक, मेरा विश्वास अटल है। वह सार्वकालिक है। दो, अब तक इस मत की अनुयायिनी होते हुए भी सभी मतों को सहिष्णुता से देखने की मनोवृत्ति को मैंने अपना लिया है। मतान्तरित होने पर भी वह सहिष्णुता इसी तरह बनी रहेगी, इसपर मेरा विश्वास नहीं। तीन, सन्निधान के मतान्तरण से जैनियों में उत्पन्न हो सकनेवाली धार्मिक शंका, मेरे निर्णय के कारण, दूर होगी और उससे राष्ट्रहित सधेगा। मेरे इस निर्णय से राष्ट्र, जिन-धर्म और आत्मोन्नति के लिए शक्ति प्राप्त होगी। मेरा यह निर्णय किसी के लिए, किसी भी कारण से परिवर्तित होनेवाला नहीं।"

"तो हमने यहाँ आकर आपके सुखी दाम्पत्य जीवन में बाधा डाल दी। इन दो दिनों में हमें जो प्रोत्साहन मिला उससे हमने सोचा था कि एक महान् कार्य को हम साध सकेंगे। अब इस दाम्पत्य जीवन में विरसता पैदा करके भगवान् का कार्य कैसे साध सकेंगे? हम स्वयं विमुख हो जाएँ, यही उत्तम है। हमारे कारण

किसी तरह की सन्दिग्धता या विरसता उत्पन्न नहीं होनी चाहिए। पोय्सल राज्य में कुछ काल तक रहने का हमारा विचार था। अब इस विचार को बदलना पड़ेगा।"

"विरस कहाँ? मेरा यह अटल निर्णय विरसता को दूर करने ही के लिए है। एक बात का स्पष्टीकरण अब मुझे करना है। श्रीश्री जी केशव के भक्त हैं। राजकुमारी की बीमारी का पता किसी को नहीं लग सका था। बड़े-बड़े पण्डित चिकित्सा कर-करके हार चुके थे। मैंने भी आयुर्वेद का अध्ययन किया है। उन लोगों ने जो चिकित्सा की उस सबको मैं जानती हूँ। ऐसे मौक़े पर श्रीचरण यहाँ पधारे; जीवदान देकर राजमहल के प्रकाश को बचाया। वास्तव में यह घटना किसी को भी आकर्षित कर सकती है। अपनी साधना से आपने जो पारलौकिक सिद्धि प्राप्त की है उसके सामने सिर झुकाना ही पड़ेगा। परन्तु, ऐसी ही एक और घटना घटी है। उसी दिन हमारे गुल्म-नायक राजकुमारी के स्वास्थ्य की कामना से बाहुबली स्वामी की मनौती लेकर बाहुबली को उसे समर्पित कर स्वामी का पवित्र प्रसाद ले आया और हमें दिया है। वह भी अविश्वसनीय विषय नहीं। इन दोनों में सत्य कौन है—इस पर शंका करेंगे तो मन कलुषित हो जायेगा। दोनों ठीक हैं। दोनों एक ही समय में घटित हैं। वह एक ही परात्पर शक्ति, अलग-अलग स्थानों में, अलग-अलग व्यक्तियों को अलग-अलग रूपों में सहायक बनी है। यहाँ प्रमुख विषय है निर्मल अन्तःकरण की प्रार्थना और मनौती। भगवान् सर्वान्तर्यामी है। वह इसी रूप में है कहकर उस सर्वान्तर्यामी को एक रूप के दायरे में बाँधें क्यों? श्रीश्री के विश्वास के अनुरूप फल उन्हें मिला, हमारे तेजम के विश्वास के अनुरूप फल उसे मिला। राजकुमारी को विष्णु-बाहुबली इन दोनों का आशीर्वाद एक साथ मिला। वह अच्छी हो गयी। आपको यह सुनकर आश्चर्य होगा; रेविमय्या ने नग्न निर्वाण बाहुबली को किरीट, कुण्डल, माला धारण करवाकर चीनाम्बर, पीताम्बर से अलंकृत करवाकर गदा-पद्म, चक्रधारी के रूप में उनका दर्शन पाया है; ऐसे जिनेश्वर विष्णु से हमारे दाम्पत्य के लिए आशीर्वाद प्राप्त किया है। हमारे रेविमय्या के ही अनुभव को उसी से पूछकर सुनिए; बहुत अच्छे ढंग से सभी बता देगा।" शान्तलदेवी ने कहा।

आचार्यजी चकित होकर सुन रहे थे। रेविमय्या की ओर मुड़कर, "क्या प्रसंग है रेविमय्या?" आचार्यजी ने पूछा।

उसने उस सारे पुराने वृत्तान्त को बताया। उसने काफ़ी समय लिया। सब चुपचाप सुनते रहे। सब बता चुकने के बाद रेविमय्या ने कहा, "सन्निधान और पट्टमहादेवी जैसे हैं वैसे ही रहें, यही मेरी इच्छा है।"

"मुझे यह सबकुछ मालूम नहीं था।" उदयादित्य ने कहा।

"अद्भुत है!" आचार्य का उद्गार था।

"क्या ?" शान्तलदेवी ने पूछा।

"यहाँ आकर हम जो काम करना चाहते थे उसके लिए भगवान् विष्णु पूर्व तैयारी कर चुके हैं तो हमारे लिए उनकी सेवा करने के सिवा, दूसरा कोई काम नहीं बच रहा। हमसे भी पहले स्वयं भगवान् ने आकर, यहाँ अपना कार्य जिससे कराना है, उसे खोज निकाला है और बाद को हमें इधर आने की प्रेरणा दी है। हमें अब किसी भी बात की चिन्ता नहीं। जो मतान्तर चाहते हैं वे मतान्तरित हों। किसी पर ज़ोर-ज़बरदस्ती या दबाव नहीं। प्रेरित करने और न करनेवाला भगवान् है। उनकी प्रेरणा के अनुसार हम यहाँ अपना कार्य करेंगे। महाराज और पट्टमहादेवी चाहे जो भी निर्णय कर लें सो ठीक है। क्योंकि वह अन्तःप्रेरणा और आत्मशक्ति का प्रतीक है, इसलिए वह मान्य है। क्योंकि आत्मशक्ति का प्रतीकात्मक व्यवहार निर्भय होता है और वह निश्चित कदम रखता है। वह प्रगति का सूचक है। भगवान् विष्णु जिस-जिससे जो सेवा जिस-जिस रूप में लेना चाहते हैं, वह वही जानें; उनका काम जाने।"

"धर्म के विषय में पत्नी, पति की अनुवर्तिनी न होने पर भी कोई बाधा नहीं—इस सम्बन्ध में श्रीश्री की सम्मति है—ऐसा मान सकूँगी ?" शान्तलदेवी ने पूछा।

"दोनों का एक विश्वास हो तो अच्छा। आपस में सामरस्य रूपित कर सकनेवाले भिन्न धर्मियों का दाम्पत्य भी हो सकता है। परन्तु ऐसी स्थिति में आपसी विश्वास बहुत ही मुख्य है। यह उनके आत्म-विश्वास पर निर्भर करता है। जब वह आत्मविश्वास न हो उस हालत में पति का अनुसरण ही उपयुक्त मार्ग है।"

"अब विचार-विमर्श निर्णायक स्तर तक पहुँचा है। श्रीश्री को कष्ट दिया, इसके लिए क्षमा करें। इस सबका मूल कारण मैं ही हूँ।" शान्तलदेवी ने कहा।

"पट्टमहादेवीजी ने हमारी कठिनाई ही को दूर कर दिया। वास्तव में हम उसके लिए उनके कृतज्ञ हैं। इस यादवपुरी में प्रवेश करने के लिए चार महाद्वार हैं। सभी द्वारों से राजमहल तक पहुँचने के लिए सहूलियत होनी चाहिए। एक ही द्वार से यह सहूलियत मिले, यह उचित नहीं। इस विशाल दृष्टिकोण को पट्टमहादेवी ने प्रतिबिम्बित किया है। इतना ही नहीं, उन्होंने यह स्पष्ट घोषित भी कर दिया कि जो जिस द्वार से चाहे आ सकते हैं, और उनके लिए राजमहल का द्वार सदा खुला रहेगा। यह एक महत्त्वपूर्ण घोषणा है। पोय्सल राज्य में मत-स्वातन्त्र्य प्रत्येक प्रजाजन को रहा है, वह आपसी सौहार्द और स्नेहभावना के लिए पूरक रहा है। दाम्पत्य जीवन में भी भिन्न मतीय सामरस्य के साथ सुखी जीवन व्यतीत कर सकते हैं ऐसी उदारता यहाँ रही, यह बात बड़े महत्त्व की है।

इस तत्त्व की मूल शिला स्थापना के रूप में हमने यहाँ लक्ष्मीनारायण मन्दिर के प्रस्तर विन्यास की योजना बनायी है। इस कार्य को हम परसों त्रयोदशी के दिन सम्पन्न करने का सोच रहे हैं।"

एकदम शान्तलदेवी बोल उठीं, "हाय ! हमने यह कैसा काम किया। आज एकादशी है, आचार्यजी का निराहार व्रत है। इसे भूलकर हमने उन्हें बहुत कष्ट दिया। उस तरफ हमारा ध्यान गया ही नहीं। ऐसा काम नहीं करना चाहिए था।"

"निराहार मात्र से हम जड़ होकर बैठे नहीं रहेंगे। निराहार केवल पेट के लिए है, मस्तिष्क के लिए कभी निराहार नहीं। आज के इस पुण्य दिन में हमने जो विचार-विमर्श किया वह अत्यन्त श्रेष्ठ है। पट्टमहादेवी इसपर विचार करने की आवश्यकता ही नहीं। परसों जैसा हमने सोचा है प्रस्तर-विन्यास सम्पन्न हो सकेगा न ?"

"इस विषय में श्रीश्री सर्वतन्त्र स्वतन्त्र हैं। इस विषय में राजमहल से पूछना क्या है?" शान्तलदेवी ने कहा।

"हम इसी विषय के बारे में विचार करने के लिए यहाँ आना चाहते थे। इतने में यहाँ से बुलावा आ गया। अच्छा हुआ। इस कार्य को सन्निधान के हाथ से सम्पन्न कराने का हमारा संकल्प है।"

"यह कार्य हम पर क्यों थोपेंगे ? नहीं, यही अच्छा है कि श्रीश्री आचार्यजी के ही हाथ से सम्पन्न हो। वही उत्तम है।"—बिट्टिदेव ने तुरन्त कह दिया।

"ऐसा है तो हमारी रीति के अनुसार सन्निधान की स्वीकृति प्राप्त कराने के लिए पट्टमहादेवीजी से ही निवेदन करना होगा।" कहते हुए आचार्य ने शान्तलदेवी की ओर देखा।

बिट्टिदेव ने कुतूहलपूर्ण दृष्टि से उनकी ओर देखा।

"श्री आचार्य से पुलकित सन्निधान किसी भी रीति से इस प्रस्ताव को अस्वीकृत करना नहीं चाहते। इस मतान्तर के विषय में जब चर्चा हुई तब उनका मन किस तरह डाँवाडोल रहा और वे कैसे मौन हो बैठे रहे—यह सब जानते हैं। हम तीनों यहाँ श्री के सांकेतिक रूप से उपस्थित हैं। आचार्यजी की इच्छा को आज्ञा मानकर हम तीनों सन्निधान की स्वीकृति को सम्मिलित रूप से दिला सकती हैं। आगे के कार्यों की व्यवस्था की जा सकती है।" शान्तलदेवी ने कहा।

राजलदेवी और बम्मलदेवी चकित हो देख रही थीं शान्तलदेवी की ओर। शान्तलदेवी की इस रीति को शायद वे नहीं समझ पायीं।

"अच्छा।" कहकर आचार्यजी उठ खड़े हुए। एंबार ने पादुकाएँ उनके पैरों के पास रखीं। सब लोग उठ कर खड़े हो गये।

"रेविमय्या !" शान्तलदेवी ने पुकारा।

"द्वार पर पालकी तैयार है। अभी चला।"—कहकर रेविमय्या द्वार खोलकर चल पड़ा। एंचार ने उसका अनुकरण किया।

आचार्य एंचार के पीछे-पीछे चले। आचार्यजी के पीछे महाराज, रानियाँ, उदयादित्य चलने लगे और द्वार पर उनको विदा कर लौट आये। फिर सब इकट्ठे नहीं हुए; अपने-अपने विश्रामगृह की ओर चले गये।

यादवपुरी में बिट्टिदेव के हाथों लक्ष्मीनारायण मन्दिर का प्रस्तर-विन्यास सम्पन्न हुआ। श्री आचार्यजी को दिये हुए वचन के अनुसार लोगों ने हृदयपूर्वक सहायता दी। देश के अनेक भागों से शिल्पियों को बुलवाया गया। पोय्सल लांछन को उत्कीरित करनेवाले होय्सलाचारी को मन्दिर की पूरी जिम्मेदारी सौंपी गयी थी। अत्यन्त विशाल भी नहीं, बहुत छोटा भी नहीं—इस तरह का एक रेखा-चित्र उस मन्दिर का बनाकर होय्सलाचारी ने दिखाया। उसका आकार, नींव, और प्रमाण—सब उसमें दर्शाया गया था। प्रचलित प्रकार से भिन्न बाहु और चतुरस्र आकार में उसकी रूप-रेखा बनी थी। सात-आठ महीनों में कार्य सम्पूर्ण करने का भरोसा होय्सलाचारी ने श्री आचार्य को दिया। नागिदेवण्णा का कार्य इसमें अधिक था। सन्निधान ने उन्हें बुलाकर विशेष दिलचस्पी लेने की अनुमति भी दे दी थी। मन्दिरनिर्माण का कार्य अविच्छिन्न गति से चलने लगा था। बाहर से भी अनेक शिल्पी जल्दी से आकर एकत्रित हो गये।

राजमहल में प्रत्येक के अन्तरंग में उस दिन आचार्यजी के समक्ष विश्लेषण हो जाने के बाद इस मतान्तर के विषय में नये-नये विचार आने लगे। जो निश्चित-सा होकर एक दिन राजमहल में विचार प्रारम्भ हुआ तो विचार-विनिमय के पश्चात् परिवर्तन होने लगा।

बम्मलदेवी शान्तलदेवी की रीति को देखकर दंग रह गयी। राजलदेवी का भी यही हाल था। दोनों ने इस सम्बन्ध में बहुत चर्चा की। वह ठीक है या नहीं—इसका निर्णय उनसे नहीं हो सका। शान्तलदेवी ने मतान्तर न होने का निर्णय ही कर लिया था। फिर भी उन्होंने मन्दिर के शिलान्यास कार्य को स्वीकृत कराया सन्निधान से; यह क्यों ? यह कुछ भी उन लोगों की समझ में नहीं आया। इस सम्बन्ध में उनसे सीधे पूछने का उन्हें साहस नहीं हुआ। उन लोगों की मानसिक स्थिति डाँवाडोल ही रही।

बिट्टिदेव के मन में वस्तुतः एक शून्य व्याप्त था। राजकुमारी की अस्वस्थता

के कारण उस समय उनके मन में जो असह्य-वेदना उत्पन्न हो गयी थी और संघर्ष चला था, उसके आकस्मिक ढंग से अच्छे हो जाने से उस दैवी शक्ति के दवाव में पड़कर कुछ विना आगा-पीछा सोचे-विचारे उन्होंने आचार्य के सामने कह दिया था : 'मैं विष्णुभक्त होकर ही जीवन विताऊँगा'। शायद उनका विचार था कि जो भावनाएँ मन में उठी थीं, वे उसी तरह शान्तलदेवी के भी मन में उत्पन्न हुई होंगी; माँ होने के कारण, उन भावनाओं का उनपर अधिक दवाव भी पड़ा होगा। ऐसे में आचार्य की शरण में जाने का मन होना सहज है; जैसा मेरे मन में हुआ वैसा उनके भी मन में अवश्य हुआ है—यह उनकी निश्चित धारणा थी। मगर वह गलत सावित हुई। स्वयं जिस मत का अनुसरण करेंगे उसी का अनुसरण वह भी करेंगी—यही भावना। मेरे हित और सुख की आकांक्षा से, मुझसे वड़े प्रेम से विवाह करनेवाली शान्तलदेवी मेरे लिए सवकुछ कर सकती है—यही उनका विश्वास था। अव तक भी हुआ वही था। उनका विचार था कि अगर विरसता उत्पन्न हो सकती है तो वह वम्मलदेवी के विचार में सम्भव थी। मगर वैसा कुछ नहीं हुआ, वल्कि उस सुखमय निर्णय करने में प्रत्यक्ष और परोक्ष रूप से वही सहायक वनी। ऐसी यह शान्तलदेवी जिन्होंने मेरे सामने तलवार लेकर कभी न खड़े होने का वचन माताजी को दिया था, और सामना न करने का वादा किया था, वही अव ऐसा व्यवहार करें ? पता नहीं आगे और कैसे-कैसे प्रसंगों का सामना करना पड़ेगा। अव आचार्यजी को जो वचन दिया उसका पालन कैसे करेंगे ? यही विचार कर कि यह नहीं होगा, हमने मन्दिर के शिलान्यास करने से, आचार्यजी के चाहने पर इन्कार कर दिया था। मगर मुझे आचार्यजी के ही सामने सन्दिग्धता में डालकर, आचार्यजी की इच्छा के अनुसार, हम ही से वह कार्य करवाया। ऐसी हालत में आचार्यजी को हमने जो वचन दिया उसका पालन हो सकेगा ? अपनी भावना को तो हमने छिपा नहीं रखा। हम पहले से कह रहे हैं कि जहाँ प्रमाण मिले वहाँ हमारा विश्वास जमेगा। इस पर रेविमय्या ने जो अपना प्रत्यक्ष अनुभूत चित्र पेश किया और विवरण दिया, उसकी आचार्यजी ने जो व्याख्या की और कहा वह भी तो अन्तःप्रेरणा ही है ! इससे भी वढ़कर, यह वात थी कि इस दिगम्वरत्व के प्रति एक असत्य भाव पहले ही से मेरे मन में रहा। इस सम्वन्ध में चर्चा हुई वाहुवली स्वामी के ही सन्निधान में और मान भी लेना पड़ा कि यह असह्य नहीं, सत्य है, वहाँ असह्य भाव नहीं, वालक का निर्मल और निर्दोष भाव है। इस तरह की दुविधा की स्थिति में मन झूलता रहा है। ऐसी हालत में यह एक प्रमाणित स्थायी भूमि मिल गयी, इसी धीरज ने आगे वढ़ने को सोची कि अव यह लीक भी छूटने की-सी लग रही है, अव आगे क्या हो ? —यों विट्टिदेव के मन में जिज्ञासा चल रही थी।

वास्तव में इन वातों पर निश्चिन्त और कोई रही तो वह शान्तलदेवी ही थी।

उनकी पहले से भी एक निश्चित धारणा रही। उनका विश्वास इतना गहरा और अटल था कि किसी भी तरह के किसी भी कारण से कोई भी उसे हिला-डुला नहीं सकता था। उनका पक्का विश्वास था कि पति-पत्नी के सम्बन्ध में भी इससे कभी किसी तरह की बाधा उपस्थित नहीं हो सकती। क्योंकि उनका विवाह हुआ था जैन मतावलम्बी से ही। परन्तु अब ऐसी परिस्थिति आ सकती है—इसका भान होते ही उस विचार को अन्दर-ही-अन्दर घुन की तरह छेदने न देकर खुले मन से चर्चा करके अपने निर्णय पर विजय भी प्राप्त कर ली। ऐसी हालत में उन्हें सोचने-विचारने के लिए कुछ रहा ही नहीं।

शान्तलदेवी ने इस कारण से अपने सहज व्यवहार में कोई परिवर्तन ही नहीं किया। बाकी लोगों के विचार अभी भी कोई निश्चित रूप धारण नहीं कर सके थे। ऐसा लगता था कि वे पीछे हटते जा रहे थे।

इसी बीच एक दिन शान्तलदेवी ने बिट्टिदेव से राजधानी बेलापुरी को बदलने के विषय में बात छेड़ी।

"क्यों? यहाँ रहना पसन्द नहीं, या आचार्यजी का सान्निध्य अच्छा नहीं लग रहा है?" बिट्टिदेव ने पूछा।

"न मुझे कोई नापसन्दगी है न आचार्यजी का सान्निध्य अप्रिय है। परन्तु हमने अम्माजी को वचन दिया था न? अच्छी हो जाने के बाद बेलापुरी जायेंगे। सन्निधान को याद है न?" शान्तलदेवी ने बात को समझाया।

"हाँ, याद है, मगर उस तरफ ध्यान नहीं गया। वही करेंगे। शायद अम्माजी को यहाँ रहने से उसी कम्बख्त बीमारी की याद सताती रहेगी। सिगिमय्या को यहाँ रखकर हम बेलापुरी जा सकेंगे। मंचिदण्डनाथ को आसन्दी भेज देंगे।"

"रानियाँ हमारे साथ बेलापुरी में ही रहें।" शान्तलदेवी ने कहा।

"न, वे भी आसन्दी जायें। हम नागिदेवण्णाजी से विचार-विनिमय कर निर्णय करेंगे।" बिट्टिदेव ने अपना निर्णय ही कह दिया।

चर्चा हुई। यात्रा के लिए मुहूर्त निश्चित कराने का निर्णय भी लिया गया। तब नागिदेवण्णा ने कहा, "इस विषय को एक बार आचार्यजी को सुनाकर निर्णय करना शायद अच्छा होगा—ऐसा मुझे लगता है।"

"हमारी आवाजाही उन्हें क्यों मालूम पड़े?" बिट्टिदेव ने कहा।

"जानना तो वे नहीं चाहेंगे। पर वे महात्मा हैं, हम ही स्वयं कहेंगे यह अच्छा है न? इसमें एक सौजन्य की भी बात होगी।" नागिदेवण्णा ने कहा।

"वैसा ही कीजिए।" बिट्टिदेव ने कहा।

नागिदेवण्णा ने तुरन्त आचार्यजी को निवेदन कर दिया। उन्होंने कहा—"महाराज यहीं रहते तो अच्छा था।"

"मैं उनका चरणसेवक मात्र हूँ। आज्ञापालन मेरा काम है।"

"सो तो ठीक है। हम भी सलाह देने में असमर्थ हैं। उनके यहीं रहने की इच्छा करना हमारा स्वार्थ है। उनके राजकार्य कैसे होंगे—यह हम क्या जानें। फिर भी एक बार दर्शन के लिए अवकाश मिलेगा तो उपकार होगा।"

"वही हो।" कहकर नागिदेवण्णा विदा हुए; सन्निधान से निवेदन किया।

"ठीक है, हम भी आचार्यजी का आशीर्वाद ले सकेंगे।" बिट्टिदेव ने कहा। फिर राजमहल ही में भेंट हुई। आचार्यजी ने ही बात छेड़ी—"सचिव से बात मालूम हुई। भगवान् की कृपा से महाराज और पट्टमहादेवीजी से सम्पर्क हुआ। जब तक हम यहाँ रहेंगे तब तक राजदम्पती यहीं रहते तो अच्छा था—बात सुनते ही यही हमें लगा। फिर भी राजकार्य कैसा होता है—इससे हम अपरिचित हैं। महाराज के अमृतहस्त से मन्दिर-निर्माण का कार्य जो आरम्भ हुआ उसे चार-छह महीनों में ही समाप्त कर देने का विचार है। आनेवाले माघ महीने में मूर्ति-प्रतिष्ठा करने का विचार है। कम-से-कम तब तक यहाँ रहेंगे तो अच्छा होगा।"

"कहीं भी रहें तब आ सकते हैं।" बिट्टिदेव ने कहा।

"यहाँ से रवाना होने के बाद फिर कहाँ की यात्रा होगी—सो कह नहीं सकते। इस समय हमारे मन में एक भावना उत्पन्न हुई है। फिर दर्शन-भाग्य मिलेगा या नहीं कौन जाने। हमारी एक अभिलाषा है उसे पूर्ण करें।"

"वेलापुरी जाने पर इधर नहीं आयेंगे—ऐसा तो नहीं। श्रीश्री जी वहाँ नहीं आ सकेंगे—सो भी नहीं। हम फिर नहीं मिल सकेंगे—ऐसा सोचने का भी कोई कारण नहीं। श्रीश्री की अभिलाषा पूर्ण करने के लिए हम तैयार हैं, आदेश हो।" बिट्टिदेव ने कहा।

"वही उस दिन महाराज ने कहा था न कि 'अब भविष्य में हम विष्णु भक्त होंगे' उसे विधिपूर्वक सम्पन्न करें—यही हमारी आकांक्षा है। हमें ही यह कार्य करना होगा। हमारी उम्र सन्निधान देख रहे हैं इसलिए शुभस्य शीघ्रम्···।"

बिट्टिदेव ने शान्तलदेवी की ओर देखा।

"पोय्सल वंश की यह रीति चली आयी कि 'प्राण जाएँ पर वचन न जाई'" शान्तलदेवी ने कहा।

आचार्य ने कहा, "सत्य ही है।"

बिट्टिदेव ने कहा, "समारम्भ केवल राजमहल तक ही सीमित हो।"

"महाराज की इच्छा। पट्टमहादेवीजी ने भी कहा है, उनकी इच्छा भी है कि प्रचार न हो। अब दो-तीन दिनों में कोई शुभ-मुहूर्त देखकर आण्डवन का कैंकर्य करेंगे।" कहकर आचार्यजी उठ खड़े हुए। यथाविधि राजदम्पती ने उन्हें विदा किया।

अगले तीन-चार दिनों में यथाविधि आचार्य को बिट्टिदेव का गुरु बनाने का उत्सव राजमहल में सम्पन्न हुआ। इस स्वीकृति देने के बाद जाने से पूर्व

आचार्यजी ने कहा, "महाराज के आज के इस कार्य से हमें बहुत आनन्द हुआ है। ऐसा लग रहा है कि एक बोझ उतर गया है। इस शुभ अवसर पर आपसे एक निवेदन है। इस समारम्भ का लक्ष्य विष्णु को परात्पर शक्ति के रूप में समझना ही है। इस ज्ञान का वर्धन संसार में होना चाहिए। आज का यह कार्य उसके वर्धन का ही संकेत है इसलिए अब भविष्य में महाराज हस्ताक्षरांकित करते समय—'विष्णुवर्धन' अंकित करें यह नाम आचन्द्रार्क स्थायी होकर रहना चाहिए।"

'बिट्टि, विष्णु सब एक है।" शान्तलदेवी ने कहा।

"फिर भी अंकित करते समय विट्टिदेव आता ही रहा है। हमें जो शासन पत्र दिया है उसमें 'बिट्टिग' है। हमें विट्टि, विष्णु नाम से भी प्रधान 'वर्धन' है। यह श्री वैष्णव सिद्धान्त के वर्धन का संकेत है। इसलिए आगे वह भी अंकित रहे, यही हमारा निवेदन है। इस सन्दर्भ में एक और जिज्ञासा करना चाहते हैं।" इतना कहकर आचार्यजी रुके।

"निवेदन नहीं, अनुग्रह।" विट्टिदेव ने कहा।

"आप कुछ भी मान लें—'राजा प्रत्यक्ष देवता'—ऐसा ही कुछ है न! इसीलिए यह निवेदन है। वेलापुरी के विषय में सचिव नागिदेवण्णाजी ने वहुत बताया है। यगची नदी के तीर पर 'चन्नकेशव मन्दिर' इस सन्दर्भ के स्मरणार्थ बनवाने की कृपा करें। हम जिस तत्त्व का प्रतिपादन करते हैं वह जितना विस्तृत है उतना ही विस्तृत प्रकार उसका हो—यह हमारी आकांक्षा है। आज हमारे मस्तिष्क में अनेक विचार सूझ रहे हैं। अनेक भव्य कल्पनाएँ उत्पन्न हो रही हैं। भरत के चक्र को स्थापित कर बाहुबली स्वामी चक्रेश्वर हुए। उस सबका त्याग करके आसमान तक ऊँचा बढ़कर स्थित उनकी भव्यता हमें विदित है। जितना ऊँचा बढ़े, उतना ही विस्तृत पास-पड़ोस का भू-भाग दिखता है। रेविमय्या के कथनानुसार विष्णुवर्धन महाराज ने बाहुबली को किरीटधारण कराया इसलिए और अधिक ऊँचाई से इस संसार को अब देखने लगे हैं। इसका अर्थ यह नहीं कि बाहुबली छोटे हुए, बल्कि पोय्सल राष्ट्र विस्तृत हुआ। इस बात की यह सूचना है। महाविष्णु का चक्र अजेय है। विष्णुवर्धन भी अजेय हैं। विष्णुचक्र यहाँ के लिए रक्षामणि जैसा है। यह सारा प्रसंग साम्य और सुन्दर ढग से सम्पन्न हुआ। पट्टमहादेवीजी का मनोवैशाल्य चकित कर देनेवाला है। उनका मन बाहुबली की ही तरह भव्य है। उनका सम्यग्दर्शन, सम्यक् ज्ञान, सम्यक् चरित्र, सौम्य सौगन्ध—भव्य है। श्री केशव भगवान् के लिए जैसे सौम्यनायकी है वैसे ही पट्टमहादेवीजी महाराज विष्णुवर्धन के लिए हैं। उनसे हमारी एक प्रार्थना है। जिस दिन हम यहाँ आये उस दिन एक शिल्पी से हमारी भेंट हुई थी।" उसका किस्सा सुनाकर फिर कहा, "उसका मन पता नहीं किन कारणों से विचलित हुआ था। उसके

अन्तरंग में कोई संघर्ष चला हुआ था। उसके उस मानसिक संघर्ष का निवारण करके उसकी कला का उपयोग करना चाहते थे। परन्तु वह आण्डवन् की इच्छा नहीं थी। परन्तु उसने एक बात कही थी—'कलाकार जब निर्भय होकर कला का निर्माण करेगा तब कला में शाश्वत आनन्द को रूपित कर सकेगा।' यह उसके कथन का भाव था। पट्टमहादेवीजी सभी ललित कलाओं में निष्णात हैं। उनसे यह हमारा निवेदन है। वेलापुरी में निर्मित होनेवाली चन्नकेशव-सौम्यनायकी का मन्दिर आपकी कला-कल्पना का प्रतीक बनकर आचन्द्रार्क स्थायी रहे—इस रूप में निर्मित हो। यह एक तरह की अनधिकार चेष्टा होगी। बाहुबली पर जो चित्त केन्द्रित है उसे पूर्णरूपेण इधर केन्द्रित करें—यही निवेदन है। यह एक महान् स्वार्थ है फिर भी कृपा करें। मतान्तरित न होने पर भी इस विष्णु-कैंकर्य को सम्पन्न करें। मत सामरस्य आदर्श बनकर प्रकाश में स्पष्ट प्रकट हो। सन्निधान कहीं भी रहें काम होना चाहिए। इसलिए काम पट्टमहादेवीजी के हाथों सम्पन्न होना चाहिए।"—आचार्य ने कहा।

"पट्टमहादेवीजी स्वीकार कर लें तो एक भव्य मन्दिर का निर्माण हो। सो भी बहुत थोड़े समय में। इधर हमारी आनर्तशाला की मन में कल्पना होने के चार पखवारे के अन्दर वह बनकर तैयार हो गयी। जब आसन्दी की तरफ गये तब इसकी कल्पना ही नहीं रही। वहाँ से तीन महीनों में लौटे। इतने में यह तैयार हो गयी थी। हम न रहेंगे तब भी वे इन कामों में बहुत तेज़ हैं।" बिट्टिदेव ने प्रकारान्तर से आचार्यजी की प्रस्ताव को स्वीकृति दे दी।

"सन्निधान रहेंगे तो कौन-सी रुकावट होती है?" शान्तलदेवी ने बात के साथ अपनी बात जोड़ दी।

"सच कहूँ! श्रीश्री के सम्मुख कुछ कहूँ तो क्रोध न करें।" बिट्टिदेव ने कहा।

"कुछ न कहने की स्वतन्त्रता सन्निधान को है, इसके अतिरिक्त यदि कहना हो तो सत्य को छोड़ कुछ और कहने की स्वतन्त्रता नहीं। ऐसी हालत में 'सच कहूँ' क्यों कहना चाहिए। बेधड़क कहें!" शान्तलदेवी ने कहा। उनका स्वर कुछ तेज हो गया था।

"हम रहेंगे तो पट्टमहादेवीजी को हमारी चिन्ता के सिवाय दूसरी कोई चिन्ता नहीं रहती। हम ग़लत भी करेंगे तो उसे ठीक कर हम पर प्रेम ही बरसायेंगी। उतना समय वे मन्दिर के काम पर लगायेंगी तो कोई नया रूप नयी शोभा उसमें आयेगी। इसके अलावा वे शिल्पशास्त्र में निष्णात हैं, युक्त रीति से उसका अध्ययन उन्होंने किया है। वे सुन्दर चित्र को भी रूपित करके अपनी कल्पना को रूपित कर मार्गदर्शन भी देंगी। उनके अमूल्य समय को नष्ट करने की हमें तनिक भी इच्छा नहीं। इसीलिए हमने कहा कि हम न रहेंगे तो वे इस कार्य में पारे की

तरह तेज हैं। यह सच है।" बिट्टिदेव ने स्पष्ट किया।

"नये आकर्षण की ओर पेंग देने का यह एक बहाना है।" शान्तलदेवी ने कहा।

"हमारी इस धुन ने जड़ जमा ली है। उसके सामने नया आकर्षक नहीं बन सकेगा। अब इस बात को विस्तृत नहीं करना है। वह केवल हमारी बात है। आचार्यजी की इच्छा के अनुसार बेलापुरी में चेन्नकेशव-सौम्यनायकी के मन्दिर का निर्माण राजमहल की ओर से करेंगे। पट्टमहादेवीजी उस निर्माण की पूरी जिम्मेदारी लेंगी। हमें अब यात्रा के लिए अनुमति प्रदान करें।" बिट्टिदेव ने कहा।

"अच्छा, भगवान् आपका सब तरह से भला करें।" कहकर आचार्यजी उठ खड़े हुए। राजदम्पती ने उनके चरण छुए। आचार्य ने पीठ सहलाकर उनके सिर पर हाथ रख आशीश दिया।

इसके बाद गुरु और शिष्य दोनों अलग हुए। यादवपुरी से रवाना होने के पहले मन्दिर के रेखाचित्र को लाकर सुरिगेय नागिदेवण्णा ने राजदम्पती को दिखाया। शिल्पी को बुलवाकर शान्तलदेवी ने कुछ सूचनाएँ दीं। बिट्टिदेव ने भी नागिदेवण्णा को एक सूचना दी। "लक्ष्मीदेवी के मन्दिर के मुख-मण्डप को हमारी तरफ से आप ही स्वयं रहकर बनवावें।" और सचेत कर दिया कि—"उसमें कहीं इस बात का उल्लेख न हो कि इसे हमने बनवाया।"

"सन्निधान की सूचना के अनुसार मैंने बनाया—इतना उल्लेख करने के लिए अनुमति दें, पर्याप्त है।"—नागिदेवण्णा ने सूचित किया। स्वीकृति मिल गयी।

निश्चित मुहूर्त में राज-परिवार बेलापुरी की ओर रवाना हुआ। शान्तलदेवी ने पूछा नहीं कि किस मार्ग से होकर यात्रा होगी या बेलगोल से होकर क्यों न जाया जाय। जहाँ मुकाम करें वहाँ उतरें और शेष आगे की यात्रा करते रहें—यही काम किया। बेलापुरी पहुँचा, राजपरिवार। दो दिन में छोटी रानियाँ भी आसन्दी जा पहुँची।

जगह नयी न होने पर भी शान्तलदेवी के लिए कुछ नया नया-सा लगा। वहाँ हिलमिलकर रहने के लिए उन्हें कुछ समय लगा। इस बीच एक बार बिट्टिदेव दोरसमुद्र भी हो आये।

थोड़े ही दिनों में प्रमुखों की एक सभा हुई। उस सभा में बिट्टिदेव ने आचार्यजी को जो वचन दिया था उसके बारे में समझाया। आचार्यजी के शिष्य बनने की बात भी प्रमुखों में से कुछ लोगों को मालूम थी। इस सम्बन्ध में सूचना भी दी जा चुकी थी कि इस बात की चर्चा कहीं न हो। इसलिए वातावरण कुछ गम्भीर-सा था। बिट्टिदेव को लगने लगा था कि अब पहले का-सा मेल-जोल शायद नहीं। इससे उन्हें कुछ अटपटा-सा भी लगा। शान्तलदेवी ने उनकी इस स्थिति को भाँप लिया। इसलिए उन्होंने सोचा कि इस सभा का

संचालन कार्य वह स्वयं अपने हाथ लें। उन्होंने परिस्थिति को स्पष्ट करते हुए समझाया—"इस वक़्त राजमहल, सचिव, दण्डनायक—सभी लोगों को एक विषय स्पष्ट रूप से बता देना युक्त और आवश्यक भी है। क्योंकि आप लोगों के मन में कौन-कौन से विचार उत्पन्न हुए होंगे, उनका उत्पन्न होना असम्भव भी नहीं। सह्याचल के सानु प्रदेश में यह सलवंश उत्पन्न हुआ है। यदुवंश के लांछन को अपनाना यहाँ की वैदिक परम्परा का साक्षी है। फिर भी सलवंश वासन्तिका देवी का वरप्रसाद है। जैनमुनि सुदत्ताचार्यजी के आशीर्वाद से स्थापित होकर प्रवृद्ध हुआ है। एक शताब्दी तक सिंहासन पर बैठनेवाले सभी महाराज जिनधर्मी ही रहे। फिर भी वही लोग सर्वश्रेष्ठ हैं—अन्य मत कम है—ऐसी भावना नहीं रखते थे। अन्य मतों की निन्दा नहीं की। इस बात को अच्छी तरह जानते थे कि सभी मत-धर्मों के लिए समान अवकाश देना राष्ट्र-धर्म है, इसलिए सभी मतावलम्बियों को समान स्थान-मान देकर सभी मत-धर्मों पर विश्वास रखता आया है। ऐसी स्थिति में हमारे महाराज श्री वैष्णवगुरु के अनुयायी बने यह जानकर प्रत्येक के मन में तरह-तरह की भावनाएँ उत्पन्न हो सकती हैं। वास्तव में क्या हुआ सो बताने पर एक तरह का समाधान हमने दिया—यह माना जा सकता है। यही समझकर सत्य को आप लोगों के सामने प्रस्तुत करूँगी। इसके पहले मैं एक भरोसा दूँगी; यह केवल वैयक्तिक और आत्म-तोष की बात है। इसके लिए कोई बाह्य प्रेरणा या दबाव नहीं रहा। किसी पर दबाव डालने का विचार नहीं, यह राजमहल जानता है। राजकुमारी की बीमारी कैसी भयंकर थी यह तो सब जानते हैं। उस समय मैं अपने मन को बहुत कठिनाई से वश में रख सकी थी। सन्निधान से यह कार्य सम्भव नहीं हो सका। वे वज्रवत् होने पर भी करुणा-भरा हृदय हैं। राजकुमारी के लिए वे बहुत परेशान हुए। सभी देवी-देवताओं की मनौती मानी; फिर भी फल नहीं हुआ। तब अन्त में हारकर सन्निधान ने भरे दिल से कह दिया—"जो भगवान् बच्ची को जीवन देंगे हम उनके भक्त बनेंगे। उसी समय आचार्यजी ने आकर अपने अमृतहस्त से उनके गुरु के द्वारा दत्त सर्वरोगहर चूर्ण अपने आराध्य देव महाविष्णु का ध्यान करके दिया। बीमारी निश्शेष हो गयी, चमत्कार की तरह। वचनपालक विरुदावली से विभूषित सन्निधान को अपने वचन का पालन करना पड़ा। वे आचार्य के शिष्य बने। वे बने इसलिए हम इस विषय में उनका अनुसरण करें—यह कोई आवश्यक नहीं है। वे भी इसकी अपेक्षा नहीं करते। राजा ने ऐसा किया, उसमें कोई महत्त्व है—ऐसा मानकर कम जानकारी रखनेवाले, अज्ञान के कारण वैसा न करें; और समझें कि हमने जिस पर विश्वास रखा है वह भी उतना ही श्रेष्ठ है—इसीलिए उनकी धर्मपत्नी और पट्टमहादेवी होकर उनका अनुकरण करना मेरा धर्म होने पर भी मैंने ऐसा नहीं किया। जन्म से जैसे मैं जैन हूँ आज भी वही और अन्त तक

वही बनकर रहूँगी। फिर भी सन्निधान मुझसे यथावत् पहले जैसा ही प्रेम रखते हैं। वैसा ही आदर करते हैं। हमें उनकी परिस्थिति को समझकर सहानुभूति के साथ उनसे व्यवहार करना चाहिए। हमारे इस पोय्सल राष्ट्र में आचन्द्रार्क यह स्थायी होना चाहिए कि हम सर्वमतसहिष्णु हैं। कलामय बस्तियाँ, चैत्य, शिवालय, केशवालय सभी का एक-सा निर्माण होना चाहिए। सबके लिए राजमहल से एक-सी सहायता मिलनी चाहिए। ऐसी भव्यता के लिए सन्निधान की यह सूचना शुभ आरम्भ है, नान्दी है। इसलिए कहाँ केशव-सौम्यनायकी का मन्दिर बनना चाहिए—इसका निर्णय करना है।"—शान्तलदेवी ने स्पष्ट किया।

परिस्थिति कुछ छनी हुई-सी दिखी।

"श्रीश्री आचार्यजी ने यगची नदी के तीर पर प्रस्ताव किया है, इसलिए वेलापुरी के दक्षिण-पूर्व के कोने में राजमहल की अमराई की बगल में यह निर्माण क्यों न हो?" गंगराज ने सूचित किया।

"एक वृहत् मन्दिर के लिए काफी विशाल स्थान है सही। परन्तु वह ढालू है और वहीं शान्तिवन भी है जहाँ शवदाह आदि भी हुआ करते हैं। वह इतना संगत नहीं।" शान्तलदेवी ने कहा।

"राजमहल के उत्तर-पूर्व के कोने में एक विशाल मैदान ऊँची भूमि पर है। राजमहल की सूची के अनुसार वह किसी वर्ज्य कार्य के लिए काम में नहीं लाया गया है। वहाँ बाँबी न हो तो मेरी दृष्टि में वह सबसे अच्छा स्थान है।" उदयादित्य ने कहा।

"ओह, वह जगह! जिसे सेना के लिए क्रीडांगण बनाने का एक बार विचार किया था? हमारी सेना की संख्या को राज्य के विस्तार के अनुसार बढ़ाने के कारण वह स्थान आगे चलकर छोटा हो सकता है—यही सोचकर उस विचार को छोड़ दिया था। वही जगह न?" शान्तलदेवी ने प्रश्न किया।

"हाँ" माचण दण्डनाथ ने कहा।

"ऐसा हो तो वह स्थान इस कार्य के लिए ही सुरक्षित रहे।" शान्तलदेवी ने कहा। "हमारा यह निर्णय उस स्थपति को भी ठीक जँचे, जिसे हम नियुक्त करेंगे, तो वहीं मन्दिर का निर्माण हो। नहीं तो अन्य स्थान के विषय में विचार करना होगा। आख़िरी निर्णय स्थपति का ही होगा।" शान्तलदेवी ने सूचित किया।

भण्डारी दाममय्या को बुलवाकर पूछा गया कि प्रस्तुत वर्ष में निश्चित ख़र्च के बाद खजाने में कितना धन बचा रहेगा और उस रकम को वैसे ही सुरक्षित रखे रहने का आदेश दिया गया। स्थपति के निर्णय के बाद और वह जो प्रारूप तैयार करें उसे देखकर ख़र्च का अन्दाज़ लगाया जाय; यदि धन की कमी पड़े तो कैसे जुटाया जाय—इसपर विचार करने की बात तै हुई। तुरन्त देश-भर

के सभी शिल्पियों को बुलवाने का भी आदेश जारी हुआ। घोषित किया गया कि वृहत् मन्दिर के काम में अपनी कला-कुशलता दिखानेवालों की अपेक्षा है। अच्छा पुरस्कार भी दिया जायेगा। विरुदावली भी दी जायेगी। वैसे ही यह भी आदेश दिया गया कि ग्रामों के लेखपाल और हेग्गडे मन्दिर के कार्य के लिए दान आदि स्वीकार करें।

इसी अवसर पर प्रधान गंगराज पट्टमहादेवी और महाराज की स्वीकृति पाकर शिथिलता को प्राप्त वसदियों के पुनर्निर्माण के कार्य में लग गये। उनके बेटे एचिराज और बोप्पदेव इस काम में सहायक बने।

खुद शान्तलदेवी मन्त्रिमण्डल के निर्णय के अनुसार निर्णीत स्थान को उदयादित्य के साथ जाकर देख आयीं। जगह प्रशस्त होने पर भी जहाँ-तहाँ पाँच-सात फुट खुदवाकर भूशुद्धि की परीक्षा करवाने की सूचना दी। वह कार्य आरम्भ हुआ। अब शिल्पियों की प्रतीक्षा को छोड़ और कुछ करने के लिए शेष न रहा।

श्रेष्ठ शिल्पी को विरुदावली, भरपूर पुरस्कार—यह सब मिलेगा, इस घोषणा को सुनने के पश्चात् अनेक जगहों से शिल्पी जन आ-आकर वेलापुरी में जमा होने लगे। ओडेयगिरि, बलिपुर, बाड, बेलगोल, लोक्किगुण्डि, कल्कणिनाडु आदि जगहों से अनेक शिल्पी आये। इनमें से कई पहले से विरुदभूषित थे। उनमें बेलगोल और बलिपुर के शिल्पी गंगाचारी, कामवाचारी, चिक्कहंप, मल्लियण्णा, पदरि मल्लोज, दासोज, चावुण आदि पट्टमहादेवी से परिचित थे। उनकी विरुदावली भी वे जानती थीं। कलियुग-विश्वकर्म विरुदांकित लोक्किगुण्डि के मासण, शिल्पी जगदल काटोज, उनका बेटा सरस्वती-चरणकमल-भ्रमर नागोज, शिल्पसिंह कुमारमाचारि, कल्कणि माचोज, ओडेयगिरि हरीश आदि शिल्पियों को इसके पूर्व पट्टमहादेवी नहीं जानती थीं।

पन्द्रह-बीस प्रसिद्ध शिल्पी जनों के आने के बाद एक दिन इन शिल्पियों की सभा आयोजित हुई। अपने मन की कल्पना के भव्य चित्र को विस्तार के साथ समझाकर उसके अनुसार मन्दिर के रेखाचित्र तैयार करने के लिए सभी शिल्पियों को आदेश दिया गया। अब राजमहल ने जिस स्थान को चुना है वह उपयुक्त है या नहीं, इसका निरीक्षण करने के लिए भी कहा गया। यह भी बताया गया कि उस स्थान के अनुरूप भव्य मन्दिर निर्माण हो। शिल्पियों की इच्छा के अनुसार प्रारूप तैयार करने के लिए एक सप्ताह का समय भी दिया गया।

एक सप्ताह के बाद, सभी शिल्पियों ने मन्दिर के रेखा-चित्र अपनी-अपनी कल्पना के अनुसार बनाकर राजमहल के सुपुर्द कर दिये। वे बहुत हद तक चालुक्य शिल्प के नमूने-से लग रहे थे। या फिर चोलशिल्प से दिखते थे। इन सभी रेखा-चित्रों में ओडेयगिरि के हरीश शिल्पी का चित्र एक तरह से स्वतन्त्र-सा लगता था, इस चित्र में अनुकरण बहुत कम था। शान्तलदेवी को लगा कि इस चित्र में एक नूतनता है, आन्तरिक सुन्दरता के साथ बाहरी सौन्दर्य के लिए उन्होंने विशेष स्थान दिया था। इस विषय में उदयादित्य भी शान्तलदेवी की राय से सहमत थे। उसी चित्र के अनुसार मन्दिर का निर्माण कराने के उद्देश्य से उस चित्र निर्मापक शिल्पी को ही स्थपति बनाने का निश्चय किया गया। शान्तलदेवी ने अपने किसी भी गुरु को स्थपति का पद नहीं दिया। निर्णय करनेवाली तो वही थीं, चाहतीं तो दासोज या गंगाचारी को स्थपति बना सकती थीं। गुरु होने के नाते उनपर गर्व होने पर भी. उसके वश में न आकर अपनी कल्पना के निकटतम चित्र प्रस्तुत करनेवाला शिल्पी अपरिचित होने पर भी, उसी को स्थपति का पद दिया। इसके बाद दासोज, गंगाचारी आदि और बेलगोल, बलिपुर के शिल्पियों को बुलवाकर उन्हें बात समझाकर कहा कि इस निर्णय पर किसी को परेशान नहीं होना चाहिए और यह भी बताया कि पोय्सलों का अपना ही एक वास्तुशिल्प रूपित होना चाहिए। उसमें वास्तुवैविध्य को रूपित करने के लिए काफ़ी गुंजाइश है। ओडेयगिरि के शिल्पी ने मेरी कल्पना को अच्छी तरह समझ लिया है। यह मन्दिर श्री वैष्णवमतप्रवर्तक श्रीश्री रामानुजाचार्य के आदेश के अनुसार निर्मित होनेवाला है। इसलिए उनकी आकांक्षा के अनुसार इस मन्दिर का प्रारूप कल्पित है। सभी शिल्पियों को अपना कौशल दिखाने के लिए इसमें काफी अवकाश भी है। सभी को उनसे सहयोग करना चाहिए। उनका बनाया हुआ रेखा-चित्र स्वीकृत होने के कारण उन्हें स्थपति बनाया है। राजमहल की दृष्टि में सभी शिल्पी बराबर हैं। कोई भेदभाव नहीं है। मेरी एक विशेष विनती है। इस मन्दिर के निर्माण में आप लोग जो कला-कौशल दिखायेंगे उसे सदियों तक स्थायी रहना होगा। आप लोगों का नाम स्थायी होगा, आगे की पीढ़ियों के लिए उसे मार्गदर्शक भी बनकर रहना होगा और उन्हें तृप्ति मिलनी होगी। इस ढंग से इसका निर्माण हो; यही कहना है।" यों दिल खोलकर सारी बातें कह दीं और उन सभी शिल्पियों का सहयोग प्राप्त किया, शान्तलदेवी ने। शीघ्र ही आवश्यक शिला मँगवाने की व्यवस्था की गयी। हज़ारों लोग काम में लग गये। मन्दिर के शिलान्यास का कार्य स्वयं महाराज के हाथों सम्पन्न हुआ।

ढेर-के-ढेर नरम पत्थर कोनेहल्लि से लाये जाकर वेलापुरी में ढेर लगाया गया। कोनेहल्लि का नरम पत्थर वहाँ का प्रसिद्ध पत्थर है, सोने की तरह। स्थपति ओडेयगिरि के हरीश ने शिल्पियों की सामर्थ्य के अनुसार कार्य का बँटवारा

किया। धूप से बचाने के लिए शिल्पियों के कार्य-स्थानों पर जहाँ-तहाँ छाया के लिए छप्पर निर्मित हुए। मन्दिर के कारीगरों के लिए ही एक अलग पाकशाला, भोजनागार भी शुरू किया गया।

काम सूर्योदय से शुरू होकर सूर्यास्त तक लगातार चलता था। दोपहर के भोजन के लिए आधा प्रहर का समय दिया जा रहा था।

हज़ारों कार्मिक समय को बेकार न बिताकर कार्यमनस्क होकर काम करते थे; इन्हें देखना ही एक आनन्द का विषय था। शिल्पियों की महीन कारीगरी को बहुत बारीकी से देखना चाहिए; ऐसी कुशल कारीगरी का कार्य सम्पन्न हो रहा था।

हरीश के रेखाचित्र के अनुसार नींव खोदी गयी। नींव बनाने का कार्य आरम्भ हुआ। शान्तलदेवी और उदयादित्य इस निर्माण-कार्य की निगरानी करते रहे।

एक दिन भोजन के वक़्त, जब कार्यकर्त्ता सब भोजन करने गये थे, तब शान्तलदेवी और उदयादित्य शिल्पियों के इस सायेदार कार्य-स्थान पर आये। उस दिन वे प्रातःकाल से वहाँ नहीं आये थे। उनके आने से पहले कोई एक व्यक्ति वहाँ के पत्थर के ढेर के एक-एक पत्थर को छू-छूकर देख रहा था। विग्रहों का नाप-तोल कर रहा था। उस व्यक्ति की इस तरह की लगन को देखकर शान्तलदेवी को आचार्यजी से सूचित शिल्पी की तुरन्त याद आयी। उन्होंने उदयादित्य को तुरन्त स्पष्ट सूचना दी कि उस व्यक्ति को राजमहल में बुला लावें और बताया, "मैं राजमहल के मुखमण्डल में बैठी रहूँगी।" वे चली गयीं।

उदयादित्य उसके पास गये। और पूछा—"आप किस देश के शिल्पी हैं?"

"मैंने कब कहा कि मैं शिल्पी हूँ?"

"कहने की जरूरत नहीं। फिर भी हमें मालम हो कि आप किस देश के हैं?"

"अब उससे कोई प्रयोजन नहीं होगा। हम कहीं के हों, इससे क्या मतलब? हमारा देश कोई भी हो, उससे क्या होता है? उसे जानकर आपको क्या फायदा होगा?"

"मुझे कुछ होना नहीं है। यहाँ एक बहुत बड़ा आयोजन है। देश-देशान्तर से शिल्पियों को बुलवाने के लिए राजमहल ने दूतों को भेजा था। उसे सुनकर यदि आप आये हों तो आपके लिए कार्य देना हमारा धर्म है। इसलिए आप अपना विवरण दें तो मैं पट्टमहादेवी के समक्ष आपको प्रस्तुत करूँगा। फिर वे स्थपति से परिचय करवायेंगी। इसलिए..."

"मैं शिल्प जानता हूँ। काम दें तो करूँगा। बाकी बातें बताने की मेरी इच्छा नहीं है। बताने पर जोर देंगे तो मुझे आपका काम ही नहीं चाहिए। अलावा इसके मैं काम की खोज में आया ही नहीं।"

"इच्छा हो तो बतावें; नहीं तो कोई विवशता नहीं। बताया न कि आप शिल्पी हैं; हमारे लिए इतना ही काफ़ी है। आपका भोजन हुआ है।"

"हाँ, हुआ।"

"पूछ सकता हूँ कि कहाँ ?"

"यगची नदी के तीर पर। वहाँ एक बरात ठहरी थी, नदी में नहाकर भोजन करने के लिए। मैं भी उन लोगों में शामिल हो गया।"

"ऐसा है, तो आइए।"

"कहाँ ?"

"राजमहल में। पट्टमहादेवी का संदर्शन करने।"

"आप..."

"वहीं मालूम होगा। आइए।" कहकर उदयादित्य कदम बढ़ाने लगे।

शिल्पी धीरे से उनके साथ चार कदम आगे बढ़कर शंकित होकर खड़ा हो गया। शिल्पी पीछे आ रहा होगा यही सोचकर उदयादित्य काफी दूर तक आगे जो बढ़ गये थे, पीछे मुड़कर देखा। शिल्पी वहीं खड़ा था। वह फिर लौटकर उसके पास आये।

"क्यों शंका कर रहे हैं? आपको कोई कष्ट न होगा; भरोसा रखें। आइए।" उदयादित्य ने उसे प्रोत्साहित किया।

"राजमहल में मुझे क्या काम है ? मुझे काम दिलवाने का अधिकार आपको हो तो स्थपति से कहिए। चाहें तो मैं ही उससे पूछ लूँगा। राजमहल—पट्टमहादेवी —यह सब हमसे बहुत दूर!..."

"राजमहलवाले भी आप जैसे मनुष्य ही हैं। वे कोई भयावह जीव-जन्तु नहीं। आइए।"

"पट्टमहादेवी से न मिलने पर मुझे क्या काम नहीं मिलेगा ?"

"एक दूसरे के साथ मिलना आवश्यक है। आपको पोय्सलों का राजमहल, सन्निधान और पट्टमहादेवी—इनका शायद परिचय नहीं मालूम पड़ता है।"

"थोड़ा-बहुत जानता हूँ। यादवपुरी में उनके बारे में लोगों को प्रशंसा करते सुना है। अन्यत्र भी सुना है। इतने बड़े लोगों के पास हम जैसे बहुत छोटों का क्या काम है? मुझे स्वयं अपने पर ही उदासीनता है। इस वेश में उन्हें देखने में कोई गाम्भीर्य नहीं। मुझे राजमहल के संदर्शन से छुड़ाकर आप ही स्थपति से कहकर काम दिलवा दें। आपके स्थपति को मेरा काम पसन्द आवे तो मैं यहाँ रहूँगा। नहीं तो मैं यहां से चला जाऊँगा।"

"पट्टमहादेवीजी ने अगर आपको देखा न होता तो शायद ऐसा हो सकता था। अब उन्होंने आपको इसी वेश में देख लिया है। उनके आदेशानुसार आपको मनाकर अन्दर ले जाने के लिए ही मैं यहां आया हूं।"

"छिः कितनी बड़ी बात है। मुझ जैसे को मनाने-जैसी कौन-सी बात है यहाँ? मुझे चलना ही होगा?"

"आज तक पट्टमहादेवी के बुलावे का किसी ने इनकार नहीं किया। सभी की यह मान्यता है कि उनका दर्शन पाना सौभाग्य की बात है। ऐसी हालत में संकोच करने का कोई कारण नहीं।"

संकोच करना ही चाहिए। जिसे जहाँ रहना चाहिए, उसे वहीं रहना होगा। इस दुनिया में मुझे अब किसी से कोई अपेक्षा नहीं। इसलिए जो हो वही ठीक। जनमे; मरने तक जीना है। मरने के बाद की भी, मुझे कोई इच्छा नहीं। किसी तरह दिन गुजारना है, कल की चिन्ता नहीं। यही मेरी रीति है। इस दुनिया के मोह को मैंने छोड़ दिया है। रक्तगत आनुवंशिक वृत्ति का मोह अभी पूर्णतया छूटा नहीं। पत्थर से खेलने, उसमें सौन्दर्य की साधना करने, जड़ में चैतन्य भरने की इस प्रवृत्ति ने मन की शान्ति के लिए कारण बनकर जब कभी आत्मघात से मुझे बचाये रखा है। फिर भी मेरा स्वभाव एक तरह से कड़ा है, कुछ टेढ़ा भी कहा जा सकता है। ऐसे बड़े स्थान में जाकर कुछ कह बैठूं तो वह महापाप होगा। मैं अपने को अच्छी तरह जानता हूँ। इसलिए मुझे क्षमा कर दें तो मैं अत्यन्त उपकृत होऊँगा।"

"आपको आपसे भी बढ़कर पट्टमहादेवी जानती हैं।"

"सो कैसे?"

"आइए, मालूम हो जायेगा। साथ ही उनका दशन करने में अखण्ड लाभ भी होगा।"

"मुझे धन की आवश्यकता ही नहीं है।"

"लाभ के माने केवल धन ही नहीं।"

"कोई आशा-आकांक्षा ही न हो तो लाभ की ओर ध्यान ही क्यों हो?"

"मैं श्रेष्ठ हूं, विश्वसनीय हूं, बुद्धिमान् हूं, मुझे कोई आशा नहीं, सत्यवान हूं—आदि-आदि कहते जाने से उसका कोई मूल्य नहीं होता। इन्हीं बातों को दूसरे लोग कहें तब उसका मूल्य होता है। इसलिए इस बात को पट्टमहादेवी से कहलवाइए। वही एक बहुत बड़ा लाभ है। वे आपकी प्रतीक्षा कर रही हैं। हम यहां जिज्ञासा करने बैठे तो समय फिजूल नष्ट होगा। आइए। मुझसे भी अधिक मिलनसार पट्टमहादेवीजी के साथ आप किसी भी विषय पर चर्चा कर सकेंगे। आइए, आइए।" कहते हुए उनकी ओर देखते हुए आगे बढ़े उदयादित्य।

"हाँ," कहते हुए शिल्पी ने उनका अनुसरण किया। राजमहल के महाद्वार पर के द्वारपालक सैनिकों ने उदयादित्य के प्रति जो गौरव दिखाया उसे देख यह शिल्पी चकित हो गया। उसने यह भी देखा कि उन सैनिकों ने उसके ऊपर कुतूहल भरी दृष्टि डाली है। उसने अपने बिखरे बाल यों ही सँवार लिये। अंगवस्त्र को

ठीक से ओढ़ लिया, ऊपर चढ़ाई धोती को नीचे सरकाया। राजमहल के भव्य महाद्वार की ओर सीढ़ी चढ़ते हुए देखा कि द्वार के ऊपर पोय्सल लांछन उत्कीर्ण है। उसी पर उसकी दृष्टि टिक गयी। तब तक उदयादित्य महाद्वार की ड्योढ़ी पर पहुँच चुके थे।

घण्टी बजी। शिल्पी ने अपने शरीर को एक बार झाड़ा। चकित दृष्टि से उदयादित्य की ओर देखा।

"आइए, आइए," उदयादित्य ने मुस्कराते हुए स्वागत किया।

शिल्पी ने धीरे से सीढ़ियाँ चढ़कर उदयादित्य के साथ महाद्वार में प्रवेश किया। उदयादित्य उसे उस मुख-मण्डप में ले गये जहाँ पट्टमहादेवी प्रतीक्षा में बैठी थीं। और बोले—"यही वे शिल्पी हैं।"

"खुशी की बात है। बैठिए।" शान्तलदेवी ने खम्भे के पास रखे एक आसन की ओर इशारा किया।

शिल्पी काठमारा-सा खड़ा ही रहा। नमस्कार करना तक भूलकर वह आँखें टिमटिमाते हुए खड़ा ही रहा।

"आपसे ही बैठने को कहा है। बैठिए।" उदयादित्य ने शिल्पी से कहा।

उसने उनकी ओर ऐसी प्रश्नार्थक दृष्टि से देखा मानो आप बैठेंगे नहीं क्योंकि वहाँ एक ही आसन जो था।

उदयादित्य ने कहा, "वह आसन आप ही के लिए है, बैठिए। मुझे बैठना नहीं है, मुझे दूसरा कार्य है।"

शिल्पी धीरे से आसन की ओर गया। उदयादित्य वहाँ से चले गये। आसन पर बैठने के बाद शिल्पी ने उस विशाल-मुखमण्डप के चारों ओर नज़र दौड़ायी। दरबान के सिवाय वहाँ खुद शिल्पी और पट्टमहादेवी ही दिखायी पड़े। दूसरा कोई दिखायी नहीं पड़ा। शिल्पी चुपचाप बैठ गया।

शान्तलदेवी सोच रही थीं कि किस ढंग से इससे बात शुरू करें। इस शिल्पी के बारे में निश्चित जानकारी न होने पर भी, उनका यही अनुमान था कि यह वही शिल्पी होगा जो आचार्यजी से मिला था। इसलिए इससे कुछ सावधानी के साथ बातचीत करनी होगी, यह वह जानती थीं। अतएव उन्होंने अपनी ही एक रीति को रूपित कर लिया था। पूछा, "शिल्पी जी, हमारे उदयादित्य अरस ने आपकी उचित आवभगत की न?" यों बात आरम्भ की।

"अरस! कौन?"

"वे ही जो आपको यहाँ ले आये।"

"वे..."

"वे पोय्सलेश्वर महासन्निधान के भाई हैं।"

शिल्पी ने अपने में ही कहा, "छिः-छिः, कैसा काम हो गया!" उसकी यह

बात शान्तलदेवी ने भी सुनी।

"क्या हो गया, अब?"

"उनका परिचय मिला होता...।"

"उन्हें जानते होते तो क्या लाभ होता?"

"मैं एक साधारण प्रजा मात्र हूँ। वे राजा के भाई। एक सामान्य प्रजा समझकर मैंने उनसे व्यवहार किया। मुझसे यह क्या हुआ?"

"तो आप और अरसजी के बीच काफी बातचीत हुई होगी न?"

"हुई। अब उसके बारे में क्या सोचना? सुना कि आज्ञा हुई, आया हूँ। मुझसे कुछ होना हो..."

"करेंगे?"

"हो सकता होगा तो अवश्य करूँगा। जो न हो सकेगा उसमें हाथ नहीं लगाऊँगा।"

"मन्दिर के कार्य के लिए जो पत्थर लाये गये हैं, आप उनकी परीक्षा कर रहे थे न?"

"हाँ।"

"तो यह सिद्ध हुआ कि आप पत्थर की परीक्षा करना जानते हैं।"

"थोड़ा परिचय है। हमारा घराना पीढ़ियों से शिल्पियों का रहा है।"

"अपने बुज़ुर्गों का नाम बता सकेंगे तो सुख होगा।"

"मैं अपना ही परिचय देना नहीं चाहता। पट्टमहादेवीजी मुझ पर इसके लिए क्रोध न करें।"

"क्यों, आपको किसी से डर है? इस पोय्सल राज्य में इस तरह के भय का कोई कारण नहीं।"

"मुझे कोई डर नहीं। उसे कहते असह्य की भावना होती है। उसके स्मरण मात्र से मेरा मन आन्दोलित हो जायेगा। इसलिए इस बारे में कृपया कुछ न पूछें। सन्निधान की इच्छा हो तो कोई काम दे दें। अपनी शक्ति-भर करूँगा। नियोजित करनेवालों को तृप्त करने की कोशिश करूँगा। यदि व्यक्तिगत विषयों को जानने की कोशिश होगी तो मुझे यहाँ से खिसक जाना अनिवार्य हो जायेगा। राजमहल के कार्य को स्वीकार करने के बाद ऐसी परिस्थिति आ जाय तो मैं बहुत क्लिष्ट परिस्थिति में फँस जाऊँगा। मुझे परेशानी होगी या मुझे यदि ऐसा लगा तो मैं यहाँ से खिसक जाऊँगा।"

"हम छोड़ देंगे तब न आप खिसक जायेंगे।"

"मुझ पर पहरा लगायेंगे क्या?"

"कला को विकसित होना हो तो कलाकार को पूरी आज़ादी रहनी चाहिए—यह हम जानते हैं। इस राज-परिवार के बारे में आपको जानकारी होना अच्छा

है। राज-परिवार दूसरों के व्यक्तिगत विषय में विना जरूरत के प्रवेश नहीं करेगा। यहाँ की प्रजा को कोई संकट हो तो उसका मूल कारण जानकर उसे दूर कर उन्हें सुखी और सन्तुष्ट करने का ही प्रयत्न करेगा। किसी की शान्ति को भंग करने का प्रयास नहीं करेगा। इसलिए आपकी इच्छा के विरुद्ध किसी भी बात को कहने के लिए ज़ोर नहीं डाला जायेगा। अब राजमहल ने एक वृहत मन्दिर के निर्माण-कार्य को हाथ में लिया है। उसे आचन्द्रार्क स्थायी कीर्तिदायक कार्य के रूप में रूपित होना चाहिए। ऐसा कार्य करना हो तो शिल्पी का मन हर्षपूर्ण होना ज़रूरी है। उसमें तृप्ति रहनी चाहिए। अतृप्त कलाकार से उत्तम कला का निर्माण नहीं हो सकेगा। क्योंकि जहाँ अतृप्ति हो वहाँ तादात्म्य भावना नहीं होती। मेरा मन्तव्य सही है न?"

"आंशिक रूप से सही है। परन्तु कलाकार के दो व्यक्तित्व होते हैं। एक वह जो आठ बिलस्त का मनुष्य रूपधारी भौतिक शरीर। दूसरा शरीर के अस्तित्व को भूलकर कला-कल्पना में तन्मय हो अपने को भूल जानेवाला एक अन्य सृष्टि को ही कर सकनेवाला व्यक्तित्व। एक, दूसरे से नहीं लगता। यदि एक, दूसरे से लग जाय तो कला अपरिपक्व ही होगी।"

"तो आपके कहने का तात्पर्य है कि कलाकार जब कलाकृति निर्माण में लगता है तब अपने भौतिक विचारों को, दुःख-दर्द को भूल जाता है—यही हुआ न आपका आशय?"

"हाँ। ऐसा न हो तो मैंने जो कला सीखी वह मेरे दर्द की आग में जलकर खाक हो जायेगी।"

"ऐसा है! किसे दुःख-दर्द नहीं है, शिल्पीजी? एक-न-एक दुःख सबको रहता ही है। कुछ ऐसे दर्द हैं जो अनपेक्षित होते हैं। कुछ अचानक आते हैं। कुछ किसी दूसरे के कारण होते हैं। ऐसे दुःख-दर्द को सह लेना चाहिए। कुछ दर्द ऐसे हैं जो अपने आप उत्पन्न हो जाते हैं। उसके लिए वाहर के लोग कारण नहीं होते, हम खुद ही कारण बनते हैं। वह हमारे ही अविवेक के कारण हो सकता है। या फिर ज़ल्दबाज़ी या अज्ञान के कारण हो सकता है। इसलिए दुःख को सजीव बनाये रखकर क्रोधित होने की अपेक्षा उसे पचा लेना ठीक होता है। या फिर उसे जड़ से निकाल फेंकना उत्तम है।"

"ऐसे विषय में नियम बनाकर उसके अनुसार चलना हो सकेगा? प्रत्येक के दुःख-दर्द का अलग-अलग कारण होता है।"

"एक बात है; मेरी राय में दर्द या दुःख किसी भी कारण से हो, वह ऐसा नहीं होता जिसका निवारण नहीं किया जा सके।"

"इस विषय में मेरा मत भिन्न है। इसके लिए सन्निधान मुझे क्षमा करें।"

"भिन्न मत होने से ही विचार-विनिमय के लिए मौक़ा मिलता है। वह

अच्छा ही है। अच्छा, अब इस बात को रहने दें। अब जिसके लिए आपको बुलवाया उस पर ध्यान दें।" कहकर उन्होंने घण्टी बजायी। रेविमय्या ने आकर प्रणाम किया।

"यहाँ दो और आसन लगवाओ और अब निर्मित होनेवाले चन्नकेशव- सौम्य-नायकी के मन्दिर के उन रेखाचित्रों को ले आने के लिए उदयादित्य अरस से कहो।" शान्तलदेवी ने कहा। रेविमय्या चला गया।

"हमने अभी एक कार्य कर लिया है। जो प्रसिद्ध शिल्पी यहाँ आये हैं, उनसे उन-उनकी कल्पना के अनुसार रेखाचित्र तैयार करने की प्रार्थना की और सभी रेखाचित्रों के तैयार होने के बाद उनमें से जो नयी रीति का जँचा उसे स्वीकार कर लिया है। उस रेखाचित्र के निर्मापक, ओडेयगिरि के शिल्पी हरीश को हमने स्थपित बनाया है। आपको उनकी देखरेख में काम करना होगा। स्वीकार करेंगे न?" शान्तलदेवी ने कहा।

"मैं कौन बड़ा हूँ? मैं किसी के भी अधीन काम कर सकता हूँ। मेरी एक इच्छा है। मैं जो भी कार्य करूँगा उसका चित्र मैं पहले तैयार करूँगा। उसमें कुछ परिवर्तन सुझावेंगे तो उसे पुनः चित्रित करूँगा। एक बार चित्र स्वीकृत हो जाय, उसके बाद कोई सलाह किसी की भी नहीं होनी चाहिए। पत्थर हाथ में लेने के बाद कल्पना में कोई परिवर्तन नहीं होगा।"

"इसके पहले आपने कहीं अन्यत्र काम किया है?"

"हाँ किया है। बहुत वर्षों के बाद अभी हाल में कोई काम किया है तो वह दोड्डगद्दुवल्ली में।"

"तो क्या आप यादवपुरी आये थे।"

"हाँ, सन्निधान से किसने कहा?"

"श्रीरंग से जो आचार्य पधारे हुए हैं उन्हीं श्रीश्री रामानुज आचार्य ने बताया था।"

"उनका दर्शन हुआ था।"

"उन्होंने सब कुछ ज्यों-का-त्यों बताया।"

"छिपकर भागनेवाला चोर बताया होगा।"

"स्वेच्छया विहार चाहनेवाला कलाकार पंछी उड़ गया। उनकी सेवा प्राप्त करने का भाग्य हमें भगवान ने नहीं दिया, कहकर बहुत पछताये। उन्हें मालूम हो चुका था कि आप दुःखी जीव हैं। उनका विचार था कि उस दुःख भार को कम करें।"

"स्वयं भगवान ही उसे कम नहीं कर सकते। फिर भी पूज्य व्यक्ति की अनुकम्पा भी आशीर्वाद ही है न?"

"ऐसे सान्निध्य को छोड़कर आप गये ही क्यों?"

"मुझे अपने विषय में किसी से कहने की इच्छा नहीं। उसे जानने का प्रयत्न करने का भान हुआ। इसीलिए वहाँ से खिसक गया। यह मेरा स्वभाव है। यहाँ भी यदि ऐसा ही हुआ तो······"

"ऐसा न होगा, आश्वासन दिया गया है न ?"

"फिर भी ऐसा प्रसंग आये तो मैं यहाँ नहीं रहूँगा।"

"आपकी मर्जी। उस बात को जाने दीजिए। श्री आचार्यजी की आकांक्षा का भी फल मिला। आप स्वयं यहाँ आये। इस मन्दिर का निर्माण उन्हीं के आदेश के अनुसार हो रहा है। आपके यहाँ आने की बात उन्हें मालूम हो जाय तो वे बहुत खुश होंगे।"

"मैंने सोचा न था कि मेरे यादवपुरी आने की बात राजमहल तक पहुँचेगी। अब वही मैं हूँ—यह बात सन्निधान और अरसजी को भी मालूम हो गया है। यह बात और किसी को मालूम न पड़े, इतना यह आश्वासन दें तो मैं यहाँ रहूँगा, नहीं तो मैं आज ही चला जाऊँगा।"

"आपको इस विषय में आश्वासन दूँगी। वहाँ जब आप आये थे तब आपको देखकर अभी भी पहचाननेवाले केवल आचार्यजी और उनके दो शिष्य हैं। अब उदयादित्य अरस जी जानते हैं, मैं जानती हूँ; सन्निधान को भी यह मालूम है। रेविमय्या जानता है। और किसी को कुछ भी मालूम नहीं होगा। ठीक है न ?"

"इतनी कृपा करें तो मैं कृतार्थ हूँगा।"

आसनों के आने से उदयादित्य अरस के आने की सूचना मिली। पीछे ही वे भी वहाँ उपस्थित हो गये, साथ ही एक चपरासी रेखाचित्रों का पुलिंदा ले आया। उस परात को पास ही एक चौकी पर रखा। उदयादित्य उनके लिए रखे आसन पर आसीन हुए।

"शिल्पीजी इन रेखाचित्रों को देख लें। इच्छा हो चुन लें; यदि वह अन्य किसी को सौंपा न होगा तो स्थपति से कहकर वह काम इन्हें सौंप देंगे।"

"जो आज्ञा"—उदयादित्य ने उन सबको दिखाया। शिल्पी ने बड़ी श्रद्धा और लगन के साथ देखा।

"पोय्सल वंश अब एक समुद्र नींव पर स्थित है, कन्नड़ जनता सुसंस्कृत है। उनकी कला-कल्पना की तुलना विश्व की किसी भी कल्पना से नहीं हो सकती। पहाड़ पर महान् मूर्ति का निर्माण किया। पहाड़ ही को छेदकर मन्दिर का निर्माण किया। उनकी उस वृहत् कल्पना में भी एक-एक अणु में अपने कल्पना-विलास को रूपित किया है। उस कला-विलास ने पोय्सलकालीन कला के नाम से ख्याति पायी है। इस राज्य में उस कलाकारिता का विकास हो—यही सन्निधान की आकांक्षा है। हम सबकी भी यही अभिलाषा है। इसीलिए अनुकरण से बहुत दूर के इस रेखाचित्र को हमने स्वीकार किया है; इस पर आपकी क्या राय है ?"

उदयादित्य ने पूछा।

"प्रत्येक शिल्पी की अपनी-अपनी कल्पना होती है। जब पट्टमहादेवीजी कह रही थीं तब मेरे भी मन में कुछ सूझा, कुछ कल्पनाएँ हुईं। आज्ञा हो तो अपनी कल्पना के अनुसार एक चित्र बनाकर प्रस्तुत करूँगा।"

"कितने दिन लगेंगे?"

"मेरे लिए तो दूसरा काम है नहीं। थोड़ी-सी विश्रान्ति, नित्यकर्म आदि को छोड़कर शेष सारा समय इसी के लिए विनियोग किया जायेगा। शायद दो-तीन दिन का समय काफी होगा।"

"तब तक मन्दिर के कार्य को स्थगित करना होगा?"

"अब तक हुआ ही क्या है? खाली खुदाई और पत्थर को ठीक करना। किस काम के लिए कौन-सा पत्थर उपयुक्त है—इसे देख पत्थर का वितरण। मुझे जो सूझा वह कल अमान्य भी हो सकता है इसलिए कार्य चालू ही रहे। अब मुझे आज्ञा हो।"

"कहाँ मुकाम है?"

"यगची के तीर पर मधुवन से सटे मण्डप में।"

"वहाँ क्यों? अरस जी आपके लिए स्थान की व्यवस्था कर देंगे।"

"न, वहाँ शान्ति है।" शिल्पी उठ खड़ा हुआ।

"इस कार्य के लिए निश्चित भूमि, स्थान और उसका विस्तार आदि सब विषय अरस जी आपको समझा देंगे। शिल्पीजी की अन्य सभी सुविधाओं को उनकी इच्छा जानकर व्यवस्था कर देने का उदयादित्यजी ध्यान रखेंगे न?"

"जो आज्ञा"—उदयादित्य उठ खड़े हुए।

"अच्छा, शिल्पीजी।" शान्तलदेवी भी उठ खड़ी हुईं।

"आइए।" कहकर उदयादित्य ने कदम बढ़ाया।

"शिल्पीजी यादवपुरी आये हैं—यह बात कोई जानने न पाये।" शान्तलदेवी ने कहा।

"दूसरों को मालूम हो जाय तो नुकसान क्या है?"

"यह उनकी इच्छा है। हमने वचन दिया है।"

"हम उसका पालन करेंगे। आइए।" उदयादित्य आगे बढ़े।

विनीत होकर पीछे शिल्पी आ रहा था। उसने धीरे से कहा, "पहले बताया होता कि आप महासन्निधान के भाई हैं।"

"राजमहल में आने पर पता लगेगा मैं कौन हूँ—यह पहले ही बता दिया था न? परस्पर विश्वास न हो तो खुले दिल से विचार-विनिमय कैसे हो सकेगा? यह एकपक्षीय व्यवहार नहीं हो सकता। आप आत्मीयता से अपने मन को खुला रखें तो हम भी वैसा ही करेंगे। आप मन का किवाड़ बन्द रखें और हमने खोल

रखने को कहें तो कैसे होगा ?"

"अरस जी ने हमें अपराधी ठहराया। उसके लिए जो दण्ड देंगे, भोगेंगे।"

"अब पट्टमहादेवीजी ने जो कहा है वह मुख्य कार्य है। शेष सब गौण।"

इतने में वे राजमहल के द्वार तक पहुँच गये थे।

"मैं परसों आऊँ ?" उदयादित्य ने पूछा।

"हाँ वैसा ही करें।" कहकर शिल्पी चला गया।

स्थपति हरीश, या अन्य किसी शिल्पी को इस सम्बन्ध में कुछ भी मालूम नहीं था। किसी एक गरीब अधेड़ व्यक्ति को राजमहल में ले जाने और थोड़ी देर के बाद, वहाँ से भेज देने की बात सुनासुनी प्रकट हो गयी थी। वह कौन था? उसे राजमहल में क्यों ले गये? प्रबल जिज्ञासाएँ थीं। परन्तु दूसरे ही दिन से उस व्यक्ति के न दिखने के कारण सारी तीव्रता तिरोहित हो गयी।

यह बात भी शान्तलदेवी के ध्यान में आयी। उदयादित्य से प्रतिदिन कार्य में प्रगति का पूरा विवरण शान्तलदेवी लिया करती थीं। इस यात्री शिल्पी को जिस दिन देखा था, उसके दूसरे दिन ही बातचीत करते हुए उसके निमित्त उदयादित्य ने निवेदन किया, "उस शिल्पी ने कितनी प्रगति की है, इसे क्यों न देख आवें ?"

"देखकर आ तो सकते हैं। मगर वह व्यक्ति उसी को कुछ-का-कुछ समझ ले तो ?"

"समझने दीजिए; हम उनसे बेगार तो नहीं करा रहे हैं न ?"

"सच है; हम उन्हें धन दे सकते हैं। परन्तु धन ही उनका लक्ष्य तो है नहीं हमें इसे भी भूलना नहीं चाहिए।"

"सो तो ठीक है। फिर भी ऐसा लगता है कि हम उनके विषय में विशेष श्रद्धा दिखा रहे हैं। क्या यह ठीक है? प्रसिद्ध शिल्पी, विरुदावलीभूषित शिल्पी भी बड़े विनीत होकर बरत रहे हैं। इसका व्यवहार विचित्र होने पर भी इसकी ओर विशेष ध्यान क्यों ?"

"आचार्यजी ने उसके बारे में जो कहा था, उसे क्यों भूलते हैं। उनके अन्तरंग को कुछ सूझा और लगा कि इस शिल्पी से बहुत ही उत्कृष्ट कार्य करवा सकते हैं। उनकी वह आन्तरिक सूझ अवश्य ही मूल्यवान रही होगी—यही मेरा भाव है।"

"ऐसा है तो पट्टमहादेवी ने मतान्तर के विषय में हठ क्यों किया था ?"

"उसका इसके साथ क्या सम्बन्ध है, उदय ? मत मेरा अपना है। वह मेरी आस्था का—नितान्त मेरा अपना विषय है। यह महात्मा के मन की सूझ है; इसका अपना महत्त्व है। मैं मतान्तर की ही विरोधिनी हूँ। महत्त्व की विरोधिनी नहीं। मुझे कुछ भी सन्देह नहीं कि वे एक सिद्धपुरुष हैं। उनकी गहरी निष्ठा, अटल विश्वास, उनका चिन्तन-मनन और तपस्या फलवान है। इसीलिए उस शिल्पी में मेरी विशेष अभिरुचि है।"

"उससे आपने बातचीत की; आपको कैसा लगा ?"

"उसकी कल्पनाएँ स्पष्ट हैं। भव्य से भव्यतर की ओर। स्वप्नदर्शी। उसके मन में अद्‍भुत कल्पना का होना असाध्य नहीं। हो सकता है उसके स्वप्न देखने की यह प्रवृत्ति ही उसके जीवन की हल न होनेवाली समस्या हो। उसकी कोई निश्चित भव्य कल्पना केवल एक स्वप्न बन गयी है, इससे उसे तीव्र निराशा का शिकार होना पड़ा है। उसमें अब फिर से उस भावुकता को दीपित करना होगा।"

"इस सबकी सार्थकता के लिए तो वास्तव में उसमें श्रेष्ठ कलाकारिता होना चाहिए न ?"

"इतनी त्वरा से कैसे काम चलेगा ? कलाकारिता की श्रेष्ठता का परिचय हो जाने के बाद ही हम आगे बढ़ेंगे न ?"

"फिर भी अपात्र में विश्वास रखना···?"

"कल की तुम्हारी बात और आज की बात में अन्तर प्रतीत होता है। मुझे लग रहा है कि उसमें कोई विशेष बात है, उदय।"

"हुँ है तो···, परन्तु···?"

"कहने लायक नहीं है क्या ?"

"नहीं, लेकिन मैंने एक काम किया है, जिसके लिए पट्टमहादेवीजी से पूर्वानुमति नहीं ली। क्षमादान दें तो कहूँ ?"

"आचार्य के उन शिष्यों की तरह का कोई काम कर बैठे हो क्या ?"

"मैंने ऐसा तो नहीं किया। बस मुझमें कुतूहल जगा कि देखूँ कितना काम किया है और किस ढंग से किया है ? इसके लिए नदी तीर के उस मण्डप की ओर मेरा यह कुतूहल ही मुझे ले गया, जहाँ उसने अपना निवास बताया था।"

"इसी रूप में···?"

"नहीं वेश बदलकर गया था। परन्तु वह शिल्पी वहाँ नहीं था। ऐसा कुछ भी नहीं लगा कि वहाँ कोई रहता है। रहकर चला गया हो ऐसा भी कोई वहाँ प्रमाण नहीं मिला। इसीलिए मैंने हो आने की अनुमति माँगी। स्वीकृति मिलने पर ही बात बताने की इच्छा थी।"

"जब तुम गये थे, हो सकता है तब वह कहीं जलक्रीड़ा या भोजन करने गया

रखने को कहें तो कैसे होगा ?"

"अरस जी ने हमें अपराधी ठहराया। उसके लिए जो दण्ड देंगे, भोगेंगे।"

"अब पट्टमहादेवीजी ने जो कहा है वह मुख्य कार्य है। शेष सब गौण।"

इतने में वे राजमहल के द्वार तक पहुँच गये थे।

"मैं परसों आऊँ ?" उदयादित्य ने पूछा।

"हाँ वैसा ही करें।" कहकर शिल्पी चला गया।

स्थपति हरीश, या अन्य किसी शिल्पी को इस सम्बन्ध में कुछ भी मालूम नहीं था। किसी एक गरीब अधेड़ व्यक्ति को राजमहल में ले जाने और थोड़ी देर के बाद, वहाँ से भेज देने की बात सुनासुनी प्रकट हो गयी थी। वह कौन था ? उसे राजमहल में क्यों ले गये ? प्रबल जिज्ञासाएँ थीं। परन्तु दूसरे ही दिन से उस व्यक्ति के न दिखने के कारण सारी तीव्रता तिरोहित हो गयी।

यह बात भी शान्तलदेवी के ध्यान में आयी। उदयादित्य से प्रतिदिन कार्य में प्रगति का पूरा विवरण शान्तलदेवी लिया करती थीं। इस याभी शिल्पी को जिस दिन देखा था, उसके दूसरे दिन ही बातचीत करते हुए उसके निमित्त उदयादित्य ने निवेदन किया, "उस शिल्पी ने कितनी प्रगति की है, इसे क्यों न देख आवें ?"

"देखकर आ तो सकते हैं। मगर वह व्यक्ति उसी को कुछ-का-कुछ समझ ले तो ?"

"समझने दीजिए; हम उनसे बेगार तो नहीं करा रहे हैं न ?"

"सच है; हम उन्हें धन दे सकते हैं। परन्तु धन ही उनका लक्ष्य तो है नहीं हमें इसे भी भूलना नहीं चाहिए।"

"सो तो ठीक है। फिर भी ऐसा लगता है कि हम उनके विषय में विशेष श्रद्धा दिखा रहे हैं। क्या यह ठीक है ? प्रसिद्ध शिल्पी, बिरुदावलीभूषित शिल्पी भी बड़े विनीत होकर बरत रहे हैं। इसका व्यवहार विचित्र होने पर भी इसकी ओर विशेष ध्यान क्यों ?"

"आचार्यजी ने उसके बारे में जो कहा था, उसे क्यों भूलते हैं। उनके अन्तरंग को कुछ सूझा और लगा कि इस शिल्पी से बहुत ही उत्कृष्ट कार्य करवा सकते हैं। उनकी वह आन्तरिक सूझ अवश्य ही मूल्यवान रही होगी—यही मेरा भाव है।"

"ऐसा है तो पट्टमहादेवी ने मतान्तर के विषय में हठ क्यों किया था ?"

"उसका इसके साथ क्या सम्बन्ध है, उदय ? मत मेरा अपना है। वह मेरी आस्था का—नितान्त मेरा अपना विषय है। यह महात्मा के मन की सूझ है; इसका अपना महत्त्व है। मैं मतान्तर की ही विरोधिनी हूँ। महत्त्व की विरोधिनी नहीं। मुझे कुछ भी सन्देह नहीं कि वे एक सिद्धपुरुष हैं। उनकी गहरी निष्ठा, अटल विश्वास, उनका चिन्तन-मनन और तपस्या फलवान है। इसीलिए उस शिल्पी में मेरी विशेष अभिरुचि है।"

"उससे आपने बातचीत की; आपको कैसा लगा ?"

"उसकी कल्पनाएँ स्पष्ट हैं। भव्य से भव्यतर की ओर। स्वप्नदर्शी। उसके मन में अद्‌भुत कल्पना का होना असाध्य नहीं। हो सकता है उसके स्वप्न देखने की यह प्रवृत्ति ही उसके जीवन की हल न होनेवाली समस्या हो। उसकी कोई निश्चित भव्य कल्पना केवल एक स्वप्न बन गयी है, इससे उसे तीव्र निराशा का शिकार होना पड़ा है। उसमें अब फिर से उस भावुकता को दीपित करना होगा।"

"इस सबकी सार्थकता के लिए तो वास्तव में उसमें श्रेष्ठ कलाकारिता होना चाहिए न ?"

"इतनी त्वरा से कैसे काम चलेगा ? कलाकारिता की श्रेष्ठता का परिचय हो जाने के बाद ही हम आगे बढ़ेंगे न ?"

"फिर भी अपात्र में विश्वास रखना···?"

"कल की तुम्हारी बात और आज की बात में अन्तर प्रतीत होता है। मुझे लग रहा है कि उसमें कोई विशेष बात है, उदय।"

"हुँ है तो···, परन्तु···?"

"कहने लायक नहीं है क्या ?"

"नहीं, लेकिन मैंने एक काम किया है, जिसके लिए पट्टमहादेवीजी से पूर्वानुमति नहीं ली। क्षमादान दें तो कहूँ ?"

"आचार्य के उन शिष्यों की तरह का कोई काम कर बैठे हो क्या ?"

"मैंने ऐसा तो नहीं किया। बस मुझमें कुतूहल जगा कि देखूँ कितना काम किया है और किस ढंग से किया है ? इसके लिए नदी तीर के उस मण्डप की ओर मेरा यह कुतूहल ही मुझे ले गया, जहाँ उसने अपना निवास बताया था।"

"इसी रूप में···?"

"नहीं वेश बदलकर गया था। परन्तु वह शिल्पी वहाँ नहीं था। ऐसा कुछ भी नहीं लगा कि वहाँ कोई रहता है। रहकर चला गया हो ऐसा भी कोई वहाँ प्रमाण नहीं मिला। इसीलिए मैंने हो आने की अनुमति माँगी। स्वीकृति मिलने पर ही बात बताने की इच्छा थी।"

"जब तुम गये थे, हो सकता है तब वह कहीं जलक्रीड़ा या भोजन करने गया

हो।"

"शायद आप सोचती हैं वह पहले की तरह भागा नहीं ?"

"भाग जाने का कोई कारण होना चाहिए। अथवा कोई साक्ष्य ! दोनों के अभाव में मैं कुछ नहीं कहना चाहती।"

"क्या आपका विश्वास है कि वह लौट आएगा ?"

"इसे सोचने के लिए जल्दी क्यों ? उदय, कल प्रातःकाल तुम्हें उसे देखना है न ?"

"ऐसा कुछ नहीं ! मैंने पूछा था कि कल आ जाऊँ ? उसने कहा 'हाँ'।"

"तो तुम कल मध्याह्न के बाद वहाँ जाओ।"

"आप अब भी विश्वास करती हैं ?"

"यह विश्वास-अविश्वास का प्रश्न नहीं। हमारा कर्तव्य है। वह सीधा हमारे पास पहुँचे—ऐसी व्यवस्था की है ?"

"नहीं।"

"तो वह आयेगा कैसे ? कभी आने की सोचकर आ भी गया तो उसे अन्दर न आने दिया गया तो क्या हालत होगी ? यही सोचकर कहीं वह न आये, इसकी सम्भावना है। कल अगर वह न मिले, फिर आगे विचार करेंगे।"

"ठीक है।"

"स्थपतिजी कसे हैं ?"

"बहुत उत्साही हैं।"

"उत्साहित होने की ही तो उम्र है उनकी। महत्त्वाकांक्षी हैं।"

"परन्तु महत्वाकांक्षा कहीं अहंकार में परिणत न हो जाय—मुझे डर है।"

"अहंकार में परिणत हो जायगी तो अवनति का मार्ग खुलेगा।"

"परन्तु वह अवसर तो उपस्थित है। क्या करें ? बड़े-बड़े शिल्पियों के प्रारूप अस्वीकृत हुए; मेरा स्वीकृत हो गया। उनसे मैं श्रेष्ठ हूँ, इसीलिए मेरे रेखा-चित्र को मान्यता मिली—ज्ञात हुआ कि परसों यह बात कल्कणिनाडु के माचोज से भी उन्होंने कही।"

"कहने दो। छोटी उम्र है। उन्होंने सोचा भी न होगा कि इतने बृहत् कार्य के स्थपति का कार्यभार मिलेगा। ऐसी स्थिति में ऐसा ही होता है। मुझे भी एक-दो बार इसी तरह का अहंकार हुआ था, उदय !"

"यों कहकर मुझे छेड़ने की इच्छा है ?"

"तुझको छेड़ने से मुझे क्या लाभ ? छेनी पर हथौड़ा लगे तो विग्रह ही होता है, उदय ! सभी मनुष्यों को कभी-न-कभी इन स्थितियों से पार करना होता है। मानव को परिपूर्ण बनना हो तो इस तरह से पार करने की क्रिया का होना अनिवार्य है।"

"आपको अहंकार क्यों होना चाहिए ? मेरी तो यही मान्यता है कि अभी भी

आपकी योग्यता के अनुरूप स्थान आपको नहीं मिला है।"

"तुम एक मुग्ध व्यक्ति हो। तुम एक ओर से साले लगते हो, दूसरी ओर से भाई। तुम्हारी यह रुचि अद्‌भुत है। तुम ही कुछ सोच देखो, उदय। मैं एक सामान्य हेग्गड़े की बेटी; स्वप्न में भी मैंने नहीं सोचा था कि मैं कभी पट्टमहादेवी बनूँगी। मुझे ऐसी कोई आकांक्षा भी नहीं थी। परन्तु जब यह सब मिला तब मेरे भी अन्तरंग में अहंकार उत्पन्न हुआ। हाँ, उसके प्रदर्शन के लिए अवसर नहीं मिला। महामातृश्री के व्यक्तित्व ने मेरे उस अहंकार को वहीं मिटा दिया। ऐसी स्थिति में उसे अहंकार का होना सहज ही है। सामान्यतः कलाकारों में यह स्वप्रतिष्ठा की भावना रहती ही है। हम ही को चाहिए कि उन्हें देखकर उनकी कला का मूल्य आँकें।"

"उन्हें स्थपति बनाया तो क्या महत्त्व देने का-सा नहीं हुआ ? इस सम्मान के बाद तो कुछ संयम···?"

"शीघ्रता में कहीं उनके साथ भी···?"

"वृद्ध दासोज, जो पट्टमहादेवी के गुरु हैं, वह मेरे सामने क्या चीज़ हैं ? यही कहते फिरते हैं।"

"उनके सामने कहा ?"

"नहीं। उनके पीछे-पीछे किसी समवयस्क से बोल रहे थे, यही सुनने में आया। और भी कि वे सब पुरानी लीक पर चलनेवाले, अपने को ही श्रेष्ठ समझनेवाले हैं। गतानुगतिक हैं। जबकि वे स्वतन्त्र नूतन पथों के प्रदर्शक हैं। यह उठते यौवन का अहं ही है। आशा-आकांक्षा न हो तो नये विचार सूझेंगे ही नहीं। 'मेरी इस नयी प्रकल्पना से इस निर्माण को एक शाश्वत महत्त्व और विश्व में कीर्ति मिलेगी'—ऐसा ही कुछ कहते फिरते हैं।"

"इस राष्ट्र की कला को विश्व में ख्याति मिले, यह हमारी भी अभिलाषा है।"

"विश्वख्याति का अर्थ मेरी समझ में नहीं आया। हमने जिस विश्व को देखा है वही ? या हमने जिसकी कल्पना की है, या जिसे अपने चर्मचक्षुओं से नहीं देखा वह चतुर्दश भुवन ?"

"मेरा विश्वास है वह कला विश्व-विख्यात है जो आचन्द्रार्क स्थायी रह सकती है। मैंने चतुर्दश भुवनों को देखा नहीं। वहाँ की ख्याति कैसे मिल सकती है, इसका अनुमान भी मैं नहीं लगा सकती। मैं नश्वर हूँ। इस शरीर के द्वारा पहचानी जाती हूँ। यह भी नश्वर है। यह पहचान सुरक्षित रहे, इसके लिए अमुक की बेटी, अमुक की पत्नी आदि-आदि कहा जाता है। इन सबका मूल्य कब तक, जब तक यह शरीर है। परन्तु ख्याति शरीर को नहीं मिलती। जो काम किया जाता है उसे ख्याति मिलती है। जाबाली कौन थी ? उसके माँ-बाप कौन हैं ? पति कौन

हैं? उसका रूप कैसा था?—यह सब किसी को भी मालूम नहीं। पर उनका नाम अमर हुआ। जानते हो न?"

"हाँ, सत्यकाम की माता।"

"उसका नाम जो अमर हुआ उसका कारण उसकी सत्यप्रियता है, और कुछ नहीं। उसने इस उद्देश्य से सत्य नहीं बोला कि नाम अमर हो जाय। सत्य कहने की प्रवृत्ति मानव की परिपूर्णता की परम साधना है। इसीलिए उस सत्य का मूल्य है। उसे कहनेवाले का मूल्य है। जब उसने सत्य कहा तब उसके मन में संकोच नहीं था, कटुता नहीं थी। जुगुप्सा नहीं थी। कार्य-कारण संयोग से होनेवाली कुछ क्रियाओं को जब महत्त्व दिया जाता है तब मन में भ्रम पैदा हो जाता है। तब उस क्रिया की प्रतिक्रिया अवश्यम्भावी है। क्रिया में निर्लिप्तता हो, भ्रम न हो तब जाबाली की तरह बरतना होता है। तब कीर्ति के पात्र होते हैं। इसी विषय को कई प्रसंगों में भगवद्गीता में कहकर भगवान् कृष्ण ने अनासक्तियोग का निरूपण किया है। अर्जुन जैसा व्यक्ति जब पीछे हटना नहीं चाहता था तब उसे अनासक्तियोग—फलनिरपेक्ष कर्तव्य पालन का उपदेश दिया। हमारे स्थपति आज कुछ घमण्ड दिखावें भी तो कल उनकी आँखें खुलेंगी और ठीक भी हो सकेंगे। अगर ड्योढ़ी कम ऊँची हो तो तनकर उसके अन्दर जानेवाला उससे टकरा जायेगा, तब वह अपनी ही अन्तःप्रेरणा से सिर झुकाकर चलेगा न? यह भी वैसा ही है। अच्छा, अब काम की बात करेंगे।"

"काम तो तेजी से चल रहा है। स्थपति भी एक क्षण का समय व्यर्थ नहीं करते। दूसरों को भी व्यर्थ गंवाने नहीं देते।"

"यह आवश्यक है। हरीश का रेखाचित्र यहीं है या उस यात्री को दे दिया है?"

"उन्होंने माँगा नहीं; माँगते तो भी अनुमति के बिना देने का प्रश्न ही नहीं था।

"उसे मंगवाकर रखो। एक बार और अच्छी तरह देखना है। उस शिल्पी के अंकन से तुलना भी करनी है, यह समझना भी है कि कहाँ अन्तर है!"

उदयादित्य ने प्रारूप मंगवाये। दोनों ने एक साथ बैठकर देखे। उस समय प्रचलित चतुरस्र आकार का या गजपृष्ठ प्रकार का भी नहीं था। दक्षिण, उत्तर और पश्चिम की ओर तीन षट्कोणाकार के अन्तर-गृह की योजना थी और उन्हें मिलानेवाले विषमबाहु और चतुरस्र विशाल मुख-मण्डप और एक कल्याण मण्डप भी उसमें शामिल था। मन्दिर के द्वार तक पहुँचने के लिए आदमी के बराबर की ऊँचाई पर स्थित उत्तर-दक्षिण में फैली सीढ़ियाँ, मन्दिर की नींव आदमी के बराबर की ऊँचाई पर, उस पर भव्य मन्दिर का शानदार निर्माण। तीन विमान (गोपुर) और अन्दर सजी दो भुवनेश्वरी थीं। कलात्मक ढंग से चतुरस्र युक्त

षट्कोण सजे थे। अन्दर के स्तम्भों को चार-चार की एक इकाई बनाकर एक-एक स्तम्भ को भिन्न-भिन्न कलात्मक रूप-रेखाओं से सजाया था। मन्दिर की बाहरी आकृति भी सुन्दर-आकर्षक ढंग से बनी थी। बांस-बांस की दूरी पर स्तम्भों के सहारे आगे बढ़े खाने बने थे। उन खानों में देवी-देवताओं के सुन्दर विग्रहों को सजाने की कल्पना की गयी थी। वास्तव में वह एक नयी कल्पना थी। चालुक्य चोल, कदम्ब-शिल्प से अधिक मेल खानेवाले अन्य चित्रों के बदले इस रेखा-चित्र को चुन लिया गया था।

"नयी कल्पना को रूपित करनेवाला शिल्पी अगर अपने को बड़ा समझेगा तो इसमें आश्चर्य ही क्या है?" शान्तलदेवी ने कहा।

"यह कुछ अतिरिक्त ही लगता है।"

"यह अतिरिक्तता तो इस वय का लक्षण ही है। केवल डींग मारते रहने-वाले इस समय में, वास्तव में जिसने एक भव्य कल्पना की और उसे मूल्य भी मिल गया—यह ठीक ही है। ऐसे अवसर पर वह गर्व भी करें तो वह क्षम्य होना चाहिए।"

"पट्टमहादेवी की स्वीकृति मिली है, इस वजह से कोई उसके व्यवहार के सम्बन्ध में बात नहीं करता। सब उससे डरते हैं।"

"तो यही समझना चाहिए कि पट्टमहादेवी के व्यवहार के बारे में भ्रान्ति उत्पन्न हो गयी है।

"न, न, ऐसा कुछ नहीं। सभी के हृदयों में पट्टमहादेवीजी के प्रति बहुत गौरव और सम्मान का भाव है।"

"हो सकता है। परन्तु स्वीकृति देने पर यह नहीं समझना चाहिए कि उसमें जो त्रुटियाँ हैं उनके प्रति मैं अचेत हूँ। यह भाव भी लक्षित होता है। इससे वे डरते हैं। डरना ही कायरता का लक्षण है। जो अच्छे को चाहते हैं वे सदा अच्छे को ही चाहेंगे। यह चाहत केवल कार्य से सम्बन्धित है। वहीं तक वह सीमित है। सबके सभी कार्य सदा प्रशंसार्ह नहीं होते। फिर मानव सहज ही अपरिपूर्ण है। इसीलिए मानव में क्षमागुण ने उन्नत स्थान पाया है। और वह हमारी संस्कृति को उन्नत बनाने का मुख्य साधन है। दण्ड मानवता को रूपित करता है और उसे ऊँचा बनाता है। परन्तु क्षमा उससे भी अधिक प्रभावशाली ढंग से उसको रूपित कर उन्नत स्तर पर पहुँचाती है। यह मेरे अनुभव की बात है। अनुकूल समय मिलने पर तुम शिल्पियों को समझाओ। मन्दिर की रचना के विषय में जिसको जो सूझे उसे वे स्थपति को बतावें, अगर स्थपति के द्वारा सही ढंग से समाधान-सन्तोष न मिले तो वे सीधे मेरे पास आ सकते हैं। डरने की कोई आवश्यकता नहीं। उनके डर को दूर करने की दिशा में यह प्रथम और अनिवार्य है।

"उसकी परवाह न कर, उसकी राय को अमान्य करके, शिल्पियों को पट्टमहादेवीजी स्वयं बुलवायें तो यह स्थपति को शायद अच्छा न लगे, यह भी सम्भव है न ? वह बात शिल्पियों की एकता को तोड़ भी सकती है।"

"मानव-स्वभाव ही विचित्र है। यह विभिन्नता जब तक रहेगी, तब तक सभी कुछ सम्भव है। तो एक काम करेंगे। नया शिल्पी अपना रेखांकन ले ही आयेगा। सबको एकत्रित कर पूर्ण तटस्थता से उनको अपने-अपने विचार व्यक्त करने के लिए एक अवसर और देने में, इस सन्दर्भ का उपयोग किया जा सकता है।"

"एक तरह से यह उचित ही है।"

तभी रेविमय्या ने आकर प्रणाम किया। कहा, "एक आवश्यक काम पर विचार-विनिमय के लिए सन्निधान ने मन्त्रणा-सभा बुलायी है। अरसजी और पट्टमहादेवीजी भी उस सभा में उपस्थित रहें, यही सन्निधान की इच्छा है।"

शान्तलदेवी ने पूछा—"कब ?"

"अभी। सब लोग आ गये हैं; केवल गंगराजजी को आना है।"

"क्या बात है ?"

"वहीं पता चलेगा। अब समय नहीं है। यही सन्निधान का आदेश है।" रेविमय्या बोला।

शान्तलदेवी जानती थीं कि वह कुछ कहेगा नहीं। तुरन्त उदयादित्य के साथ मन्त्रणाशाला की ओर चली गयीं।

शान्तलदेवी के वहाँ पहुँचते-पहुँचते गंगराज भी आ गये। पट्टमहादेवी के पहुँचते ही महाराज को छोड़ अन्य सभी ने उठकर प्रणाम किया। प्रत्यभिवादन के बाद पट्टमहादेवी अपने आसन पर बैठीं। उदयादित्य भी बैठ गये।

बिट्टिदेव ने कहा, "इस तात्कालिक मन्त्रणा सभा को बुलवाने का उद्देश्य माचण दण्डनाथ सभा के समक्ष प्रस्तुत करेंगे।"

माचण दण्डनाथ ने विस्तार के साथ समझाया—"तलकाडु प्रदेश के आस-पास की कन्नड़ जनता को चोल-प्रतिनिधि आदियम ने सताना प्रारम्भ कर दिया है। और श्रीरंग के आचार्य को पोय्सलों ने आश्रय दिया, इससे चोल राजा बहुत चिढ़ गये हैं। पोय्सलों के विनाश के लिए उन्होंने आदियम को आदेश दिया है। उनके साथ चोल सामन्त नरसिंहवर्म और दामोदर दोनों ने सम्मिलित होकर हमारे राज्य पर आक्रमण करने की तैयारी की है। उनके आगे बढ़ने से पहले हम ही आक्रमण कर दें तो अच्छा है—यही सूचना मिली है। क्या और कैसे आचरण करना, किस-किस को वहाँ जाना, और राज्य के अन्य भागों में किस तरह से सावधान रहने की व्यवस्था करना, इन सब कार्यक्रमों के निरूपण के लिए यह सभा निर्णय करे। कल से ही आगे बढ़ना होगा। कल मुहूर्त भी शुभ है। मैंने राजमहल के ज्योतिषीजी से पता लगा लिया है।"

प्रधान गंगराज ने कहा—"अबकी बार सेना-नायकत्व मैं स्वयं करूँगा। मेरे साथ पुनीसमय्या, माचण दण्डनायक रहें। बोप्पदेव को राजधानी की रक्षा के लिए यहीं रखेंगे। एचिराज मेरे साथ जाने के लिए उत्साहित हैं।"

शान्तलदेवी ने सूचित किया, "मंचिदण्डनाथ भी अपने अश्वदल के साथ सहायतार्थ जायँ तो अच्छा।"

बिट्टिदेव ने कहा, "वे जहाँ हैं वहीं रहें, यही अच्छा है। इसी समय चालुक्य चक्रवर्ती ने कोई अहित साधा तो हमारी उत्तरी सीमा में संरक्षण की व्यवस्था न रह सकेगी। अकेले चोलों की ही बात होती तो वह किया जा सकता था। सिंगिमय्याजी यादवपुरी के रक्षणकार्य में रहेंगे ही। ऐसी आवश्यकता होगी तो उन्हें और रायण दण्डनाथ को तलकाडु प्रान्त की ओर बुला लिया जा सकता है। डाकरसजी यहीं वेलापुरी में ही रहें।"

"तो सन्निधान ने युद्ध में जाने का निर्णय किया है?" शान्तलदेवी ने पूछा।

"हाँ, हमें स्वयं युद्ध में उपस्थित रहना होगा। उसका एक कारण है। कन्नड़ जनता को कष्ट देने के विषय में पत्र लिख-भेजकर योग्य रीति से व्यवहार करने के लिए उनसे कहा गया था और यह भी बताया गया था कि यदि सम्भावित व्यवहार के लिए तैयार न हों तो तलवार के सहारे ही इसका निर्णय करना पड़ेगा। 'यदि समर्थ हों तो लड़कर दिखायें। हम पोय्सलों के गुलाम नहीं।'—यही उत्तर उनकी ओर से मिला है। पोय्सलों का गौरव सबसे बड़ा है।" बिट्टिदेव ने बताया।

"यह ठीक बात है। मेरी एक विनती है। सन्निधान युद्ध में जाते हों तो मैं भी साथ रहूँगी।" शान्तलदेवी ने कहा।

"अब कैसे सम्भव है? मन्दिर के कार्य को सुसम्पन्न करना हो तो पट्टमहादेवी का यहाँ रहना आवश्यक है।" बिट्टिदेव ने कहा।

"ऐसा हो तो मंचिदण्डनाथ और रानी बम्मलदेवीजी को साथ ले जाइए।" शान्तलदेवी ने कहा।

"प्रकृत स्थिति में मंचिअरस का वहीं रहना अच्छा है। सन्निधान ने जो कहा वह स्वीकार करना ही है।" गंगराज ने कहा।

"सो तो आपके निर्णय से सम्बन्धित विषय है। परन्तु सन्निधान के साथ मुझे रहना चाहिए या बम्मलदेवीजी को रहना चाहिए। यह कैसे होगा, सोच देखिए। मेरे न रहने पर भी उदयादित्य यहाँ रहकर इस मन्दिर का कार्य कर सकेंगे। कोई ऐसी बात नहीं जिसे वे नहीं जानते हों।"

"अनुमति दें तो मैं एक सूचना दूँ? उससे प्रकृत सन्दर्भ में उचित परिहार भी हो सकेगा।"—कहकर उदयादित्य ने बिट्टिदेव की ओर देखा।

"कहो।" बिट्टिदेव ने कहा।

"मैं मन्दिर के कार्य से परिचित हूँ अवश्य, परन्तु पट्टमहादेवी की कला-कल्पना मुझमें उत्पन्न हो ही नहीं सकती। उनके यहाँ रहने पर ही मन्दिर का कार्य सुन्दर ढंग से सम्पन्न हो सकता है। इस दृष्टि से सन्निधान का कहना बहुत ठीक है। वर्तमान राजनैतिक परिस्थिति की दृष्टि से मंचिदण्डनायजी का आसन्दी प्रान्त में रहना अनिवार्य है। परन्तु पट्टमहादेवीजी की सूचना के अनुसार सन्निधान के साथ युद्ध-व्यवहार से परिचिता पट्टमहादेवीजी को अथवा बम्मलदेवीजी को रहना आवश्यक है। मन्दिर के कार्य में, राष्ट्र-रक्षा के कार्य में या सन्निधान की रक्षा के विषय में—इनमें से सभी पर ध्यान देना आवश्यक है। इन तीनों को समुचित रीति से सम्पन्न होना हो तो बम्मलदेवीजी को साथ लेकर युद्धभूमि में मुझे सहभागी होने के लिए सन्निधान को अपनी सहमति देना चाहिए; यही उचित है।" उदयादित्य ने कहा।

"मैं भी युद्ध में जाऊँगा" यही बताने के लिए इतनी भूमिका बाँधी गयी। कोई चिन्ता नहीं। उदयादित्यजी की सलाह को स्वीकृति देना सब तरह से सन्निधान के लिए युक्त है।" शान्तलदेवी ने कहा।

ऐसा ही निर्णय किया गया। सभा समाप्त हुई। आगे की तैयारियाँ होने लगीं।

उसी दिन रात को शान्तलदेवी ने बिट्टिदेव को उस शिल्पी के बारे में कहा और बताया कि "उस शिल्पी के चित्र के आने पर निर्णय करने के लिए सन्निधान रहते तो अच्छा था। श्रीश्री आचार्यजी ने यादवपुरी में जिस शिल्पी को देखा था वही है। उससे बहुत उत्तम शिल्प कार्य की अपेक्षा कर सकते हैं।"

"कल वह कब आयेगा?"

"वह नहीं आयेगा। अब जैसी उससे बातचीत हुई है, उदयादित्य जी यगची के तीर पर मधुवन के उस तरफ के मण्डप में उससे मिलकर लिवा लायेंगे।"

"उदय तो सुबह ही चला जायेगा। रेविमय्या को भेज दो।"

"सन्निधान के साथ?"

"मायण और चट्टला रहेंगे न?"

"चट्टला का बच्चा छोटा है।"

"उसके पालन-पोषण का काम राजमहल को ही सँभाल लेना चाहिए।"

"उसका रहना तो ठीक है। फिर भी वह शिशु की माँ है। उससे पूछे बिना हम ही निर्णय कर लें—यह ठीक है?"

"अभी कहला भेजा है न!"

आदेश देने के बदले बुलवाकर पूछ लेते तो अच्छा था। उसके जीवन के सम्पूर्ण वृत्तान्त जाननेवाले सन्निधान ने कुछ शीघ्रता ही की। स्त्री जीवन की

परिपूर्णता इसी में है कि वह गर्भ धारण कर, पालपोसकर दुनिया को जो सन्तान देती है—उसकी प्रगति करे। विशेषकर जिसे इस जन्म में सन्तानप्राप्ति की कोई उम्मीद ही नहीं थी, जिसका पारिवारिक जीवन नष्ट हो गया था, वही फिर सुन्दर ढंग से बस गया और सन्तानप्राप्ति भी हुई, उसे बच्चे से पृथक् करना अच्छा नहीं, यही मेरी भावना है। उस दम्पती में असीम निष्ठा है। सन्निधान का आदेश उन्हें शिरोधार्य होगा। परन्तु युद्धक्षेत्र में व्यतीत होनेवाला उसका एक-एक क्षण अपने शिशु की चिन्ता में ही बीतेगा। हर माँ यही सोचती है कि उसकी सन्तान की देख-रेख उससे बढ़कर कोई नहीं कर सकता।"

"उस ओर तो हमारा ध्यान ही नहीं गया। सुबह चट्टला को बुलवाकर जो ठीक लगे करो। वह नहीं भी जाये तो हमें कोई आपत्ति नहीं।"

"कल युद्ध के लिए प्रस्थान है इसलिए ब्राह्ममुहूर्त में तैलस्नान कर पूजा-अर्चना भी करनी है। अब विश्राम किया जाय।" शान्तलदेवी ने सूचित किया।

"सो तो ठीक है। परन्तु कल जाने के बाद फिर देवी का सान्निध्य जय-माला धारण कर लौटने के बाद ही न..."

शान्तलदेवी ने बात पूरी होने से पहले ही कहा, "मैंने एक व्रत-पालन का निश्चय किया है, सन्निधान उसे पालने दें।"

"देवी की किस इच्छा को हमने पूरा नहीं किया ?"

"परन्तु आज मेरी इच्छा को पूर्ण करना हो तो सन्निधान को अपनी इच्छा पर अंकुश लगाना होगा।"

"हम समझे नहीं !"

"इस मन्दिर का निर्माण पूरा होकर विग्रह की प्रतिष्ठा के होने तक मैं व्रती हूँ। सन्निधान ने इस पवित्र कार्य को सौंपा है। उसे, उसी पवित्रता के साथ निर्वाह करने का मेरा संकल्प है। सन्निधान इस संकल्प की सिद्धि के लिए सह-योग देने की कृपा करें।"

"हमें देवी की रीति ही समझ में नहीं आती। विष्णुभक्त बनने को अस्वी-कार कर अब मन्दिर-निर्माण के लिए व्रतधारण ! दोनों परस्पर विरोधी मार्ग हैं न ?"

"मुझे ऐसा नहीं लगता। हेग्गड़े-दम्पती की पुत्री होकर जन्म से जिस धर्म का पालन करती आयी हूँ वह वैयक्तिक धर्म है। वह शान्तला का धर्म है। पोय्सले-श्वर की धर्मपत्नी होकर, उनकी इच्छा के अनुसार जिस कार्य को हाथ में लिया, वह पवित्र कार्य है। यह सती-धर्म है। कार्य पवित्रता की माँग करता है। युद्धक्षेत्र में शस्त्र शत्रु के नाश के लिए काम में लाया जाता है। परन्तु वह हाथ में है इसलिए सदा जो भी सामने मिले, उनका नाश करना क्या धर्म है ? शत्रु-हनन कर विजय प्राप्त करनेवाले मारक अस्त्र की हम पूजा करते हैं। इसलिए परिस्थिति को समझ

कर व्यवहार करना उत्तम मानवधर्म है।"

"तुम्हारा मार्ग बड़ा विचित्र है! विरसता में सरसता का उद्भव करना!"

"विरसता कहाँ है, स्वामी! विरसता हमारी कल्पना में है। शैव शिव कहते हैं। वेदान्त ब्रह्म की कल्पना करते हैं, बौद्ध बुद्ध की कल्पना करते हैं। हम जैन अर्हन् कहते हैं। परन्तु यह पृथक्-पृथक् कल्पना हमारी है। विभु इस तरह की भिन्न-भिन्न कल्पनाओं के लिए कभी कारण नहीं। हमारी कल्पना में विरसता होते देख वह हम पर दया ही बरसाता है। अस्तु। सन्निधान ने आचार्यजी को आश्रय दिया, इसपर चोलों को क्यों क्रोधित होना चाहिए। वे जिस शिव की आराधना करते हैं, उस शिव ने उनसे ऐसा करने को कहा क्या?"

"तो तुमने पहले ही व्यक्त किया था।"

"यह तो सहज ही अनुमान योग्य है। अब सन्निधान विश्रान्ति ले सकते हैं।" कहकर बात को समाप्त किया।

"अतृप्त ही हम युद्ध के लिए प्रस्थान करें?"

"ऐसा नहीं। विशेष तृप्ति की महत्त्वाकांक्षा लेकर सन्निधान को यात्रा करनी चाहिए।"—कहकर शान्तलदेवी चादर बढ़ाकर गालों पर थपकी देती हुई उन्हें सुलाकर अपने शयनकक्ष की ओर चली गयीं। थोड़ी देर आँख मूँद ध्यानस्थ रह हाथ जोड़, प्रणाम कर फिर लेट गयीं।

दूसरे दिन स्वयं सन्निधान को ही विजय-यात्रा पर निकलना था, अतः सम्प्रदाय के अनुसार ब्राह्ममुहूर्त्त में ही जागकर राजदम्पती ने तैल-स्नान आदि की समाप्ति के पश्चात् पूजा-अर्चना आदि कर नियमानुसार सभी विधियों को पूरा किया।

पट्टमहादेवी के आदेश के अनुसार रेविमय्या यायावर शिल्पी के उस ठिकाने पर जा पहुँचा, जहाँ ठहरने की सूचना उसने दी थी। गमन से पूर्व ही शान्तलदेवी ने उसे बताया—जब उदयादित्यरस गये थे तब वह वहाँ नहीं था; इसलिए जब तुम वहाँ पहुँचो तब यह भी सम्भव है कि वह वहाँ न मिले। मिले तो उसे सन्निधान का भी दर्शन मिलेगा। जब तुम वहाँ जाओ और वह वहाँ न मिले तो वहीं कुछ देर प्रतीक्षा करना, फिर लौटना।"

यगची नदी के तीर पर के उस मण्डप के पास रेविमय्या पहुँचा ही था कि उसे वह शिल्पी नदी में नहा-धोकर लौटता दिखायी दिया। रेविमय्या घोड़े पर सवार होकर आया था, उसे देखते ही शिल्पी ने समझा कि उदयादित्यरसजी के आने की यह पूर्व सूचना है। उसने रेविमय्या को पहले राजमहल में देखा था। परन्तु उसके नाम-धाम और पद आदि से वह अपरिचित था। उसने पूछा, "अरसजी कब आयेंगे?"

"अरसजी राजधानी में नहीं हैं। राजकार्यों के निमित्त गये हैं। आपको लिवा

लाने के लिए मुझे आदेश दिया गया है।" रेविमय्या ने कहा।

"अभी पहुँचा; आप पधारिए।"

"क्यों, घोड़े पर चढ़ने से भय लगता है ?"

"मृत्यु की प्रतीक्षा करनेवाले मुझ जैसे को किसी का भी भय नहीं। आप चलिए, मैं तुरन्त ही आऊँगा।"

"इस समय अतिरिक्त अवकाश नहीं है। सन्निधान मध्याह्न के पश्चात् यात्रा के लिए कूच कर जायेंगे। पट्टमहादेवीजी की इच्छा है कि आप उनसे भी मिल लें। इसलिए आप जो कुछ लेना हो सब ले लीजिए। इसी घोड़े पर चलते हैं।"

मण्डप के कोने में रखी अपनी थैली कन्धे पर लटकाकर, पत्रों का एक पुलिन्दा हाथ में ले, वह घोड़े के पास आया। रेविमय्या उसे घोड़े पर बिठाकर ख़ुद भी सवार हो सरपट घोड़े को दौड़ाते हुए राजमहल पहुँच गया। राजमहल के पास पहुँचते ही देखा कि पोय्सल सेना कतार बाँधे खड़ी है। उसे देख शिल्पी कुछ अकचका गया। वह चुप नहीं रह सका। उसने पूछा, "यह सेना क्यों ?"

"सन्निधान विजय-यात्रा पर आज जानेवाले हैं।" रेविमय्या ने बताया।

"आज बहुत ही अच्छा नक्षत्र है। आज पूर्वाभिमुख यात्रा करनेवालों को अनन्त फल मिलेगा। कार्य सिद्ध होगा। धनराशि में चन्द्र है और गुरु का वीक्षण है। गुरु-कुज परिवर्तन योग रहने से मतद्वेष निर्मूल होकर पोय्सलेश्वर के विजयी होने में कुछ भी शंका नहीं।" शिल्पी ने कहा।

"तो आप ज्योतिष भी जानते हैं ?"

"विशेष तो नहीं।"

राजभवन के महाद्वार के द्वारपालक रेविमय्या के घोड़े पर नये आदमी को देखकर चकित हुए। युद्ध के लिए तैयारी के समय कहीं से इस दाढ़ीवाले आदमी को रेविमय्या पकड़ लाये हैं! लेकिन सब मौन। घोड़े से उतरकर रेविमय्या शिल्पी को राजमहल के अन्दर ले गया। उसे मुखमण्डप में बिठाकर स्वयं अन्दर गया और कुछ ही देर में लौट आया, फिर "आइए!" कहकर शिल्पी को साथ ले गया। मन्त्रणालय में सन्निधान और पट्टमहादेवी आसनों पर विराज रहे थे। रेविमय्या ने प्रणाम किया और "शिल्पीजी आये हैं" कहकर वह कुछ दूर पर दीवार से सटकर खड़ा हो गया।

शिल्पी भौंचक्का-सा ज्यों-का-त्यों खड़ा रहा। उसे शंका होने लगी कि परसों जिस पट्टमहादेवी को उसने देखा था, वह यही हैं ? उस दिन निराभरण सुन्दरी-सी जो लग रही थी वह आज सर्वालंकार भूषित हो साक्षात् लक्ष्मी-सी लग रही हैं। पोय्सलेश्वर तेजपुंज-से लग रहे हैं। इनको देख विनीत भाव से कुछ क्षण झुके रहकर प्रणाम किया।

"बैठिए," शान्तलदेवी ने एक आसन की ओर निर्देश किया।

"ठीक हूँ।" कहकर, वह खड़ा ही रहा। इसे देख शान्तलदेवी ने कहा, "संकोच करने की आवश्यकता नहीं, सन्निधान की इच्छा ही मैं बता रही हूँ।"

उसने चारों ओर देखा और फिर स्वयं को भी देखा। वह अन्दर-ही-अन्दर काँप उठा। वह जड़ सदृश खड़ा ही रहा। शान्तलदेवी ने पूछा, "आपने अपनी कल्पना को रेखांकित किया है न?"

"अवश्य। यह है।" कहते हुए उसने पुलिन्दे को उनके पास के एक पट पर रख दिया। फिर उसी मुद्रा में खड़ा हो गया।

शान्तलदेवी ने उस पुलिन्दे को खोला। एक-एक कर पृष्ठ उलटती गयीं। बिट्टिदेव भी तन्मयता से देखते रहे। सूक्ष्मता से रेखाचित्र का परिशीलन न करने पर भी उसे देखने में पर्याप्त समय लगा।

"देवी, यह यदि रूपित हो जाय तो संसार इस पर पोय्सल की छाप लगा देगा। इस तरह की वैविध्यमय रूपरेखा, कलापूर्ण भव्यता, वैशाल्य अब तक हमें देखने को नहीं मिला। इस सबको ब्योरेवार देखने के लिए अब समय नहीं है।" फिर शिल्पी की ओर देख कहा, "पट्टमहादेवीजी देखकर निर्णय करेंगी। आचार्यजी की कृपा-दृष्टि आप पर पड़ी है, आपको कला को कान्ति कीर्ति—दोनों प्राप्त होंगी।" फिर शान्तलदेवी से बोले, "हमें समय नहीं। इस शिल्पी के लिए उचित स्थान, वस्त्र और अन्य व्यवस्था पट्टमहादेवीजी आज ही कर दें तो अच्छा होगा। उन्होंने अपने आपको देख बहुत संकोच का अनुभव किया। कलाकार की कल्पना सुन्दर हो यही पर्याप्त नहीं, उनका व्यवहार, व्यक्तिगत बाह्य वेशभूषादि भी ऐसी होनी चाहिए जो उसके अन्तरंग को प्रतिबिम्बित करे। हम भी रण-रंग से जयमाला पहनकर इसी उत्साह से आयेंगे कि देखें, यहाँ का कार्य कैसा रूपित हुआ है। इतने में इसे परिपूर्ण रूप दे दें तो अच्छा।" बिट्टिदेव ने अपना आशय व्यक्त कर दिया।

"अनेक प्रसिद्ध शिल्पी और उनके बहुत-से शिष्यवृन्द काम में लगे हुए हैं। मैं भी नियोजित काम करूँगा। मुझे कोई स्थान नही चाहिए; किसी भी तरह के सुख की भी मुझे अभिलाषा नहीं है। मेरे अन्दर जो जीव है, वह जब तक इस काठी को छोड़कर उस विभु के पादारविन्द में मिल न जाये तब तक अवसर मिले तो परि-श्रम में लग जाना ही मेरा काम है। अन्तरंग सुख की आकांक्षा करें तो बाह्य भी वह चाहेगा। मेरे जीवन में जब आन्तरिक सुख ही नहीं तो बाह्य की ओर ध्यान ही नहीं जाता।" शिल्पी ने विनीत हो निवेदन किया।

"पट्टमहादेवीजी के नेतृत्व में आपमें भी परिवर्तन होगा। अब समय नहीं है। रेविमय्या ये अब राजमहल के अतिथि हैं, अन्य शिल्पियों की तरह। जहाँ भी चाहें वहाँ निवास की व्यवस्था करो। ये जो भी सुविधा चाहें सब दे देना।"

रेविमय्या "आइए" कहता हुआ आगे बढ़ा।

शिल्पी ज्यों-का-त्यों खड़ा रहा। शान्तलदेवी ने पूछा, "कुछ कहना है?"

"वह पुलिन्दा..."

"उसे यहीं रहने दीजिए। मैं उसे धीरे-धीरे आदि से अन्त तक समग्र रूप से देखूँगी। दो दिनों बाद आपको फिर बुलवा लूँगी। तब तक आप आराम से रेविमय्या के अतिथि बनकर रहिए। अगर आप एकान्त की अभिलाषा करें तो वह उसकी भी व्यवस्था कर देगा।"

"दो दिन बेकार बैठे खाता रहूँ?"

"काम को किस रूप में करना चाहिए—इस बात का निश्चय जब तक न हो तब तक ऐसा ही कीजिए।"

"जब कहेंगी तब आकर दर्शन कर लूँगा। तब तक मुझे स्वतन्त्र ही रहने दीजिएगा।"

"आपकी इच्छा। आज दशमी वृहस्पतिवार है। परसों त्रयोदशी—रविवार को इसी समय आ सकेंगे?"

"जैसी आपकी आज्ञा।"

"ठीक है, आप जायें।"

शिल्पी रेविमय्या के पीछे-पीछे चला गया।

शान्तलदेवी ने पूछा, "सन्निधान को कैसा लगा?"

"इस शिल्पी की यह एक नयी ही सृष्टि है। हम सभी का प्रोत्साहन उसे मिलना चाहिए। इस शास्त्र से अच्छी तरह परिचित तुमको इस विषय में विवरण देने की आवश्यकता नहीं।"

"अब सन्निधान इस विषय में जो निर्णय सुनायेंगे, उसके अनुसार मैं आगे बढ़ूँगी।"

"सोचने और निर्णय करने के लिए अब समय नहीं है। मन अब युद्धरंग में केन्द्रित है। इस विषय में मुझसे अधिक जानकारी रखती हो। इसलिए इस विषय में सोचने—निर्णय करने का सर्वाधिकार हमने पट्टमहादेवी को दे दिया है। हम लौटने पर देखकर प्रसन्न होनेवाले मात्र हैं।" इतने में एक दासी ने आकर सूचना दी कि हेग्गड़े मायण और हेग्गड़ानी चट्टलदेवी आयी हैं।

"भेज दो।" कहकर बिट्टिदेव ने शान्तलदेवी की ओर देखकर कहा, "हम इस सन्दर्भ को भूल ही गये थे।"

"तलवार को सान पर चढ़ाने, या धनुष का टंकार ही जब दिमाग में भर गया है, तब शेष बातें याद कैसे रहेंगी।" शान्तलदेवी ने कहा।

अभी बात समाप्त भी नहीं हो पायी थी कि इतने में अपने प्रेम के 'परिणाम' 'बल्लू' को गोद में लिये चट्टला और मायण ने अन्दर आकर प्रणाम किया।

इसके बाद चट्टला पट्टमहादेवी के पास गयी। उनके आसन के सामने पीछे राजसी आस्तरण पर बच्चे को लिटाया और कहा, "हम दोनों ने सन्निधान के साथ रणभूमि में जाने का निश्चय किया है। इस अवसर पर हमारे पास पहले जो सन्देश आया और जो उस पर विचार-विनिमय हुआ—यह सब जान गयी हूँ। मैं 'वल्लू' के जन्म के लिए निमित्त मात्र हूँ। पट्टमहादेवीजी, यह राजमहल हमारे जीवन में व्याप्त विष को दूर करे, उसमें प्रेम उत्पन्न करनेवाली प्रेरक शक्तियाँ हैं। माँ होकर मैं जितना प्रेम दे सकती हूँ उससे हजार गुना अधिक प्रेम 'वल्लू' को आपसे मिलेगा। उसका यह भाग्य ही उसके भावी के लिए नान्दी है।"

विशेष बातचीत के लिए अवसर न देकर वल्लू पट्टमहादेवी के अन्तःपुर का निवासी हो गया। चट्टला-मायण सेना के साथ प्रस्थान के लिए तैयारी करने की आज्ञा लेकर चले गये। सेविका की गोद में वल्लू था, उसे एक चुम्मा देकर चट्टला चल पड़ी थी।

पूर्व निश्चित मुहूर्त में समस्त राज-गौरवों के समेत पंचमहावाद्य निनादित हुए। वाद्य-ध्वनि दिग्दिगन्त में व्याप्त हो गयी। पोय्सलेश्वर की विजय-यात्रा प्रारम्भ हुई। धीरे-धीरे वाद्य-ध्वनि क्षीण होती गयी। अन्त में सारी वेलापुरी में स्तब्धता छा गयी। राजधानी में वृद्ध और बच्चों को छोड़कर अधिकांश युवकों को विजय-यात्रा के निमित्त महाराज के साथ जाने के कारण राजधानी में चहल-पहल ही न रही। इसी कारण उस दिन मन्दिर का भी कार्य रोक दिया गया था।

उस दिन शाम को गोधूलि के वक़्त पट्टमहादेवी ने दासोज और गंगाचारी को राजमहल में बुलवा लिया। उस रेखा-चित्रों के पुलिन्दे को उनके हाथ में देकर कहा, "इसके चित्रों का सूक्ष्म अवलोकन—परीक्षण करके अपना स्पष्ट अभिमत दें।"

उसे खोलकर पहले ही पृष्ठ को देखते हुए दासोज ने पूछा, "इसका आलेखक कौन है?"

"रचयिता के नाम से रचना का मोल-तोल होता है?"

"ऐसा नहीं, हमने जिसे देखा-सुना नहीं, ऐसी कल्पना इसमें लक्षित होती है; इसलिए कौतूहल हुआ—पूछा।"

"सबको सावधानी से देखकर समग्र रचना पर अभिमत दीजिए। मैं थोड़ी देर के बाद यहाँ आऊँगी।" कहकर उत्तर की प्रतीक्षा के बिना ही शान्तलदेवी अन्दर चली गयीं।

उधर बिट्टियण्णा अबकी बार भी युद्ध में न ले जाने के कारण मुँह फुलाकर बैठा हुआ था। उसे शान्त करना शान्तलदेवी के मुख्य कर्तव्यों में एक था। उसकी पत्नी सुव्वला को कई बातें समझा-बुझाकर उसके अनुसार बरतने

को कहा था और यह भी बताया था कि दिया बलने के बाद आएँगी। तदनुसार वह कुँवर बिट्टियण्णा के शयनागार की ओर चल दी। वहाँ पहुँचने पर घण्टी बजी तो पट्टमहादेवी के आने की सूचना इन दोनों को मिली।

सुव्वला ने बिट्टियण्णा का हाथ खींचते हुए कम-से-कम द्वार तक आने के लिए कहा। वह जड़ बनकर पलंग पर ही बैठा रहा।

"पति-पत्नी में क्या झगड़ा चल रहा है ?" कहती हुई शान्तलदेवी ने अन्दर प्रवेश किया।

"इनका तो क्रोध सदा नाक पर ही रखा रहता है। अभी तक मैं इन्हें समझ नहीं पायी।" सुव्वला ने कहा। वह पति का हाथ छोड़कर कुछ दूर पर खड़ी हो गयी थी। वह भी उठकर खड़ा हो गया।

"क्रोध आये, कोई बात नहीं। उसके लिए कोई कारण होना चाहिए। और हम पर उसका दुष्परिणाम नहीं होना चाहिए। स्वार्थ के कारण उत्पन्न क्रोध अनर्थकारी होता है। दूसरों की भलाई के लिए किए जानेवाले क्रोध का कुछ मूल्य होता है। अब इस हमारे छोटे दण्डनायक को किस तरह का क्रोध आया है?" शान्तलदेवी ने पूछा।

"पट्टमहादेवीजी ने जो तलवार दी उसी से इस सिर को काट लें—इतना क्रोध है।" बिट्टियण्णा ने कहा। उसका चेहरा लाल हो आया था।

"तो सन्निधान ने जो कार्य सौंपा वह तुम्हें नहीं चाहिए, यही न ?"

"यह भी कोई काम है ?"

"बोप्पदेव और तुममें कितना अन्तर है आयु में ?"

"हो सकता है दस-बारह साल का अन्तर।"

"तो वे तुमसे उम्र में बड़े हैं न ?"

"यह भी न समझूँ ऐसा मूर्ख तो नहीं हूँ।"

"तुम मूर्ख नहीं हो भई, बुद्धिमान हो। सब समझते हो। इसीलिए राजमहल ने तुम्हारा पालन-पोषण किया। तुम्हारी शक्ति-सामर्थ्य का उपयोग तुम्हारे कहे अनुसार राजमहल करे, या राजमहल और राष्ट्र के लिए जो उपयोगी हो—उसकी तुमसे अपेक्षा रखे ?—तुम ही बताओ।"

"राष्ट्र के लिए जान देना सबसे श्रेष्ठ है।"

"इसीलिए तुम्हें किशोर-मनस कहती हूँ। राष्ट्र के लिए जान देने का अर्थ वहीं तक सीमित नहीं जितना तुम समझ बैठे हो। उसका व्यापक अर्थ है। कुछ न कर सके तो यों ही प्राणार्पण कर देने के सिवाय दूसरा कोई मार्ग नहीं—इस तरह समझने जैसी उत्कट परिस्थिति में प्राण देने का मूल्य ही कुछ और है। अनावश्यक ढंग से प्राणार्पण करने से देश को उसका क्या लाभ ?"

"सो कैसे ?"

"बैठो, बताऊँगी। सावधान होकर सुनो!" बिट्टियण्णा और सुव्वला को बैठाया। फिर कहा, "एक राज्य के जन्म का कुछ महत्त्व होता है। इतिहास पढ़कर तुमने इसे जाना है। हमारे इस राज्य का केवल जन्म ही नहीं हुआ, इसे एक शताब्दी का समय भी हो गया। इस अवधि में इस राज्य ने कितनी प्रगति की है। यह कैसे सम्भव हो सका इस पर तुमने कभी सोचा है?"

"एक के बाद एक प्रजाहित चाहनेवाले महाराज इस सिंहासन पर बैठे, इसीलिए।"

"केवल इतना ही नहीं। सिंहासनासीन होने के लिए एक पारम्परिक क्रम है। बहुत करके वह जन्म के कारण प्राप्त होता है।"

"पट्टमहादेवीजी जन्म के कारण नहीं बनी न?"

"पट्टमहादेवी नारी है। हेग्गड़े मारसिंगय्या और हेग्गड़ाती माचिकब्बे की बेटी होने पर भी यह मुझे प्राप्त हुआ। परन्तु यदि मैं पुरुष हुई होती तो यह सिंहासन मुझे प्राप्त होता? पुरुष हुई होती तो तुम्हारी ही तरह मैं भी एक छोटा दण्डनायक बनकर धीरे-धीरे नियोजित कार्य को करती हुई सबको तृप्त करने की कोशिश करती, और धीरे-धीरे प्रगति कर उच्च-से-उच्च महादण्डनायक या प्रधान—ऐसा कुछ बनती, या बन सकती थी। सिंहासन पर बैठनेवाला व्यक्ति एक सत्कुल-प्रसूत होता है। वह पारम्परिक है। परन्तु राष्ट्र को प्रवृद्ध होना हो तो वह तुम जैसों से ही साध्य है। तुम्हारे पिता, उनसे भी पहले के दण्डनायक, प्रधान, सचिव, भण्डारी आदि लोग, सीढ़ी-दर-सीढ़ी अपनी योग्यता, निष्ठा को प्रदर्शित करके अपने अनुभव, बुद्धिमत्ता और सामर्थ्य के कारण, इस राष्ट्र के निर्माण में सहायक बने। सभी ओर से राष्ट्र की रक्षा होनी चाहिए। इतने दण्डनायकों को हमें सर्वदा तैयार करते रहना चाहिए न? युद्धक्षेत्र में जाकर वहाँ अनुभव प्राप्त करने की तुम्हारी अभिलाषा आलुपों के साथ के युद्ध के सिलसिले में सफल हो गयी है। प्रधान गंगराज, पुनीसमय्या, माचण दण्डनाथ, डाकरस दण्डनाथ अब बड़ों की पंक्ति में हैं। उनके बाद की पंक्ति में एचिराज, बोप्पदेव, हैं। उनके बाद की पंक्ति में तुम हो, मरियाने और भरत हैं। राष्ट्र का जीवन हमारी आगे की पीढ़ी पर निर्भर है। तुम या मरियाने, भरत, बोप्पदेव रणरंग में जाकर प्राण दे दें और थोड़े ही दिनों में वृद्ध अधिकारी वयोधर्म के कारण दिवंगत हो जायें तो राष्ट्र की क्या दशा होगी? विश्वासपात्र बड़े अधिकारियों को प्रोत्साहन देकर हम बढ़ावें और साथ-ही-साथ उन्हें अनावश्यक ही रणरंग की अग्र पंक्ति में न भेजें, यही राज-रहस्य है। तुमने क्या समझा कि तुम लोगों पर कोई जिम्मे-दारी नहीं है? इसी समय उत्तर की ओर से चालुक्य या उच्चंगि के पाण्ड्य आक्रमण कर दे तो राजधानी की रक्षा कौन करेंगे? राजधानी हमारे हाथ में सुरक्षित रही तो राज्य भी सुरक्षित। दूर-दूर के युद्धों में विजय प्राप्त करने

पर भी राजधानी को खो दें तो राज्य विधवा-जैसा हो रहेगा। दृष्टिहीन शरीर की तरह लगेगा। राष्ट्र की आँख की रक्षा करना तुम्हारा और बोप्पदेव का काम है। ऐसा मत समझो कि यह छोटा काम है। छोटे बोप्पदेव, मरियाने और भरत एवं तुम—तुम ही लोगों से राष्ट्र के लिए बहुत ही आवश्यक काम होना है। तुम लोग राष्ट्र के लिए भावी निधि हो। तुम लोगों की अच्छी देखभाल करने पर तुम लोगों से आगे चलकर राष्ट्र का हित होगा—यह मन्त्रिमण्डल का निर्णय है। तुम लोग समर्थ हो—इसे समझकर ही ऐसा निर्णय किया गया है। मुक्त अश्व की तरह का अधिक स्वच्छन्द मन ही अच्छा नहीं। ठीक है या ग़लत, युक्त है या अयुक्त—इससे अच्छा होगा या बुरा—इन बातों पर सोच-विचार किये बिना क्रोध करोगे तो उसका परिणाम बुरा ही होगा। तुम्हें अपने व्यक्तित्व को अच्छा विकसित करना हो तो संयमी रहकर साधन करना होगा। तुम्हें विश्वास होना चाहिए कि जिन्होंने तुम्हारा पालन-पोषण किया वे कभी तुमको कुचलेंगे नहीं। एक साथ माँ-बाप को तुमने खोया, इस कारण से तुम्हें हमने लाड़ से पाला-पोसा। कुमार बल्लाल, छोटे बिट्टि, विनय इन बच्चों को इतना प्रेम नहीं मिला जितना तुमको मिला। शायद हमारे लाड़-प्यार ने तुम्हें हठी बना दिया है। तुमने क्रोध किया तो उसका कारण हम ही हैं। हमारा लाड़-प्यार ही कारण है। मैं बहुत कह गयी। सभी बातों पर फिर से सोच लो। अगर हमारे प्यार का कोई वास्तविक मूल्य हो तो तुम सचेत होकर सही ढंग से विचार करोगे—ऐसा मेरा विश्वास है। तुमने मेरे पास नृत्याभ्यास किया है। अब निर्मित होनेवाले मन्दिर में जो भित्तियाँ बनेंगी उनमें नृत्य-भंगिमाओं का विन्यास कर एक शिल्पी ने रूपित किया है। उन्होंने जो रेखाचित्र बनाये हैं उनका निरीक्षण प्रसिद्ध शिल्पी दासोज और गंगाचारी कर रहे हैं। तुम्हें शिल्पकर्म में भी अभिरुचि एवं आसक्ति है। उन्हें तुम देखना चाहो तो मेरे साथ आओ। उदयादित्यरस को इस मन्दिर के कार्य में मेरा सहायक बनकर रहना चाहिए था। अन्य कार्य हेतु वे आसन्दी गये हुए हैं। तुम उनके स्थान पर रहकर मेरे साथ रहोगे तो मुझे बड़ी प्रसन्नता होगी। इसमें कोई दबाव या आदेश नहीं। वे लोग यहीं सामने के बरामदे में बैठे हैं। मैं भी वहीं रहूँगी। तुम्हारी इच्छा हो तो वहाँ आ जाओ।" कहकर शान्तल-देवी वहाँ से चल पड़ीं।

थोड़ी देर सब ओर स्तब्धता रही। इसके बाद सुव्वला ने कहा, "पट्टमहा-देवीजी को दुःख ही हुआ होगा। उन्हें कष्ट देने में क्या भलाई भला? उन्होंने कितनी दूर की सोची है।"

बिट्टियण्णा कुछ बोले विना वहाँ से उठकर चला गया। ड्योढ़ी पार करने तक सुव्वला वहीं रहकर फिर बाहर आयी और देखा कि पतिदेव किस ओर गये। वह आगे के बरामदे की ओर जा रहा था। वहीं ठहरकर सुव्वला ने शान्ति

की मुद्रा बना ली।

बिट्टियण्णा को आते देखकर शान्तलदेवी ने अपने पास बुलाया और बगल के आसन पर बैठने को कहा। वह आदेशानुसार बैठ गया।

दासोज ने कहा, "अद्भुत है! सम्पूर्ण मन्दिर की कल्पना को बड़े सुन्दर ढंग से चित्रित किया है इस महाशिल्पी ने। भित्तियों के बाहर और भीतर की रूपरेखा कैसी हो इसका बहुत ही उत्तम चित्रण है। देवमन्दिर मन को प्रकाश देनेवाला स्थान है। वहाँ अँधेरा नहीं रहना चाहिए। प्रकाश के लिए उन्होंने वातायनों का संयोजन भित्तियों में जो किया है, उससे इस सुन्दरता में चाँद लग गये हैं। इससे वायु-प्रकाश का भी प्रबन्ध हो जायेगा। यह चबूतरा, यह बहुकोण नक्षत्राकृति, सब कलामय मात्र ही नहीं, हमारी सम्पूर्ण परम्परा की कथा इसमें समायी हुई है। इसे तैयार करने के लिए उस शिल्पी ने कितने महीने लिये होंगे? वे कहाँ के हैं?"

"यह सब कुछ तो पता नहीं। इस सबको उन्होंने दो दिनों में निरूपित किया है, इतना भर ज्ञात है।"

"बड़ा आश्चर्य है! वह हस्तकौशल कितना सधा हुआ है! रेखा खींची तो फिर बदली ही नहीं। महान् साधक से ही ऐसा सम्भव हो सकता है। इन वातायनों को सजाने की रीति देखने पर हमारे दासोजजी ने बलिपुर के ओंकारेश्वर के मन्दिर में सजाये वातायनों की याद आ जाती है। इस शिल्पी पर इनका प्रभाव पड़ा होगा।" गंगाचारी ने कहा।

"मैंने किसी और की कृति को देखकर अपनी कृति का निर्माण तो किया नहीं न? इसी तरह उन्होंने भी किया होगा। उनकी कल्पनाशक्ति महान् है। ऐसी दशा में यह कल्पना भी स्वयं की ही हो सकती है। उन्होंने जब बलिपुर को देखा ही नहीं तो वहाँ के ओंकारेश्वर मन्दिर के वातायनों का प्रभाव उन पर हुआ, कैसे कह सकते हैं? आपने जिस दिन उसे देखा, प्रसन्नता से नाच उठे थे। अपनी रुचि जतायी। मेरी पीठ ठोकी; मुझे प्रोत्साहित भी किया और कहा—'आपके ऐसी कृति के निर्माण से बलिपुर के शिल्पियों की कीर्ति अमर हो जायेगी।' इस सबका कारण आपका मनोवैशाल्य है। अब भी वही पुराना प्रेम आपमें है।" कहकर पट्टमहादेवी की ओर मुड़कर दासोज ने पूछा, "अब पट्टमहादेवीजी की इच्छा क्या करने की है?"

"सन्निधान ने सामान्य दृष्टिपात ही किया था। फिर भी उनको भा गया। परन्तु निर्णय करने का दायित्व मुझ पर डाल रखा है। अब स्वीकृत चित्र के अनुसार कार्य प्रारम्भ हो चुका है। परन्तु अब इस स्थिति में उसमें परिवर्तन करें तो उसका क्या परिणाम होगा? उसकी अच्छाई-बुराई पर विचार करना है। तब निर्णय लिया जा सकता है। आप आत्मीय हैं। आप लोगों की राय मेरे लिए

मान्य है। इसीलिए पहले आप लोगों से विमर्श करने की इच्छा हुई।" शान्तलदेवी ने कहा।

"हम आपके कृतज्ञ हैं। जो वास्तव में कलाकार हैं और शिल्पशास्त्र से भली भाँति परिचित हैं—वे इस रचना को पूर्णरूपेण चाहेंगे। इस रूपरेखा के अनुसार मन्दिर का निर्माण हो तो वह शाश्वत प्रतिमान बन जायेगा, स्थायी कीर्ति का भाजन बनेगा। सहस्रों की संख्या में शिल्पी आयेंगे तो भी इस महान् कार्य में सबके लिए काम है। हर एक को अपनी-अपनी प्रतिभा दर्शाने के लिए, सूक्ष्म अंकन के लिए इसमें बहुत अवकाश है। परन्तु इसे स्वीकार करने पर फिर से नींव बदलनी होगी। यदि इस स्थान को स्वीकार न करें तो दूसरा स्थान खोजना होगा। समय व्यर्थ जायेगा। लेकिन रेखांकन हैं बड़े प्रभावी।" गंगाचारी ने कहा।

"मेरे लिए आपका इतना आश्वासन पर्याप्त है। अब और दो-तीन दिनों में सभी शिल्पियों को एकत्रित कर उनके सामने इसे प्रस्तुत करूँगी। फिर सबकी राय लेकर अन्तिम निर्णय करेंगे तो ठीक होगा न ?"

"जो आज्ञा। उस दिन पहले इस विषय में बोलने के लिए मुझे आदेश न दें—इतनी कृपा हो। दूसरों की राय लेकर फिर पीछे आवश्यकता पड़े तो अन्त में मेरी बात होगी। मेरी इस विनती को स्वीकार करें।" दासोज ने कहा।

"ठीक है। रविवार के दिन शिल्पियों की सभा होगी।" कहकर शान्तलदेवी उठ खड़ी हुईं। शिल्पी और बिट्टियण्णा सब उठ खड़े हुए। शान्तलदेवी महल के अन्दर चली गयीं। बिट्टियण्णा भी उनके पीछे-पीछे चला गया। शिल्पी राजमहल से बाहर चले गये।

शान्तलदेवी अपने विश्राम-गृह में आयीं। बिट्टियण्णा सोचता दरवाज़े पर ही पास खड़ा रह गया कि अब उसे क्या करना चाहिए। फिर अपने विश्रामागार की ओर बढ़ गया।

नौकरानी सान्तव्वे ने उसके पास जाकर कहा, "पट्टमहादेवीजी बुला रही हैं।" वह फिर आकर पट्टमहादेवी के शयनागार में गया। शान्तलदेवी ने कहा, "आओ, बैठो !" वह बैठ गया।

"सब देख लिये ?" शान्तलदेवी ने पूछा।

"नहीं, कुछ को देखा है। इन शिल्पियों की बातों को सुनने में ध्यान लग जाने के कारण इस ओर ध्यान न रहा।"

"कोई चिन्ता नहीं, इस चित्रकार को देखोगे तो तुम्हें विश्वास ही नहीं होगा कि यही वह महान् व्यक्ति है। उसके हाथ से खिंची एक लकीर भी एक कला बन जाती है। फिर भी वह किसी भी बात के लालची नहीं। उन्हें अधिकार, प्रशंसा आदि किसी भी बात की चाह नहीं। भरी गगरी छलकती नहीं। ऐसे

व्यक्ति हैं वे। इतवार के दिन देखोगे। तुम तो पुरुष होकर भी स्त्री की सुकुमारता दिखा सकनेवाले कुशल कलाविद हो। इन रेखाओं में प्राण भरनेवाले वह शिल्पी कल पत्थर में भी प्राण भरेंगे। ऐसों से बहुत सीखना है। व्यक्ति का अच्छा विकास होना चाहिए। क्रिया व्यक्तित्व का अनुसरण करती है। तुम्हें यह सब जानना चाहिए। कितना ही बुद्धिमान और गुणी क्यों न हो, उसके साथ अनुभव की अनुभूति समन्वित न हो तो वह बुद्धिमानी और गुणवत्ता इस तरह उड़ न जाय—यही मेरी अभिलाषा है। सहयोग दोगे न?"

"हाँ," धीमे स्वर में कहा।

"कोई भी काम करो उसे तृप्त मन से करो। जबरन करने से कोई फल नहीं मिलेगा। न पुण्य ही मिलेगा।"

"भविष्य में मेरे लिए आपकी आज्ञा लक्ष्मण-रेखा हो रहेगी। उसी में अपना कल्याण मानता हूँ।"

"ऐसा अन्धानुकरण भी अच्छा नहीं। यदि तुम्हें ठीक नहीं जँचे तो खुले दिल से सामने कह देना चाहिए। अपनी शंका का निवारण करो। अपनी भावना को स्पष्ट रूप से कह दो। दूसरों को भी समझने का यत्न करो। दूसरे तुम्हें भी समझ सकें—ऐसा व्यवहार करो। सब ठीक हो जायेगा। लो, यह पुलिन्दा, यह तुम्हारे अधिकार में रहेगा। आनेवाले रविवार तक इन्हें पूरा समझ लो। एक-एक चित्र को समझकर उस पर अपनी पक्की राय बना लो। इतवार को शिल्पियों की सभा में तुम्हें बोलना होगा।" कहकर पुलिन्दा हाथ में लिये आगे बढ़ा दिया।

"सुनकर लोग हँसेंगे। प्रसिद्ध शिल्पियों के बीच बोलने का मुझे क्या अधिकार है?" बिट्टियण्णा ने पूछा और पुलिन्दे को नहीं लिया।

"मेरे सहायक बनकर रहनेवाले तुम अगर इतने गुणी न होगे तो सब काम मुझे ही करना होगा। तब सहायक होने का क्या अर्थ? अब जाओ मेरी मदद कर सकने का धैर्य जब तुम्हें आये तभी आना।" शान्तलदेवी ने कहा।

बिट्टियण्णा ने हाथ आगे बढ़ाकर कहा, "दीजिए।"

शान्तलदेवी ने "लो" कहकर उसके हाथ में पकड़ा दिया। उसे ले वह वहाँ से निकल गया।

पट्टमहादेवी को इस तरह बातचीत करते उसने कभी देखा न था। त्रुटि करने पर समझा-बुझाकर, हठ करने पर मीठी-मीठी बातों से मन को रमाकर सँभाल लेती थीं। आज इतनी कठोर क्यों? उनके कहने के ढंग में ऐसा परिवर्तन क्यों हो गया? शायद मेरे ऊपर बहुत क्रोध आ गया होगा। ऐसी दशा में सुव्वला को भेजकर उनके क्रोध का निवारण करना होगा—यों सोचता-विचारता अपने विश्रामागार में पहुँचा। सुव्वला वहाँ नहीं थी। उस पुलिन्दे को खोला, एक-एक कर चित्रों को देखने लगा। उनकी कलाकारिता को देख उसी में तल्लीन होकर

आत्मविस्मृत हो गया। उसे समय का भी पता न लगा। इस बीच में सुव्वला ने आकर झाँका। उसकी इस तल्लीनता को देख वह वहाँ से खिसक गयी थी। सूर्यास्त के पूर्व भोजन हो ही चुका था। केवल सोना मात्र था।

उस दिन पति ने जो व्यवहार किया था, उससे उसका मन दुःखी अवश्य था। वेचारी क्या करे ? निस्सहाय थी। छोटी उम्र, अनुभवहीन—वह कर ही क्या सकती थी ? सन्निधान के युद्ध-यात्रा पर चल देने के बाद पट्टमहादेवी ने उसे जो सलाह दी, व्यवहार के ढंग आदि बताकर जैसे समझाया था, उनकी कल्पना तक वह नहीं कर सकती थी। वह इतना तो समझ गयी थी कि पट्टमहादेवी ने उसके पति के भविष्य के बारे में कितनी गम्भीरता और गहराई के साथ सोचकर अपने विचार पक्के कर रखे हैं। ऐसी हालत में उसे अच्छी तरह मालूम हो गया कि उसके पति का यह हठ ठीक नहीं। उन्होंने अनुसरण करने के लिए जो दिशा-दर्शन किया, वह कितनी अच्छी हैं ! मनुष्य को जब असन्तोष होता है और जब समझता है कि उसने भूल की है और चाहनेवाले भी कहें कि वह ठीक नहीं, तब वह समझने लगता है कि चेतानेवाला शत्रु ही है, इस तरह के विचार से प्रक्रिया विपरीत ही होती है। इस तरह की स्थिति न हो—इसलिए पट्टमहादेवी ने समझाया कि किस तरह का व्यवहार होना चाहिए। सुनते हुए तात्कालिक रूप से सही न लगने पर भी, जब पतिदेव शिल्पियों के पास पट्टमहादेवी के आदेशानुसार जाने लगे तो उसका मन परिवर्तित हो गया। सुव्वला के अन्दर कुतूहल पैदा हुआ कि यह जाने कि उसके पतिदेव ने क्या किया। अब उसे जीवन का एक नया पाठ मिला था। अतः उसने पहले पट्टमहादेवीजी से एकान्त में मिलकर फिर अपने पतिदेव से मिलने का निश्चय कर लिया। पट्टमहादेवी ने सुव्वला को समझाकर बताया कि उससे किस तरह से व्यवहार किया जाय। फिर कहा कि—"मैं जानना चाहती हूँ कि मेरी बातों का उस पर कैसा असर पड़ा है ? वह मुझ पर असन्तुष्ट हो या मेरी बातों पर टीका-टिप्पणी भी करे उसे मुझे बता देना। तुम उससे जब बात करो तो ऐसी करो जिससे उसे ठीक लगे। तुम्हारा व्यवहार ऐसा होना चाहिए कि तुम कुछ नहीं जानती हो। उसे पीछे चलकर इस राष्ट्र और सिंहासन का रक्षक बनकर रहना होगा। उसे इस योग्य बनाना हमारा कर्त्तव्य है। इसके लिए तुम्हें मेरी सहयोगी होना होगा। हमारे इतिहास में उसका नाम स्थायी बनकर रहना चाहिए। तभी महामातृश्री ने उसकी माँ को जो वचन दिया था उसका पालन हम करने में सहायक बनेंगी। सम्भव है कि जब वह आये तुम वहाँ न रहो, तब वह क्रोधित भी हो सकता है। इसमें कोई आश्चर्य नहीं। अब जाओ !" कहकर शान्तलदेवी ने उसे भेज दिया।

सुव्वला जब आयी तब बिट्टियण्णा चित्रों को देखने में तल्लीन था। दो-तीन बार झाँककर देखा, तब भी वह तल्लीन रहा। वह अन्तःपुर की छत पर जाकर

चाँदनी में, ठण्डी-सुगन्धित हवा में नींद लगने तक आराम से बैठी रही। जब नींद लगने लगी तो वहाँ से उठकर आयी तब भी वह चित्रों में ही निमग्न था।

अन्दर आकर जब उसने किवाड़ बन्द किये तो कुछ आवाज हुई। इससे बिट्टियण्णा का ध्यान बँट गया। उसने सिर उठाकर दीप की ओर देखा, प्रकाश मन्द पड़ गया था। उसने पूछा, "कहाँ गयी थी, सुव्वला ?"

"मैं राजमहज को छोड़कर कहाँ जाऊँगी।"

"क्या समय है ?"

"चाँद आकाश के बीच पहुँच चुका है। शायद आपको नींद नहीं लेना। इन चित्रों को देखते-देखते आपको पता तक नहीं लगा है कि चारों ओर क्या हो रहा है। हम जैसी जिन्हें कोई काम नहीं, कब तक जागती रहें ? आपकी एकाग्रता भंग न हो इसलिए छत पर बैठ समय बिताती रही। नींद जोरों से लगने लगी तो अब पूरी तौर से अन्दर आ गयी और द्वार बन्द कर दिया।"

"यह पूरी तौर से अन्दर आने का क्या अर्थ ?"

"चार बार आयी, झाँककर चली गयी। आपकी तन्मयता इतनी गहरी थी। इसलिए तब अन्दर आयी नहीं। अच्छा रहने दें; आपको इतनी तल्लीनता में मग्न करने के लिए ये चित्र सुन्दरियों के हैं क्या ?"

"सारा विश्व इसमें है तो, सुन्दरियाँ नहीं होंगी ? परन्तु यह सब तुम कैसे समझोगी ?"

"हाँ, मैं मूर्ख हूँ। मुझे क्या अनुभव ?" कहती हुई कुछ रुष्ट भाव से जाकर पलंग पर चादर ओढ़कर लेट रही।

बिट्टियण्णा चित्रों के उस पुलिन्दे को वहीं रख पलंग के पास गया। "ओह ! तुम्हारा ध्यान न रखने के कारण ही क्रोधित हो ? इसका निवारण तो करना ही होगा अब।" कहते हुए मन्द होती दीप की लौ बुझा ही दी। थोड़ी देर मौन रहा। थोड़ी देर तक ज़ोर-ज़ोर से साँस चलती रही—फिर वह मौन चंचल हास्य में बदल गया।

"अब बस करिए; मुझसे अधिक हँसा नहीं जाता।" विपर्यस्थ सुव्वला ने कहा।

"ठीक, तब फिर सो जाओ।"

"सारी नींद भाग गयी ?"

"दिया जला दूँ ? तुम्हें तो ईर्ष्या हुई न ? उन सुन्दरियों के चित्र चाहो तो भी देख लो।"

"अब बीच में वे सुन्दरियाँ नहीं चाहिए। सुबह देख लेंगे। थोड़ी देर चुपचाप आँखें मूँदकर पड़े रहो तो अपने आप नींद आ जायेगी। आप तो भोजन पर भी नहीं आये। भूख लग रही होगी, पेट में चूहे दौड़ रहे होंगे।"

"भूख के बारे में सोचने के लिए मस्तिष्क में जगह ही कहाँ थी। कोई चिन्ता नहीं। तुम सो जाओ।" फिर मौन छा गया। जल्दी ही नींद आ गयी।

सुबह उठे। नैमित्तिक कर्मों से निवृत्त हुए। फिर बिट्टियण्णा ने सुव्वला से पूछा, "सुव्वला, पट्टमहादेवीजी को मुझ पर बहुत क्रोध आया होगा न?"

"नहीं, मुझे तो ऐसा कुछ लगा नहीं।"

"तुमने देखा था?"

"हाँ।"

"कब?"

"आप जब शिल्पियों के पास गये थे तब इस पीछे के सभाकक्ष में मैं चट्टला के बच्चे को खिला रही थी। वह सो गया। बाद में विश्राम घर में आने पर आपको इन चित्रों में लीन देखा। मुझे कुछ सूझा नहीं कि क्या करूँ? समय कैसे विताऊँ। इसलिए पट्टमहादेवीजी के यहाँ चली गयी।"

"उन्होंने मेरे बारे में कुछ कहा?"

"कुछ नहीं।"

"यों ही मुँह देखती बैठी रहीं?"

"कुछ पुराना किस्सा सुना रही थीं।"

"पुराना किस्सा सुनाने में क्या उद्देश्य था?"

"मुझे क्या पता? शायद जानकारी देने के लिए कहा हो।"

"हो सकता है, विना आवश्यकता वे कभी किसी से कोई बात नहीं करतीं।"

"हो सकता है। आप उनके बारे में मुझसे ज़्यादा जानते हैं।"

"हाँ।"

"तो आपको अगर ऐसा लगा है कि उन्होंने क्रोध किया तो उसका कारण आपसे हुई उनकी बातचीत ही हो सकती है।"

"हाँ।"

"अगर मुझे बता सकते हो…"

"मेरे काम में सहायक बनने की जब इच्छा हो तब मेरे पास आना—यह बात जब कही तब यह मानना चाहिए कि उन्होंने मुझे ठेठ उजड्ड मानकर ही कहा होगा। यूँ वे मुझे शिक्षाएँ ही देती आयी हैं; अब ऐसा क्यों कह दिया? वे कभी ऐसा कहनेवाली नहीं।"

"तो आपने ऐसा कुछ किया होगा?"

"हो सकता है। यही पहली बार तो नहीं न?"

"अब तो आप बड़े हो गये हैं। बच्चे की तरह कैसे देख सकती हैं? उन्हें शायद डर हो कि आप उल्टे उन पर हावी न हो जायें?"

"पट्टमहादेवी पर हावी होना। यह मुझसे कभी हो सकेगा?"

"तो जब सन्निधान विजय-यात्रा पर गये, तब आप वहाँ क्यों नहीं रहे? क्या यह ठीक है?"

"भूल है, सरासर भूल। उसके लिए दण्ड दें, भुगत लूँगा। परन्तु जिन्होंने मुझे पाला-पोसा उन्हीं की सहायता के लिए शायद मैं न जाऊँ—ऐसी शंका उनके मन में हो गयी है। यह मेरे लिए अत्यन्त पीड़ादायक है।"

"तो क्या आप समझते हैं कि अब आप पर उनका विश्वास नहीं।"

"हो सकता है।"

"ऐसे में शंका निवारण के लिए उनसे बातचीत करना अच्छा है। सुनती हूँ कि वे क्षमागुण पृथ्वी तुल्य ही हैं।"

"जहाँ तक मैं समझता हूँ, भूमाता बोल नहीं सकती। मगर उसमें चेतना है। उसी चैतन्य के द्वारा वह हमें अन्न देती है। परन्तु यह माँ ऐसी है, जिसके कान हैं, हृदय है, बोल सकती है। साथ-साथ यह साकारमूर्ति है। एक काल्पनिक भूमाता से इस माता का व्यवहार स्पष्ट और अर्थयुक्त है।"

"तब तो अपनी भूल को स्वीकार कर लेना अच्छा है न?"

"तुम भी साथ चलोगी?"

"क्यों डर लगता है?"

"तुम रहो तो अच्छा।"

"न, आप अकेले जाइए।"

वह तुरन्त निकला। परन्तु पट्टमहादेवी का दर्शन न कर सका। वे वहाँ नहीं थीं। उन्हें सूचना मिली थी कि उनके पिता का स्वास्थ्य अच्छा नहीं, इसलिए पिता को देखने के लिए मायके गयी हुई थीं। दो दिन तक उसे पट्टमहादेवी के दर्शन ही नहीं मिले। पूर्व निर्णय के अनुसार रविवार के दिन शिल्पियों की सभा की व्यवस्था की गयी थी।

अपने वचन के अनुसार वह यायावर शिल्पी राजमहल के महाद्वार पर आया। बेलापुरी में निर्मित होनेवाले मन्दिर के काम पर लगे सैकड़ों शिल्पी भी उस समय राजमहल के महाद्वार के अन्दर प्रवेश कर रहे थे। रेविमय्या भी वहाँ उपस्थित था। उसने उस शिल्पी को इंगित से समझा दिया कि पहले इन सबको अन्दर जाने दें। शिल्पी इंगित समझकर महाद्वार के बाहर के चित्र-शिल्प को देखने के बहाने इधर-उधर चित्रों को देखता रह गया। तब तक सभी शिल्पी राजमहल में अन्दर प्रवेश कर गये थे। रेविमय्या ने उस शिल्पी के पास आकर कहा, "आइए।"

दोनों महाद्वार के अन्दर गये। रेविमय्या आगे था। शिल्पी पीछे धीरे-धीरे चल रहा था। स्थपति हरीश शीघ्रता से आया और रेविमय्या से पहचानते हुए पूछा, "यह कौन है?"

"एक शिल्पी हैं।" कहकर रेविमय्या ने आगे क़दम बढ़ाया।

"मैंने इन्हें कभी देखा हो, ऐसा याद नहीं आता।" हरीश ने कहा।

"देखा हो, तो याद हो आता।"

"क्या पट्टमहादेवी से मिलना चाहते हैं?"

"हाँ।"

"तुम कहाँ से आ रहे हो?" स्थपति हरीश ने उस शिल्पी से पूछा।

"अभी तो वेलापुरी से ही।" शिल्पी ने कहा।

"मैंने पूछा कि तुम्हारा गाँव कौन-सा है?" हरीश ने फिर प्रश्न किया।

"वही, जहाँ मैं रहता हूँ।" शिल्पी ने कहा।

हरीश को कुछ अटपटा-सा लगा। उसने सोचा कि "मैं छोटा हूँ, इसलिए यह डींग हाँक रहा है।" अगर उसे मालूम हो जाय कि मैं कौन हूँ तो यह ठीक से बात करेगा—यों सोचकर उसने कहा, "मैं यहाँ वन रहे इस मन्दिर का स्थपति हूँ।"

"वड़ी प्रसन्नता की बात है।" कहकर वह शिल्पी चुप हो रहा।

"तुमने किस-किसके पास काम किया है?" स्थपति हरीश ने प्रश्न किया।

"चाहे किसी के पास काम करूँ, मैं अपना काम ही तो करता हूँ।"

"अमुक जगह काम किया है—यह वताते तो यहाँ भी कुछ कार्य दिया जा सकता था।" हरीश बोला।

"मेरा कथन ही योग्यता का मापदण्ड है या मेरा कार्य मेरी योग्यता का मापदण्ड है?"

"इसीलिए तो पूछा—कहाँ-किसके पास काम किया है।" हरीश ने कहा।

"उस सबको आपने देखा हो, तव न? दोड्डगद्दवल्ली हो आये हैं क्या?"

"नहीं, सुना कि वहाँ अभी हाल में काम समाप्त हुआ है।"

"कभी क्रीडापुर गये?"

"नहीं।"

"तभी तो···क्या लाभ कोरे प्रश्नोत्तर से?"

इतने में राजमहल के एक सेवक ने आकर कहा, "पट्टमहादेवीजी मुखमण्डप में उपस्थित हैं। स्थपति के बारे में उन्होंने पूछा है। शीघ्रता करें।"

वह जल्दी-जल्दी कदम वढ़ाता हुआ चला।

थोड़ी देर बाद एक कर्मचारी ने आकर रेविमय्या के कान में कुछ कहा। रेविमय्या ने अपनी सम्मति जतायी और उस शिल्पी को साथ लेकर वह राजमहल के अन्दर पहुँचा।

उधर स्थपति मुखमण्डप में पहुँचकर अपने लिए सुरक्षित एक आसन के

पास आया और पट्टमहादेवी को विनीत भाव से झुककर प्रणाम किया, "पट्टमहादेवीजी क्षमा करें। मेरे आने में विलम्ब हुआ। सन्निधान के अमूल्य समय को व्यर्थ करने के लिए क्षमाप्रार्थी हूँ।"

"अब यह तो कोई बड़ी बात नहीं। आज यहाँ एकत्रित शिल्पी-सभा का उद्देश्य प्रधान है। हमारे कुँवर बिट्टियण्णा इसके उद्देश्य को स्पष्ट करेंगे।" शान्तलदेवी ने कहा।

कुँवर बिट्टियण्णा उठ खड़ा हुआ। झुककर प्रणाम किया। और कहने लगा: "पट्टमहादेवीजी की आज्ञा के अनुसार इस सभा के उद्देश्यों को आप लोगों के सामने प्रस्तुत करूँगा। हर दृष्टि से इस काम के लिए मैं अनर्ह हूँ। फिर भी पट्टमहादेवीजी ने मुझे इस कार्य पर क्यों नियोजित किया, यह मेरी ही समझ में नहीं आ रहा है। आप सभी जानते हैं कि महासन्निधान विजय-यात्रा पर गये हुए हैं। जब तक वे विजयश्री के साथ लौटेंगे, तब तक इस मन्दिर के निर्माण-कार्य को पूरा कर लेना है। पट्टमहादेवीजी का यही उद्देश्य है। छोटे प्रभु उदयादित्यरसजी भी इस समय राजधानी में उपस्थित नहीं हैं। इसलिए उनके कार्य के निर्वहण का दायित्व राजमहल ने मुझे सौंपा है। यहाँ उपस्थित सभी लोगों में मैं सबसे छोटा हूँ। ऐसी स्थिति में इतने बड़े दायित्व को मुझे सौंपने से सहज ही अहंकार उत्पन्न होना सम्भव है। ऐसा अहंकारजनक उत्तरदायित्व सिर पर लेने के बाद सिर झुकाना कैसे होगा? विनीत होकर लक्ष्य को साधने के लिए किस तरह निर्वहण करना पड़ेगा—यह सीख सिखाना उनका ध्येय है। छोटा होने के कारण और भारी दायित्व के कारण उत्साह से शीघ्रता में कुछ विचार सहज ही मन में उत्पन्न होंगे ही। ऐसे सन्दर्भ में मैं कुछ अनुचित कह भी दूँ तो आप लोग उतारता से क्षमा कर देंगे। यही मेरी विनीत प्रार्थना है। मैं कृतकार्य होऊँ तो अपने को कृतार्थ मानूँगा। राजमहल ऐसा ही आशीर्वाद दे—यह मेरा नम्र निवेदन है।" इतना कहकर वह इस सभा का उद्देश्य कहने लगा—"मैंने पहले ही सूचित किया है कि इस कार्य को शीघ्र पूर्ण करना है। स्थान, मान, योग्यता आदि के कारण हो सकनेवाली मतभिन्नताओं को किसी तरह की विरसता को अवसर न देकर कार्य करना बहुत आवश्यक है। शायद आपमें बहुतों को ज्ञात न होगा कि कहाँ क्या हो रहा है और कौन क्या कर रहे हैं। शायद आप लोग समझते होंगे कि ये सब बातें राजमहल को ज्ञात नहीं होंगी। प्रत्येक बात राजमहल को ज्ञात है। अभी की कुछ बातों से ऐसा लगा है, श्रेष्ठ, अश्रेष्ठ, राजमहल के प्रियपात्र होने से प्रभावशाली, इसलिए प्रधान स्थान मिला—आदि बातें जब-तब निकली हैं। निश्चित रूप से अमुक ने अमुक बात कही—यह राजमहल को स्पष्ट मालूम होने पर भी, उसे प्रकट करना नहीं चाहते। क्योंकि ऐसी बातें कभी किसी तरह के उद्वेग के कारण एकदम निकल

पड़ी हो सकती हैं। बुराई करने के उद्देश्य से ऐसी बातें निकली हों तो उसके लिए दण्ड देना अनिवार्य होता है। अब तक जो हुआ है वह क्षमा-योग्य है—इस बात को राजमहल जानता है। नाम बताने की आवश्यकता नहीं। आज उद्वेग से निकली बात कल सोद्देश्य हो सकती है। इसलिए सबके समक्ष इन बातों को खुले दिल से स्पष्ट करने के साथ-साथ यह स्पष्ट करना भी राजमहल का उद्देश्य है कि व्यक्ति प्रधान नहीं, कृतिनिष्ठा ही प्रधान है। स्थान, मान नहीं। इस कारण से उम्र, अनुभव, विरुदावली आदि सभी बातें गौण ठहरती हैं। राजमहल की दृष्टि में स्थपति से लेकर सभी समान हैं। चित्र की स्वीकृति, चित्रकार कौन है—इसे देखकर तो नहीं हुई; यह बात सभी लोग जानते हैं। रचना पर आधारित होकर निर्णय किया गया है। इस राज्य के सभी कामों में व्यक्ति प्रधान नहीं है, उसकी कर्तव्य-शक्ति प्रधान है। आज एक काम में जो प्रधान बनता है, कल किसी दूसरे काम के लिए वह प्रधान नहीं माना जा सकता है। प्रधान-अप्रधान की बात एक ही व्यक्ति पर लागू होने पर भी श्रेष्ठता या अश्रेष्ठता की छाप नहीं लगायी जाती। यह बात सदा ध्यान में रहे कि व्यक्ति राजमहल का विश्वासपात्र किस हद तक है, इस पर सारी बातें अवलम्बित हैं। इसलिए पट्टमहादेवी की तरफ से आप सभी से मेरा यही नम्र निवेदन है कि आप लोग आपस में ऊँच-नीच का भेदभाव न रखें। काम करते समय नेता की इच्छा के अनुसार काम करनेवाले होने पर भी सब समान हैं। नेता भी सभी के बराबर ही है। नियोजित कार्य के मार्गदर्शक होने का यह मतलब नहीं कि वह अन्य सभी से श्रेष्ठ हैं। इस मन्दिर की कल्पना एक व्यक्ति की होने पर भी, उसे बहुमुखी प्रतिभा का एक स्थायी रूप बनकर रहना चाहिए। इसमें पद की भावना का होना उस एकता की साधना के लिए बाधक हो जाता है। इस वजह से आज राजमहल आपसे यही चाहता है कि वैयक्तिक प्रतिभा को उस एकता की ओर अग्रसर करने का दृढ़ निश्चय आप लोग करें। अपनी बात को स्पष्ट रूप से इस सन्दर्भ में कह देना उचित समझता हूँ। माँ-बाप को एक साथ मैंने खोया; ऐसे अनाथ बच्चे का पालन-पोषण इस राजमहल ने किया। मेरे माँ-बाप की धर्म-निष्ठा का फल मुझे मिला। यह राजमहल की कृपा है। राजमहल के प्रेम ने मुझे 'अहं' की ओर अग्रसर किया। अपने वयोधर्म के अनुसार सीमितता से संकुचित बुद्धि से मैंने व्यवहार किया। हमारी पट्टमहादेवी ने इस अहं की भावना का निवारण करके कर्तव्य की ओर प्रेरित कर, मुझे उस कर्तव्य के अनेक पहलुओं का साक्षात्कार कराया है। 'अहं' को दूर करके कर्तव्य की ओर अग्रसर होने की प्रवृत्ति, मुझमें उन्होंने जाग्रत की। आपके समक्ष अपनी भूल को स्वीकार करते हुए मुझे कुछ भी संकोच नहीं हुआ। भूल करनेवाले को चित्त की शुद्धि के लिए दूसरा मार्ग नहीं है। इससे व्यक्ति निर्भय होता है और कार्यनिष्ठा की ओर

प्रवृत्त होने के लिए मन तैयार होता है। आज राजमहल सभी शि
मन्दिर-निर्माण में इसी कार्य-निष्ठा की अपेक्षा रखता है। मेरी वा
अपरिपक्व, विशृंखल विचारों में कुछ प्रकृत-अप्रकृत उल्टी-सीधी
आप लोग क्षमा कर, उनमें से मुख्य विचार ग्रहण करें। पट्टमहा
लोगों के विचारों को समझना चाहती हैं।" इतना कहकर बिट्टि
वक्तव्य समाप्त किया।

उसके बोलने की गति, आवेग, भावनाओं के उतार-चढ़ाव
शान्तलदेवी ने ध्यान से देखा। एक संतोष की लहर उनके मन में
उन्होंने कभी यह न सोचा था कि वह इस तरह विचार व्यक्त
उदयादित्य ने जो बातें बतायी थीं उनकी ओर इंगित कर यह बत
था कि राजमहल शिल्पियों में कोई ऊँच-नीच, या श्रेष्ठ-अश्रेष्ठ की
रखता और उसकी दृष्टि में सभी बराबर हैं। उस आदेश से भी अ
बातें कह गया। परन्तु शिल्पियों ने एकाग्र भाव से उसकी बातों को
समाप्त हुई, फिर भी किसी ने कुछ नहीं कहा।

थोड़ी देर के बाद शान्तलदेवी ने स्थपति से पूछा, "आप
है?"

"विचार तो बहुत ही उत्तम हैं। परन्तु काम करने और करा
समान माने जायँ तो करानेवाले की बात करनेवाले मानें ही क्य
तरह की भावना उत्पन्न हो जाय तो एकता की साधना कैसे होगी
हरीश बोला।

"उसे कैसे साधना चाहिए?"

"करानेवाला कहे, करनेवाला उसकी आज्ञा मानकर करे। र
आदेशानुसार सेना न चले तो युद्ध की क्या दशा होगी?"

"वहाँ लक्ष्य केवल एक है। शत्रुओं को मार गिराना, उसे निर्मूल
परन्तु यहाँ कला की सृष्टि है। कल्पना का विलास है। वैयक्तिक प्र
है। वैविध्य की छूट है। आत्मानुभूति और आनन्द के लिए स्थान
सौन्दर्य को अधिकाधिक कलापूर्ण बनाने का कौशल निहित है। य
सम्भव है जब मन सहज हो, अधिकार और गर्व से तो यह सम्भ
शान्तलदेवी ने बल देकर कहा।

"पट्टमहादेवीजी ठीक कह रही हैं।" चावुण ने कहा।

"बलिपुरवालों में सभी का एक ही भाव है। अंकुश रखने
उद्गम नहीं होता। वह आत्मा की प्रेरणा है। कल्पना का फल है
सम्भव है, जब अभिव्यक्ति की स्वतन्त्रता हो।" पदरि मलोज ने कहा

"तो स्थपति का क्या काम है?" हरीश ने प्रश्न किया।

प्रवृत्त होने के लिए मन तैयार होता है। आज राजमहल सभी शिल्पियों से इस मन्दिर-निर्माण में इसी कार्य-निष्ठा की अपेक्षा रखता है। मेरी बालबुद्धि के इन अपरिपक्व, विश्रृंखल विचारों में कुछ प्रकृत-अप्रकृत उल्टी-सीधी बातें होंगी। आप लोग क्षमा कर, उनमें से मुख्य विचार ग्रहण करें। पट्टमहादेवीजी आप लोगों के विचारों को समझना चाहती हैं।" इतना कहकर बिट्टियण्णा ने अपना वक्तव्य समाप्त किया।

उसके बोलने की गति, आवेग, भावनाओं के उतार-चढ़ाव—आदि को शान्तलदेवी ने ध्यान से देखा। एक संतोष की लहर उनके मन में उत्पन्न हुई। उन्होंने कभी यह न सोचा था कि वह इस तरह विचार व्यक्त कर सकेगा। उदयादित्य ने जो बातें बतायी थीं उनकी ओर इंगित कर यह बताने का आदेश था कि राजमहल शिल्पियों में कोई ऊँच-नीच, या श्रेष्ठ-अश्रेष्ठ की भावना नहीं रखता और उसकी दृष्टि में सभी बराबर हैं। उस आदेश से भी अधिक वह कई बातें कह गया। परन्तु शिल्पियों ने एकाग्र भाव से उसकी बातों को सुना। बातें समाप्त हुईं, फिर भी किसी ने कुछ नहीं कहा।

थोड़ी देर के बाद शान्तलदेवी ने स्थपति से पूछा, "आपकी क्या राय है?"

"विचार तो बहुत ही उत्तम हैं। परन्तु काम करने और करानेवाले दोनों समान माने जायँ तो करानेवाले की बात करनेवाले मानें ही क्यों? जब इस तरह की भावना उत्पन्न हो जाय तो एकता की साधना कैसे होगी?" स्थपति हरीश बोला।

"उसे कैसे साधना चाहिए?"

"करानेवाला कहे, करनेवाला उसकी आज्ञा मानकर करे। दण्डनायक के आदेशानुसार सेना न चले तो युद्ध की क्या दशा होगी?"

"वहाँ लक्ष्य केवल एक है। शत्रुओं को मार गिराना, उसे निर्मूल कर देना। परन्तु यहाँ कला की सृष्टि है। कल्पना का विलास है। वैयक्तिक प्रतिभा-प्रदर्शन है। वैविध्य की छूट है। आत्मानुभूति और आनन्द के लिए स्थान है। कल्पित सौन्दर्य को अधिकाधिक कलापूर्ण बनाने का कौशल निहित है। यह सब तभी सम्भव है जब मन सहज हो, अधिकार और गर्व से तो यह सम्भव नहीं।" शान्तलदेवी ने बल देकर कहा।

"पट्टमहादेवीजी ठीक कह रही हैं।" चावुण ने कहा।

"बलिपुरवालों में सभी का एक ही भाव है। अंकुश रखने से कला का उद्गम नहीं होता। वह आत्मा की प्रेरणा है। कल्पना का फल है। वह तभी सम्भव है, जब अभिव्यक्ति की स्वतन्त्रता हो।" पदरि मलोज ने कहा।

"तो स्थपति का क्या काम है?" हरीश ने प्रश्न किया।

"स्थपति सम्पूर्ण निर्माण का योजक है, निर्देशक है। कल्पना का सम्पूर्ण फल कैसा होना चाहिए, इसे प्रत्येक शिल्पी को समझानेवाला सूत्रधार है। वह शिल्पी का स्वामी नहीं।" कुमारमाचारी ने कहा।

"कल्पना की अभिव्यक्ति के स्वातन्त्र्य का यदि ग़लत अर्थ लेकर हरएक शिल्पी निज-निज अनुसार कुछ बनाकर रख दें तो स्थपति की क्या दशा होगी?" हरीश ने प्रश्न किया।

"अभिव्यक्ति-स्वातन्त्र्य का अर्थ, रासहीन घोड़े को सरपट दौड़ाना नहीं है। स्थपति क्या चाहते हैं, उसे किस तरह की रूप-कल्पना चाहिए, रूपित कर शिल्पी के हाथ में दें तो उसके अनुसार कृति का निर्माण करना, शिल्पी का काम है। उसमें कला की अभिव्यक्ति में शिल्पी को स्वतन्त्रता है। कृति-निर्माणक-शिल्पी को छेनी कैसे पकड़ना, हथौड़ा कैसे पकड़ना, किस कोण से हथौड़ा चलाना, हथौड़े की चोट कितनी भारी या हल्की होना यह सब बताते जानेवाला स्थपति नहीं हो सकेगा। ऐसा स्थपति दण्ड देनेवाले न्यायाधीश की तरह क्रूर होता है। इससे कला के प्रति अन्याय ही होता है।" नागोज बोले।

शान्तलदेवी बैठी सुनती रहीं; उन्हें शंका होने लगी कि बात कहीं-से-कहीं पहुंच रही है। उन्होंने कहा, "यहां सभा जो बैठी है, इसका उद्देश्य यह नहीं कि किसी के स्थान-मान आदि पर चर्चा करें। उद्देश्य है कि समग्र कृति को कैसे रूप देना चाहिए—इस विषय पर चिन्तन करना। कलाकार को अभिव्यक्ति स्वातन्त्र्य तो है ही। इस स्वतन्त्रता के रहने पर ही तो हम कलाकार को पहचान सकेंगे। सूक्ष्म और स्थूल काम करनेवाले कलाकारों में कहां भिन्नता है, किसकी कैसी शैली है आदि बातों को, कलाकृति को देखकर पहचान सकने योग्य व्यक्तित्व को हर कलाकार ने अपनी साधना के द्वारा विकसित किया है। इसी से कलाकार पहचाना जाता है। यहां निर्मित होनेवाले इस मन्दिर में इस तरह की कला का निर्माण होना चाहिए कि कलाकृति को देखकर कलाकार की पहचान की जा सके। और कला यदि एक बार की गयी कल्पना से अधिक सुन्दरता को प्राप्त कर सकती हो तो उस पहले की कल्पना से चिपके रहना नहीं चाहिए। नयी अभिव्यक्ति के स्फुरण के लिए हृदय का द्वार खुला रहे—इसके लिए कलाकार को अवसर देना चाहिए। अब राजमहल को इस सन्दर्भ में इस तरह के नवीन अभिव्यक्ति-से लगनेवाले चित्रों का एक संग्रह प्राप्त है। मेरी इच्छा है कि उन्हें इस सभा में आप लोगों के सम्मुख प्रस्तुत करके आप लोगों के अनुरूप विचार जानूं।...बिट्टियण्णा! उस पुलिन्दे को स्थपति के हाथ में दो। वे उसे खोलकर देखें; बाद में उसे सभी शिल्पी देखें।"

कुंवर बिट्टियण्णा ने स्थपति हरीश के हाथ में वह पुलिन्दा दे दिया। स्थपति उसे देखने लगा।

"एक बात और; इन्हें देखने में पर्याप्त समय लगेगा यह मैं जानती हूँ। मैंने इन चित्रों को पूरा देख लिया है। आप सब लोग इन्हें जब तक देखेंगे तब तक मैं अपने दूसरे काम सँभालकर लौट आऊँगी। यहाँ आपकी सहायता के लिए कुँवर बिट्टियण्णा रहेगा।" कहकर शान्तलदेवी वहाँ से अपने अन्तःपुर चली गयीं।

इधर शिल्पीगण उस यायावर शिल्पी के द्वारा रचित उन चित्रों को बहुत उत्साह के साथ देखने में लगे रहे। उधर शान्तलदेवी अन्तःपुर में प्रवेश करके उस विशेष कक्ष की ओर गयीं जहाँ यह शिल्पी बैठा था। यह कक्ष मन्त्रणालय से लगा था। उसके अन्दर प्रवेश करते ही वह शिल्पी उठ खड़ा हुआ और उसने झुककर प्रणाम किया।

"बैठिए, बैठिए"—कहती हुई शान्तलदेवी बैठ गयी। वह भी बैठ गया। रेविमय्या किवाड़ बन्द कर किवाड़ से सटकर खड़ा रहा।

"सन्निधान के पिताजी का स्वास्थ्य कैसा है?" शिल्पी ने पूछा।

"अब अच्छे होते जा रहे हैं। मैं उनकी जन्मपत्री दूँगी। आप उसे देखकर उनके भविष्य के विषय में कुछ बातें बता सकेंगे न?"

"मैं शिल्पविद्या जानता हूँ।"

"सो तो कहने की आवश्यकता नहीं। आप केवल उसी शास्त्र में नहीं, सभी ललित कलाओं में निष्णात हैं यह अच्छी तरह समझ लिया है। इसके साथ ही वेद-शास्त्र-पुराण आदि में भी आप अधिकारी हैं। इसका पता आपने जिन चित्रों को रूपित किया है, उससे बहुत अच्छी तरह लग जाता है। देवी-देवताओं के रूप-वर्णन सम्बन्धी सभी श्लोक आपको कण्ठस्थ होंगे। अच्छा छोड़िए इस बात को। जन्मपत्री देखकर बतायेंगे न?" शान्तलदेवी ने पूछा।

"देख सकता हूँ। परन्तु फलित-ज्योतिष वाक्सिद्धि के बिना सिद्ध नहीं होता। मैं घुमक्कड़ केवल सामान्य व्यक्तिगत कर्मानुष्ठान करता आया हूँ। अन्तरंग शुद्धि और बहिरंगशुद्धि, नित्यनिष्ठा से जो उन्नत स्तर की होती है उस स्तर की मुझमें है—ऐसा विश्वास नहीं होता। ऐसी स्थिति में फलित ज्योतिष के बारे में कहना मुझ जैसे के लिए योग्य नहीं।"

"तो फिर महासन्निधान की विजय-यात्रा पर निकलने के मुहूर्त के बारे में आपने कैसे बता दिया था?"

"बात यहाँ तक पहुँच गयी?" कहकर उसने रेविमय्या की ओर देखा और कहा, "उस समय अचानक मेरे अन्तरंग को वैसा सूझा, कह दिया। वह प्रेरणा स्वप्रयत्न से नहीं हुई। इस तरह की प्रेरणा में सत्य-शक्ति होती है। प्रयत्नपूर्वक सिद्धि प्राप्त करना हो तो क्रियाशुद्धि, औपासनिक सिद्धि, मनःशान्ति—इन सबकी आवश्यकता होती है।"

"मैंने अपनी अभिलाषा बता दी है। जब आपको जन्मपत्री देखकर कहने की

प्रेरणा हो तब कह सकते हैं, इसमें शीघ्रता नहीं। आप अन्यथा न समझें कि मैं आपके स्वयं का विषय पूछ रही हूँ। आप इन दो दिनों तक यहाँ ठहरे क्यों नहीं ? कहाँ गये थे ?"

"कहना ही होगा ?" उसके चेहरे पर एक विषाद की छाया आ गयी।

"कोई विवशता नहीं। कुतूहल हुआ। राजमहल के अतिथि बनकर रहने के लिए कहने पर लोग उत्साह से भर जाते हैं। ऐसे ही लोगों को हमने देखा है। परन्तु आपकी रीति न्यारी है इसलिए आश्चर्य हुआ। इसीलिए पूछा।"

"मैं लोगों के सम्पर्क से ही बचना चाहता हूँ। दस लोग जहाँ इकट्ठे हुए हर एक अपनी बात कहेगा। स्वेच्छा से बात करते समय, बातों का कोई ठौर-ठिकाना नहीं रहता। बातें किस ओर बढ़ेंगी—इसका भी कुछ पता नहीं लगता। इसलिए जब कोई काम नहीं होता तब मैं एकान्त को ही पसन्द करता हूँ।"

"सो तो ठीक है। अभी आपकी बात नहीं। मेरे सामने एक समस्या उठ खड़ी हुई है। मैं सदा उन्मुक्त हृदय से सभी बातों पर विचार करती हूँ। मेरे गुरु ने मुझे यही पाठ पढ़ाया है। कल्पनाविहारी कलाकार अभिव्यक्ति-स्वातन्त्र्य को बढ़ा ले जाय तो सम्भव है कि वह अधिक हठी हो जाय। सामूहिक रूप से होनेवाले कार्य में इस तरह के हठ का फल क्या होगा ? इससे कई तरह की कठिनाइयाँ उत्पन्न नहीं हो जातीं ?"

"क्या सन्निधान को ऐसा लगा है कि मुझमें ऐसा हठीलापन है।"

"मैं किसी व्यक्ति के विषय को लेकर नहीं कह रही हूँ। इतना ही कहा कि उसके रहने पर काम में कठिनाइयाँ उत्पन्न होती हैं। कला का उपयोग सौन्दर्य की सृष्टि में है। सौन्दर्य की सृष्टि में सुरुचि स्पष्ट दिखनी चाहिए। मन को आनन्द मिलना चाहिए। वहाँ कुत्सित विचारों के लिए अवकाश या उस कला से निम्न स्तर की रुचि को बल नहीं मिलना चाहिए। आपकी क्या राय है ?"

"रुचि संस्कार का फल है। सुन्दर वस्तु को देखकर उसकी सुन्दरता से सन्तुष्ट होकर खुश होनेवाले लोग भी हैं। ऐसा चाहनेवाले लोग भी हैं कि काश यह हमारी होती ! ऐसी सुन्दरता दूसरों के वश में हो गयी है—यों कहनेवाले भी हैं। इन तीनों के संस्कार अलग-अलग हैं। उनके सामने कलाकृति को रखने पर तीनों के मत भिन्न-भिन्न हो सकते हैं।"

"तो आपका तात्पर्य है कि कलाकार जिस किसी का सृजन करे वह सब उत्तम है ?"

"कलाकार भी मनुष्य ही है न ? उसका भी एक संस्कार होता है। उसकी कृति से कलाकार के संस्कार का स्वरूप क्या है—इसका पता लगा लिया जा सकता है।"

"अभी आपने जो चित्रित सामग्री दी है, उस सबको दो दिनों में ही चित्रित

कर दिया ?"

"वह अतिमानव की बात होगी। मैंने ऐसा तो नहीं कहा न ?"

"हमसे मिलने के बाद आपने तो इतना ही समय माँगा था ?"

"कभी किसी मन में एक कल्पना उत्पन्न हुई थी। उस कल्पना के अनुसार जब कभी मुझे समय मिला तब उसे चित्रित करता आया। सन्निधान ने जब मुझे सूचित किया तो मेरे मन में एक सन्दिग्धता उत्पन्न हो गयी।"

"वह क्या ?"

"अभी स्थान निर्दिष्ट होकर शास्त्रोक्त रीति से भूशुद्धि करायी गयी है। शंकुस्थापना भी हो चुकी है। यह शंकुस्थापना वास्तुशिल्पशास्त्र के अनुसार हुई है। मैंने जो चित्र दिये यदि ये स्वीकृत हों तो विधिपूर्वक स्थापित 'शंकु' का स्थान-परिवर्तन किये बिना सबको उसी में संयोजित कर सकने की साध्यासाध्यता पर विचार कर इस चित्र को उसी में युक्त रीति से संयोजित करना था। अपनी कल्पना के उस मन्दिर को निर्धारित माप-तोल के अनुसार उसी के परिमाण के योग्य रूपित करना था। केवल इसके लिए समय माँगा था।"

"तो 'शंकु' का स्थान-परिवर्तन न करके मन्दिर का निर्माण होना चाहिए। यही आपका लक्ष्य था न ?"

"ऐसा न हो तो कितना समय व्यर्थ जायेगा ? महासन्निधान के विजयी होकर लौटने तक कम-से-कम मूल-मन्दिर का निर्माण तो हो ही जाना चाहिए न ?"

"तब आपने यह निर्णय कर लिया था कि आपका चित्र स्वीकृत हो जाएगा। यही लगता है।"

"ऐसा कोई निश्चय नहीं, व्यामोह या ममता भी नहीं। मेरा लक्ष्य केवल इतना ही था कि यदि स्वीकृत हो जाय तो कोई नयी कठिनाई उत्पन्न न हो।"

"अगर वह स्वीकृत हो तो आप स्थपति बनकर काम करेंगे ?"

"अभी हैं न एक ? वे ही बने रहें तो अच्छा है।"

"कृति चित्रित करनेवाले आप। आप ही स्थपति बनेंगे तो उसके अनुसार निर्माण करने में दिशानिर्देश के लिए सुविधा रहेगी।"

"उसके लिए किसी पद की क्या आवश्यकता है ? कार्य के समाप्त होने तक मैं यहीं रहूँगा, यदि सन्निधान चाहें। स्थपति यदि कोई काम दें तो उसे भी मैं करूँगा।"

"देखें, प्रभुजी होते तो मेरे लिए अधिक सुविधा होती। रेविमय्या ! जाकर देख आओ कि शिल्पी जन क्या कर रहे हैं ? तुमको स्मरण है न कि हमें फिर वहाँ जाना है।"

"स्मरण है।" कहकर वह वहीं खड़ा रहा, हटा नहीं।

"क्यों ?"

"शिल्पीजी को भी शायद साथ ले जाना हो, इसलिए रुका हूँ।" रेविमय्या ने कहा।

"तुम वहाँ हो आओ; तब तक यहीं रहेंगे। बाहर कौन है ?" शान्तलदेवी ने पूछा।

"बोकण है।"

"तुम्हारे लौटने तक वह अन्दर आकर रहे। यही न तुम्हारी इच्छा; वही करो।"

रेविमय्या ने किवाड़ खोलकर अन्दर एक पैर और बाहर एक पैर रख इशारे से बोकण को बुलाया। कहा, "मेरे लौटने तक तुम यहीं रहो। पट्टमहादेवीजी का आदेश है। आओ।" बोकण के आते ही रेविमय्या चला गया। बोकण दरवाज़े से सटकर खड़ा हो गया।

शिल्पी को मालूम नहीं हुआ, यह सब क्या हो रहा है। पूछने का साहस भी नहीं हुआ। थोड़ी ही देर में रेविमय्या लौट आया और बोला, "सभा आपकी प्रतीक्षा कर रही है।"

"रेविमय्या ! तुम इनके साथ यहीं रहो। बोकण के साथ मैं चली जाऊँगी। जब मैं कहला भेजूँ तब शिल्पीजी को सभा में ले आना।" कहकर शान्तलदेवी उठीं। बोकण ने परदा हटाकर रास्ता बनाया; शान्तलदेवी सभा में जा बैठीं। फिर पूछा, "स्थपतिजी ! सभी ने इन सब चित्रों को देख लिया ?"

"हाँ।" स्थपति हरीश ने उत्तर दिया।

"कैसे हैं ?" शान्तलदेवी ने सीधा प्रश्न किया।

"वृद्ध दासोजी और गंगाचार्यजी कहें।" हरीश ने कहा।

"हमारी राय बाद को। हम पुराने समय के हैं; यहाँ नयी कल्पना है। इस-लिए नयी पीढ़ी की राय पता लगे।" दासोज बोले।

"यह भी ठीक है। सबसे छोटे आपके कुमार चावण हैं; वे अपनी राय पहले दें।" शान्तलदेवी ने कहा।

वह संकोच करने लगा। दासोज ने खुद बेटे को प्रोत्साहित करते हुए कहा, "कहो, कहो, संकोच न करो।"

वह बहुत संकोच से, विनीत भाव से उठ खड़ा हुआ और वहाँ उपस्थित शिल्पियों को हाथ जोड़कर प्रणाम किया। और कहा, "मैं अल्पानुभवी हूँ। मेरा घराना इस शिल्पकला के लिए विख्यात बलिपुर का शिल्प-घराना है। मेरे जन्मदाता एवं गुरुवर्य पिता के सामने वास्तव में मेरे हृदय को जो सूझा उसे कहते हुए भय लगता है। उसी तरह यहाँ उपस्थित आप बुजुर्गों के सामने कहते हुए डर लगता है। ऐसा कहूँ तो कोई यह न समझें कि मैं सत्य कहने से डरता हूँ। यदि मेरी बात किसी को अप्रिय लगे तो मेरी सत्यनिष्ठा की ओर दृष्टि रखकर मुझे क्षमा करें,

यह मेरी विनीत प्रार्थना है। इन चित्रों की कल्पना करके एक सुन्दर विश्व को साकार बनाकर चित्रों के द्वारा अन्तश्चक्षुओं को साक्षात्कार करानेवाला काम एक साधारण शिल्पी से नहीं हो सकता। श्रेष्ठ शिल्पियों को विरुदावली देकर गौरवान्वित किया जाता है। विरुदावली से भूषित करते समय और भूषित होते समय एक मान-प्रतिष्ठा की छाप लग जाती है—यह स्वाभाविक है। दूसरा चारा नहीं। मुझे तो यही लगता है, इस चित्र को तैयार करनेवाले शिल्पी को विरुदभूषित करने के लिए उपयुक्त विरुदावली ही नहीं है। ऐसे शिल्पी का जन्म शायद एक युग में एक बार ही होता होगा। इस कृति को रूप में परिणत कर दें तो यह संसार की सर्वोत्कृष्ट कृति बनकर विश्व को ही चकित कर देगी। असाधारण कल्पना है। एकदम नयी कल्पना। यह मूर्त रूप में परिणत हो जाय तो पोय्सल राज्य की, विश्व के लिए वास्तुशिल्प की एक देन होकर रहेगी। उस ब्रह्मा शिल्पी को देखने और उसकी चरण-सेवा करने की मेरी अभिलाषा है। सन्निधान इसके लिए शीघ्र अवसर दें—यह मेरी विनीत प्रार्थना है। मेरे इस मोह का अन्यथा अर्थ न लें, यह भी मेरी प्रार्थना है।" इतना कहकर वह सभा का अभिवादन करके बैठ गया।

इसके बाद प्रत्येक ने अपनी रुचि को जताते हुए राय दी। दासोज ने अभी अपनी राय नहीं दी थी, उन्होंने कहा, "अब हम सब अपने स्थपतिजी की राय सुनने को उत्सुक हैं।"

"इतने लोगों का प्रशंसा-पात्र जब बना है तो मुझे कहने के लिए क्या रह गया है। बहुमत ही कला के मूल्य को रूपित करता है। इसमें शंका नहीं कि इसके रचयिता कुशल कलाकार हैं। उनका मार्ग भी नूतनता की ओर अग्रसर है। देखते ही वह आकर्षक लगता है। अब तक जो था उससे बिलकुल भिन्न है। यही इसका मुख्य कारण है। कला की सूक्ष्मता और कोणाकृति बहुत अधिक होने के कारण बाहर जिस वैशाल्य का दर्शन होना चाहिए उसके लिए यहाँ जगह नहीं है—ऐसा लगता है। बहुत सूक्ष्म कलाकारिता की ओर मन का अधिक झुकाव होने के कारण इस चित्र का उद्भव हुआ है। महानता के स्वरूप को इस सूक्ष्म कलाकारिता ने कुछ ओछा-सा कर दिया है—ऐसा मुझे लगता है। जो भी हो। यह तो सच है कि एक नवीनता के लिए इससे अंकुरार्पण होता है। यह भी सत्य है कि ऐसी कल्पना अभी तक स्फुरित नहीं हुई है। परन्तु इस ढंग से वह ऐसा ही कब तक बच रहेगा यह कहना कठिन है। शीघ्रातिशीघ्र कृति साधना को चाहनेवाला उत्सुक मानव इतनी सूक्ष्म-कलाकारिता में समय गँवाना चाहेगा क्या—यह प्रश्न भी उठ सकता है। राज्य में अन्यत्र कहीं इस कल्पना को रूप दिया जा सकता है।" हरीश ने कहा।

"यहीं इसे रूप दें तो नहीं होगा?" गंगाचार्य ने कहा।

"यहाँ अब कैसे सम्भव है ? अभी जिस रूपरेखा को स्वीकृत किया है, उसके अनुसार शंकु स्थापित करके नींव की खुदायी भा हो चुकी है। अब इसे लेना हो तो इस सबको पाटकर नये सिरे से शंकुस्थापना करनी होगी।" हरीश ने कहा।

"शंकु' को बिना हिलाये, अब तक जो नींव खोदी गयी है उसी से समन्वित कर इस चित्र को तैयार किया गया है। इस चित्र के शिल्पी ने ऐसा बताया है।" शान्तलदेवी ने कहा।

"तो तात्पर्य यह हुआ कि यह सब सोचकर ही राजमहल ने यह कार्य किसी अन्य शिल्पी को सौंपा हुआ है। राजमहल की इच्छा का हम विरोध भी कैसे कर सकेंगे ?" हरीश ने एकदम कह दिया। उसमें असन्तोष का भाव अब तक जाग चुका था।

"व्यर्थ ही आशंका करके किसी को शीघ्रता में राय नहीं देनी चाहिए। बोकण ! जाओ, उस शिल्पी को लिवा लाने के लिए रेविमय्या से कहो।" शान्तल-देवी ने कहा।

"ओफ़ ! वह है !!" हरीश के मुँह से तीव्र निःश्वास निकला।

शान्तलदेवी की तीव्र दृष्टि हरीश पर पड़ी। उन्होंने समझ लिया कि व्यक्ति-द्वेष रंग ला रहा है। फिर भी उसे हो सके तो दूर करने की इच्छा से पूछा—

"तो क्या उस शिल्पी से स्थपति परिचित हैं ?" सहज प्रश्न था।

"मुझे कुछ ज्ञात नहीं, एक घुमक्कड़-जैसा आदमी रेविमय्या के साथ राज-प्रासाद के प्राकार में आ रहा था। मैंने पूछा कि कौन हैं ? उसने जवाब दिया 'एक शिल्पी हैं।' मैंने सोचा कि शायद वही हो।" हरीश बोला।

"हाँ, वे ही हैं।" शान्तलदेवी ने घोषित किया।

"यह कभी हो सकता है ? असम्भव।" हरीश कहना चाहता था कि इतने में रेविमय्या के साथ शिल्पी के आ जाने से बात अन्दर ही रह गयी।

उस घुमक्कड़ शिल्पी ने रेविमय्या के साथ आकर, शिल्पियों के समूह को हाथ जोड़कर प्रमाण किया। शान्तलदेवी ने एक खाली आसन की ओर निर्देश करके बैठने को कहा। वह बड़े संकोच के साथ बैठ गया।

"यहाँ अनेक प्रदेशों के श्रेष्ठ शिल्पी उपस्थित हुए हैं, हमारे स्थपतिजी सबका परिचय करायेंगे।" शान्तलदेवी ने कहा।

"सभी को उनका परिचय पहले हो।" स्थपति हरीश ने कहा। शान्तलदेवी ने शिल्पी की ओर देखा।

शिल्पी उठ खड़ा हुआ और बोला, "सबसे विनीत प्रार्थना है कि मुझे अन्यथा न समझें। व्यक्तिगत कारणों से मैं अपना अधिक परिचय देने में असमर्थ हूँ। इस विषय में कृपया कोई विवश न करें—यह मेरी विनती है। मैं एक शिल्पी

हूँ और शुद्ध कर्नाटक-घराने का हूँ। किसी तरह की कीर्ति, नाम पाने की इच्छा, विरुदावली पाने की आकांक्षा या अभिलाषा के बिना जितनी कलाकारिता और विद्या को साधना द्वारा पाया है उसे कृति में परिणत करने मात्र से सन्तुष्ट हो रहना मेरे घराने की परम्परा है। मेरा घराना मनसा-वाचा-कर्मणा परिशुद्ध सात्विक है। इस बारे में मुझे गर्व नहीं, तृप्ति है।" इतना कहकर वह चुप हो गया।

"आपका गांव ?" हरीश ने पूछा।

"कहना नहीं चाहता।"

"आपके वंशीय और कौन हैं ?" दासोज ने पूछा।

"कोई नहीं, मैं ही अन्तिम हूँ।"

"सन्तान ?" गंगाचार्य ने पूछा।

"जब मैंने कहा कि मैं ही अपने वंश में अन्तिम हूँ तब यह प्रश्न व्यर्थ है।"

"आपका शुभ नाम ?" चाउण ने उत्साह से पूछा।

"कोई प्रयोजन नहीं। इतना पर्याप्त है कि मैं एक शिल्पी हूँ।"

"सन्निधान को चित्रों का पुलिन्दा समर्पित करनेवाले आप ही हैं ?" हरीश ने पूछा।

"क्यों आपको लग रहा है कि मैं नहीं हो सकूँगा ?" उसका स्वर कुछ कटु हो आया।

"ऐसा नहीं, कुछ समय पहले एक शिल्पी आया था। स्थपति जानकर, वह मेरे पास आया। अपने चित्र देकर उसने पता नहीं क्या-क्या कहा। बहुत कुछ बताया। मैंने एक कल्पना सुझाकर चित्र बनाकर लाने को कहा। उससे नहीं बन पड़ा। किसी दूसरे के बनाये चित्रों को अपना कहकर यहाँ कुछ काम पाने की कोशिश कर रहा था। वही प्रसंग ध्यान में उतर आया···"

हरीश की बात समाप्त होने से पहले ही शिल्पी ने कहा, "मैं किसी धन्धे की खोज में नहीं आया। कलाकार एक स्वतन्त्र व्यक्ति होता है। वह किसी की परीक्षा के अधीन होकर परीक्षक के अनुमोदन द्वारा कोई स्थान-मान पाना नहीं चाहता। उसकी कृति उसके लिए स्थान बना देती है। इस तरह की अनावश्यक चर्चा से कोई लाभ नहीं। नाम-धाम, कुल-वंश, गोत्र-सूत्र की खोज के बदले कृतित्व-शक्ति से युक्त कलाकार प्रधान है। शायद मेरी रीति आप सभी को कुछ विचित्र-सी लगती होगी। मैं किसी को शंका की दृष्टि से नहीं देखता। आत्मविश्वास के बिना कोई कलाकार नहीं बन सकता। उस आत्मविश्वास को छेड़ना नहीं चाहिए। सशंक होना उस छेड़खानी के लिए आह्वान देने का-सा है। ये चित्र किसी की रचना क्यों न हो, इन्हें जिस किसी ने बनाया हो—वे कृति के रूप में परिणत होने योग्य माने जायँ तो उस कार्य में लगना मुख्य है। सन्निधान जानती

हैं कि इनके रचयिता कौन हैं। उसे चित्रकार नहीं कहने पर भी रचनाकार की कल्पना को कोई हानि नहीं पहुँचती। इसलिए आगे करणीय पर विचार करना युक्त है। इन बातों में व्यर्थ समय गँवाने की अपेक्षा कृति की ओर मन लगाना, मुझें उचित जान पड़ता है।" शिल्पी ने स्पष्ट किया।

"अब आपकी क्या सलाह है, स्थपतिजी ?" शान्तलदेवी ने पूछा।

"इन्हीं ने इन चित्रों की रचना की है या नहीं, यह अलग बात है। रचयिता चाहे कोई हो; रचना उत्तम है। गुण ग्रहण करना चाहिए। अन्यत्र कहीं इसे रूपित कर कृति-निर्माण किया जा सकता है।" हरीश ने कहा।

"राजमहल की इच्छा है कि यह यहीं साकार हो। आपकी राय है कि यह इच्छा असाधु है ?" शान्तलदेवी ने पूछा।

"यहीं कार्यरूप में परिणत किया जा सकता है। राजमहल की इच्छा योग्य ही है।" नागोज ने कहा।

"राजधानी ही में ऐसी कृति निर्मित होनी चाहिए।" पदिर मल्लोज ने कहा। चालोज, मल्लियण्णा, चिक्क हंप आदि ने भी इसका अनुमोदन किया।

जब सभी की राय उसी तरह की हुई तो हरीश स्थपति ने परिस्थिति को भाँप लिया। उन्होंने कहा—"सभी की इच्छा मालूम हो गयी। वही हो। उसे कार्यान्वित करने के लिए सुविधा देने की दृष्टि से राजमहल मुझे इस पद से मुक्त करे, इतनी कृपा करनी होगी।"

"क्यों ? आप स्थपति बने रहिए। इस शिल्पी को कोई आपत्ति नहीं होगी। उन्हे स्थपति बनने की आकांक्षा भी नहीं।" शान्तलदेवी ने कहा।

"सन्निधान मुझे अविनीत न समझें। मेरा एक तरह से खुला मनोभाव है। भीतर-बाहर एक-सा भाव। इस प्रसंग से मेरा उत्साह कुण्ठित हुआ है। फिलहाल काम करना-कराना मुझसे नहीं हो सकेगा। ईर्ष्या से मैं यह बात नहीं कर रहा हूँ। यदि ये ही इन चित्रों के निर्माता हैं तो इन्हें कृतिरूप में परिणत करने के लिए ये ही समर्थ हैं। इसलिए मुक्त करके वह स्थान इन्हीं को देना युक्त है।" हरीश ने कहा।

"स्थपति के मन में जो शंका उत्पन्न हुई, उसे मैं समझ सकता हूँ। उनकी शंका को दूर कर सकने का विश्वास मुझे है। मैं यहीं रहकर उन्हें पूर्णरूप से अपना सहयोग दूँगा। वे ही स्थपति बने रहें। कीर्ति पाने का लालच मुझे नहीं है। मुझे यह आशा-आकांक्षा भी नहीं कि मेरा नाम दुनिया में स्थायी बनकर रहे। कृति स्थायी रहे—इतना ही पर्याप्त है। कर्नाटकियों की कला आचन्द्रार्क स्थायी रहकर जनता में श्रेष्ठ रुचि की प्रेरणा देती रहे, हमारी संस्कृति की प्रेरक शक्ति बनकर रहे—यही मेरे लिए पर्याप्त है। इन स्थपतिजी का अनुवर्ती बन अपना सम्पूर्ण योगदान दूँगा। इसका नाम, कीर्ति सब कुछ उन्हीं को मिले। मुझे

कोई एतराज़ नहीं।" यायावर शिल्पी ने कहा।

"दूसरों की कृति से नाम पाने की मेरी कोई अभिलाषा नहीं। कृति जिनकी हो नाम भी उन्हीं का होना चाहिए। इनके अनुसार मन्दिर-निर्माण करने का यदि राजमहल का निर्णय हो तो मुझे इस पद से मुक्त कर दें। यह अवश्य हो।" हरीश ने स्पष्ट कह दिया।

"स्थपति के स्थान से मुक्त कर देने का अर्थ मन्दिर-निर्माण के कार्य में सहयोग से भी मुक्त करना तो नहीं है न ?" शान्तलदेवी ने सीधा प्रश्न किया।

"इस पद पर यदि मुझे रहना हो तो अब तक जैसा है वैसा ही होगा, अन्य किसी भी रूप में यहाँ रहने में मन नहीं लगेगा। मुझमें वह सामर्थ्य नहीं।" हरीश ने कहा।

"हठी नहीं बनना चाहिए। देश के काम में, समाज के काम में, समन्वय वुद्धि से काम करना चाहिए। व्यक्ति से प्रधान कृति है। यह तत्त्व यहाँ भी सार्थक होता है।" गंगाचारी ने कहा।

"वह अभिमत की बात हुई। मुझे समाज के और देश के कार्यों में श्रद्धा है। उनके साथ समन्वित होने का मन भी है। परन्तु जिस कार्य में मैं लगा वह हस्तान्तरित हो जाय, मेरे लिए सह्य नहीं है। यह स्पष्ट है। इसी रचना के अनुसार अन्यत्र निर्माण की योजना हो तो मैं इस शिल्पी के साथ उनका अनुवर्ती होकर ही नहीं, चाहे तो उनका सेवक भी बनकर योग देने के लिए तैयार हूँ। मुझे ईर्ष्या नहीं है। कुल मिलाकर कहना हो तो यह पद मेरे लिए अनुकूल नहीं पड़ता। मुझे मुक्त कर दें। इस एक विषय को छोड़कर अन्य सभी में मैं आज्ञानुवर्ती हूँ। फिर अन्यत्र चाहें तो वहाँ किसी स्थान-पद की आकांक्षा के विना जो आज्ञा होगी, उसका पालन करूँगा।"

"जैसी आपकी चाह। किसी के मन में तिक्तता न रहे, यही राजमहल चाहता है। अब आगे का कार्य शिल्पी महोदय की कल्पना के अनुसार उन्हीं के नेतृत्व में चलेगा। यह सभा आज के लिए समाप्त होती है। स्थपति ओडेयगिरि हरीश प्रातः राजमहल में आकर मुझसे मिल लें।" कहकर शान्तलदेवी उठकर चली गयीं। सभा विसर्जित हुई। सभी चल पड़े। रेविमय्या इस शिल्पी को साथ लेकर चल पड़ा।

"नाम-धाम, कुल-गोत्र-सूत्र न वतानेवाले नये स्थपति के नेतृत्व में काम ज़ोरों से चलने लगा। ओडेयगिरि के हरीश के साथ जो दो-चार शिल्पी आये थे, वे भी

उसके साथ चले गये। जाने के पहले आदेश के अनुसार हरीश राजमहल में गया। वहाँ उसका योग्य रीति से पट्टमहादेवी ने सत्कार किया और कहा, "कृति मुख्य है, व्यक्ति गौण—इस सिद्धान्तानुसार राजमहल को बरतना होगा। राजमहल के लिए आपकी, आपके लिए राजमहल की अपेक्षा बनी रहे। इस प्रसंग से किसी के मन में कड़ुवाहट न हो—इस बात का ध्यान रखेंगे। कृति का रूप बदलने पर भी आप ही रहकर उसे रूप दें—यही राजमहल की इच्छा थी। निर्णय आप ही ने अपने हाथों में लिया, इसलिए मानना पड़ा। परस्पर अभिमान एक-सा रहे, यही राजमहल चाहता है। अब भी आप अपने मन को बदलकर यहीं रहें—यह मेरी इच्छा है। कलाकार के स्वातन्त्र्य को छीनने की अभिलाषा राजमहल को नहीं है।" शान्तलदेवी ने अपनी इच्छा प्रकट की थी। हरीश ने भी कहा था—"अन्य किसी कार्य के लिए बुलावा आने पर अवश्य आऊँगा। केवल अबके लिए क्षमा चाहता हूँ।" वह जा भी चुका था।

वेलापुरी में नये सिरे से कार्य प्रारम्भ हो चुका था। इस शिल्पी ने दूसरे ही दिन एक शुभ मुहूर्त में खुदी नींव और स्थपित शंकु का स्थान-परिवर्तन किये बिना उसीसे लगकर अपने रेखा-चित्र के अनुसार माप-जोखकर सूत्रबद्ध करके नींव को विस्तार देने के लिए चिह्न लगवाया। नींव की खुदाई जब तक चलती रही, तब तक शिल्पियों को इकट्ठा करके सम्पूर्ण मन्दिर को कैसे रूपित करना, किस-किसको क्या काम करना, आदि बातों के बारे में उन-उनकी इच्छा जानकर उसके अनुसार काम बाँट दिया गया। बँटे हुए कार्य को समाप्त करने के लिए कालावधि उन्हीं शिल्पियों से पूछकर निश्चित की गयी थी। कार्य निश्चित करते समय हर कतार में हर शिल्पी के कला-कौशल के लिए अवसर दिया गया था। यों कार्यक्रम की व्यवस्था को रूपित किया। इस तरह सबको किसी-न-किसी कार्य में लगे रहना था। काम का बँटवारा हो जाने के बाद, कितनी सामग्री अब तक आयी है, कितनी और चाहिए, काम करते समय कितनी सामग्री व्यर्थ होगी, आदि सभी बातों का आकलन कर आवश्यक सामग्री मँगवाने की व्यवस्था की गयी। अन्य शिल्पियों की भाँति अपने लिए भी कार्य नियत कर लिया। उसके अनुसार काम होने लगा। नयी व्यवस्था के अनुसार कार्य सूर्यास्त से अर्धप्रहर पूर्वार्ध ही बन्द हो जाता। बाद में बिट्टियण्णा और पट्टमहादेवीजी के साथ उस दिन के प्रत्येक कार्य की समीक्षा चलती। कुछ सुधार-सुझाव-संशोधन होते तो सम्बन्धित शिल्पियों को दूसरे दिन कार्य आरम्भ करने से पहले बता दिये जाते। यों एक निश्चित क्रम के अनुसार वेलापुरी में मन्दिर का काम चलने लगा।

उधर पोय्सलों की सेना ने तलकाडु की ओर चलकर एक सुरक्षित स्थान पर डेरा डाला। रानी बम्मलदेवी को उदयादित्य लिवा लाये थे। सम्पूर्ण सेना के महादण्डनायक प्रधान गंगराज थे। उनकी सहायता के लिए शेष दण्डनायक, चमूप आदि थे। चट्टलदेवी और हेग्गड़े मायण भी थे। युद्ध शिविर में आगे के कार्यक्रम पर विचार-विनिमय हुआ। शत्रुओं के कार्य-कलाप को जानने के लिए मायण-चट्टलदेवी और उनकी सहायता तथा रक्षा के लिए कुशाग्र गुप्तचरों को भी भेजने का निर्णय हुआ। अश्व-सेना युद्ध-शिविर के चारों ओर घूमती पहरा देने का काम कर रही थी।

समाचार संग्रह करने के लिए मायण-चट्टलदेवी जो गये, उन्होंने पंच-लिंग दर्शन के यात्रियों के भेष में नगर में प्रवेश किया। दूसरों ने भी वेषान्तर से नगर-प्रवेश किया। उनकी रक्षा के लिए जो गुप्तचर गये थे उनमें दो तमिल जानते थे। इस भाषा के ज्ञान ने उनकी अपनी रक्षा में बड़ी सहायता की। मायण और चट्टला ने मनोन्मणी देवी को कुमकुमार्चन और वैद्येश्वर महादेव को सहस्र-बिल्वार्चन करवाने के अपने मन्तव्य को पुजारीजी से कहा। आदियम और दामोदर के मन्दिर में आने के समय को पहले से जानकर वे दोनों उस समय तक मन्दिर पहुँच गये थे। दामोदर को शंका हुई। क्योंकि वे स्थानीय नहीं, कहीं अन्यत्र से आये हुए-से लगे। उसने आदियम के कानों में कुछ कहा तमिल भाषा में। उसके पीछे भक्ताग्रेसर की तरह हाथ जोड़कर खड़े पोय्सलों के गुप्तचर ने कुछ संकेत किया, चट्टला ने उसे समझ लिया। मायण से कहा। उन दोनों के नाम से अर्चना हुई। आदिमय की ओर का कोई आदमी पुजारी के पास आया और उसने पुजारी के कान में कुछ कहा। प्रसाद वितरण के समय पुजारी ने पूछा, "आप लोग कहाँ से आये हैं और किस ओर जा रहे हैं?"

चट्टला ने तुरन्त उत्तर दिया, "हम वेंगिनाडु से आये हैं, यात्री हैं। भद्राचल, गाणगापुर, पण्ढरापुर, सीतिमनि, शृंगेरी, शिवगंगा होते हुए यहाँ आये हैं। यहाँ से शिवसमुद्र, शिवकांची, तिरुवण्णा मलै, चिदम्बरम, पलनी, मदुरै, रामेश्वर जाने की अभिलाषा है। वह सफल होगी या नहीं, ज्ञात नहीं। यहाँ तक आने में बहुत कष्ट हुआ। तलकाडु के पंचलिंग महादेवों को न देखें तो हम शिवभक्तों के लिए मुक्ति कहाँ? इसलिए किसी भी तरह से हो हम यहाँ आना ही चाहते थे। परन्तु मार्ग में किसी सेना का एक पड़ाव पड़ा था। उसे पार कर यहाँ तक पहुँचते-पहुँचते हम बहुत थक गये। ओहो! कितनी बड़ी सेना! उस पड़ाव को पार कर हम चल ही नहीं सके, पैर इतने दुखने लगे कि आगे बढ़ना कठिन हो गया। वे हाथी, घोड़े—उनका हिसाब लगाना असम्भव है। यहाँ कहीं युद्ध होने वाला है क्या? ऐसी बात हो तो कह दें, हम कल ही यहाँ से चल देंगे। वेंगिनाडु से इस ओर आते हुए वहाँ चालुक्यों और काकतीयों के बीच युद्ध चलने लगा था

तो इसी कारण से अपनी इस यात्रा को छः मास के लिए स्थगित करना पड़ा। ये निकम्मे युद्ध करते ही क्यों हैं ? इससे किसे क्या लाभ होगा, ईश्वर ही जाने। हमें रास्ते में जो सेना मिली थी वह किसकी थी ?"

"मैं क्या जानूं ?" पुजारी ने कहा और दामोदर की ओर देखने लगा।

"वही उस डींग हाँकनेवाले बिट्टिगा की।" आदियम ने कहा।

"बिट्टिगा कौन है ?" मायण ने पूछा।

"अभी हाल में सिर उठानेवाला एक पालेगार है, वह। उस शक्तिहीन चालुक्य विक्रम को लात मारकर, अब स्वतन्त्र हो गया है। इतने ही से उसका सिर फिर गया है; उससे जो हो नहीं सकता; वही सब करने चला है।" दामोदर ने कहा।

"तो यहाँ जो आये हैं···" चट्टला ने कहा।

"अपने रक्त से कावेरी को रँगकर पत्नी का सुहाग पोंछने।" अहंकार से आदियम ने कहा।

"तो आप लोगों पर आक्रमण करने आये हैं ?" मायण ने कहा।

"छोड़ो···अब चलो; कर लिये पंचलिंग महादेव के दर्शन ? कुछ नहीं चाहिए। अपना गाँव-देश छोड़, यहाँ आकर क्यों मरें ?" घबड़ाती हुई चट्टला ने कहा। यह सुन आदियम ज़ोर से हँसने लगा।

"डरनेवालों को और अधिक डराना ही चोलों का काम है ?" गुस्से का प्रदर्शन करती हुई चट्टला ने कहा।

"न, न ऐसा नहीं। आप लोगों को डरते देखकर हंसी आ गयी। तुम, बेचारों को क्या मालूम है कि युद्ध का क्या अर्थ है। सुनो, तुम लोग वास्तव में एक सुरक्षित स्थान में हो। यहाँ किसी को भी कोई भय नहीं। वह बिट्टिगा एक घुमक्कड़ है। कुछ हाथ दिखाने के विचार से यहाँ आया है। उसकी जन्मपत्री में शायद यही लिखा है कि उसका नाश चोलों से होगा। हमारी शक्ति, सैन्यबल कोई सामान्य नहीं।" हँसी रोककर आदियम ने कहा।

"उनकी संख्या कितनी है यह जाने बिना शायद यों ही कह रहे हैं।" मायण बोला।

"आप लोगों की राय में वे कितने हो सकते हैं ?" आदियम ने जानना चाहा।

"मुड्कुतोरे मल्लिकार्जुन टीले पर से देखने पर दृष्टि जितनी दूर जाती है तम्बू ही तम्बू, सैनिक, हाथी, घोड़े ही दिखायी देते हैं। कोई दस-पन्द्रह सहस्र तो होंगे ही।" मायण ने कहा।

"यहाँ इस समय हमारे दस सहस्र सैनिक हैं। चोल चक्रवर्ती दस सहस्र और भेज रहे हैं। चार-पाँच दिनों में वह सेना हमारी सेना के साथ सम्मिलित हो जायेगी। इसीलिए हम चुप हैं। वह आ गयी तो बिट्टिगा का काम तमाम समझो।" आदियम ने कहा।

"क्या आप चोल चक्रवर्ती के कोई पदाधिकारी हैं ?" मायण ने पूछा।

"मैं यहाँ का सर्वाधिकारी हूँ।" आदियम ने छाती तानकर कहा।

"तो आप राज-प्रतिनिधि हैं ? आप उनके कोई रिश्तेदार हैं ?" मायण ने प्रश्न किया।

"अपरिचित पर विश्वास करना कठिन है न ?" आदियम ने कहा।

"तो आप चोल चक्रवर्ती के क्या लगते हैं ?"

"समधी हूँ।"

"कैसे भला, जान सकता हूँ ?"

"आवश्यक नहीं।"

"अच्छा, जाने दीजिए, अनायास हमें राजदर्शन हो गया। शैव मत आदि मत है। उसे समाप्त करने के लिए अन्य मत प्रयत्न कर रहे हैं। हमें तो यह मतान्तर सह्य नहीं। आपके चक्रवर्ती तो हमारी ही भाँति शैवमतावलम्बी हैं। इसलिए हमें उन पर विशेष गौरव है।" चट्टलदेवी ने कहा।

"शिवभक्तों पर हमारे प्रभु का भी उसी तरह का गौरव है। उन्हें अन्यमतों से कोई द्वेष नहीं। परन्तु जब अन्य मतीय मतान्तरण करने का प्रयत्न करते हैं तो उन्हें बड़ा क्रोध आता है। निर्दय होकर दण्ड देते हैं।"

"हमने भी यह बात सुनी है···कहाँ सुनी है···तुम्हें याद है ?" कहते हुए मायण ने चट्टला की ओर देखा।

"शिवगंगा में ही न ? राजाधिराज कुलोत्तुंग चोल के भगा देने पर वह नामधारी संन्यासी कावेरी की ओर चल दिया। वहाँ के राजा ने उन्हें मान्यता दे दी, आदि।" चट्टला ने कहा।

"हाँ, हाँ, अब याद आया। उस राजा की बेटी को, सुनते हैं कि कोई विचित्र रोग हुआ था। उस बूढ़े संन्यासी ने अच्छा कर दिया था। इसलिए उस राजा ने उस संन्यासी को धन से तोल दिया। सुना कि वह राजा तब से उन नामधारी संन्यासी का चेला बन गया···यही सब हमने सुना था।" मायण ने कहा।

"वह सब ढोंग है। अपने मत को प्रचारित करने का ढंग है। तुम क्या जानो उस बूढ़े के बारे में। स्वयं उसकी पत्नी ने ही उसका आदर नहीं किया तो सोचो वह कैसा आदमी हो सकता है ? हमारे प्रभु बड़े उदार हैं; धर्मभीरु हैं। उन्हें असन्तुष्ट कर दिया। तुम ही सोच देखो वह कैसा आदमी होगा और उसके काम कैसे होंगे ! मुझे लगता है, हमसे बदला लेने के विचार से वह घुमक्कड़ बिट्टिगा पर जादू चलाकर, उसे नचा रहा है। छोड़ो, अब सब झमेला नष्ट हुआ जाता।" दामोदर ने कहा।

"तो हमें यहाँ कोई डर नहीं है न ?" चट्टला ने पूछा।

"कुछ भी डर नहीं। आप लोग तो खुश होंगे। शिवभक्त आप लोग देखेंगे

कि हम शिव-विरोधियों को किस तरह मिट्टी में मिलाते हैं। कहाँ ठहरे हैं आप लोग ?" दामोदर ने पूछा।

"अभी कहाँ ? शहर में आये हैं। आप ही बतायें यात्रियों के ठहरने के लिए धर्मशाला कहाँ है ? अभी तक तो जहाँ दिखा वहीं ठहर गये।" मायण ने कहा।

"सुविधा चाहें तो बतायें !" दामोदर ने कहा।

"यात्रार्थी होकर हम मोक्षमार्ग की खोज में ही तो आये हैं। वह मार्ग ही क्लिष्ट मार्ग है यह हमें मालूम है। ऐसी स्थिति में सुविधा की खोज में बैठे रहना उचित नहीं। हम तो किसी को कष्ट नहीं देना चाहते।" चट्टला ने कहा।

आदियम, चट्टला की बात सुनकर हँस पड़ा।

"हँसते क्यों हैं ?" चट्टला ने पूछा।

"तुम लोगों को देखने से तो हमें विश्वास नहीं होता कि तुम लोग यात्रार्थी हो और मुक्तिमार्ग की खोज में निकले हो। इसलिए हँसी आ गयी।"

"क्यों, विश्वास क्यों नहीं होता ?" चट्टला ने पूछा।

"इनका भस्म, तुम्हारा यह हल्दी, रोली का प्रदर्शन—इतना ही यात्रियों का संकेत नहीं। मुक्ति-मार्ग की खोज करने के लिए एक उम्र होती है। आप दो ही आये हैं, इसे देखने पर प्रतीत होता है कि अभी आपके सन्तान नहीं हुई है। इस यौवन में यात्रा···मुक्ति···हमें कौतुक-सा लगता है। है न ?"

"हाँ-हाँ, मारो-काटो यही जाननेवाले इसे समझें भी कैसे ? श्रीश्री शंकराचार्य ने बत्तीस की उम्र में मोक्ष सिद्धि पायी थी।" चट्टला ने कहा।

"वे तो जन्म से संन्यासी रहे। तुम लोगों की तरह गृहस्थ नहीं।"

"तो क्या गृहस्थों के लिए मोक्ष नहीं चाहिए ? क्या वह केवल संन्यासियों ही के लिए सुरक्षित है ?"

"चाहे कोई भी प्राप्त कर सकते हैं। परन्तु अभी आपके लिए ठीक नहीं।" आदियम ने कहा।

"इसका तात्पर्य" चट्टला ने पूछा।

"कुछ नहीं, तुम लोग उस बिट्टिगा के गुप्तचर हो। यह सब नाटक हमारे पास नहीं चलेगा। हम सब देख रहे हैं। इस नगर में आनेवाले नये लोगों पर हम पैनी दृष्टि रखते हैं। दामोदर ! इन दोनों को हमारी राजधर्मशाला में रखकर इन पर निगरानी रखना। ये सच्चे यात्री हैं या नहीं—इसका जब तक पता न लगे तब तक सतर्क रहना। हमारे प्रभु की आज्ञा है कि सबका परीक्षण खुद करें और आगे बढ़ें। इसीलिए हम स्वयं मन्दिर में आये। सामान्यतः हम मन्दिर में नहीं आया करते। हम जब आयेंगे तब दूसरों के लिए प्रवेश नहीं समझें। हमें ज्ञात है कि बिट्टिगा के गुप्तचर दल में एक स्त्री भी है। सुना है कि

उसने दो बार उस राजा के प्राण बचाये हैं। तुम अगर वही हो तो समझो कि तुम्हारा अन्तकाल समीप है। कम-से-कम अब तो मेरी बात स्पष्ट हो गयी?" आदियम ने कहा।

"हमें यह धर्मशाला और वह धर्मशाला—इसमें क्या अन्तर पड़ता है? वहीं रहेंगे। और आपके गुप्त-उप्तचर तो हम कुछ समझते नहीं। हम जैसे यात्रियों को कष्ट देंगे तो भगवान् का क्रोध तुम पर अवश्य उतरेगा, इतना तो स्पष्ट कह सकती हूँ। सच है कि हमारी आयु मोक्ष की नहीं। परन्तु हम किसके लिए जियें? जैसा कहा आपने, हमें सन्तान नहीं है। ईश्वर हमें सन्तान दे, या फिर मोक्ष। उसी की माँग करते हुए हम यात्रा पर निकले हैं।" धीरज के साथ चट्टला ने कहा।

"देखो माई, हमें तो शंका पैदा हो गयी है। यह शंका जब तक दूर न हो तब तक तुम लोगों की मुक्ति नहीं। यदि हमारी शंका ठीक निकली तो हम ही तुम लोगों को मोक्ष दे देंगे। नहीं तो इस बन्धन से मोक्ष देंगे। हाँ, अब चलिए।" आदियम ने कहा।

"पुजारीजी हमें प्रसाद दीजिए। मनोन्मनी देवी हमारे अन्तरंग को समझती हैं। वैद्येश्वर महादेव उसकी चिकित्सा करेंगे, यही समझकर पूजा करने यहाँ आये तो हमें यहाँ इस पाप का बन्धन ही प्रसाद के रूप में मिला? उनकी इच्छा। जो होता सो अच्छे के लिए—ऐसा हमारा विश्वास है। इससे क्या? भूखों रखकर अन्तरात्मा को कष्ट न दें तो ठीक। क्योंजी, ठूठ की तरह सर झुकाए खड़े हो? स्त्री होकर मैं धीरज के साथ जब रह रही हूँ तब मूँछोंवाले मर्द को डरना चाहिए? छोटा बच्चा प्रह्लाद नहीं डरा। तुम डरो? छुटपन में कहानियाँ सुनानेवाली दादी की बात पर मुझे पूरा विश्वास है। कहती थी…'सत्य को कभी धोखा नहीं!' 'पाप पनपेगा नहीं', उनकी इस बात का मुझे साक्षात् अनुभव हुआ है। तुम ही कहो—जब मैं गंगा नदी में डूबी तब क्या तुमने समझा था कि मैं जीवित बाहर निकलूँगी? अब की तरह सर झुकाकर सोच में पड़े? भगवान् शिव सदा हमारे सत्य की रक्षा करेंगे। उठो, चलेंगे। बेचारे उनको पता नहीं कितने काम होंगे। वे घसीटकर न ले जाकर अच्छी बातों से गौरव के साथ बुला रहे हैं। बहुत भले लोग जान पड़ते हैं। बेचारे वे भी क्या करेंगे? किसी ने उनके कान भर दिये हैं। ये भी विश्वास कर बैठे हैं। वैसे जो लोग इनके शत्रुओं की ओर के होंगे वे कहाँ छिपे बैठे होंगे, पता नहीं क्या करते होंगे? महादेव ही जानें। हम जैसे गँवार क्या जानें?" चट्टलदेवी ने कहा।

दामोदर ने आदियम की ओर देखा, "पुजारीजी इनको प्रसाद दे दीजिए। ये हमारे साथ चलेंगे।" आदियम ने कहा।

पुजारी ने प्रसाद दिया। इसके बाद मायण और चट्टला दोनों ने उन लोगों का अनुगमन किया।

नक्षत्राकार की वास्तु-शिल्प की कुशल कारीगरी का कार्य तीव्रता से चल रहा था। प्रतिदिन की कारीगरी के विषय में विचार-विनिमय उसी दिन हो जाता। यह विचार-विनिमय केवल बातों का बतंगड़ न होकर आपस में समझने और वास्तुशिल्प के विषय में गम्भीर विवेचन करने और चिन्तन करने के लिए उपयुक्त अनुकूल साधन बना था। कार्य की गति तीव्र होने के कारण शान्तलदेवी में भी एक नयी स्फूर्ति आ गयी थी। दिन का अधिक समय वह बिट्टियण्णा के साथ शिल्पियों की उन झोंपड़ियों में ही व्यतीत करती थीं। केवल भोजन-आराम इतना मात्र राजमहल में होता। शेष सारा समय मन्दिर-निर्माण के स्थान पर ही व्यतीत होता। शान्तलदेवी के केवल एक प्रहर का समय नृत्यशिक्षणालय में नियमानुसार व्यतीत होता। इस शिक्षणकार्य में कोई अड़चन नहीं पड़ी।

दिन व्यतीत होते-होते इस यात्री और शान्तलदेवी के कलाहृदय निकट होते आये। यह यात्री शिल्पी कभी किसी से आवश्यकता से अधिक बात नहीं करता था। धीरे-धीरे उसका संकोच दूर हुआ। वह शान्तलदेवी के साथ बातचीत और विचार-विनिमय करने लगा था। पट्टमहादेवी के व्यक्तित्व, उनके विशाल हृदय, अनुकम्पा का भाव, दयापूर्ण प्रवृत्ति आदि को अच्छी तरह समझ गया था। इससे उनके विषय में शिल्पी की अतीव गौरव-भावना रही। उनके कला विषयक ज्ञान, उनके अर्थ-विवरण की रीति, उनके लक्ष्य प्रतिपादन-विश्लेषण आदि से बहुत प्रभावित ही नहीं, बल्कि बहुत चकित भी हुआ वह।

इतना सब होते हुए भी कभी उन्होंने शिल्पी की निजी बातों के विषय में कोई बात नहीं की थी। और इस विषय में बड़ी सावधानी बरती थी। हाँ, उसके अन्तरंग की पीड़ा को जानकर उसे दूर करने का संकल्प कर लिया था। इधर-उधर की बातों के सिलसिले में पट्टमहादेवी व्यक्तिगत विचार छेड़ देती। व्यक्तियों का बरताव ठीक है या ग़लत—इसका विमर्श नहीं करतीं। केवल घटनाओं का विवरण दिया करतीं। अपनी निजी बातों को भी नहीं छिपातीं। "सभी का जीवन सदा सुखमय नहीं कहा जा सकता। कुछ-न-कुछ कमियाँ रहती ही हैं। परन्तु इन्हीं को बढ़ा-चढ़ाकर चलेंगे तो दुनिया में पागल-ही-पागल भर जायेंगे।" यह बात एक दिन काम समाप्त होने के बाद शाम को राजमहल के मुखमण्डप में बैठकर बातचीत करते हुए शान्तलदेवी ने कही।

"एक का अन्न दूसरे के लिए विष" यह एक प्रचलित कहावत है न? धीरे से शिल्पी ने कहा।

शान्तलदेवी ने उसे एक विश्लेषणात्मक दृष्टि से देखा। उसकी यह बात उस अवसर के लिए अप्रासंगिक लगी। फिर भी पूछा, "किसका अन्न, किसे विष बना है?"

"मेरे मन में कोई अन्य विचार नहीं आया। यूँ ही मेरे मुँह से बात निकल

गयी। एक साधारण-सी बात। उस पर विशेष ध्यान देने की आवश्यकता नहीं।" शिल्पी ने कहा।

"मैं तो इसे स्वीकार नहीं करती। अन्तरंग में अनेक विषय सुप्त पड़े रहते हैं। या फिर उन बातों को दबाकर मन में रख लिया जाता है जिससे प्रकट न हों। वही इस रूप में प्रकट हुआ हो सकता है।"

"न, न ऐसा कुछ नहीं।"

"खैर, जाने दीजिए। मैंने तो यों ही पूछा। आप अपना व्यक्तिगत कहनेवाले नहीं न ? इससे कुछ छिपा रखा होगा। वह इस रूप में व्यक्त हुआ होगा। यों मेरी धारणा रही। इसलिए ऐसा पूछा"—शान्तलदेवी ने कहा।

"इस बात को जाने दीजिए। असल में मैंने जब से यहाँ काम प्रारम्भ किया है ऐसी कोई बात मेरे मन में आयी ही नहीं। मानवजीवन के अनेक पक्ष होते हैं। केवल लक्ष्य के पहलू नहीं होते। मैंने अपने जीवन के लक्ष्य को भी छोड़ रखा था। अब वह अंकुरित हुआ है। इतना नहीं, पोय्सलों की उदारता के कारण लक्ष्य की ओर अग्रसर होने से वह फलदायक होगा—यही सन्तोष है।"

"कटुता में मीठेपन का, दुःख में सन्तोष का स्वाद लेना चाहिए। ऐसे ही व्यक्ति निष्काम कर्मयोगी होते होंगे।"

"वह सब महात्माओं की बातें हैं। हम साधारण मनुष्य हैं। छोटी बातों को लेकर भी दुःखी होते रहते हैं। ऐसी हालत में कटुता में माधुर्य कैसे ग्रहण कर सकते हैं ?"

"महात्मा भी तो मानव ही होते हैं। अपनी साधना के द्वारा वे उस कीर्ति के पात्र बनते हैं। उस तरह की साधना करने का अधिकार सबको है। साधना करके सिद्धि भी प्राप्त कर सकते हैं।"

"मुझ जैसे-से तो यह नहीं होगा।"

"ऐसा मत कहें। आपसे भी यह साधना हो सकती है। आपमें वह प्रवृत्ति यदि न होती तो आप यह नहीं कहते कि अपने रेखा-चित्र के स्थपति ओडेय-गिरी के हरीशजी बने रहें।"

"वह मेरा त्यागी मनोभाव नहीं। वह मेरे स्वयं के जीवन पर की असह्य भावना का एक अंग है। इतना ही···।"

"तो हरीश मान जाते तो आपको बुरा लगता ?"

"मुझे न बुरा लगता, न अच्छा ही।" शिल्पी ने कहा।

परन्तु उन्हें वह ठीक नहीं लगा। कटु लगा। जो प्रसन्नता प्राप्त हुई थी, उसे छोड़कर, अनावश्यक विचारों में फँसकर वे कुछ उद्विग्न हो गये। हानि उनकी हुई। इसी का हमें दुःख है।" शान्तलदेवी बोलीं।

"उन्होंने व्यग्रता की। उनकी आयु भी वैसी है। क्या कर सकते हैं ? वे मान

लेते तब भी मैं श्रद्धा से इसी तरह अपना काम करता।" शिल्पी ने कहा।

"अपनी बात रहने दीजिए। हरीशजी की बात उठी तो आपसे एक प्रश्न पूछने का मन हो रहा है। पूछ सकती हूँ ?" शान्तलदेवी ने कहा।

शिल्पी ने तुरन्त कोई उत्तर नहीं दिया। एक बार शान्तलदेवी को ओर देखा, फिर अन्यत्र कहीं देखने लगा।

"आपकी इच्छा नहीं हो तो जाने दीजिए।" शान्तलदेवी ने कहा।

"कुछ नहीं, दूसरों की बातों से हमें क्या ?"

"दूसरों पर टीका-टिप्पणी कोई ठीक बात होगी ?"

"एक-न-एक तरह की टीका-टिप्पणी तो होगी ही। इसलिए···"

"आपका दृष्टिकोण और है, परन्तु मेरा कुछ और।"

"अर्थात् ?"

"प्रश्न नहीं। कुछ विमर्श तो हो ही सकता है ?"

"मैं केवल मूक श्रोता ही···"

"वही सही। मुझे विश्वास नहीं होता कि हरीशजी के मन में आपके प्रति सद्भावना थी। क्योंकि मैंने सारी बात खुले मन से बता दी है। कुछ छिपा नहीं रखा। आप भी तो यहाँ स्पर्धी होकर नहीं आये। कला का विकास करने के लिए उन्हें एक स्वर्ण-अवसर मिला था। परन्तु आप जानते हैं कि उन्होंने ऐसे अच्छे अवसर का उपयोग क्यों नहीं किया ? असूया के कारण। अकारण असूया। जहाँ आवश्यक न हो वहाँ संशय। जहाँ कुछ नहीं वहाँ पूर्व नियोजित था—ऐसी भावना। इससे ही असन्तोष का जन्म हुआ। उसके बाद निराशा, क्रोध, यों एक के बाद एक भावों ने बढ़कर मन को ग्रस लिया। इसी ग्रहण का फल था उनका व्यवहार।"

"अनेक बुज़ुर्गों और कई विरुद-भूषित शिल्पकलाविदों को उनके नेतृत्व में काम करने के लिए नियोजित कर इस अल्पवय में उन्हें इतना बड़ा गौरव दिया था।"

"आप मौन श्रोता रहे, अच्छा हुआ। हमारे राजमहल में सदा से गुण, और प्रतिभा को ही मान्यता मिलती रही है। आयु, वंश, स्थान—यह सब गौण हैं। इसलिए उन्हें मान्यता प्राप्त हुई थी। परन्तु उन्होंने उसका सदुपयोग नहीं किया। इतना ही नहीं, आप पर ही शंका कर बैठे।"

"मैंने कौन-सी ग़लती की ?"

"उसका उनसे कोई सरोकार ही नहीं। उस समय उन्हें कुछ शंका हो गयी। जैसा निश्चय कर लिया फिर वैसा ही बर्ताव। ऐसे लोगों को कैसे ठीक कर सकते हैं, आप ही कहिए।"

"मुझ पर शंका की तो वह अन्याय है। मैंने ऐसा नहीं समझा था।"

"आप पर शंका करनेवाले आपसे पूछकर शंका करते हैं ? नहीं; आपकी बात पर विश्वास करेंगे ? कुल मिलाकर शंका तो हो गयी, किसी भी तरह हो। एक बार शंकाग्रस्त हो जायँ तो छुटकारा नहीं। शंका के कारण कैसी-कैसी दुर्घटनाएँ होती जाती हैं—इसका अनुभव राजमहल को पर्याप्त है।"

"ऐसा है ? राजमहल में भी ऐसी घटनाओं के होने की सम्भावना हो सकती है ?"

"राजमहल में रहनेवाले भी तो मनुष्य ही हैं ? उनमें भी राग-द्वेष आदि होंगे न ?"

"ब्योरा जब तक न जानूँ, तब तक विश्वास नहीं कर सकूँगा। विशेषकर जिसे सन्निधान का अच्छा परिचय हो गया है, वह विश्वास कर ही नहीं सकता।"

"यह सन्निधान भी एक समय आपकी ही तरह सामान्य जनता में एक थी।"

"ऐसा !"

"शत-प्रतिशत। ऐसे समय शंका के कारण क्या सब गुजर गया। अन्त में सत्य की जीत हुई। बिना कारण शंकित होनेवालों ने अन्त में पश्चात्ताप भी प्रकट किया। उन पुरानी घटनाओं का अनुभव रखनेवाली मैं प्रत्यक्ष देखे बिना, संशय नहीं करती।"

"मैं ब्योरा पूछूँ तो अनुचित तो न होगा ?"

"इस समय बता नहीं सकती, फिर कभी सुनाऊँगी। कल क्या काम है ?"

"दण्डनायकजी से कहा है। सूर्यास्त हो रहा है। सन्निधान के भोजन का समय···" शिल्पी कह ही रहा था कि अन्तःपुर से बच्चे के रोने का स्वर सुन पड़ा। वह स्वर धीरे-धीरे निकट आने लगा।

शान्तलदेवी और शिल्पी दोनों ने जिधर से स्वर आ रहा था उधर देखा।

सुव्वला बल्लू को सहलाती हुई आ रही थी। बच्चा हठ पकड़कर रोता ही रहा। गोद से उछल-उछलकर निकल जाने की चेष्टा कर रहा था।

"क्यों सुव्वला, क्या हुआ ?" शान्तलदेवी उठकर उसकी तरफ़ गयीं। शिल्पी भी उठकर खड़ा हो गया था।

"कितना सहलाने पर भी मानता नहीं। एक ही हठ पकड़े रो रहा है। रोना बन्द ही नहीं हो रहा है।" सुव्वला ने कहा।

शान्तलदेवी ने बच्चे को अपने हाथ में लेकर कहा, "माँ की याद कर रोता होगा। कैसे बहलाएँ इसे ?"

सुव्वला ने कहा, "इसका पालन-पोषण सन्निधान ने ही तो किया है। तब क्या कठिन है ?"

"ओह ! ओह !! तुम अपने पति की बात कह रही हो। बेचारे ने माँ का दूध तक नहीं पिया। परन्तु बल्लू तो ऐसा नहीं।" बोलती हुई बच्चे को छाती से लगाकर पीठ सहलाने लगी। बच्चे ने धीरे-धीरे रोना बन्द किया। वैसे ही उसे नींद लग गयी। शिल्पी कुतूहल से बच्चे को देखता रहा।

"इसके माँ-बाप महासन्निधान के साथ युद्ध में तलकाडु गये हैं। इस बल्लू के माँ-बाप की जीवन-कथा भी तो बड़ी रुचिकर है।"

बच्चा फिर सिसकते-सिसकते जग गया।

"अच्छा, शिल्पीजी," कहकर रोते बच्चे को साथ ले अन्दर चली गयी। सुव्वला भी उन्हीं के साथ चली गयी। शिल्पी अपने निवास पर चला आया।

शिल्पी को लगा कि कोई उसके अन्तरंग पर प्रहार कर रहा है। चिन्तन की गहराई में वह डूबा था, उसी स्थिति में वह अपने आवास पर पहुँचा। उसके न चाहने पर भी उसके लिए सजाया हुआ निवास व्यवस्थित था। उसकी आवश्यकताओं की देख-भाल करने के लिए एक सेवक भी रखा गया था। शिल्पी आकर हाथ-पैर धोकर सायंकाल की प्रार्थना आदि से निवृत्त हुआ। सेवक ने आकर पूछा, "भोजन ?"

"मंचणा ! आज कुछ अस्वस्थ-सा हूँ; तुम भोजन कर सो जाओ !" शिल्पी ने कहा।

मंचणा ज्यों-का-त्यों खड़ा ही रहा।

"क्यों, जाओ न !" शिल्पी बोला। उसने कहा, "सुबह से ही काम में लगे होने से थके हैं। अब न खाएंगे तो कल काम..."

"खाऊँ तो कल काम में बाधा होगी। तुम जाओ, और खाकर सो जाओ।" शिल्पी बोला। वह फिर भी खड़ा ही रहा। शिल्पी ने पूछा, "क्यों ?"

"मुझे पट्टमहादेवीजी का आज्ञा है कि भूखे न रहने देना। आप नहीं खायेंगे तो मुझे जाकर उन्हें बताना होगा।"

"लेकिन यह तो मेरी इच्छा है। उनसे यह सब क्या कहना ?"

"सो मैं क्या जानूं ? आप अकेले के ही बारे में नहीं, यहाँ काम करनेवाले प्रत्येक शिल्पी के भोजन-आदि के विषय में प्रतिदिन उन्हें बताना होता है। खिलानेवाले सभी को यह कड़ी आज्ञा है।"

"इच्छा न हो तो भी खावें ? क्यों ?"

"हम केवल आज्ञा-पालक हैं।"

"ठीक, चलो ! यह दबाव हुआ न ?" वह उठकर अन्दर गया और खाने बैठ गया। हाथ का कौर हाथ में ही रह गया, वैसे ही बैठा रहा।

इसे देखकर मंचणा कुछ हक्का-बक्का रह गया। बोला, "अन्न हाथ में लेकर चिन्ता नहीं करनी चाहिए, मेरी दादी कहा करती थी।"

शिल्पी ने मंचणा की ओर देखा। उसकी दृष्टि कह रही थी कि किसी भी तरह कुछ खा लीजिए। शिल्पी दो-चार कौर खाकर उठ गया। उसका मन कहना चाहता था कि इन सब बातों को यहाँ मत कहे। मगर कहे या न कहे—कोई निर्णय नहीं कर सका। हाथ धोकर पलंग पर जा लेटा। बहुत समय तक उसे नींद नहीं लगी। आँख खुली रही तो फिर मंचणा कोई बात छेड़ देगा—यही सोचकर आँख मूँदे पड़े-पड़े कुछ सोचता रहा। इतने में मंचणा शिल्पी को सोया पाकर दिया बुझाकर चला गया।

शिल्पी का मन अपने गाँव की ओर लगा था। पुरानी घटनाओं की स्मृतियों में लीन। विचारों के तुमुल में बीच-बीच में शान्तलदेवी की कितनी बातें याद आ रही थीं···तुम पर, सन्देह करनेवाले तुमसे पूछकर सन्देह करेंगे?···पुरानी घटनाओं को अनुभव करके भी जब तक प्रत्यक्ष नहीं देखूँ तब तक केवल अनुभूति पर आधारित होकर संशय नहीं करती···उनकी इस बात की पृष्ठभूमि में ही उसकी चिन्ताएँ रूप धारण करती गयी थीं। प्रत्यक्ष देखने पर संशय के लिए अवसर ही कहाँ रहता है? है या नहीं का निर्णय तभी हो जाता है। फिर इतनी बुद्धिमती होकर भी उन्होंने ऐसी बात क्यों कही? पीछे चलकर वे खुद कहेंगी तो मालूम तो हो ही जायेगा। वह कोई बड़ी बात नहीं। परन्तु शिल्पी हरीश को मेरे ऊपर शंका करने की क्या आवश्यकता, क्यों भला? उसकी अन्तर्वाणी ने कहा, "तुमने भी एक बार सन्देह किया न? तुमने पूछा? तुमने तो अपने आप निर्णय कर लिया न? मैंने शीघ्रता नहीं की। उचित प्रमाण मिला तो निर्णय किया। मेरा निर्णय ठीक ही है। मैं इसे प्रमाणित कर सकता हूँ। स्वयं भगवान् ही सामने आवें तो प्रमाणित कर दिखा दूँगा।' यों मन एक स्थान पर टिक गया। इसी स्थिति में पता नहीं कब उसकी आँख लग गयी।

दूसरे दिन सुबह रोज़ की तरह ब्राह्म-मुहूर्त में नहीं जागा। सामान्यतः स्वयं पहले जाग जाता था। और तब मंचणा को जगाता था। आज मंचणा कुछ घबड़ाकर उठा, आँखें मलकर देखा, बग़ल के पलंग पर अभी भी शिल्पीजी सो रहे हैं। तुरन्त पिछवाड़े की ओर जाकर आकाश की ओर देख लौटा और सोचने लगा कि जगायें या नहीं। बिना कुछ ओढ़े सोये हुए शिल्पी के माथे पर हाथ रखकर देखा। फिर कुछ निश्चिन्तता की साँस ली, फिर जगाया। वह उठ बैठा, आँख मलकर मुँह पर हाथ फेरा और बोला, "ओह! आज तुम मुझसे पहले जग गये।" फिर अपने नैमित्तिक कार्यों से निबटने के लिए चला।

रोज़ की तरह मन्दिर-निर्माण के उस स्थान पर आया, एक चक्कर लगाकर चारों ओर देख आया। इसी में उसे आधा प्रहर लग जाता था।

रेखा-चित्र के अनुसार दृढ़ नींव पर तीन हाथ ऊँचा चबूतरा तैयार हो गया था। अब दीवार उठाने का काम शेष था। इसके लिए नीचे से लेकर मुखद्वार के

आधे भाग तक भित्ति-चित्र-निर्माण-कार्य का बँटवारा किया गया था। इन चित्रों को दीवार में पंक्तिबद्ध रीति से जोड़ना था। प्राणी, पेड़-पौधे, लताएँ आदि आकर्षक चित्र, नृत्य-भंगिमाएँ, वाद्यवृन्द, पौराणिक कथा-गाथाएँ—ये सब पंक्तिबद्ध हो दीवार में उकेरने की योजना थी। शिल्पियों में काम बँटा हुआ होने पर भी पंक्तिबद्ध होनेवाले उन भिन्न-भिन्न चित्रों की उस भिन्नता में एकता लाने की योजना थी शिल्पी की। इसलिए उनका लक्ष्य, स्थूल रूपरेखा, विषय-सूची आदि शिल्पी ने दी थी तो भी शिल्पियों को उसके अनुसार निर्माण करने की स्वतन्त्रता थी। अपने प्रतिदिन की इस चला-फिरी में प्रत्येक शिल्पी से विचार-विनिमय कर कभी-कभी अपने मूल चित्र से भिन्न कोई छोटे-मोटे संशोधन-परिवर्तन हुए हों और वे परिवर्तन मूल योजना के पूरक होकर कलासौन्दर्य को बढ़ानेवाले हों तो उन्हें चित्र में सम्मिलित कर लेने का काम भी करता था। इस प्रातःकालीन भ्रमण के बाद ख़ुद अपने हिस्से के कार्य में लग जाता।

आज कार्य-वीक्षण समाप्त कर अपनी जगह आकर काम में न लगा, कुछ चिन्तामग्न-सा हो बैठा रहा। इतने में कुँवर बिट्टियण्णा अपने अन्य कार्यों से छुट्टी पाकर, मन्दिरनिर्माण कार्य की समीक्षा करता हुआ शिल्पी के स्थान पर आया। शिल्पी को चिन्तामग्न बैठे देखकर वह चकित हो गया। कार्यारम्भ किये हुए कई पखवारे बीत गये थे; उसने कभी शिल्पी को इस तरह जड़ होकर बैठे नहीं देखा था। ऐसा क्यों? वह चाहता था कि उससे पूछ ले। फिर पता नहीं क्या सोचकर बिना पूछे ही चला गया वहाँ से।

नियमित समय पर भोजन की घण्टी बजी। घण्टी की ध्वनि ने शिल्पी की चिन्तासमाधि को तोड़ा। शिल्पी वहाँ से उठा और अपने पड़ाव की ओर चला। अपने आपसे कहने लगा: मैं आज क्यों इस तरह मर्ख बन बैठा? ऐसे में यदि पट्टमहादेवी आकर देख गयी होतीं तो मेरी क्या दशा होती! उस बड़े सवेरे मुँह अँधेरे के दुष्ट स्वप्न ने इतना गड़बड़ किया। मन से सर्वथा दूर वह व्यक्ति आज स्वप्न में क्यों आया? इस दुरन्त स्थिति से पार पाने और जीवन के प्रति कड़ुआहट त्यागने के उद्देश्य से मैंने गृह त्याग किया विषु-संवत्सर में। अब पन्द्रह वर्ष बीत चुके। इतने वर्षों के बाद अब क्यों इस तरह का स्वप्न? यही सब सोचता हुआ वह अपने पड़ाव पर पहुँचा। भोजन तैयार था। जल्दी ही उलटा-सीधा निगलकर फिर अपने कार्यस्थान पर नियत समय पर पहुँच गया।

मध्याह्न के बाद जो कार्य करना था उसे आरम्भ भी किया परन्तु ध्यान बँटता गया, एकाग्रता न साध सका। हाथ उल्टा-सीधा चलने लगा। समय बीतता गया पर काम कुछ न हुआ। सूर्यास्त की ओर उसका ध्यान गया तो उसे याद आया कि आज दिनभर पट्टमहादेवी इस तरफ नहीं आयीं। या सुबह ही आकर चली गयीं? फिर सेवक की ओर देख उससे पूछा, "सन्निधान आज क्यों नहीं आयीं?"

के लिए अवसर ही नहीं। यदि मेरा कभी कोई पुत्र होता तभी न ममता उत्पन्न होने की बात आती?"

"आगे होगा नहीं—ऐसा कोई नियम है?"

"हाँ!"

"सो कैसे?"

"कृपया इस विषय पर बल न दें।"

"हाँ, तो मैं भूल ही गयी थी। फिर भूल हो गयी। आपके वारे में इतना सब पूछना ही नहीं चाहिए था। अपनी निजी बात को छोड़ दीजिए। परन्तु वल्लू के वारे में आपके मन में आशंका क्यों हुई? उसे तो आपने कल ही देखा, इसके पहले नहीं। आप इसके माँ-वाप को भी नहीं जानते। यह ममत्व क्यों?"

"कल सन्निधान ने जो बातें कहीं, उनका शायद मेरे मन पर कुछ प्रभाव पड़ा होगा।"

"ऐसी कोई बात मैंने कही हो—स्मरण नहीं।"

"दण्डनायक ने माता-पिता को जन्म से ही खो दिया। उनका पालन-पोषण कर आपने ही सँभाला। बल्लू के माँ-वाप युद्ध-क्षेत्र में गये हैं। उसे भी आपको सँभालना होगा। इसके साथ आपने यह भी कहा कि वल्लू के माँ-वाप की कहानी वहुत चित्ताकर्षक है। वह आकर्षण संशय का पूरक है; शायद इसी का मुझ पर कुछ प्रभाव हुआ हो।"

"आपको निश्चित रूप से कुछ ज्ञान न होने पर भी उस बच्चे के वारे में आपके मन में आशंका हुई, इससे लगता है कि आपका हृदय बहुत कोमल है।"

शिल्पी इसे सुनकर हँस पड़ा।

"क्यों? मैंने ऐसी क्या बात कही जिससे आप हँसे!" शान्तलदेवी ने पूछा।

"कोमल हृदय कहा न? इससे हँसी आ गयी। मेरा हृदय नहीं, वह कसाई का हथियार है ऐसा कहतीं तो ठीक होता।"

इस वार शान्तलदेवी को हँसी आ गयी। शिल्पी ने प्रश्नमयी दृष्टि से शान्तलदेवी की ओर देखा।

कुछ क्षणों के बाद शान्तलदेवी ने कहा, "दुनिया में अपने-आपको न समझने-वाले अनेक लोग हैं। शायद ऐसे लोगों में आप भी एक हैं। इसीलिए आप अपने को कसाई कहते हैं। जो कसाई होता है वह कभी अपने काम पर पछतायेगा? पछतानेवाला कभी कसाई बन सकता है? अपने ऊपर, अपने आप दोष न लगाइए। कलाकार कसाई नहीं बन सकता। लोलुप और मदान्ध होते हैं कसाई।"

शिल्पी कुछ नहीं वोला।

"क्यों? मेरी बात सही नहीं जँचा?" शान्तलदेवी ने पूछा।

शिल्पी को कुछ असन्तोष हुआ था। अड्डे पर पहुँचने के वाद उसे समझा देने की बात भी सोची। दण्डनायिका की और चट्टला की कहानी मन में जम गयी थी तो उसे यह वात स्मरण ही न रही। वड़ों का छोटापन और छोटों का बड़प्पन—दोनों के स्वरूप का परिचय अच्छी तरह होने के साथ वड़ों का वड़प्पन और छोटों का छुटपन भी उसे ज्ञात हुआ। परन्तु संशय हो जाने पर किसी भेद-भाव के बिना छोटे-बड़े सबका जीवन कीचड़ का कुँआ वन जाता है—यह उसके मन में निश्चित हो गया। भावोद्वेग स्थायी हो जाने पर वह सबसे एक ही तरह का काम करा देता है—यह प्रत्यक्ष हो गया। फिर भी इनके बीच निर्विकार, खुले मन, निर्लिप्त और आवेग रहित स्थिरचित्त पट्टमहादेवीजी की रीति और उस रीति की साधना द्वारा सिद्ध करनेवाली स्थिति को देखकर वह चकित हो गया। इस तरह रहना उनके लिए कैसे सम्भव हो सका—वह यह सोचने लगा। शुद्ध मन और उत्तम संस्कार—ये दो ही उसे प्रधान कारण प्रतीत हुए।

वास्तव में चट्टला दुनिया की दृष्टि में शीलभ्रष्टा है। उसका जीवन अच्छा और सुन्दर बनना असम्भव ही था। ऐसी स्थिति में भी उसके जीवन को सुखमय और प्रेमपूर्ण बनाने में पट्टमहादेवी ने जिस भूमिका का निर्वाह किया वह वहुत ही प्रशंसनीय लगा। साथ ही अपने जीवन की राम-कहानी उसके मनःपटल पर अंकित होती चली। उस भोर के सपने से लेकर अपने गृहत्याग के समय तक की एक के बाद एक सारी घटनाएँ उससे अन्तश्चक्षुओं के सामने खुल-सी गयीं। स्मृति जैसे-जैसे तीव्र होती जाती वे सारी पुरानी घटनाएँ जिस क्रम से घटीं और उसकी जो प्रतिक्रियाएँ हुईं वह ज्यों-की-त्यों मन में दुहरती-सी लगीं। न, न, खुले दिल की चट्टला और यहाँ का कोई सम्बन्ध ही नहीं। एक निःसहाय निर्मलता, दूसरी नियोजित कु-प्रवृत्ति। यह खरा सोना और दूसरी राख बनी लकड़ी। एक त्याग की ज्योति, दूसरी दुनिया को अँधेरे में डुबा देनेवाला सघन धुआँ! यों उसका मन दो व्यक्तियों की तुलना में उलझता गया। इसी चिन्ता में लीन वह कब सो गया पता नहीं।

. . .

पोय्सलों का तमिल जाननेवाला गुप्तचर बड़ी कुशलता से खिसका और अपनी सेना के शिविर में पहुँचा। उसी से चट्टला-मायण के वन्दी होने की सूचना मिली। नहीं तो सूचना मिलना भी कठिन होता। राजमुद्रांकित पत्र के विना कोई भी

छिपकर तलकाडु से बाहर नहीं निकल सकता था। यों चट्टला-मायण एक व्यक्त रूप से बन्दी हुए तो शेष चर अव्यक्त ही बन्दियों की तरह तलकाडु में रहे।

जो पकड़े नहीं गये वे किसी तरह छूटकर आ सकते थे, परन्तु चट्टला-मायण नहीं सकते थे। इसलिए गंगराज आदि से विचार-विनिमय कर बिट्टिदेव ने वेलापुरी को समाचार भेजा था। वहाँ विचार-विमर्श होने के बाद गुप्तचरों के एक दल को ही तलकाडु के अन्दर घुसकर काम करने के लिए भेज दिया। यह गुप्तचर दल दक्षिण और दक्षिण-पूर्व से तलकाडु में घुसकर चट्टला-मायण को छुड़ा लाने का प्रयत्न करने लगा। इस काम के लिए तमिल जाननेवाले चरों का एक दल भेज दिया गया। वे तरह-तरह के वेशों में घूम-फिरकर भिन्न-भिन्न मार्गों से तलकाडु की ओर चले। यह सूचना भी युद्धशिविर को पहुँचायी गयी। इन सारे प्रयत्नों से भी कार्य शीघ्र होने की आशा नहीं की जा सकती थी। यह काम ही ऐसा था कि इस तरह की व्यवस्था में कुछ समय चाहिए था। फिर यह भी कहा नहीं जा सकता था कि इस प्रयत्न का परिणाम क्या होगा। इसलिए कुछ-न-कुछ प्रयत्न युद्धशिविर से करने के बारे में विचार-विनिमय करने के उद्देश्य से सभा जुटायी गयी। इसमें गंगराज, उदयादित्य, बम्मलदेवी, पुनीसमय्या, माचण दण्डनाथ महाराज के साथ थे।

"तलकाडु में प्रवेश करना कठिन काम है। सूचना मिली है कि तलकाडु के अन्दर प्रवेश करना या वहाँ से बाहर निकलना, दोनों ही कार्य असम्भवप्राय हो गये हैं। इसलिए इधर से प्रवेश पाना सम्भव ही नहीं।" माचण दण्डनाथ ने कहा।

"रात के समय घुस जाना सम्भव नहीं?" बम्मलदेवी ने प्रश्न किया।

"शायद हो सकेगा। परन्तु तलकाडु के भीतर-बाहर की और आस-पास की भौगोलिक परिस्थितियों को जाननेवाला ही इसे कर सकता है। मगर हमारे पास ऐसे लोग बहुत कम संख्या में हैं। यदि वे जाने का साहस भी करें तब भी उनसे चट्टला-मायण को छुड़ाकर लाना सम्भव नहीं हो सकेगा।" गंगराज ने कहा।

"ऐसा नहीं, काफ़ी संख्या में हमारे लोग अन्दर घुस जायें और वे चोलों के बीच घबराने योग्य अफवाहें फैला दें जिससे उनमें खलबली मच जाय; युद्ध के आरम्भ में ही उनके नैतिक बल को तोड़ देना चाहिए।" बम्मलदेवी ने कहा।

"यह प्रयत्न भी किया जा सकता है। वेलापुरी से जो गुप्तचर दल पहुँचा है वे पता नहीं क्या करेंगे। उनका काम होता रहे। पर हम कितने दिन दूर बैठे रहें? कल ही आक्रमण कर दें तो नहीं होगा?" उदयादित्य ने पूछा।

"हमें वहाँ की व्यवस्था के विषय में सही जानकारी नहीं मिली है। एक चर किसी तरह खिसककर चला आया तो उससे पता लगा कि चट्टला और मायण

बन्दी हैं। वैसे यह सुनी-सुनायी बात भी पता लगी कि उनकी संख्या कितनी है। वहाँ दस सहस्र सैनिक हैं, और दस सहस्र की प्रतीक्षा है।" गंगराज ने कहा।

"उसके पहुँचने के पहले ही हम क्यों न आक्रमण कर दें?" उदयादित्य ने कहा।

"हम उसी उद्देश्य से आये हैं। लेकिन हमें न्यूनतम हानि में विजय मिलनी चाहिए। ऐसा उपाय सोचना है।" माचण ने कहा।

"परन्तु चट्टला-मायण की बात न होती तो हमें सोचने का समय मिलता।" बम्मलदेवी ने कहा।

"हमें जो समाचार मिला है उसके अनुसार चोलों को निश्चित रूप से पता नहीं कि वे हमारे गुप्तचर हैं। केवल अनुमान मात्र है। इसी से उन्हें बन्द कर रखा है। मायण अकेला होता तो डरना था। उसके साथ चट्टलदेवी भी है, इसलिए मुझे लगता है कि वे किसी-न-किसी युक्ति से छूटकर आ ही जायेंगे। चट्टलदेवी इस सबमें बहुत कुशल है। इसलिए थोड़ी प्रतीक्षा करना ही अच्छा है।" पुनीसमय्या ने कहा।

"सच है, चट्टलदेवी अत्यन्त प्रत्युत्पन्नमति है। परन्तु वे अपने आप छूटकर आयेंगे—यह सोचकर हम चुप बैठे रहे, यह ठीक होगा?" बम्मलदेवी ने कहा।

"बहुत समय तक प्रतीक्षा करने की बात मैं नहीं कह रहा हूँ। उसको भी कुछ समय देना चाहिए। इतने में हम एक काम और करें। हम एक पत्र भेजें। 'गंगों के राज्य में बसने का चोलों के लिए कोई नतिक अधिकार नहीं। न्याय्य रीति से गौरव के साथ उस जगह को छोड़ दें तो जीवित अपने देश को लौट सकते हैं। नहीं तो कावेरी आप लोगों के रक्त से लाल होकर आपके देश में बहेगी।' इतना लिख भेजना पर्याप्त होगा। शरण में आएँ तो ठीक, नहीं तो आक्रमण तो करना है ही।" पुनीसमय्या ने कहा।

"हमारी सेना उनकी दस सहस्र सैन्य का सामना करने में समर्थ तो है ही, इसलिए पुनीसमय्याजी के कहे अनुसार आदियम के पास सन्देश भेजेंगे।" गंगराज ने निर्णय सुना दिया।

"सन्निधान ने कुछ कहा नहीं?" बम्मलदेवी ने कहा।

"प्रधानजी ने निर्णय किया है। इस युद्ध के वे ही सूत्रधार हैं। उनका निर्णय हमें मान्य है। आज ही रात को हमारे गुप्तचर जितनी संख्या में हो सकें, तलकाडु में प्रवेश करें और अपना कार्य प्रारम्भ कर दें। कल आदियम को पत्र मिल जाय।" बिट्टिदेव ने निर्णय की पुष्टि कर दी।

उसी तरह कार्य सम्पन्न हुआ। आदियम ने उत्तर में कहला भेजा: "मनमाना बकनेवाले उस बिट्टिगा की बकवास से हम डरनेवाले नहीं।"

यों सूचना मिलने के बाद तुरन्त निर्णय हुआ—आक्रमण!

उधर चट्टला-मायण पहले राजाधिराज चोल की धर्मशाला में ले जाये गये। सात-आठ दिन तक वे चुपचाप वहाँ पड़े रहे। किसी ने उन पर ध्यान नहीं दिया। समय पर उन्हें भोजन आदि मिल जाता। एक दिन दामोदर आया तो चट्टला ने पूछा, "हमारा सब सामान गंगराज की धर्मशाला में रह गया।"

"उनकी जाँच के बाद ही पता चलेगा कि तुम लोग गुप्तचर हो या यात्री।" दामोदर ने कहा।

"उनकी जाँच जितनी शीघ्र कर लेंगे उतनी ही शीघ्र हमें मुक्ति मिल जाएगी। इस शीघ्रता के लिए हम आपके आभारी होंगे।" चट्टला बोली।

"जब इच्छा होगी तब करेंगे। तुम्हें क्या? तुम लोगों को कोई कष्ट तो नहीं। तुम लोग अपने पूजा-पाठ में रमे रहो। तुम लोगों के भोजन, अल्पाहार आदि की व्यवस्था कर दी गयी है। परन्तु तब तक तुम लोगों के पीछे सशस्त्र पहरेदार रहेंगे ही। यदि तुम लोगों को अपनी यात्रा पूर्ण करनी हो तो चुपचाप पड़े रहो। नहीं तो शीघ्र ही तुम्हें स्वर्ग भेज दिया जाएगा।" दामोदर ने कहा।

"हाय! हाय! ऐसा मत कीजियेगा। हम सन्तान-प्राप्ति के उद्देश्य से यात्रा कर रहे हैं। कम-से-कम कोई-न-कोई भगवान् हम पर इतनी कृपा करें। आप ही बताइए इतना समय बीतने पर भी सन्तान-प्राप्ति नहीं हुई तो हमें कितना दुःख हुआ होगा? हमारी साथिनें अब तक तीन-तीन बच्चों की माँ बनी फिर रही हैं। सिर्फ़ मैं···" रोने की-सी सूरत बनाकर चट्टला ने कहा।

"बात तक न करनेवाले इस मूढ़ पति से तुमको सन्तान हो भी कैसे सकती है?" दामोदर ने एक व्यंग्यपूर्ण हँसी हँसकर कहा। मायण को गुस्सा चढ़ रहा था। चट्टला ने उसकी ओर देखा और कहा, "देखिए जी, आप बड़े पद पर हैं। हम जैसों को ऐसा दुःख नहीं देना चाहिए। हम दुःख में हैं, आप ऐसा विनोद क्यों करते हैं? बच्चा दे सकने की शक्ति उस भगवान ने आपको दे रखी हो तो आप ही कृपा करें। हम मना थोड़े ही करते हैं। और फिर हमें तो वंशोद्धारक सन्तान चाहिए। है न जी?" कहती हुई चट्टला ने मायण की ओर देखा। उसकी दृष्टि में याचना थी—ऐसा दामोदर को लगा। परन्तु मायण को उसमें दूसरा ही संकेत जान पड़ा।

"हाँ जी, महाराज! मेरी पत्नी जो कहती है, उससे मैं भी सहमत हूँ। आपमें वह शक्ति हो तो आप ही कृपा कीजिए। यहाँ के वैद्येश्वर महादेव और मनोन्मणी महादेवी की कृपा हमें मिले—ऐसी कृपा करें। मरने तक आपका नाम-स्मरण करते रहेंगे। आपके इस उपकार को हम भूलेंगे नहीं। तब आपको मालूम होगा कि हम कैसे लोग हैं?" मायण ने कहा।

उसकी बात सुनकर दामोदर हँस पड़ा।

"हँसते क्यों हैं, महाराज?" मायण ने पूछा।

चट्टला जोर से हँस पड़ी। दामोदर ने उसकी ओर देखा। उसने आँखें मटका दीं।

मुस्कुराते हुए दामोदर ने पूछा, "क्यों हँस रही है ?"

"कटहल काटने के लिए मेरे हाथ में हँसिया हो तब तो यह मेरे पास फटकता नहीं। ऐसा आदमी कहीं अस्त्र भी छिपाकर रख सकेगा ?"

"मुझे अपना कर्तव्य ही तो करना है, व्यक्ति के गुण-अवगुण नहीं देखना है। अरे गोज्जिगा !" उसकी ओर संकेत किया। उसने मायण की जाँच की। उसके पास कुछ नहीं था।

"महाराज बड़े शंकालु हैं।" चट्टला ने कहा।

"तुम्हारे बारे में ऐसा कुछ नहीं।"

"देखा ! अब पता हुआ न मेरा स्वभाव ? ये महाराज मुझ पर कितना विश्वास करते हैं। तू नहीं करता। बगल में ही पड़े रहकर मरना चाहता है।"

"अब इस सबके लिए उसे अवसर कहाँ मिलेगा ? गोज्जिगा ! उसे घसीट ले जा, और जैसा कहा, करके कावेरी के उस पार छोड़ आ। उत्तर की सीमा पर नहीं !" दामोदर बोला।

"री ! कम-से-कम अब तो महाराज से कह दे कि मुझे मत भेजें। तेरी शपथ, मैं छोड़कर कैसे रहूँगा ? तेरे लिए कहाँ प्रतीक्षा करता रहूँ ? कितने दिन तक प्रतीक्षा करूँ ? अच्छी सन्तान-यात्रा प्रारम्भ की···हाय भगवान् !"

"अरे ! तुम अपने गाँव जाकर प्रतीक्षा करना। सन्तान प्राप्त कर वह तुमसे आकर मिलेगा।"

"क्या कहा ?" मायण गुस्से से भरा-सा गरजा।

"हटो ! गोज्जिगा इसे घसीट ले जाओ। जाओ, नीच कहीं का।" दामोदर भी गरज उठा। गोज्जिगा उसे घसीट ले गया। तब मायण-चट्टला में आँखों-आँखों में बातें हुईं। वह ऐसे चला मानो चट्टला को छोड़कर जाना नहीं चाहता हो। उसकी आँखें भरी-भरी-सी दिख रही थीं। वह चला गया।

अब वहाँ केवल चट्टला और दामोदर दो ही रह गये।

"महाराज ! द्वार बन्द कर आऊँ ?" चट्टला ने पूछा।

"अभी नहीं। मुझे शीघ्र आने का बुलावा आया है। मैं राजप्रतिनिधि आदियम से मिलकर अँधेरा हो जाने के बाद फिर आऊँगा। ठीक है न ?"

"बहुत अच्छा ! ऐसी जल्दी का क्या काम है ?"

"पता नहीं। और क्या युद्ध की ही बात होगी। मुझे तो कोई चिन्ता नहीं। उन्हें भय है।"

"क्यों ?"

"तुम्हें क्या करना।"

"हाँ, उसे जानकर मुझे क्या करना है ?"

"चलूं ?"

"यदि आप आये नहीं तो ?"

"सो तो सम्भव ही नहीं। मैंने भी निर्णय कर लिया है। तुमने भी सोच लिया है। दोनों एक-से। ऐसी स्थिति में छूटना ही नहीं चाहिए।"

"ऐसा हो तो बहुत प्रतीक्षा नहीं करायें।..." चट्टला ने कटाक्ष किया।

"तुम स्वादिष्ट भोजन करके पान रचाती बैठी रहो। मैं आ जाऊँगा शीघ्र ही।" कहकर दामोदर चला गया।

चट्टला चिन्तामग्न बैठी रही। हमारी योजना ठीक बैठ गयी लगती है। अकेली को छोड़ जाने की इच्छा न होने पर भी मायण अन्त में मानकर चला गया, यह अच्छा हुआ। यही उसकी धारणा रही।

गोज्जिगा के साथ मायण गया सही, अब वह होगा कहाँ ? क्या करता होगा ? जैसा सोचा था उस तरह सब काम करना उससे हो सकेगा ? अंधेरा होने के बाद दामोदर आयेगा। उससे सामना कैसे होगा ? कौन-सा क़दम उठाने पर काम सफल हो सकता है—आदि-आदि बातें सोचती हुई बैठी रही।

उसे भोजन के लिए बुलावा आया। भोजन करके आयी और पान खाने बैठ गयी।

बहुत देर बाद दामोदर आया। चट्टला ने पूछा, "मुझे भय था कि आप आयेंगे या नहीं।"

"डर क्यों ?" दामोदर ने पूछा।

"तुम पुरुषों को कैसे मालूम पड़ेगा कि अकेली स्त्री को क्यों भय होता है ? मेरा पति कम-से-कम साथ होता तो कुछ तो धीरज होता। आपके नीचे काम करनेवाला कोई आ जाता तो अकेली स्त्री मैं क्या कर सकती थी। देखिए ! भविष्य में मुझ अकेली को इस तरह छोड़कर मत जाइए।" चट्टला ने कहा।

दामोदर हँस पड़ा। बोला, "यहाँ, मैं जिस औरत को चाह की दृष्टि से देखता हूँ, उसकी ओर कोई दूसरा देखने का साहस भी नहीं कर सकता। इसलिए तुम मत डरो। आज का भोजन कैसा रहा ?" दामोदर ने पूछा। कहते-कहते वह सरककर उसकी बगल में जा बैठा।

"बहुत ही उत्तम, राजमहल के भोजन जैसा।" चट्टला बोली।

"तुमको राजमहल के भोजन की रुचि का पता कैसे मालूम है ?" दामोदर ने शंका-भरी दृष्टि से उसे देखा।

चट्टला ने उसकी शंका को पहचान लिया। "हमें ऐसा सौभाग्य कहाँ ? ऐसा भोजन मैंने ज़िन्दगी-भर में नहीं खाया था। इसलिए मैंने सोचा कि राजमहल का

भोजन शायद ऐसा ही होगा। आप सब लोग प्रतिदिन ऐसा खाना खाते हैं?"—उसकी ओर देखती हुई चट्टला ने पूछा।

"और अच्छा रहता है। यह भोजन शरीर को गरम रखता है। शक्ति देता है।"

"इसीलिए अत्यन्त शक्तिशाली दिखायी दे रहे हैं।"

"युद्ध, शिविर की मिठाई-चुरमुरी नहीं। क्या समझती हो?"

"मुझे तो यह शब्द सुनते ही कँपकँपी आ जाती है। आप सब लोगों को यह क्या पागलपन सवार हुआ है? बेचारे आप लोग क्या करेंगे? इस तरह सुबह-शाम शरीर में गरमी और ताकत भरती जाय तो ऐसा ही होता है। यों ही बिना कारण युद्ध छेड़ना।"

"हमने कहाँ छेड़ा। यह सब तो उस डींग हांकनेवाले के कारण।"

"डींग हाँकनेवाले?"

"वही, 'मैं एक राजा,' राजवंशीय कहकर डींग मार रहा है न, वह; वही पोय्सल बिट्टिगा।"

"पोय्सल बिट्टिगा—वही उस मुड्कुतोरे के पास जिसने सेना लाकर रखी है? अब समझी। उसे आप लोगों से वैर क्यों?"

"वैर क्या है, घमण्ड है। राज्य का लोभ। उसकी आयु अब समाप्त हुई समझो, इसलिए वह इधर आया है।"

"नहीं जी, आप ऐसा कहते हैं कि मानो वह कोई खटमल है, रोंदने से मर जायेगा। ओह! ओह!! उनकी उस सेना को याद करते ही···शरीर कांप जाता है।"

"तुम जैसी डरपोक औरतों के लिए यह सब होता है। हमारी सेना···"

"कुछ दिखती ही नहीं।"

"वह कितनी और कहाँ है—यही तो रहस्य है। इसी रहस्य को जानने के लिए गुप्तचरों को भेजा है। उनमें से अब तक दो तो गये काम से।"

"ऐसा? उन्होंने क्या किया?"

"वह सब तुम क्यों पूछती हो?" उस सबका पता लगाने के लिए अलग बहुत बड़ी व्यवस्था है, हमारे राज्य में। शत्रुओं का कोई गुप्तचर मिल जाय तो उसे वहीं तब-का-तब समाप्त कर देने की आज्ञा है, कुलोत्तुंग प्रभु की। उन दोनों को चीरकर क़िले के दरवाजे पर बन्दनवार की तरह बांध रखा है।"

"हाय! हाय!! उनकी पत्नी-बच्चों का क्या हाल होगा?"

"पत्नी-बच्चों की ममता लेकर कहीं लड़ाई लड़ी जाती है?"

"यह अन्याय है जी।"

"यह सब सोच-विचार करने के लिए समय ही कहाँ होता है? सोच-विचार

"क्यों ?"

"तुम भी कितनी मूर्ख हो ? तुमने और तुम्हारे उस नपुंसक पति ने कहा कि बहुत बड़ी सेना देखी। कम-से-कम उसमें आधी तो समाप्त हो। वे क़दम पीछे हटायेंगे नहीं। उन्हें दो-तीन दिन में समाप्त करना हो तो हमें कम-से-कम एक पखवारे तक प्रतीक्षा करनी पड़ेगी।"

"इतने दिन चाहिए ? आपने तो कहा कि आपकी सेना बहुत बड़ी है।"

"वह अभी तक आयी नहीं। हमारे राजा ने दस सहस्र सेना भेजी है। यहाँ आने में उस सेना को दस दिन लगेंगे। यहाँ जो है वह तो बराबर लड़ते रहने के लिए ही।"

"ऐसा है ! हमें क्या पता यह सब। आप भी तलवार लेकर युद्ध में जायेंगे ?"

"क्यों ?"

"किसी ने कहा था 'व्रत बिगड़े तो कम-से-कम सुख तो मिलना चाहिए।' युद्ध में कैसे क्या होगा। बाद को कुछ-का-कुछ हो जाय तो, मेरा क्या होगा ?"

"हम युद्ध में आगे नहीं रहेंगे। हमने वेतन देकर जो सेना रखी है, वह किस-लिए है ? हम पीछे रहकर आदेश देंगे। वे आगे मारेंगे, नहीं तो मरेंगे। हम तो सुरक्षित हैं।"

"ऐसा होता है क्या ? मुझे तो पता ही नहीं था यह सब। युद्ध में राजा जीता करते हैं; मैं समझती थी कि राजा ही आगे रहेंगे।"

"वह तो उस डींग हाँकनेवाले की रीति है। हमारे महाराज अब यहाँ आयेंगे थोड़े ही। वे राजधानी से ही आज्ञा भेज देंगे। हम पीछे रहकर आदेश देंगे।"

"वही ठीक लगता है। यों ही प्राण गँवाने के लिए कोई क्यों जावे; तो आप पर विश्वास कर लूँ ? मुझे कोई कष्ट तो नहीं होगा न ?"

"अब भी सन्देह है ?"

"मेरे उस पति को भिजवा दिया न ?"

"क्यों वह आ जाएगा तो डर होगा, क्यों ?"

"मुझे डर क्यों, वैसे ही पूछा।"

"यदि तुम्हारे सामान में कुछ न मिला होगा तो अब तक उसे नदी पार करा दिया गया होगा। और अगर कुछ मिल गया होगा तो उसे फाड़कर किले के द्वार पर उसका तोरण बना रखेंगे। यहाँ सूचना भेज देंगे।"

"तब ठीक है। निश्चिन्त हो गयी।"

"क्या निश्चिन्त ?"

"फिर उसकी पीड़ा न रहेगी।"

"केवल बातों ही बातों में समय काट रही हो न ? मेरी बात मानो तो तुमको कोई कष्ट नहीं होगा। मेरे लिए और भी दूसरे काम हैं। बातें अब थोड़ी करो;

चलो, तैयार हो जाओ।"

"अजी, आज ही होना चाहिए ? देखिए मैंने तो मान लिया है। फिर भी आप पराये ही तो हैं। इसलिए कुछ संकोच लगता है। कल तक प्रतीक्षा करें तो...।"

"देखो, मुझसे यह नहीं होगा। तुम्हारे प्राण, मान-मर्यादा सबकुछ अब मेरे हाथ है। मेरा कहा मानो तो कुशल है। वह काम प्रसन्नता से होना चाहिए, बल-पूर्वक नहीं।" कहकर उसकी भुजा पर हाथ रखा।

"अच्छा, रुकिए ज़रा !"

"क्या है ?"

"दीपक की रोशनी में यह सब मेरे वश का नहीं।"

"तो दिया बुझा दूं ?"

"हाँ !"

"बुझा दें तो फिर जलायेंगे कैसे ?"

"न, न; मुझसे प्रकाश में सम्भव नहीं।"

"कुछ स्त्रियाँ प्रकाश से डरती क्यों हैं ?"

"वह पुरुषों को कैसे जान पड़ेगा ? वह एक तरह की लाज है।"

"भाड़ में जाओ ! जैसी तुम्हारी इच्छा हो वैसा ही सही।"

"आप ही बुझायेंगे या मैं बुझा दूं !"

"जैसी इच्छा हो।"

"हमारे इस प्रथम समागम की स्मृति के लिए ?"

"ओह ! कुछ नहीं लाया न ?"

"अंगूठी तो है न ?"

"वह अधिकार मुद्रा है, किसी को नहीं दी जा सकती।"

"तो पहला समागम..."

"अब क्या करूँ बताओ ? मैंने सोचा ही नहीं। कल तुमको एक सुन्दर कण्ठी दूंगा। स्वीकार ?"

"अभी होती तो कितनी खुशी होती !"

"लेकिन अब क्या करूँ ?"

"अच्छा, जाने दीजिए। मैं ही हार मान लूँगी। हार मानना ही तो स्त्री का काम है।"

"यह सब मुझे नहीं पता।"

"ठीक है, छोड़िए। अब चर्चा क्यों ? आप अपने ही हठ को साधना चाहें तो मैं क्या कर सकूंगी। इस लिबास को ऐसा ही रहना होगा ? इससे बाधा होगी न ?"

"हाँ, यह बात तो ठीक है। इसे उतार दूं तो फिर अँधेरे में पहनूंगा कैसे ?"

"तव तो इस दीप को अन्दर के कमरे में रखकर द्वार बन्द कर देंगे।"

"जैसा चाहो।"

इधर पोय्सलों की सेना युद्ध के लिए तत्पर हो गयी। सेना की एक टुकड़ी तलकाडु के दक्षिण में घुमावदार रास्ते से चल पड़ी। योजना के अनुसार राजधानी से जो गुप्तचरों का गिरोह निकला और इधर रात के समय लुके-छिपे जो गुप्तचर तलकाडु में घुस पड़े थे उन सभी ने विचित्र अफ़वाहें फैला दी थीं। उसमें एक सूचना यह थी कि जो कुलोत्तुंग की सेना तलकाडु की मदद के लिए आ रही थी, उसे वीच रास्ते में ही रोककर पोय्सल सेना ने उसका ध्वंस कर दिया है। इसके साथ दामोदर पोय्सलों का वन्दी हो गया और आदियम छिपकर भाग गया है—यह अफ़वाह आग की तरह फैल गयी। अव दो-तीन दिनों में दोनों ओर से पोय्सल तलकाडु को घेरकर एक-एक की जान ले डालेंगे। ध्वंस कर देंगे। तलकाडु में जो थोड़ी सेना है वह घण्टे-दो घण्टे में समाप्त हो जायेगी—यह वात भी फैल गयी। सारा नगर इन समाचारों से त्रस्त हो गया। ये सारे समाचार आदियम के भी कानों में पड़े। परन्तु उसे हैरानी इस वात की थी कि दामोदर लापता हो गया था। उसे तो इसके खण्डन के लिए आना चाहिए था, मगर नहीं आया था। क्या वास्तव में दामोदर शत्रुओं का वन्दी वन गया है? ऐसा है तो कैसे काम चलेगा? अगर वन्दी हुआ तो कैसे और कहाँ? यह सव वड़ा विचित्र-सा लगता है न?—यह सव सोचने लगा। नरसिंह वर्मा को वुलवाकर आगे के कार्यक्रम के वारे में विचार-विनिमय भी किया। उस समय की परिस्थिति में वहाँ जितनी सेना मौजूद थी उसे ही सामना करने के लिए तयार कर रखने का निर्णय हुआ। निर्णय के अनुसार सेना की दो टुकड़ियाँ वनाकर तलकाडु के दक्षिण की तरफ़ तीन-चार मील दूर भेजकर वहाँ पोय्सल सेना का सामना करने तथा शेष सेना को उत्तर की ओर व्यूह वनाकर उधर से आनेवाली पोय्सल सेना का सामना करने के लिए तैयार रखने की योजना वनायी गयी। इसके अनुसार नरसिंह वर्मा सेना के साथ दक्षिण की ओर चल पड़ा। आदियम वहीं ठहरा रहा।

प्रातःकाल युद्ध प्रारम्भ होने की प्रतीक्षा तो थी, मगर युद्ध नहीं हुआ। परन्तु मध्याह्न के पश्चात् भयंकर युद्ध तलकाडु के पास कावेरी के तीर पर छिड़ गया। आदियम के सैनिकों ने भी कसकर सामना किया। परन्तु भारी संख्या में लोग हताहत हुए और भारी कष्ट भी पोय्सलों की सेना से भुगतना पड़ा। सूर्यास्त के

साथ उस दिन का युद्ध समाप्त हुआ।

युद्ध, दिन-पर-दिन भयंकर होता जा रहा था। दो दिन बाद एक रात दामोदर के पास आदियम का बुलावा आया। उसी से उसकी कथा सुनकर चकित होकर आदियम ने पूछा, "अब यह सब नहीं होगा, अब बताओ आगे युद्ध का कार्यक्रम क्या हो?"

"एक दिन की विश्रान्ति मिले तो फिर मेरा जो अपमान हुआ है उसका बदला लूँ।" दामोदर बोला।

उसकी दुर्दशा समझकर आदियम ने उसे स्वीकार कर लिया।

युद्ध चला। पोय्सल सेना तलकाडु के दक्षिणी ओर से भी भारी परिमाण में मोर्चा जमाये बैठी रही। आदियम के पास अपने राजा की ओर से नियत समय तक भी सेना नहीं आयी। साथ-साथ उस ओर से रसद भी नहीं पहुँची जिसकी प्रतीक्षा रही। इस तरह आदियम की हालत बिगड़ती गयी। दामोदर ने अपने कथन के अनुसार विश्राम करने के बाद युद्ध का नेतृत्व अपने ऊपर लिया।

उधर पोय्सल युद्ध-शिविर में मायण पहुँच गया और चट्टला को छोड़कर वहाँ से भाग आने तक के सारे समाचार बताये। गंगराज ने कहा, "उसे अकेली छोड़कर तुमको आना नहीं चाहिए था।"

"नहीं, परिस्थिति ऐसी ही थी। हम पकड़े ही गये। हठ करते तो जीवित लौट आना कठिन होता। बन्दी हो जाने के बाद कुछ दिन तक एक भवन में आराम से खाते-पीते रहे।"

"आप लोगों के लिए भवन क्यों?"

"हमने आसानी से उनकी शंका को दूर कर दिया।"

"ऐसा होता तो तुम दोनों को छोड़ देना चाहिए था?"

"वह अलग बात है। वह दामोदर बड़ा कामी, लम्पट है—इस बात को हम जान गये थे। चट्टला पर उसकी बुरी दृष्टि पड़ी थी।"

"यह बात कहनेवाले तुम आये कैसे?"

"मैं और चट्टला दोनों इस विषय पर पहले से विचार कर चुके थे, उसी के अनुसार चलने का निश्चय भी कर लिया था। हमने जैसा सोचा था, वैसे ही मुझे नदी पार कराकर छोड़ देने तक सब कार्य हुआ। आगे भी ठीक ही होगा ऐसा मेरा विश्वास है।"

"तो तुम्हारा विचार है कि चट्टला अपने बल पर छूट आयेगी!"

"हाँ, अपने बुद्धि-कौशल के बल पर वह पार हो जायेगी, यह मेरा विश्वास है। मैं समझ रहा था कि वह वास्तव में अब तक यहाँ पहुँच गयी है। क्योंकि उन लोगों ने मुझे रात के अंधेरे में नदी के उस पर छोड़ा था। मुझे घूम-फिरकर नदी पार करके आना पड़ा।"

एक युवा प्रहरी ने आकर प्रणाम किया।

"क्या समाचार है?"

"उन तमिलों का एक गुप्तचर हमारे हाथ लगा है।"

गंगराज ने बिट्टिदेव की ओर देखा।

बिट्टिदेव ने कहा, "उसे पकड़कर यहाँ लावें।" उस गुप्तचर को वहाँ लाया गया। बम्मलदेवी ने बिट्टिदेव के कान में कुछ कहा। बिट्टिदेव ने चकित दृष्टि से उस गुप्तचर की ओर देखा। फिर मायण की तरफ देखा और पूछा, "इसे तुमने देखा है?"

"नहीं, देखा नहीं। परन्तु इस वेशभूषा से मैं परिचित हूँ। यह उस तमिलनाडु के दामोदर की है।" मायण ने कहा।

"ठीक। हम और रानीजी इससे सब समझ लेंगे—यह रानीजी की सलाह है। आप लोग जाकर अपने दूसरे काम देख सकते हैं। मायण तुम यहीं रहो। अगर यह कुछ गड़बड़ करेगा तो हमें तुम्हारी सहायता की आवश्यकता पड़ सकती है।" बिट्टिदेव ने आज्ञा दी।

गंगराज, उदयादित्य, पुनीसमय्या और माचण—खेमे से चले गये। बिट्टिदेव, रानी बम्मलदेवी, वह गुप्तचर और मायण—ये वहाँ रह गये।

"मायण! तुमने झूठ क्यों कहा?" बिट्टिदेव ने पूछा।

"इसे नहीं देखा है—यही बात न?"

"हाँ, तो यह कौन है जानते हो?"

"यह, हाँ मालूम है। उस दामोदर को छकाकर उसका वेष धारण कर आनेवाली···"

"क्यों रुकते हो? चट्टला है, कहो।" बम्मलदेवी ने बात पूरी की।

"इस तरह तुमको यहाँ क्यों आना चाहिए था? तुम, चट्टला होकर आतीं तो क्या यहाँ तुमको प्रवेश नहीं मिलता?" बिट्टिदेव ने पूछा।

"इसका एक उद्देश्य था। यदि यह सन्निधान को ठीक लगे तो ऐसा कर सकते हैं। नहीं तो छोड़ सकते हैं। हमारे यहाँ लोगों ने दामोदर को नहीं देखा है। इस लिबास में जब तलकाडु से निकली तब भान हुआ कि सभी ने मुझे दामोदर ही समझ लिया। उसकी यह राजमुद्रा और लिबास ने मुझे आसानी से उस नगर से पार होने दिया। उस दामोदर का पता लगने में अभी देरी होगी। इतने में तलकाडु में यह अफवाह फैला दी जाय कि वह गिरफ्तार हो गया तो वहाँ के लोग घबड़ा जायेंगे। इस लिबास में दूर से उनके सैनिक देख लें तो उन्हें विश्वास भी हो सकता है।" चट्टला ने कहा।

"गंगराज इस युद्ध के संचालक हैं। उन्हें बुलवाकर बातचीत करके फिर निर्णय करेंगे। तब तक यह गुप्तचर बन्दी है। मायण! यह तुम्हारे ही शिविर में

रहे। वास्तविकता किसी को पता न पड़े।" बिट्टिदेव ने कहा।

"जो आज्ञा", कह मायण उसे लेकर अपने शिविर में चला गया। वहाँ जाने के बाद मायण ने चट्टला से पूछा, "कैसे छूट पायी?"

चट्टला ने विस्तार के साथ सब हाल बताया। उसे इस बात से प्रसन्नता हुई कि सब काम जैसा सोचा था वैसे ही हो गया। मायण को चट्टला का कौशल बहुत भला लगा। इसके कारण उसके अन्तरंग में जो अभिलाषा पैदा हुई उसे पूर्ण कर लेने की इच्छा से उसकी ओर आगे बढ़ा।

चट्टला ने कहा, "सन्निधान की आज्ञा इतनी जल्दी भूल गये? मैं शत्रुओं का गुप्तचर हूँ। इसे सतर्कता से सँभालना, ध्यान रखना कि यह कहीं छूट न जाय। इतना मात्र करना है। दूसरी किसी बात के लिए अभी अवकाश नहीं।"

"उन्होंने कहा है कि किसी को सत्य मालूम नहीं होना चाहिए। उसका अर्थ इतना ही कि हमारे इस शिविर में दूसरे किसी को प्रवेश नहीं। इसलिए तुम्हें डरने की कोई आवश्यकता नहीं। बाहर पहरेदारों को सतर्क कर दिया गया है।" मायण ने कहा।

"यह आपका विषय है। देखिए, इस युद्ध में सन्निधान के गले में जयमाला जब तक न पड़े तब तक और कुछ नहीं। और फिर सन्निधान किसी भी विषय में समय व्यर्थ करनेवाले नहीं। अगर फिर कहला भेजें?"—चट्टला बोली।

"मुझे ध्यान ही नहीं।"

"पुरुषों को जब कुछ करने की इच्छा हो जाती है तब कुछ भी नहीं ध्यान रहता। इस विषय में…"

"बस करो। फिर उसी को मत बढ़ाओ। उधर बेलापुरी में क्या हुआ, मालूम है?"

"क्या हुआ?"

"हमारा बल्लू…"

"सुखी है न?"

"उसे किस बात की कमी है? सुना कि वह तीन दिन बहुत हठ पकड़े रोता रहा। खुद पट्टमहादेवी ने उसे अपनी छाती पर लिटाकर सहलाया, सहज किया।"

"पट्टमहादेवी ने बल्लू को सहलाया-समाधान किया—यह बड़ी बात नहीं। हठ पकड़कर वह उस दिन रोया, जिस दिन हमें बन्दी बनाया गया था। ममता का यह बन्धन कैसा होता है—इसलिए कहा।"

"फिर हमारा प्रेम भी तो यों ही नहीं है। खरा सोना है।" कहकर उसने अपने पति के कपोल पर चुम्बन जड़ दिया।

मायण ने उसका आलिंगन किया। इतने में एक पहरेवाले ने बाहर से कहा, "सन्निधान से बुलावा आया है, उस गुप्तचर के साथ अभी वहाँ उपस्थित होना है।" इस सन्देश ने उनमें त्वरा उत्पन्न कर दी। दोनों तुरन्त उठ खड़े हुए।

"मैं पहले जाऊँगा। तुम लोग गुप्तचर को सावधानी से साथ ले आओ और सन्निधान के शिविर के बाहर खड़े होओ।" मायण ने कहा और चला गया।

पहरेदारों के साथ गुप्तचर चला। जल्दी ही उसे अन्दर बुलवा लिया गया। काफी देर तक विचार-विनिमय हुआ। इसीके फलस्वरूप दामोदर के बन्दी होने का समाचार समूचे तलकाडु के इस छोर से उस छोर तक फैल गया। इसी दृष्टि से दूसरे ही दिन दामोदर के लिवास को सन्धिविग्राहक के द्वारा आदियम के पास भेजकर सन्देश भी भेजा गया कि कम-से-कम हमारे प्रदेश को अब छोड़कर चले जाएँ। तब तक दामोदर का अता-पता नहीं लगा था। फिर भी आदियम झुका नहीं। उसने कहला भेजा कि एक व्यक्ति के बन्दी हो जाने से चोलों का बल कम नहीं हो जाता। यदि शक्ति हो तो तलवार की धार पर अपनी जगह ले सकते हो।"

युद्ध आरम्भ हो गया। दामोदर की इस हालत पर आदियम का क्रोध दुगुना हो गया। जोरों से युद्ध चला। चट्टला ने जो समाचार दिये थे उसके अनुरूप चोलों का संहार करने के लिए गंगराज ने नयी व्यूह रचना की। इस तरह पोय्सलों को विजय पाने में देर नहीं लगी। चोल सैनिकों के रक्त से रंगकर विकराल रक्तजिह्व महाकाली-सा रूप धर, कावेरी नदी श्रीरंग की ओर बह चली।

आदियम और दामोदर जान बचाकर भागे। गंगराज ने दामोदर का पीछा किया। परन्तु वह दक्षिण की ओर के किसी घने जंगल में जा छिपा। यह समाचार मिलते ही नरसिंह वर्मा जहाँ था, वहीं से भाग निकला। आदियम का कोई पता नहीं लगा। इस तरह गंगवंशियों से अपहृत गंगवाड़ी प्रदेश को पोय्सलों ने चोलों के हाथ से छीन लिया।

यद्यपि इस युद्ध का नेतृत्व गंगराज ने किया था फिर भी युद्धरंग की विचारगोष्ठी ने निर्णय किया कि 'तलकाडुगोंड' नामक विरुदावली महाराज बिट्टिदेव को ही धारण करनी चाहिए।

इस विजय-प्राप्ति के उपलक्ष्य में तुरन्त वैद्येश्वर महादेव और मनोन्मणी देवी की पूजा-अर्चा कराने की सलाह पुनीसमय्या ने दी। "इस विजय के सन्दर्भ में सन्निधान यहाँ एक नारायण-मन्दिर का निर्माण करेंगे तो वह कीर्तिदायक होगा"—बम्मलदेवी ने सलाह दी।

मन्दिर के निर्माण के लिए स्थान चुनकर वेलापुरी से कुछ शिल्पियों को भेजने की बात भी तय हो गयी।

इसके साथ यहाँ के काम-काज की व्यवस्था कर उसके अनुसार चाल करने

की बात पर विचारकर यह निश्चय किया गया कि तब तक माचण दण्डनाथ तलकाडु में ही रहें।

अब तलकाडु के गंगों के राजभवन में बिट्टिदेव और बम्मलदेवी का पड़ाव हुआ।

दूसरे दिन प्रातःकाल ढिंढोरा पिटवाया गया—"गंगवाड़ी, अब मुक्त हो गयी है। यहाँ के निवासियों को अब भयभीत होने की कोई आवश्यकता नहीं है। नगरप्रमुख और महाजनों से पोय्सल महाराज बिट्टिदेव मिलना चाहते हैं। आगे राज-काज की व्यवस्था के सम्बन्ध में विचार-विनिमय करना चाहते हैं। इसी को आह्वान मानकर कल सन्ध्या राजभवन के बाहर के मुखमण्डप में आयोजित सभा में पधारें।" ढिंढोरे के कारण यह खबर फैल गयी। पिछले दिन के निर्णय के अनुसार राजदम्पती चट्टला-मायण के साथ पूजा-अर्चा कराने मन्दिर में गये। पूर्णकुम्भ के साथ स्वागत हुआ। तीर्थ-प्रसाद बाँटते समय चट्टला-मायण को देखकर पुजारीजी चकित होकर रह गये।

"क्यों ? क्या हुआ ?" बिट्टिदेव ने पूछा।

"ये लोग ?" मायण और चट्टला की ओर निर्देश किया।

"आप जानते हैं ?" बिट्टिदेव ने पूछा।

"ये तो बन्दी हुए थे न ?" कहकर पुजारी चकित हो उनकी ओर फिर से देखने लगा।

"चट्टला, तुमने दामोदर से जो राजमुद्रायुक्त अँगूठी छीनी थी, उसे पुजारी को दिखाओ।" बिट्टिदेव ने कहा।

चट्टला ने उँगली पुजारी को दिखाने के लिए हाथ आगे बढ़ाया।

"तो दामोदर महाराज को नंगा करके आगे-पीछे बाँधकर मुँह में कपड़े ठूँसकर उनके कपड़ों को पहिन करके जानेवाली तुम ही थीं ?" पुजारी ने पूछा।

"तो सारी बातें आप लोगों को पता चल ही गयीं ?"

"दो तीन पखवारों से तलकाडु में जाने क्या-क्या समाचार फैले ! क्षण-क्षण में विचित्र-विचित्र समाचार फैल रहे थे। नगरजन तो भारी भ्रम में पड़ गये थे।" पुजारी बोला।

"अब आगे आप लोग सन्निधान के कृपापूर्ण आश्रय में सुखपूर्वक रह सकते हैं।" पुनीसमय्या ने कहा।

"भगवान् की सन्निधि में हमें तो सदा ही शक्ति है। परन्तु नगरवासियों का भी ध्यान हो।" पुजारी ने कहा।

"क्यों, चोलों के राज में लोगों को सुख नहीं था ?"

"उन राजा के बारे में तो हम कुछ नहीं जानते। एक-दो बार आये थे। व्यवहार तो ठीक ही था। परन्तु राज-काज का निर्वहण करनेवाले महाजन और

राजप्रतिनिधि आदि लोगों के अनैतिक आचरणों से जनता ने शान्ति खो दी थी।"

"हो सकता है अब भविष्य में आप लोगों को कोई कठिनाई नहीं होगी। यहाँ आनेवाले पोय्सल प्रतिनिधि गैरों की तरह अधिकार चलाने नहीं आयेंगे। घर का होकर घरवालों की तरह सारी व्यवस्था सम्हालेंगे। आप लोग चिन्ता मत करें।" पुनीसमय्या ने कहा।

"फिर भी कुछ लोगों के जीवन सुधार लाना कठिन है।" पुजारी बोले।

"इन सब बातों पर आज शाम को होनेवाली नगरप्रमुखों और सार्वजनिकों की सभा में पूर्ण रीति से विचार करेंगे। आप उस समय वहाँ उपस्थित रहें।" पुनीसमय्या ने कहा।

"जो आज्ञा !" पुजारी ने सूचित किया।

राजदम्पती वैद्येश्वर महादेव और मनोन्मणी देवी की सभी प्रकार की पूजा-अर्चना आदि करवाकर राजभवन पधारे। मन्दिर आते समय पालकी में आये थे, अब जाते समय नगरदर्शन की इच्छा से राजा और रानी दोनों अश्वारोही होकर चले। दोनों के दायें-बायें रक्षक दल साथ चल रहा था। अभी नगर के लोग भयभीत ही थे। पूर्णतया निर्भय न होने के कारण अधिक संख्या में पुरुषों ने ही राजदर्शन पाया। कहीं-कहीं छतों पर खड़ी कुछ स्त्रियों को भी दर्शन हो गये थे।

वास्तव में तलकाडु की जनता ने ऐसे दृश्य को कभी देखा ही नही था। राजदम्पती अश्वारोही होकर इस तरह उनके बीच आयेंगे, यह उनके लिए बहुत आश्चर्य की बात थी। कुलोत्तुंग जब आया था तो वह घोड़े-जुते रथ में आया था, उसके साथ रानी नहीं थी। यहाँ महाराज के साथ रानी युद्ध में आयीं, इतना ही नहीं, नगर के बीच मार्ग में इस तरह घोड़े पर सवार होकर निकलीं तो लोगों का कुतूहल जाग उठा था। कुतूहल की बात ही थी। उनके लिए तो ये नये राजा हैं न ! उनके बारे में भी जानने का कुतूहल जाग उठा। शाम की सभा में बड़ी संख्या में लोग इकट्ठे हुए।

राजकाज की व्यवस्था, नयी नियुक्तियाँ, उनके अधिकार की व्याप्ति, आदि सभी बातों पर विचार-विनिमय हुआ, राज-कार्य-निर्वहण-सूत्र विश्वस्त व्यक्तियों को सौंपकर शेष कार्यों की व्यवस्था उनके, जो अब तक कार्य निर्वहण करते रहे, हाथों में ही रहने के कारण उन्हीं लोगों को राजनिष्ठा का प्रमाण-वचन स्वीकार करवाकर सौंप दी गयी।

पुजारी वर्ग और महाजनों की सलाह लेकर कीर्तिनारायण मन्दिर के लिए स्थान भी चुन लिया गया।

"यहाँ के राजकाज के निर्वहण का सम्पूर्ण दायित्व माचण दण्डनाथ को सौंप कर, आवश्यक सैन्य को वहीं रखकर गंगराज, पुनीसमय्या, उदयादित्य आदि के साथ बिट्टिदेव ने वेलापुरी की ओर यात्रा की। विजयमाला पहनने की सूचना

वेलापुरी को पहुँचायी गयी थी। साथ ही यह समाचार भी दिया गया था कि चट्टला और मायण सकुशल हैं। रानी राजलदेवी को वेलापुरी के आने के लिए भी सन्देश भेज दिया गया था।

राज-परिवार के प्रस्थान से पूर्व ही मायण-चट्टला अन्य कुछ लोगों के साथ राजधानी की ओर जा चुके थे, वहाँ के स्वागत-समारोह की तैयारी के लिए।

सुरिगेय नागिदेवण्णा को इस 'तलकाडुगोंड' के बारे में सारी सूचना यादवपुरी पहुँचायी जा चुकी थी। उन्होंने यह समाचार यतिराज रामानुज के पास पहुँचा दिया। यतिराज को वेलापुरी के नारायण-मन्दिर-निर्माण की बात पहले ही पता चल गयी थी। उसके साथ तलकाडु के कीर्तिनारायण मन्दिर के निर्माण का समाचार सुनकर वे पुलकित हो गये। बेलापुरी के भगवान को विजय-नारायण के नाम से स्थापित करने की सलाह भी दी। अपने हाथ से छूटकर भागनेवाले शिल्पी द्वारा अपने ऊपर जिम्मेदारी लेकर मन्दिर-निर्माण करते रहने की बात सुन वे तृप्त भी हो गये थे। उन्होंने भगवान् से प्रार्थना की, "हे भगवन्! बिट्टिदेव विष्णुवर्धन बने, वह मुहूर्त जब वे विष्णुवर्धन बने बहुत ही शुभ मुहूत रहा होगा। इसलिए उन्हें विजय पर विजय प्राप्त हो रही है। हमारे भगवान् के लिए एक के बाद एक मन्दिर बनता जा रहा है। लक्ष्मीनारायण, कीर्तिनारायण, विजयनारायण···अब वीरनारायण, चलुवनारायण की स्थापना करने के लिए सहायता दो, भगवन्।" कहकर हाथ जोड़कर भववान् को प्रणाम किया।

घण्टियों की मधुर ध्वनि चारों ओर फैल गयी।

उधर जब तलकाडु में युद्ध चल रहा था, तब इधर वेलापुरी में मन्दिर का कार्य तेज़ी से चलने लगा था। पौराणिक कथा-गाथाओं को निरूपित करनेवाली शिल्प-मूर्तियों की कतारें समाप्त कर उन्हें दीवारों में चुन दिया गया था; उनके ऊपर अन्दर आलोक-प्रसारण होने की दृष्टि से चित्रमय वातायन लगा दिये गये। इन वातायनों के बीच चढ़ाव से सज्जित चित्र तैयार कर दिये गये। बीच-बीच में राष्ट्र के आराध्य देवी-देवताओं के भिन्न-भिन्न रूपों की मूर्तियाँ सजाकर उन्हें मण्डपों में स्थापित किया जा चुका था। इन सबको पत्थर की बनी छावनी तक सरल रीति के उतार-चढ़ावों के साथ सजाया गया था। इस तरह छत तक मन्दिर बनकर तैयार हो गया था।

एक दिन पट्टमहादेवी शान्तलदेवी, बिट्टियण्णा और स्थपति लगभग पूर्ण हो

गये मन्दिर के चारों ओर, रेखांकन हाथ में ले पूरा निरीक्षण कर महाद्वार के पास आ खड़े हो गये। तब स्थपति ने कहा, "इस महाद्वार के ऊपर छत तक इतना ही चौड़ा राज-सभा का एक शिल्प-चित्र के निर्माण की भी इच्छा है।"

शान्तलदेवी ने कहा, "सन्निधान के लौटने के बाद उनसे एक बार पूछकर ही वह काम करना अच्छा होगा।"

"जो आज्ञा !" स्थपति ने कहा।

विट्टियण्णा से शान्तलदेवी ने पूछा, "तुमने मन्दिर के रेखाचित्र को तो देखा है; अब जो मन्दिर बनकर खड़ा है वह उस चित्र के ही अनुसार है ?"

"वैसा ही है। परन्तु···" विट्टियण्णा रुक गया।

स्थपति ने पूछा, "कहीं कुछ अनुरूप नहीं है क्या ?"

"इस रेखाचित्र से मेरे मन में यह कल्पना नहीं आयी थी कि इस मन्दिर की ऊँचाई कितनी होगी। परन्तु अब तक जो निर्मित है इसे नीचे से ऊपर तक देखते जायें तो लगता है कि आँखों को तृप्ति मिल गयी है। किन्तु ऊपर चढ़ते-चढ़ते चपटा लगता है। नीचे आनन्द देनेवाले उतार-चढ़ाव ऊपर नहीं हैं।" विट्टियण्णा बोला।

"मुझे भी यही लगा। उसके लिए अलग से कुछ आकर्षण भंगिमाओं के विग्रह बनाकर एक तरफ से जहाँ-तहाँ प्रस्तुत करने की योजना है। और उसके लिए कुछ चित्र भी मैंने तैयार किये हैं।" स्थपति ने कहा।

"अब तक यह बात बतायी नहीं न ?" शान्तलदेवी ने पूछा।

"उचित अवसर की प्रतीक्षा थी। इस मन्दिर का समग्र चित्र एकबारगी मेरे मन में उत्पन्न नहीं हुआ। जब जो सूझा उसको तभी बनाकर रखना एक सनक है। मुझे अनायास ही इस काम में लगना पड़ा। उसी में थोड़ा-सा समय निकाल कर इसके लिए एक रूप दिया था। मन्दिर की दीवारों के बनते समय ही मुझे महसूस हुआ कि ऊपर खाली-खाली-सा लगता है। काम हाथ में लेने के बाद ऊपर तक दृष्टि डालने पर भी आकर्षण एवं वैविध्य ज्यों-का-त्यों बना रहे, इस तरह उन विग्रहों को सजा देने का निश्चय करके अवकाश के समय चित्रांकन का कार्य भी करने लगा था। वह सचमुच अच्छा ही हुआ। जैसा मुझे लगा, उसी तरह दूसरों को भी लगता हो तो वह अपूर्ण ही है, यही मानना होगा।" स्थपति ने कहा।

"उन चित्रों को दिखाएँगे आप ?" शान्तलदेवी ने कहा।

"प्रस्तुत करूँगा।"

"अच्छा स्थपतिजी, वैसा ही कीजिए।" शान्तलदेवी ने कहा।

"युद्धशिविर से बल्लू के माँ-बाप की कोई सूचना मिली है ?" संकोच के साथ स्थपति ने पूछा।

"हाँ मिली है, वे सुरक्षित और सकुशल हैं।"

"वे छूटे कैसे—जान सकता हूँ?"

"अपने ही प्रयत्न से। वे यदि बन्दी होने के कारण घबड़ा जाते तो हमें वे वापिस ही नहीं मिलते। बड़ी निर्भीकता से उन्होंने अपनी योजना बनायी और उसमें सफल भी हो गये। जानते हैं क्यों? उनका अदम्य आशावाद। शंका को कोई जगह नहीं। धैर्यवान वे हैं ही। कछुए की तरह डरकर हाथ-पैर समेटकर बैठनेवाले जीव नहीं।" शान्तलदेवी ने कहा।

"उनके बारे में जबसे जाना है तब से उनको देखने की आकांक्षा बड़ी तीव्र है और कुतूहल भी रहा है।" स्थपति बोले।

"वह समय भी दूर नहीं है। क्योंकि चोल राजा के प्रतिनिधि भाग गये और गंगराज आदि ने शत्रुओं का दूर तक पीछा किया है, यह समाचार मिला है। आपने जो भविष्यवाणी की थी उसके सत्य होने का समय निकट ही है।"

"ज्योतिषशास्त्र झूठा नहीं होता।" स्थपति ने कहा।

"परन्तु बतानेवाले को ज्योतिष का अच्छा ज्ञान न हो तो वे जो फल बतायेंगे वही कैसे प्राप्त होगा?"

"सन्निधान का कथन सत्य है। इसीलिए मैं उस विषय में कुछ कहने नहीं जाता। सन्निधान के पितृश्री की जन्मपत्री की बात···"

"मृत्यु और वृद्धावस्था आदि विषय पर नहीं बताना चाहिए, ऐसा है?" शान्तलदेवी ने पूछा।

"हाँ, सीधा नहीं कहना चाहिए। संकेत मात्र ही उचित है।"

"जब शास्त्र झूठा नहीं होता तब सत्य कहने के लिए आगा-पीछा क्यों करना चाहिए? यह सलाह असाधु है न?" शान्तलदेवी ने पूछा।

"मैं अल्पज्ञ हूँ। पूर्वजों ने जो सूचित किया है उसे 'ठीक नहीं' कहने के लिए मन नहीं मानता। फिर भी उसके लिए कोई कारण होगा।"

"अप्रिय सत्य नहीं कहना चाहिए। यही न?"

"लगता है कि वह ठीक है। एक पुरानी बात है; यह मेरे ही ग्राम में घटी थी। एक व्यक्ति ने आकर जन्मपत्री दी अपनी, और पूछा कि 'इसके आधार पर मेरे माता-पिता के बारे में बता सकेंगे?' मैंने कहा बता सकता हूँ। तो उस व्यक्ति ने पूछा, 'तो बताइए कि मेरे पिता कब मरेंगे?' मुझे उसका यह प्रश्न बहुत बुरा लगा। मेरी दृष्टि लगातार उस जन्मपत्री पर लगी रही। वह कुण्डली देखकर मुझे कुछ सूझा। मेरे मुख पर एक व्यंग्यात्मक हँसी छा गयी। उन्होंने उसे देख लिया। पूछा 'क्यों?' 'ऐसा प्रश्न भी पिता तो पूजनीय है न?' मैंने कहा। 'फिर भी उनसे जो हमें कष्ट हो रहा है उसे सहना बहुत कठिन है?' उसने उत्तर दिया। मैंने कहा, 'ओह! ऐसा है? आपको कष्ट से शीघ्र ही मुक्ति मिल

"कल्पना के लिए भी एक व्यक्तिगत सीमा होती है। यहाँ संख्यामात्र नहीं, वैविध्य भी होना चाहिए। आकर्षण भी रहना चाहिए उनमें। जहाँ सम्भव हो क्रियाशीलता के भाव भी होने चाहिए। तभी उनका मूल्य होता है। मेरी सूझ के अनुसार मैंने चित्र बनाये हैं। शेष चित्रों के विषय में सन्निधान दिशानिर्देश दें तो मेरा काम कुछ सुगम हो जाएगा।"

शान्तलदेवी ने बिट्टियण्णा की ओर देखा। उसने ऐसा सिर हिलाया मानो उसे कुछ सूझा ही नहीं। थोड़ी देर बाद शान्तलदेवी ने बताया, "आपके ये चित्र मेरे पास रहें। मैं सोचकर बताने का प्रयास करूँगी। यह समझकर आप निश्चिन्त हो न बैठें। आप भी कुछ नयी कल्पना का प्रयास करें," फिर चित्रों के उस पुलिन्दे को ले लिया।

स्थपति अनुमति लेकर चले गये। बिट्टियण्णा मन्त्रालय में चला गया।

शान्तलदेवी उन चित्रों के साथ अपने विश्रान्तिगृह में गयीं। एक-एक कर चित्रों को विमर्शात्मक दृष्टि से देखा। उनमें कुछ उन्हें अनावश्यक लगे। मन्दिर को भव्य होने के साथ सुन्दर भी होना चाहिए—इस भावना से उन्होंने अपने मन में कुछ नाट्य-भंगिमाओं की कल्पना की। वे कैसी होंगी, यह अपनी आँखों से देखने के उद्देश्य से दर्पण के सामने अपनी कल्पना की उन भाव-भंगिमाओं के अनुसार स्वयं खड़ी होकर उनका परीक्षण करने लगीं।

कुँवर बिट्टियण्णा को राजधानी में महाराज के न रहने के कारण अन्तःपुर में जब चाहे पहुँच जाने की सुविधा थी। वह मन्त्रालय से सीधा पट्टमहादेवी के विश्राम-कक्ष में आया। उसने पट्टमहादेवी को स्थायी-भाव-भंगिमा में विशाल दर्पण के सामने खड़ी देखा। चुपचाप खड़ा हो गया। मौन होकर शान्तलदेवी जिन भाव भंगिमाओं को बनातीं उनका वह भी अनुकरण करने लगा। लगभग आधा प्रहर तक यह अनुकरण-क्रिया चलती रही होगी। तभी अचानक बिट्टियण्णा की भंगिमा का प्रतिबिम्ब दर्पण में शान्तलदेवी को दिखायी पड़ा। उन्होंने मुड़कर देखा।

"नाट्य भाव-भंगिमा के इस काम से तुमको क्या मिलेगा बिट्टि? इससे तुम्हारी भुजाओं की खुजलाहट तो दूर होगी नहीं।" शान्तलदेवी ने कहा। उनकी ध्वनि में कुछ तिक्तता भी थी। उससे सीधा तो कह नहीं सकती थी। अपनी ही गोद का पला है न कुमार बल्लाल, चिक्कबिट्टि और विनयादित्य की तरह यह भी तो बेटा ही था न!

"मुझे पता है, यह भी खुजलाहट के निवारण के ही लिए किया जानेवाला काम है।" बिट्टियण्णा बोला।

"इसका मतलब?"

"मतलब...मतलब...तब मुझे लाल-लाल आँखें क्यों दिखायी गयी थीं?"

"राजलदेवीजी के पास वहाँ से ही पत्र भेज दिया गया है—यह समाचार भी मिला है। वे सीधी यहाँ आयेंगी।" बिट्टियण्णा ने कहा।

"तब ठीक है। कल बोप्पदेव और दूसरे सब अधिकारियों को बुलवाकर सबसे परामर्श करके स्वागत की तैयारी करेंगे।" शान्तलदेवी ने कहा।

"तो शिल्पी-सभा ?"

"कल सुबह ही स्थपतिजी से बातचीत करेंगे।"

उसी तरह सारी व्यवस्था हुई। स्थपतिजी ने पट्टमहादेवीजी की सलाह मान ली। उसके अनुसार उसी शाम को शिल्पी-सभा बैठी। पट्टमहादेवीजी ने सुझाव प्रस्तुत किया।

शिल्पियों ने सब सुना, किसी ने कुछ नहीं कहा। दासोज ने कहा, "स्थपति जी ने भव्य मन्दिर की कल्पना की है। उनकी कल्पना-शक्ति अद्वितीय है। वे ही चित्र बनाकर दें तो वही हम पत्थरों में उत्कीर्ण करेंगे।" उनके इस कथन में कोई व्यंग्य नहीं था।

स्थपति ने फिर एक बार विनीत भाव से कहा, "ये सब पृथक्-पृथक् विग्रह हैं। सम्पूर्ण मन्दिर के निर्मित हो जाने पर इन मूर्तियों को एक-एक कर उन उभरे स्तम्भों पर ढालदार छत के नीचे बिठाना होता है। इसलिए निर्दिष्ट प्रमाण के अनुसार आप लोगों में से प्रत्येक दो-दो चित्र कल्पित करें तो पूरे मन्दिर की एकरूपता में कोई कमी नहीं आयेगी। आप लोग जानते ही हैं कि नवरंग के कोई दो स्तम्भ एक-से नहीं है। वहाँ वैविध्य के होते हुए भी एकरूपता है न ? वैसा ही। आप लोग अपनी कल्पनाओं को मेरी इस मूल कल्पना में सम्मिलिति करने का मुझे गौरव प्रदान करें।"

फिर भी शिल्पियों ने माना नहीं। "किसी भी कारण से किसी की कल्पना का चित्र यदि अस्वीकृत हुआ तो वह असन्तोष का बीज बनेगा। इसलिए यह काम नहीं करना चाहिए। स्थपति जो चित्र बनायेंगे उसके अनुसार कार्य करना-मात्र हमारा काम है।" यही सभा का निर्णय रहा।

बात जहाँ की तहाँ। कुछ आगे नहीं बढ़ी। सभा का विसर्जन करने के बाद बिट्टियण्णा से बात छेड़ती हुई शान्तलदेवी ने कहा, "देखो बिट्टि, अब स्थपति ने जो चित्र बनाये हैं वे सब-के-सब ठीक जँचे नहीं। इसलिए काम कुछ जटिल होता जा रहा है। इसके अलावा अब महासन्निधान के स्वागत का भी कार्य सामने है। क्या करें ?"

"स्थपतिजी आज रात-भर क्या सोचेंगे सो कल ही पता चलेगा। बाद को विचार करेंगे तो नहीं हो सकेगा ?"

"वे एक तरह से स्वाभिमानी हैं। अभी उनके काम को कुछ हल्का बनाना अच्छा होगा।"

"तो माँ, आपने जिन भाव-भंगिमाओं की कल्पना कर ली थी उन्हीं के चित्र आप ही रूपित कर दें तो…?"

"भंगिमा की कल्पना कर उसके अनुरूप खड़े होना जितना सरल है, उसे चित्रित करना उतना नहीं बिट्टि ! यह नहीं कि मैं यह काम कर नहीं सकती। परन्तु अब इस ज्ञान का प्रदर्शन मूर्खता होगी। वह सब ठीक नहीं।"

"एक काम क्यों न करें माँ ?…" बिट्टियण्णा कहते-कहते रुक गया।

"बोलो, क्यों चुप हो गये बिट्टि ?"

"महासन्निधान के आने के बाद उनसे इस विषय पर परामर्श कर बाद में ही निर्णय कर सकते हैं न ?"

"सोचने के लिए समय मिलेगा। फिर भी वह काम उनके पधारने तक हो जाता तो अच्छा होता। चित्र तैयार हो जायँ तो ये सिद्धहस्त शिल्पी महासन्निधान के पधारने तक बनाकर पूर्ण भी कर लेंगे।"

"सो तो ठीक है। वैसे आपको भाव-भंगी देकर खड़ी हो जाना चाहिए; और स्थपति को उन्हें चित्रित कर लेना चाहिए।"

"वह ठीक नहीं होगा । जैसा तुमने कहा, कल सुबह स्थपतिजी क्या कहेंगे, सो सुनेंगे, फिर विचार करेंगे।" शान्तलदेवी ने कहा और बात समाप्त की।

सुबह स्थपति मन्दिर के कार्य का निरीक्षण करने के बाद अपने कार्य-स्थल पर आये, कि तभी शान्तलदेवी और बिट्टियण्णा भी वहाँ पहुँच गये। स्थपति उन्हें देख उठने ही वाला था कि उन्होंने कहा, "बैठिए।" स्थपति बैठ गये और उन दोनों के लिए तैयार आसनों पर वे भी जा बैठे। समय न गँवाकर शान्तलदेवी ने पूछा, "स्थपतिजी रात को सोये या चित्र बनाते हुए रतजगा किये बैठे रहे ?"

"मैं कुछ करूँ या न करूँ, सब पट्टमहादेवीजी को पता लग जाता है न ?" स्थपति ने कहा।

"यह तो आपकी आँखें ही कह रही हैं," शान्तलदेवी ने कहा। उन्होंने पट्टमहादेवी की ओर चकित दृष्टि से देखा, कुछ बोले नहीं।

"कितनी नयी कल्पनाएँ सूझीं ?" पट्टमहादेवी ने पूछा।

"संख्या की क्या ? जितना चाहिए उससे दुगुना है। परन्तु मेरी इच्छा है कि उनसे भी उत्तम कल्पनाएँ मिलें। मेरे पिता कहा करते थे 'बेटा ! कलाकार की आँखें सदा खुली रहनी चाहिए। एकाग्रता और तन्मयता की साधना द्वारा नेत्र-शक्ति को बढ़ाते रहना चाहिए। इसके फलस्वरूप जिसे देखेंगे उसे उसी क्षण चित्त में प्रतिबिम्बित कर स्थायी चित्र चित्त-पटल पर बना लेना चाहिए। इस तरह चित्त-पटल पर उत्पन्न चित्र ऐसे होने चाहिए कि पुनः स्मरण करने पर रूप धारण कर सकें। वही वास्तव में सच्चा कलाकार होता है। उसके चित्र एक-जैसे न होकर वैविध्य लिये होते हैं। इसलिए आँख शिल्पी के लिए सबसे प्रमुख

है।' परन्तु मैंने अपने जीवन के मुख्य समय में इस दृष्टि को बढ़ाया नहीं। वह मन्द पड़ गयी। मैं चाहूँ या न चाहूँ, वह अपना काम पहले करती रहती थी। इधर कुछ समय से वह शक्ति लुप्त हो जाने के कारण नयी कल्पना का उत्पन्न होना कठिन हो रहा है।" स्थपति ने कहा।

"इससे हानि किसकी?" शान्तलदेवी ने पूछा।

"हानि की चिन्ता ही नहीं। जब जीवन ही बोझ बना है तो हानि की चिन्ता ही क्यों?"

"अन्यथा न लें। भगवान् की इस सृष्टि में अनन्तता रूप धारण कर खड़ी है। परन्तु सबके लिए मूल्य एक-सा नहीं। और सबके लिए एक-सी मान्यता भी नहीं।"

"नहीं। यह उचित नहीं। भगवान् अलग-अलग मोल करने क्यों जायेगा? यह सब हम स्वार्थी मानवों के ही कृत्य हैं।"

"हमारे जीवन और मुक्ति के लिए भगवान् ही कारण है—इसे माननेवाले सभी को एक-सा फल तो नहीं मिलता?"

"उसी को हम कर्मफल कहते हैं।"

"तो आपने अपनी वीक्षक-दृष्टि को कम कर लिया, यह आपका कर्म है?"

स्थपति ने तुरन्त उत्तर नहीं दिया।

तुरन्त शान्तलदेवी ने कहा, "क्षमा कीजिए, बात दूसरी ओर चली गयी। हम बात कर रहे हैं कला, कलाकार के बारे में। भगवान की सृष्टि में गोचर होनेवाले भिन्न-भिन्न मूल्यों का इनके साथ सम्बन्ध नहीं है? मैंने अनेक बार इस कला के बारे में चिन्तन किया है। ध्यान हमारे लिए सायुज्य का एक साधन है, कला दूसरा साधन है परन्तु इसकी रीति व सौन्दर्यानुभूति से। ऐसी सुन्दर कल्पनाओं को रूपित करनेवाले कलाकार का हृदय निर्मम होना चाहिए न? पूर्वाग्रह से दूर रहना चाहिए न?"

"हाँ।"

"ऐसी स्थिति में कलाकार को अपनी क्रिया में प्रवृत्ति लुप्त होना कैसे सम्भव है? कलाकार का यह प्रवृत्ति-लोप कला के प्रति द्रोह है न? साधारण मनुष्य पैदा होता है, काम करता है, खाता है, मरता है। ऐसे का जन्म लेना, मरना गणनीय नहीं। क्योंकि वह अपनी देन के रूप में कुछ भी नहीं रखता और कुछ भी स्थायी वस्तु छोड़कर नहीं जाता। परन्तु कलाकार ऐसा व्यक्ति नहीं। उसकी देन पीढ़ी-दर-पीढ़ी आनन्द जीवित रखती है। ऐसी वीक्षक-दृष्टि के विकास करने की प्रवृत्ति को नष्ट कर देने से महती हानि होती है, यह कला के प्रति महान् अन्याय है। आपके स्वयं के जीवन के दुःख-दर्द को कलाकृतित्व शक्ति के लिए बाधक नहीं होने देना चाहिए। आपको तो कोई अन्तर नहीं, लेकिन आपकी देन स्पष्ट अभि-

व्यक्ति न हो तो राष्ट्र उससे वंचित रह जायेगा। इस तरह की गम्भीर हानि नहीं होनी चाहिए। आपका वैयक्तिक दुःख भी महत्त्वपूर्ण है, लेकिन उसे इस कार्य में बाधक नहीं बनना चाहिए। इस ओर ध्यान दीजिए। बात बहुत लम्बी हो गयी। अब रतजगा कर आपने जो नयी सृष्टि की है, उसे देखें।" शान्तलदेवी ने कहा।

स्थपति ने चित्रों का पुलिन्दा देते हुए कहा, "इनसे लक्ष्य नहीं सधता इसलिए यदि सन्निधान अस्वीकार करें तो मुझे दुख नहीं होगा। परन्तु एक विनती है। सन्निधान इस काम में सहायता देते रहने से मना न करें, वह मिलती रहे।" स्थपति ने धीरे से कहा।

"मैंने महासन्निधान एवं श्री श्रीआचार्यजी को वचन दिया है कि इस मन्दिर को सुन्दर-से-सुन्दर बनाने के लिए जितना मुझसे हो सकेगा, वह सब करूँगी। मन्दिर को सुन्दर बनाने के किसी भी कार्य में मैं पीछे नहीं रहूँगी। इस सन्दर्भ में स्थपतिजी से एक बात और कहना चाहती हूँ।" यह कह वे रुक गयीं।

पट्टमहादेवी की बातों को स्थपति और बिट्टियण्णा एकाग्रभाव से सुनते रहे, परन्तु बात रुकते ही दोनों ने प्रश्नार्थक दृष्टि से देखा।

शान्तलदेवी के यों चुप हो जाने के पीछे कोई कारण होना चाहिए। इसलिए उन्होंने स्थपति को परीक्षक-दृष्टि से देखा। बात आगे न बढ़ाकर उसने जो चित्रों का पुलिन्दा दिया था उसे देखने में लग गयीं। बिट्टियण्णा ने भी उसे देखा। फिर पट्टमहादेवी के पास अपने आसन को सरकाकर बैठ गया। देख चुकने के बाद, स्थपति से प्रश्न किया, "आगे?"

शिल्पी कुछ हक्का-बक्का हो गया, इधर-उधर देखकर बोला, "आप ही बतायें।"

ठीक इसी वक़्त बाहर चार-छः घोड़ों के आने की आवाज़ सुन पड़ी। शान्तलदेवी ने कहा, "क्या है, जरा देखो बिट्टी!" मन्दिर के इस स्थान पर कभी इस तरह घोड़े नहीं आये थे।

कुँवर बिट्टियण्णा बाहर जाकर देखता कि उसके पहले ही मायण और चट्टलदेवी अन्दर आ गये।

"अरे, तुम लोग कब आये?" शान्तलदेवी ने आश्चर्य से पूछा।

"अभी आ रहे हैं। राजमहल से पता चला कि सन्निधान यहां है। इसलिए सीधे यहीं चले आये।" मायण ने कहा।

"सब कुशल है न? महासन्निधान यहां कब पधारेंगे?" बिट्टियण्णा ने पूछा।

"महासन्निधान यादवपुरी पहुँचने के बाद निश्चय करके सन्देश भेजेंगे। हम तलकाडु से एकदम सीधे यहां आये हैं।"

"रास्ते में किक्केरी की नानी को देख आये?" शान्तलदेवी ने चट्टला की ओर

देखकर पूछा।

"तब की तरह अब कोई बन्धन नहीं था न ? इसलिए किक्केरी की याद तक नहीं रही। तो उस नानी की याद कैसे आवे जो है ही नहीं ?" चट्टला ने कहा।

"नानी याद न आवे तो कोई चिन्ता नहीं, बल्लू की तो याद आयी होगी ?" शान्तलदेवी ने पूछा।

"तो क्या ये ही चट्टला-मायण हैं ?" स्थपति ने बीच ही में पूछा।

चट्टला और मायण ने तब स्थपति की ओर देखा।

"ये स्थपति हैं।" शान्तलदेवी ने कहा।

"इन्हें भी हमारे बारे में ज्ञात हो चुका है ?" चट्टलदेवी ने पूछा।

"जो भी आत्मीय हैं उनसे परिचित नहीं होना चाहिए ? इसीलिए आप लोगों के बारे में भी बताया है। हमारे स्थपति सिद्धहस्त हैं। इस मन्दिर के निर्माण में इनके मन-बुद्धि एक हो गये हैं। उनकी आत्मीयता इसके लिए धरोहर है। अच्छा, पीछे चलकर, आप लोग अपने आप अच्छी तरह परस्पर जान जायेंगे। चलो, राजभवन चलें। पहले बल्लू को देखें।" शान्तलदेवी ने कहा।

"वह खा-पीकर सोया है, इसीलिए हम इधर चले आये।" चट्टलदेवी ने कहा।

"तुम दोनों, सुना कि चोलों के बन्दी बन गये थे ?" शान्तलदेवी ने पूछा।

"हम बन्दी हुए, इसीलिए जीते भी इतनी जल्दी। उनकी शक्ति को जानने के ही लिए तो हम बन्दी बने थे। फिर भी संकट से पार होकर आ गये।" चट्टला बोली।

"यहाँ से जो गुप्तचर तलकाडु में गये उनसे कोई सहायता तुम लोगों को मिली ?"

"वे जो अफ़वाहें फैलाते थे उनसे बहुत सहायता मिली। पट्टमहादेवी से दिशा-निर्देश पाने के बाद कहना ही क्या !" मायण ने कहा।

"क्यों मायण ? तुमको कोई नयी बीमारी लग गयी है ?" शान्तलदेवी ने पूछा।

मायण अकचकाकर शान्तलदेवी की ओर देखने लगा।

"ऐसे क्यों देख रहे हो ?" शान्तलदेवी ने फिर पूछा।

"सन्निधान ने जो कहा वह समझ में नहीं आया...इसलिए..." मायण कहते-कहते रुक गया।

"महासन्निधान ने तुमको भाट का नया काम करने के लिए नियुक्त तो नहीं किया है ?"

"ओह...क्या करूँ ? मेरे जीवन को सार्थक बनाने में, उसकी कड़ुआहट को दूर कर उसे मीठा बनाने में सन्निधान ने जो कुछ किया, उस सबका स्मरण

"दो परम्पराएँ जब मिलती हैं तब एक नयी सृष्टि होती है।"

"अन्यथा न समझें; अन्दर जो जिज्ञासा उठ खड़ी है उसे रोकना दुःसाध्य हो गया है। स्थपतिजी के व्यक्तिगत जीवन के विषय में, यह कड़ा आदेश है कि किसी को कुछ पूछना आवश्यक नहीं। जब से आपकी प्रतिभा का परिचय मुझे और मेरे पिताजी को मिला तबसे आपके मूल निवासस्थान को जानने का कुतूहल जाग उठा है किन्तु पूछ न सकने के कारण उसे अब तक दबाकर रखा है।"

"उससे किसी को कोई लाभ नहीं होगा। उस विषय में न ही पूछें।"

"जैसी इच्छा!"

"तो पहले इन चित्रों को अपने पिताजी को बताकर उनकी सम्मति लेकर आइए। बाद में इन्हें पट्टमहादेवीजी के समक्ष रखूँगा।"

"मेरी बात से आपको असन्तोष तो नहीं हुआ?" दैन्य भाव से चावण ने पूछा।

"नहीं, बिलकुल नहीं।"

"यह बात······"

"नहीं कहूँगा, किसी को नहीं बताऊँगा।"

"ठीक" कहकर चावुण वहाँ से चला गया।

स्थपति चावुण के चित्रों का स्मरण करने लगा। उसकी चिन्तनधारा फिर बह चली : उनके वंश की परम्परा की छाप यहाँ प्रस्फुटित हुई है। रामोजा, दासोजा, चावुण की बात शिल्पी-साम्राज्य में स्थायी रहनेवाली है। उनकी कृतियाँ भी वैसी ही। भावी पीढ़ी के लिए बलिपुर के शिल्प के उत्कर्ष की रीति दर्शाने के लिए एक स्थायी साक्षी बनकर रहेगी। उनके वंश की उत्तम सन्तान के द्वारा इस परम्परा की वृद्धि होती रहेगी। परन्तु···मेरे वंश की परम्परा···वह पिताजी तक समाप्तप्राय है। एक सम्पन्न राष्ट्र की भव्य परम्परा स्थगित हो जाएगी। किसी पाप-कर्म का फल लेकर मैं जनमा। अपने वंश की प्रतिभा की इतिश्री ही मैंने कर दी न? यदि मैं भाग्यवान् होता तो मेरे परिवार की भी स्थिति दूसरों के परिवारों की तरह अच्छी ही होती। वह यदि ठीक-ठीक न चल सका, अपने वंश को सत्सन्तान से प्रवृद्ध करने का कारण मैं हुआ होता···न···न···सब पागल कल्पना है। जो साधा नहीं जा सकता उसकी ओर मन जाता है। आज पता नहीं क्यों मन जहाँ कहीं भाग रहा है। हाथ काम में सधता नहीं। बैठे-बैठे सोचते रहने से अच्छा होगा कि एक बार एक चक्कर लगा आवें—यही सोचकर वह वहाँ से बाहर चल पड़ा। अनेक शिल्पियों की सूक्ष्म कला-कौशल युक्त कारीगीरी को देखता चलने लगा।

एक तरफ होयसलाचारी और उसका पुत्र वर्धमानाचारी, दूसरी ओर गदग के काटोज और उसका पुत्र नागोज, और एक तरफ दासोज और उसका पुत्र

चावुण, गंगाचारी और उसका भाई कांवाचारी, मल्लण्णा और उसका पुत्र मसद, इनेज उसका पुत्र चिक्कहम्प आदि परिवार एकाग्र भाव से इस नवीन निर्माण कार्य में लगे थे। उसे देखते हुए आगे वढ़ा, उसके हृदय में अव्यक्त आन्तरिक प्रेम की एक विकट लहर दौड़ पड़ी। उसका सारा शरीर तीव्र स्पन्दनों से स्पन्दित हो उठा। नियमित समय से पहले ही वह अपने निवास स्थान पर जा पहुँचा।

निवास पर पहुँचते ही हाथ-मुँह धोकर चटाई पर पैर पसारकर लेट गया। थोड़ी ही देर में मंचणा ने आकर कहा कि भोजन तैयार है।

"मंचणा, आज कुछ गड़वड़-सा है। मैं खाऊँगा नहीं। थोड़ा गरम पानी और एक नीबू दो। तुम खा लो। वाद में देखेंगे।" स्थपति ने कहा।

"वैद्य को बुला लाऊँ?" मंचणा ने धीरे से पूछा।

"नहीं चाहिए। एक आधा प्रहर विश्राम कर लूँ तो काफी होगा। तुम जाओ।" स्थपति ने कहा। मंचणा गया और थोड़ी देर में ही गरम पानी और कटा नीबू ले आया।

"तुमने भोजन किया?" स्थपति ने पूछा।

"अभी कर लूँगा।" मंचणा ने कहा और नीबू निचोड़ने लगा।

"इसके लिए क्या जल्दी थी, मैंने कहा था न?" स्थपति ने कुछ असन्तोष से कहा।

"मेरे भोजन करने का समय अभी नहीं है। आप आज जल्दी आ गये हैं, ले लीजिए।" उसने गिलास आगे वढ़ाया।

स्थपति बात वढ़ाना नहीं चाहता था, कुछ न कहकर पानी पी लिया और लेट गया।

मंचणा को लगा कि उनके शरीर को छूकर देखें, वह साहस न कर सका, यों ही लौट गया।

दोपहर के बाद स्थपति अपने कार्यस्थान पर आया। चावुण अपने चित्रों को स्थपति के हाथ में देकर चला गया। स्थपति भी अपने काम में लग गया। पट्टमहादेवी और बिट्टियण्णा आये। आते ही स्थपति को देखकर शान्तलदेवी ने पूछा, "जब स्वास्थ्य अच्छा नहीं था तो क्यों आये, स्थपतिजी?"

उसने तुरन्त कोई उत्तर नहीं दिया। "कुछ गड़वड़-सा था, अब कुछ नहीं, ठीक है।" उसने धीरे से निवेदन किया। इतने में पट्टमहादेवी और बिट्टियण्णा अपने-अपने स्थान पर बैठ गये।

स्थपति ने चावुण से लिये चित्रों को पट्टमहादेवी के हाथ में देकर कहा, "ये चावुण की रचनाएँ हैं। किन-किनको रूपित करना है, इसके बारे में सन्निधान ने निर्णय किया हो तो आज्ञा दें। इनमें भी किसी को चुनें तो उनको सम्मिलित किया जा सकता है।"

शान्तलदेवी और बिट्टियण्णा ने चावुण के चित्र देखे। अनन्तर शान्तलदेवी ने पूछा, "आपकी क्या राय है?"

"मुझे ठीक नहीं लगा होता तो मैं उन्हें सन्निधान को दिखाता ही नहीं। मेरे चित्रों में भी चुनाव होना ही है न? उस चुनाव में इसे भी स्थान दिया जा सकता है।" स्थपति बोला।

"वही करेंगे।

"सन्निधान ने जिन चित्रों को चुन लिया है, उन्हें बता दें तो काम बाँटा जा सकेगा।" धीरे से स्थपति ने विनती की।

"एक तरह से कुछ समर्पक लगे हैं। फिर भी आपकी योजना के लिए उपर्युक्त सभी चित्र मिलेंगे—यह कहा नहीं जा सकता।"

"सन्निधान को जो समर्पक लगे हैं......" स्थपति कह ही रहा था कि बीच में शान्तलदेवी ने कहा, "अब तो महासन्निधान शीघ्र ही आनेवाले हैं। उनके आने के बाद ही निर्णय करेंगे।"

"जैसी आज्ञा!" बात यहीं समाप्त हो गयी।

शान्तलदेवी फिर चावुण के चित्रों को देखने लगीं। सब देख चुकने के बाद पूछा, "स्थपतिजी, चावुण जी को बुलवायेंगे?"

"जो आज्ञा" कह स्थपति वहाँ से बाहर गया; सेवक से चावुण को कहला भेजा और ख़ुद आकर खड़ा हो गया।

शान्तलदेवी ने बैठने को कहा। स्थपति के बैठते ही शान्तलदेवी ने अपने पास के चित्रों में से एक को निकालकर उनके हाथ में देते हुए पूछा, "यह कल्पना आपको कैसी लगी, बता सकेंगे?"

"इसके रचनेवाले के मन में क्या भाव रहा सो तो नहीं नहीं कह सकता। मैंने उनसे पूछा भी नहीं। मेरी अपनी दृष्टि में तो यह उनके मन में उत्पन्न ज्ञानाधिदेवता कहा जा सकता है।"

"ज्ञानाधिदेवता से आपका मन्तव्य सरस्वती है न?"

"हाँ!"

"ऐसा समझने के लिए आपने इसमें क्या देखा? चतुर्भुज हैं, इसीलिए ऐसा सोचा?"

"हम सभी देवताओं के चार हाथ बनाते हैं। इतने से यह निर्णय नहीं किया जा सकता। ऊर्ध्व-बाहुओं में नृत्य-विन्यास और खड़े हुए शरीर में नाट्य-भंगिमा के रहने से उनकी कल्पना की देवी नृत्यरूप में विराजती है। शेष दो हाथों को देखने से अनुमान कर सकते हैं। दायें हाथ में मणिमाला, ध्यान, जप और मनन का प्रतीक है। बायें हाथ में लेखन के प्रतीक ताड़पत्र हैं। यह ज्ञान का संकेत है। इसलिए इसे उनकी कल्पना में नाट्य-सरस्वती कहा जा सकता है। सन्निधान को

क्या राय है?" स्थपति ने पूछा।

"यह नाट्य-नाद-सरस्वती हो तो···?" शान्तलदेवी ने प्रश्न किया।

"हाँ। इसमें ज्ञानाधिदेवता वीणापाणि नहीं हैं। इसलिए सन्निधान की सलाह युक्तियुक्त है।"

"तो इस नृत्य-सरस्वती के हाथ में वीणा देना—यही तात्पर्य है? ऐसा कर सकना सम्भव है, स्थपतिजी?"

"इस भंगिमा में सम्भव नहीं।"

"यह भंगिमा बहुत भावपूर्ण है। और उतनी ही सांकेतिक भी है न?"

"हाँ।"

"यह नाद-प्रतीक भी बने तो अच्छा रहेगा!"

"अच्छा विचार है। यह सोचना है कि इसे कैसे बनाना होगा। इसकी जिन्होंने कल्पना की उन्हीं से पूछ सकते हैं न?"

"उनसे भी पूछेंगे। पहले यह जानें कि उनकी क्या कल्पना है। बाद में चर्चा करेंगे। परन्तु हम उन्हें एक नयी सूचना दे रहे हैं। सूचना नयी होने के कारण एकदम उन्हें कुछ नहीं सूझ सकता है। हम इस सम्बन्ध में सोचकर कुछ सलाह दें तो कोई भूल नहीं होगी न?"

"कुछ नहीं।"

"आप भी सोचिए, मैं भी सोचूंगी, बिट्टी तुम भी सोचो। यह सोचने की क्रिया चलती रहे। एक और बात। यह चित्र बहुत अच्छा लग रहा है। परन्तु यह जैसा आपने सोचा है, छत के नीचे एक ओर चुनने के योग्य नहीं हो सकेगा। इसलिए इसे कुछ विस्तृत रूप देकर मन्दिर के उत्तर की दीवार में लगायें तो कैसा हो?"

"वह भी उचित है। उत्तर के द्वार को हम स्वर्गद्वार कहते हैं। ज्ञानाधिदेवता की कृपा न हो तो हमें सायुज्य कहाँ मिलेगा? वही करेंगे। परन्तु इससे मिलती-जुलती एक और मूर्ति को बनाकर द्वार के दूसरी ओर चुनना होगा।"

स्थपति की बात समाप्त होने को थी कि इतने में चावुण वहाँ आया। उसे पहले ही आभास हो गया था कि उसके चित्र पट्टमहादेवीजी की दृष्टि में पड़े होंगे। कुतूहलपूर्ण उत्साह से उसने आकर प्रणाम किया। शान्तलदेवी ने उसे बैठने को कहा। उसके बैठने के बाद कहा, "स्थपतिजी! अब तक जो बातचीत हुई उसे शिल्पीजी को बता दीजिए।"

स्थपति ने ज्यों-की-त्यों सारी बातें बता दीं। उसके लिए यह कल्पनातीत विषय था कि उसके उस चित्र के विषय में इतनी गम्भीर बातचीत भी हुई है। फिर भी उसने स्थपति की बातें मौन होकर सुनीं, कहा कुछ नहीं। न कोई प्रतिक्रिया ही व्यक्त की।

स्थपति ने कुछ देर तक प्रतीक्षा करने के बाद पूछा, "हमारी राय के अनुसार यह नाट्य-सरस्वती है न ?"

"क्या मुझे उत्तर देना होगा ? कृति-निर्णय में आप और सन्निधान परिणत-मति हैं। सन्निधान की सूचना के अनुसार इसे विस्तृत रूप देकर, एक प्रभावली, छत्री को बनाकर दीवार में लगाया जाय तो ठीक रहेगा।"

"तो क्या एक दूसरा चित्र बनायेंगे ?" स्थपति ने पूछा।

"अब तो बनाना ही होगा न ?" चावुण ने कहा।

"सन्निधान की इच्छा है कि वह नाद का भी प्रतीक बने।" स्थपति ने कहा।

"वह योग्य है। मगर उसे पत्थर में कैसे भरें—यह मैं नहीं जानता। आप या सन्निधान बताने की कृपा करें।"

"नाद की उत्पत्ति कैसे होती है, शिल्पीजी ?"

"स्पन्दन से।"

"इस मूर्ति को बनाने के लिए स्पन्दित होनेवाले पत्थर का उपयोग करेंगे।"

"पत्थर स्पन्दित होता है ?"

"जहाँ गति, लय हो वहाँ स्पन्दन होना ही चाहिए।"

"पत्थर जड़-वस्तु है। उसमें लय और गति कैसे सम्भव है ?" बिट्टियण्णा ने, जो अब तक मौन रहा, पूछा।

"वह केवल जड़-वस्तु ही होता तो उसमें सौन्दर्य को देखना सम्भव नहीं हो सकता था। जड़ में चेतना को भरे बिना उसमें सौन्दर्य को देखा ही नहीं जा सकता। जहाँ चेतना हो वहाँ स्पन्दन है और जहाँ स्पन्दन वहाँ गति, लय।" स्थपति ने कहा।

"लय का अनुभव हुए बिना केवल ऊहा पर उसे स्वीकार कैसे करें ?" बिट्टियण्णा ने पूछा।

"अनुभव को दण्डनायकजी कैसे पहचानेंगे ?" स्थपति ने प्रश्न किया।

"देख, सुन, विचार के माध्यम से अनुभव को पहचाना जाता है।"

"सभी के कान और आँख एक समान ग्रहणशील रहते हैं ?"

"सो कैसे सम्भव है ?"

"एक की आँख को स्फुट रूप देखकर उससे जो अनुभूति होती है वह उन जैसी तेज आँख जिनकी न हो उसे हो सकेगी ?"

"नहीं।"

"फिर एक का अनुभव अनुभव नहीं है ?"

"इससे कौन असहमत होगा ?"

"जिसे अनुभव नहीं, वही असहमत होगा, है न ?"

"हाँ।"

"इसलिए सहज ही हमारी पंचेन्द्रियों से अनुभूत नहीं होनेवाले फिर भी अनुभूत हो सकनेवाले कई अनुभव हो सकते हैं। इस बात को मान सकते हैं न?"

"माना जा सकता है।"

"इसी सूत्र के अनुसार यहाँ हमें प्रकृति सहज ही जिसे हम गति, लय आदि कहते हैं, वह अगोचर होने पर भी इसमें है, यह मानने में आपत्ति क्या है? इसलिए हम जिस पत्थर में स्पन्दन उत्पन्न करें वह नाद से भी पूर्ण है।" स्थपति ने कहा।

"पत्थर में नाद की अभिव्यक्ति कैसे···इसे भी आप बताइए।" चावुण ने कहा।

"पत्थर को पत्थर से टकरा दें तो क्या होता है?"

"ध्वनि निकलती है।"

"वह ध्वनि भी स्पन्दन के ही कारण निकलती है। हमारे कण्ठ से नाद ध्वनि-तन्त्रियों के स्पन्दन से निकलता है। इस नाद के उत्पन्न होने से अक्षर और शब्दबोध साध्य हो सका। एक-एक अक्षर के बोलते समय उसके पहले भिन्न-भिन्न तरह से नाद स्पन्दन कण्ठ की नाद-तन्त्रियों में हमारी श्वासक्रिया से होता है। अर्थात् हम जिस तरह का नाद चाहते हैं उसे निकालना साध्य हो सकता है—यही हुआ न? इसी तरह पत्थर से नाद का उत्पन्न होना जब हो सकता है, तब वहाँ जिस नाद को हम चाहते हैं, उसे उत्पन्न करना, उसे रूप देनेवाले शिल्पी में इतनी बुद्धिमत्ता होनी चाहिए, बस। मेरी बात शिल्पीजी को ठीक लगी?"

"आपकी बातें सुनते समय तो मन को ठीक ही लगती हैं। सच है। परन्तु उस भिन्न-भिन्न तरह के नाद को उत्पन्न करना हो तो क्या करना चाहिए? सन्निधान की इच्छा है कि यह नादमूर्ति बने। कौन-कौन से नाद उसमें हों, यह पता होना चाहिए न? सन्निधान नादों की सूचना और आप पत्थर में उन दोनों को स्पन्दित करने की क्रिया का मार्गदर्शन करेंगे तो मैं प्रयत्न करूँगा।" चावुण ने कहा।

स्थपति ने पट्टमहादेवी की ओर देखा।

पट्टमहादेवी ने कहा, "सरस्वती साहित्य और संगीत की अधिदेवता है। या व्यापक अर्थ में बताएँ तो यह ज्ञान और कला की अधिदेवता है। इसलिए वीणा रहित इस नाट्य-सरस्वती का सम्पूर्ण शरीर ही संगीत के आधारभूत सप्त-स्वरों का आधार स्थान बने, यही मेरी इच्छा है।"

"ठीक है। पट्टमहादेवीजी की इच्छा को कार्य रूप में परिणत करने का

प्रयत्न करूँगा। कह नहीं सकता कि इसमें मुझे सफलता मिलेगी या नहीं। एक-एक पत्थर में एक-एक नाद भरना तो सम्भव है, परन्तु यहाँ एक ही पत्थर से सातों स्वर निकलें, इसे ही साधना है।" स्थपति ने कहा।

"वीणा के एक तार से जब सातों स्वर निनादित हो सकते हैं तब पत्थर में भी निनादित होने चाहिए न?" शान्तलदेवी ने प्रश्न किया।

"स्पन्दन के हिस्से की लम्बाई जैसे-जैसे कम होती जायेगी, वैसे-वैसे स्वर-स्थान बढ़ता जायेगा, यह वीणा के तार का स्पन्दन सूत्र है।"

"तार ही क्यों? सब वैसा ही। हमारे कण्ठ की नाद-तन्त्रियाँ हमारी जानकारी के बिना ही बड़ी-छोटी होती रहती हैं। स्वर स्थाई होकर निनादित होने में सहायक होते हैं। इसलिए पत्थर में भी उसे साधा जा सकता है; मुझे ऐसा लगता है। परन्तु पत्थर के बारे में आपका परिचय अधिक है, मेरा उस सम्बन्ध में कहना ठीक नहीं।"

"प्रयत्न करूँगा ही।"

"अच्छा एक और बात पूछनी है, इसलिए शिल्पीजी को बुलवाया।" इतना कर शान्तलदेवी क्षण भर के लिए मौन हो गयीं। चावुण और स्थपति—दोनों ने प्रतीक्षा की दृष्टि से उनकी ओर देखा।

"शिल्पीजी, यह नाट्य-सरस्वती का चित्र आपकी ही कल्पना है या किसी व्यक्ति को मन में रखकर रूपित किया गया है?" शान्तलदेवी ने प्रश्न किया।

चावुण कहना तो चाहता था, लेकिन कहा कुछ नहीं; उसने स्थपति की ओर दृष्टि डाली।

"संकोच करने की आवश्यकता नहीं। कहिए शिल्पीजी। सन्निधान का लक्ष्य कला को उच्चस्तर तक ले जाना है। इसे मत भूलिए!"

"इस प्रश्न को पूछा है तो सन्निधान को कुछ लगा होगा..." चावुण बोला।

"हाँ, इसीलिए पूछा।"

"सन्निधान को जो लगा, उसे बताने की कृपा करें तो..." चावुण ने विनीत भाव से कहा।

"छिपा रखने के लिए वहाँ है ही क्या? ज्ञानाधिदेवता सरस्वती यहाँ दो रूपों में दिखाई पड़ी। कण्ठ से नीचे का भाग अर्थात् शरीर और हाथ-पैर प्रौढ़ा के और मुख-मात्र छोटी कन्या का-सा लगता है। है न स्थपतिजी?"

"हाँ।"

"इसीलिए नये तौर से मन में उत्पन्न कल्पना पुरानी स्मृति है। उनके अव्यक्त मिलन ने इस चित्र में रूप धारण किया है। ऐसा लगा मुझे तो।"

"फिर भी यहाँ निष्कल्मष भाव होने के कारण चित्र सुन्दर ही है।" स्थपति

ने प्रश्न किया।

"मैंने पूरे चित्र के स्वरूप पर विचार नहीं किया। इस चित्र के उद्भव की कौन-सी प्रेरणा चित्रकार के मन में उत्पन्न हुई होगी; इसे सोचते समय मुझे जो लगा वह मैंने बताया। अच्छा, रहने दीजिए। शिल्पीजी तो कुछ कह नहीं रहे न?" शान्तलदेवी ने चावुण की ओर देखा।

उसने संकोच के साथ धीमी आवाज़ में कहा, "हाँ, सन्निधान का कहना ठीक है। नाट्य-सरस्वती के चित्र की कल्पना मेरे मन में बलिपुर में उत्पन्न हुई। सन्निधान हममें से एक होकर जब रहीं तब। उनका नृत्य-वैभव देखा तो वह स्वरूप मेरे मानसपट पर अंकित होकर रह गया था। परन्तु उस मानसिक कल्पना ने अब दो दिन पहले रूप धारण किया। सन्निधान के बाल्यकाल का मुख ही मेरे चित्त में स्थायी रह गया था।"

शान्तलदेवी को बलिपुर की वे पुरानी सारी घटनाएँ याद आयीं। खासकर युवरानी एचलदेवी जब दोनों राजकुमारों के साथ ठहरी थीं, उस समय की एक-एक घटना आँखों के सामने से गुज़र गयी। मन-ही-मन कहने लगीं, "वह सोने के दिन फिर लौटेंगे नहीं। निर्मल मनोभाव का वह बाल्य, निःस्वार्थ शुद्ध प्रेम, कितना महान् है! उम्र बढ़ते-बढ़ते, पता नहीं कौन-कौन-सी आशाएँ आकांक्षाएँ, कैसे-कैसे स्वार्थ आदि मन में घर कर लेते हैं और मानव को कलुषता-भरे मार्ग में घसीट ले जाते हैं।" इत्यादि-इत्यादि कई विचार मन में बह गये।

थोड़ी देर मौन छाया रहा।

चावुण सोचने लगा : क्या मैंने कोई भूल की? और अगर ऐसी कोई भूल की हो तो उसका आगे परिणाम क्या हो सकता है। शंका के साथ भय भी लगने लगा। फिर भी साहस करके बोला, "मुझसे यदि कुछ अनुचित हुआ हो तो क्षमा माँगता हूँ।"

"आपके मन में यह भावना क्यों आयी?" शान्तलदेवी ने प्रश्न किया।

"मेरे मन में बलिपुर के हेग्गड़ेजी की पुत्री की छाप स्थायी रूप से अंकित हो गयी है। वे आज पोय्सल राज्य की पट्टमहादेवी हैं। बाल्यकाल की वह अनौपचारिकता अब तो बरती नहीं जा सकेगी, आदि। चित्र बनाते समय मुझे नहीं लगा। इसलिए मेरा अपराध क्षम्य है।"

"आपकी पट्टमहादेवी ने अब जिस देव मन्दिर का निर्माण हो रहा है उसके कार्य में अपना पूरा योगदान देने का वचन गुरुवर्य को दे रखा है। ऐसे में इस चित्र का रचना में आपकी कल्पना के लिए मेरी रत्ती-भर ही सही, जो सेवा समर्पित हुई है, उससे मुझे एक तृप्ति ही हुई है, इसमें क्रोध करने की बात ही नहीं। इसलिए आपको शंका करने की कोई आवश्यकता नहीं।" शान्तलदेवी ने कहा।

तुरन्त बिट्टियण्णा ने पूछा, "तो मन्दिर के बाहर सजाने हेतु सुन्दर मूर्तियों को तैयार करने के लिए सुन्दर भाव-भंगिओं को सन्निधान दे सकेंगी न ?"

शान्तलदेवी ने विशेष दृष्टि से उसकी ओर देखा ।

प्रसंग बदलकर अन्य किसी बात की ओर जायें तो ठीक न होगा, समझ कर स्थपति ने कहा, "हमारे ये दण्डनायकजी स्वभाव से चपल हैं। अभी किशोर हैं। कब क्या कहना चाहिए, क्या नहीं, कहाँ कहना चाहिए, कहाँ नहीं आदि बातों पर विचार नहीं करते, यही समझना चाहिए।"

"नहीं, मेरा बिट्टि मेरे साथ अधिक मिलनसारी है। यह तो मेरी गोद में पला है न ? कोई पहली बार नहीं, यह बात उसने कई बार कही है। प्रेमावेश में। किन्तु वह सब करना हो कैसे हो सकता है ?" शान्तलदेवी ने कहा ।

"सच है। सच है ।"

"अब जो चित्र बने हैं उन्हीं में से कुछ को मूर्त्तरूप देने का काम प्रारम्भ करें। मैं ऐसे चित्रों को चुनकर भेज दूँगी। शेष बातों पर बाद में विचार करेंगे। शिल्पीजी अब जो विचार-विनिमय हुआ है उसके आधार पर नये चित्र को बनाइयेगा। चलो बिट्टि ! मायण और चट्टला से बहुत बातें जानने की हैं।" कहकर शान्तलदेवी बिट्टियण्णा के साथ राजमहल की ओर चली गयीं ।

मन्दिर का कार्य चल रहा था। मायण और स्थपति में शीघ्र ही अच्छा परिचय हो गया, मिलनसारी भी बढ़ी। मायण जानता था कि स्थपति ज्योतिष जानते हैं। इसका उसे प्रत्यक्ष प्रमाण भी मिल चुका था। महासन्निधान की युद्धयात्रा के समय ही मुहूर्त को जानते हुए स्थपित ने कह दिया था कि विजय निश्चित है। वही हुआ। इसलिए मायण ने चाहा कि बल्लू की जन्मपत्री उन्हें दिखाकर उसके भविष्य के बारे में जाने। यही सोचकर वह चट्टला के साथ स्थपति के यहाँ गया।

स्थपति के लिए यह आगमन चौंकानेवाला हो था।

भविष्य की बात उठाते ही स्थपति ने कहा, "इसके बारे में कृपया मुझसे न पूछें। मैं कुछ भी नहीं कहूँगा।"

"हमने सबकुछ सुख-दुःख देख लिया है और अनुभव भी किया है। विष और अमृत दोनों को पिया है। सन्निधान ने हमारे जीवन के वृत्तान्त को सुना दिया है, इससे हमारे जीवन का समग्र चित्र आपके मन में है। परन्तु हमने अब जो इस

देखा। चट्टला का ध्यान उधर गया ही नहीं। उसमें उत्साह भर आया था। उसने पूछा, "आपकी कला को जीवित रखना हो···"वह कुछ और पूछना चाहती थी।

इतने में स्थपति ने उसे रोका और बात को बदलने के विचार से कहा, "देखिए, यहाँ निर्मित होनेवाला मन्दिर मेरी कला को स्थायी बनाकर हज़ारों वर्षों तक जीवित रखेगा।"

"वह आपकी कला का प्रतीक बनकर रहेगा। परन्तु, इस परम्परा को प्रवृद्ध कर उसमें नवीनता उत्पन्न करना हो तो आपकी कला को आगे बढ़ानेवाली सन्तान और शिष्यवृन्द भी तो होनी चाहिए?"

"सोचने का विषय है। एक काम करो, चट्टलदेवी। सन्निधान से कहो कि वे एक वास्तुशिल्पशाला की स्थापना करा दें। ऐसा हो जाय तो अनेक उत्साही शिल्पियों को विद्यादान कर सकता हूँ।"

"अभी नृत्य, संगीत और साहित्य के लिए शालाएँ तो हैं ही। उनके साथ शिल्पकलाशाला की स्थापना भी युक्त रहेगी। पट्टमहादेवीजी इसे मान लेंगी।" चट्टलदेवी ने कहा।

"स्थपतिजी, आप ही निवेदन करें तो ठीक होगा। हम तो केवल सेवक ठहरे।" मायण ने कहा।

"आपकी पट्टमहादेवीजी में इस तरह का भेदभाव है ही नहीं। वे विषय ग्रहण करेंगी, उसे सुझानेवाले व्यक्ति की ओर उनका ध्यान ही नहीं जायेगा।" स्थपति ने कहा।

"आपका कहना बहुत सही है। हम आये किसी और विषय को लेकर, यहाँ बातचीत हुई कुछ और ही।" मायण ने कहा।

"ऐसा कुछ नहीं हुआ। आप जिसके लिए आये उसका तो उत्तर दिया जा चुका है। हमने अन्य विषयों पर भी बातचीत की, इतना ही। इसमें गलत क्या हो गया?" स्थपति ने प्रश्न किया।

"तो ऐसा ही समझूँ कि कोई गलती नहीं हुई। क्योंकि मेरी पत्नी ने आपकी सन्तान के विषय में पूछा जो बहुत बड़ी गलती थी।" मायण बोला।

"यह तो आमतौर पर सब पूछा ही करते हैं। इसमें गलत क्या?" स्थपति ने कहा।

"गलत तो है ही। आपसे आपके परिवार के विषय में कोई कुछ न पूछे, यह राजमहल की आज्ञा है।" मायण बोला।

स्थपति ने आश्चर्य से देखा, फिर हँस पड़ा।

"क्यों, मेरी बात हँसने की-सी थी? उसमें ऐसा क्या था, जो हँस पड़े।" मायण ने पूछा।

आपकी बात पर हँसी नहीं आयी। अपने व्यवहार ने ही मुझमें हँसी पैदा कर

हो तो······"

स्थपति ने कहा, "आँ, चले ? अच्छी बात है। हो आइए, भगवान् की इच्छा नहीं। अपना भार उतार लेने का अभी समय नहीं आया, यही लगता है। कोई सूचना है, सन्निधान कब आनेवाले हैं ?"

"हम तक अभी कोई सूचना नहीं पहुँची है। हमसे पहले यह सूचना आपको ही मिलेगी।" मायण ने कहा।

"अच्छी बात है।" स्थपति उठने लगा।

"आप बैठिए, हम चलेंगे।" मायण बोला।

"वह सज्जनता नहीं है। अतिथि आये तो उन्हें जाते समय मुख्य मार्ग तक साथ चलकर विदा कर आना चाहिए, यही मनुष्यता है।" स्थपति ने यह कहा, कहकर उनके साथ राह तक आकर विदा दी।

स्थपति अन्दर आया और चहलक़दमी करने लगा। मंचणा के आकर भोजन के लिए बुलाने तक यही चलता रहा। मंचणा को लगा कि वह बहुत गहरी चिन्ता में मग्न हैं, अवसर देख स्थपतिजी का ध्यान अपनी ओर आकर्षित किया।

"ओह, अच्छा भोजन तैयार है ? हाथ-पैर धोकर अभी आया।" कहकर पिछवाड़े की ओर ही आया, रोज़ की तरह भोजन विधिवत् हुआ। उसके बाद स्थपति ने कहा, "मंचणा, आज रात को मेरे लिए कुछ मत बनाओ। मुझे वेला-पुरी से बाहर जाना है। यदि रात को न लौटूं तो भी डरने की आवश्यकता नहीं। सुबह ठीक सूर्योदय के समय लौट आऊँगा।"

"राजमहल से कोई बुलावा आवे तो ?"

"ऐसी कोई सम्भावना नहीं है।"

"फिर भी यदि बुलावा आ जाय तो मुझे क्या कहना होगा ?"

"मैंने तुमसे जो कहा है, वही कहो। छिपाना क्या ?"

"ठीक···परन्तु ?"

"परन्तु क्या ?"

"मैं तो केवल दास ठहरा। राजमहल को सूचना देकर जाना अच्छा होगा। यही मुझे लगता है।"

महल का या कलाकार का—है बहुत कठिन। नपा-तुला व्यवहार होना चाहिए।"

"तो क्या मुझसे तुम्हें कोई कष्ट पहुँचा है?"

"आपका मन न जाने कब कहाँ क्या सोचता होता है? क्या कल्पना करता होता है? ऐसे समय पर आपसे बात करें तो क्या हो, न करें तो कैसा हो; यह शंका हो जाती है। हमारे प्राण निकल जाते हैं। परन्तु यह सब आपको अनुभव नहीं होता। केवल दास ही इसे अनुभव कर सकते हैं।"

"अब क्या करने को कहते हो?"

"जैसी आप आज्ञा दें।"

"मैं तो—पहले ही जैसा कहा—जाऊँगा। फिर तुम जाकर राजमहल को समाचार दे दो। कहीं भी होऊँ सुबह तक आ जाऊँगा, यही कहो।"

मंचणा कुछ नहीं बोला, चुप रहा आया।

"क्यों नहीं बोलते। मैं जो कह रहा हूँ, ठीक है न?"

"आपकी दृष्टि में ठीक है।"

"तुम्हारी राय में ठीक नहीं?"

इतने में बाहर से घोड़े के आने और वहीं रुकने का शब्द सुनाई पड़ा।

मंचणा बाहर की ओर दौड़ पड़ा। राजमहल का पत्रवाहक बीरण घोड़े से उतरकर द्वार की ओर आ रहा था। मंचणा को देखकर उसने पूछा, "स्थपतिजी क्या कर रहे हैं? उनका भोजन और विश्राम हो चुका हो तो आकर सन्निधान से मिलें—यह आदेश है।"

"अच्छा हुआ। मैं जी गया।" मन-ही-मन में कहते हुए मंचणा ने बीरण से कहा, "आओ, अन्दर हैं। वे भी अब चलने को तैयार हो रहे थे। ठीक समय पर आ गये। आओ!"—कहता हुआ मंचणा अन्दर जाने लगा। पत्रवाहक ने उसका अनुगमन किया।

स्थपति को सूचना मिली। उसने मंचणा की ओर देखा। उसने जमीन देखना प्रारम्भ किया।

"मंचणा, तुम्हारी बात सच निकली। अब तो मैं राजमहल जाऊँगा न? मैं स्वयं सन्निधान को बता दूँगा। इसलिए तुम्हें डरने की आवश्यकता अब नहीं।" कहकर स्थपति बीरण की ओर मुड़ा और बोला, "तुम चलो, मैं भी पीछे-पीछे आता हूँ।"

"ऐसी कोई बात नहीं। चाहें तो थोड़ी देर विश्राम करके भी आ सकते हैं।" बीरण ने कहा।

"अभी आ जाऊँ तो सन्निधान को कष्ट तो नहीं होगा?"

"अभी तो यही आदेश है कि भोजन और विश्राम के बाद स्थपतिजी यहाँ

आयें।"

"सो ठीक ! अभी उनके विश्राम का समय हो तो ?"

"वे तो केवल रात को आराम करती हैं। क्या आदेश है ?"

"तुम चलो, मैं अभी आया।"

"आपका भोजन-विश्राम सब हो चुका है न ?"

"हाँ, सब हो चुका है।"

पत्रवाहक वीरण चला गया। कुछ क्षणों के वाद स्थपति भी राजमहल की ओर चल पड़ा। वहाँ का दरबान उसे सीधा मन्त्रणालय की ओर ले गया। वहाँ के द्वारपाल ने द्वार का परदा उठाकर उसे अन्दर जाने दिया और परदा छोड़ दिया। स्थपति जब अन्दर गया तो वहाँ कोई और नहीं था। यह उसके लिए एक नया अनुभव था। वास्तव में वह अब तक इस मन्त्रणालय में आया ही नहीं था। कुछ ऊँचाई पर दो आसन सजे थे। और वाकी कुछ आसन अर्धवर्तुलाकर उन दो आसनों के आमने-सामने जोड़ दिये गये थे। उन ऊँचे आसनों के पीछे की दीवार पर थोड़ी ऊँचाई पर पोय्सल लांछन कुछ उभरकर दिख रहा था। उसके दोनों तरफ दो दीप प्रकाश दे रहे थे। शिल्पी सोचने लगा कि वैठूं या खड़ा ही रहूँ। इतने में घण्टी की आवाज़ सुन पड़ी।

पोय्सल लांछन के नीचे का द्वार खुला। पट्टमहादेवी और छोटे दण्डनायक बिट्टियण्णा उसके अन्दर से आये। द्वार वन्द हुआ। शान्तलदेवी के वैठने के वाद अर्धवर्तुलाकार सजे आसनों में से एक पर बिट्टियण्णा वैठ गया।

"वैठिए स्थपतिजी।" शान्तलदेवी ने कहा। स्थपति वैठ गया।

"विश्राम के दिन में भी विश्राम करने नहीं दिया, इसलिए आप बुरा तो नहीं मानेंगे ?" शान्तलदेवी ने पूछा।

"वास्तव में मुझे विश्रान्ति चाहिए ही नहीं।"

"आपको जैसा लगता वैसे ही हमें भी तो लगना चाहिए ?"

"कुछ लोगों को विश्राम करने की इच्छा रहती है ······।"

"सभी को यह इच्छा रहती है।" वीच में शान्तलदेवी वोलीं।

"ऐसा ही समझेंगे। कुछ लोगों को विश्राम से भी चेतना उत्पन्न होती है। कुछ को इससे शिथिलता आती है। मैं दूसरी कोटि का हूं। मुझे, यहां जवसे आया तव से, मन्दिर की बात को छोड़कर दूसरी कोई वात सोचने का अवकाश ही नहीं। वास्तव में कोई पुरानी चेतना फिर जाग्रत हुई-सी लगती है। उसे वैसे ही रहने देना, मुझे अपनी व्यक्तिगत दृष्टि से एवं जिस काम को मैंने हाथ में लिया है, उस दृष्टि से भी अच्छा लगता है।"

"इस तरह से आपका कथन सही है। शंका, भय, असूया, महत्त्वाकांक्षा, रागद्वेष आदि मन में जड़ जमा लें तो, ऐसे लोगों को विश्राम से कोई प्रयोजन

नहीं होता। परन्तु इस शरीर की श्रम-सहिष्णुता की भी एक सीमा है। उस सीमा को लाँघकर अधिक परिश्रम करने पर वह शरीर एवं हमारे अस्तित्व को हमारी जानकारी के विना ही अन्दर-ही-अन्दर कष्ट देता है। इसलिए विश्राम से नयी चेतना न प्राप्त कर सकनेवाले व्यक्ति की आयु कम हो जाती है। वैसा अवसर नहीं आने देना चाहिए।"

"अपने से सम्बन्ध न रखनेवाले किसी भी विषय पर सभी विश्लेपण करते हैं। उसमें राग-द्वेष नहीं होना चाहिए, इस वात का उपदेश भी दे सकते हैं। परन्तु वास्तव में जो इन्हें भुगत रहे हैं उनके अन्तरंग में प्रवेश कर वास्तविकता को देखना दूसरों से हो ही नहीं सकता।"

"यह अभिमत की वात हुई।"

"मुझे लगता है कि यह सिद्धान्त है।"

"कोई ऐसा प्रसंग बताइए जिससे यह मुझे सिद्धान्त प्रतीत हो।"

"वता तो सकता हूँ। परन्तु······"

"परन्तु क्या? क्यों रुक गये?" उन्होंने बिट्टियण्णा की ओर देखा। "ओह! समझ गयी। हमने आपको क्यों बुलवा भेजा पता है?" शान्तलदेवी ने प्रश्न किया।

"बुलावा आया। इसलिए चला आया। क्यों, यह सन्निधान ने अभी नहीं बताया न?"

"महासन्निधान से पत्र आया है। मुझे तुरन्त यादवपुरी जाकर वहाँ उनसे मिलना है। इसलिए मन्दिर के सम्पूर्ण दायित्व का भार अव आप ही पर आ पड़ेगा। महासन्निधान के पहुँचने तक इस मन्दिर का कार्य पूर्ण हो जाय तो मन्दिर में मूर्ति की स्थापना शीघ्र करवा सकते हैं। आपकी राय में इस मन्दिर का काम कब तक पूर्ण हो सकता है?"

"मन्दिर की बाहरी भित्ति पर, उभरे स्तम्भों पर छज्जे के नीचे आपकी इच्छा के अनुसार सजनेवाले विविध भंगिमाओं के विग्रहों को छोड़ शेष सभी कार्यों को एक पखवारे के अन्दर समाप्त कर सकते हैं। छेनी का काम समाप्त हो गया है। चुनाना मात्र शेष है।"

"मूल विग्रह?"

"उसे मैं पूरा कर लूँगा।"

"शिल्प शास्त्र में उक्त प्रमाण से थोड़ा ऊँचा वना दें तो कैसा रहेगा?"

"कुल ऊँचाई से परस्पर अंगांगों में मेल रहना प्रधान है।"

"शुक्रनीति-सार में प्रतिमा लक्षण वताते समय युग-युग के लिए पृथक्-पृथक् माप दिया है न, क्यों?"

"तत्तत्कालीन मानव के आकार के अनुसार तत्-तत्कालीन मूर्तियों के आकार

होने चाहिए।"

"इसीलिए कृतयुगीन मूर्तियाँ दस काल प्रमाण हुईं तो त्रेता की नौ, द्वापर की आठ हुई हैं।"

"इस कारण से हमारे कलिकाल में हम जैसे ठिगने आकार को इसलिए सात काल तक का प्रमाण वताया है।"

"इस दृष्टि से वेलगोल के वाहुवलि का क्या काल प्रमाण रहा होगा ?"

"कल्पनातीत।"

"मतलव यह कि शुक्रनीतिसार में उक्त नियम का उल्लंघन करेंगे तो अनुचित नहीं न ?"

"कुल काल-प्रमाण में अन्तर करने पर भी वाक़ी प्रमाण का विभाजन उसी सूत्र के अनुसार होना चाहिए।"

"सो आपका काम है। इस मन्दिर की मूल देव-प्रतिमा कलिकाल के प्रमाण से भी अधिक ऊंची होनी चाहिए।"

"जो आज्ञा। वह प्रस्तर के ऊपर निर्भर है। सन्निधान का आशय ज्ञात हो गया। अच्छा अव यात्रा······"

"कल सुवह। अच्छा मुहूर्त है न ?"

"वहू को घर लाने के लिए तो सन्निधान नहीं जा रही हैं। ऐसा हो तो वह सव देखना चाहिए। विजयी प्रभु के दर्शन के लिए सभी मुहूर्त अच्छे हैं।"

"ठीक ! आपकी विनती को चट्टला ने मुझे वता दिया है। उसने जो कहा वह लौकिक दृष्टि से ठीक भी है। परन्तु आपकी विनती को स्वीकार करने के लिए अव समय भी नहीं है। क्षमा करें।" कहकर घण्टी वजायी। दरवाज़ा खुला। स्थपति चला गया।

पट्टमहादेवी शान्तलदेवी, कुंवर विट्टियण्णा, उसकी पत्नी सुव्वला, शान्तलदेवी के वच्चे, वल्लाल, छोटे विट्टिदेव, विनयादित्य, हरियला, मायण, चट्टला और वल्लू—इतने लोग आवश्यक रक्षक-दल के साथ योजित रीति से यात्रा कर यादवपुरी पहुँचे। वीच में पट्टमहादेवी ने वाहुवली के दर्शन भी किये। यादवपुरी अच्छी तरह से सजधज कर सुन्दर लग रही थी। यही समझकर कि यह सव विजयोत्सव की सजधज है, पट्टमहादेवी ने पुरप्रवेश किया।

उन्होंने समझा था कि सवसे पहले रेविमय्या दिखाई पड़ेगा। मायण और

नहीं होता । परन्तु इस शरीर की श्रम-सहिष्णुता की भी एक सीमा है। उस सीमा को लाँघकर अधिक परिश्रम करने पर वह शरीर एवं हमारे अस्तित्व को हमारी जानकारी के बिना ही अन्दर-ही-अन्दर कष्ट देता है। इसलिए विश्राम से नयी चेतना न प्राप्त कर सकनेवाले व्यक्ति की आयु कम हो जाती है। वैसा अवसर नहीं आने देना चाहिए।"

"अपने से सम्बन्ध न रखनेवाले किसी भी विषय पर सभी विश्लेपण करते हैं। उसमें राग-द्वेष नहीं होना चाहिए, इस बात का उपदेश भी दे सकते हैं। परन्तु वास्तव में जो इन्हें भुगत रहे हैं उनके अन्तरंग में प्रवेश कर वास्तविकता को देखना दूसरों से हो ही नहीं सकता।"

"यह अभिमत की बात हुई।"

"मुझे लगता है कि यह सिद्धान्त है।"

"कोई ऐसा प्रसंग बताइए जिससे यह मुझे सिद्धान्त प्रतीत हो।"

"बता तो सकता हूँ। परन्तु······"

"परन्तु क्या? क्यों रुक गये?" उन्होंने बिट्टियण्णा की ओर देखा। "ओह! समझ गयी। हमने आपको क्यों बुलवा भेजा पता है?" शान्तलदेवी ने प्रश्न किया।

"बुलावा आया। इसलिए चला आया। क्यों, यह सन्निधान ने अभी नहीं बताया न?"

"महासन्निधान से पत्र आया है। मुझे तुरन्त यादवपुरी जाकर वहाँ उनसे मिलना है। इसलिए मन्दिर के सम्पूर्ण दायित्व का भार अब आप ही पर आ पड़ेगा। महासन्निधान के पहुँचने तक इस मन्दिर का कार्य पूर्ण हो जाय तो मन्दिर में मूर्ति की स्थापना शीघ्र करवा सकते हैं। आपकी राय में इस मन्दिर का काम कब तक पूर्ण हो सकता है?"

"मन्दिर की बाहरी भित्ति पर, उभरे स्तम्भों पर छज्जे के नीचे आपकी इच्छा के अनुसार सजनेवाले विविध भंगिमाओं के विग्रहों को छोड़ शेष सभी कार्यों को एक पखवारे के अन्दर समाप्त कर सकते हैं। छेनी का काम समाप्त हो गया है। चुनाना मात्र शेष है।"

"मूल विग्रह?"

"उसे मैं पूरा कर लूँगा।"

"शिल्प शास्त्र में उक्त प्रमाण से थोड़ा ऊँचा बना दें तो कैसा रहेगा?"

"कुल ऊँचाई से परस्पर अंगांगों में मेल रहना प्रधान है।"

"शुक्रनीति-सार में प्रतिमा लक्षण बताते समय युग-युग के लिए पृथक्-पृथक् माप दिया है न, क्यों?"

"तत्तत्कालीन मानव के आकार के अनुसार तत्-तत्कालीन मूर्तियों के आकार

होने चाहिए।"

"इसीलिए कृतयुगीन मूर्तियाँ दस काल प्रमाण हुईं तो त्रेता की नौ, द्वापर की आठ हुई हैं।"

"इस कारण से हमारे कलिकाल में हम जैसे ठिगने आकार को इसलिए सात काल तक का प्रमाण बताया है।"

"इस दृष्टि से बेलगोल के बाहुबलि का क्या काल प्रमाण रहा होगा ?"

"कल्पनातीत।"

"मतलब यह कि शुक्रनीतिसार में उक्त नियम का उल्लंघन करेंगे तो अनुचित नहीं न ?"

"कुल काल-प्रमाण में अन्तर करने पर भी बाक़ी प्रमाण का विभाजन उसी सूत्र के अनुसार होना चाहिए।"

"सो आपका काम है। इस मन्दिर की मूल देव-प्रतिमा कलिकाल के प्रमाण से भी अधिक ऊँची होनी चाहिए।"

"जो आज्ञा। वह प्रस्तर के ऊपर निर्भर है। सन्निधान का आशय ज्ञात हो गया। अच्छा अब यात्रा······"

"कल सुबह। अच्छा मुहूर्त है न ?"

"बहू को घर लाने के लिए तो सन्निधान नहीं जा रही हैं। ऐसा हो तो यह सब देखना चाहिए। विजयी प्रभु के दर्शन के लिए सभी मुहूर्त अच्छे हैं।"

"ठीक! आपकी विनती को चट्टला ने मुझे बता दिया है। उसने जो कहा वह लौकिक दृष्टि से ठीक भी है। परन्तु आपकी विनती को स्वीकार करने के लिए अब समय भी नहीं है। क्षमा करें।" कहकर घण्टी बजायी। दरवाज़ा खुला। स्थपति चला गया।

पट्टमहादेवी शान्तलदेवी, कुंवर बिट्टियण्णा, उसकी पत्नी सुव्वला, शान्तलदेवी के बच्चे, बल्लाल, छोटे बिट्टिदेव, विनयादित्य, हरियला, मायण, चट्टला और बल्लू—इतने लोग आवश्यक रक्षक-दल के साथ योजित रीति से यात्रा कर यादवपुरी पहुँचे। बीच में पट्टमहादेवी ने बाहुबली के दर्शन भी किये। यादवपुरी अच्छी तरह से सजधज कर सुन्दर लग रही थी। यही समझकर कि यह सब विजयोत्सव की सजधज है, पट्टमहादेवी ने पुरप्रवेश किया।

उन्होंने समझा था कि सबसे पहले रेविमय्या दिखाई देगा। मायण और

चट्टला से सन्निधान का आदेश सुनकर रेविमय्या पहले ही यादवपुरी आ चुका था। परन्तु वही वहाँ नहीं दिखा। राजमहल के द्वार पर रानी बम्मलदेवी ही पूर्ण राजमर्यादा के साथ उन्हें स्वागत कर अन्तःपुर में ले आयी।

कुशल प्रश्न हुए। हाथ-मुँह धोकर अल्पाहार भी कर लिया। बाद में रानी बम्मलदेवी ने सेवकों से कहा, "पट्टमहादेवी और अन्य लोग मार्गायास के कारण थके हुए हैं, उनके विश्राम की सारी व्यवस्था कर दें; और ध्यान रखें कि उन्हें कोई कष्ट न हो।" सेवक प्रणाम कर चले गये।

"विश्राम की बात रहने दो। महासन्निधान···" शान्तलदेवी ने पूछा।

"उन्हें आचार्यजी के दर्शन के लिए नागिदेवण्णाजी यदुगिरि ले गये हैं।"— बम्मलदेवी ने कहा।

"ओह! इसीलिए रेविमय्या नहीं दिखाई पड़ा।"

"जब से वह आया है तब से महासन्निधान के ही साथ है।"

"यह इतना आवश्यक बुलावा क्यों? वहाँ का सारा काम स्थपति और दण्डनायक बोप्पिदेव को सौंपकर आना पड़ा।"

"मुझे भी कारण ज्ञात नहीं।" बम्मलदेवी ने कुछ खोजती हुई दृष्टि से चारों ओर देखा।

"क्या देख रहीं हैं?"

"कुछ नहीं। सेवक कहाँ गये? ये लोग दण्डनायक दम्पती को विश्राम के लिए क्यों नहीं ले गये?" उन्होंने घण्टी बजायी। दासी ने आकर प्रणाम किया।

"दण्डनायकजी, राजकुमार और राजकुमारी के विश्राम की व्यवस्था अभी नहीं हुई?"

"चन्नव्वे, रुद्रव्वे तभी चली गयी थीं तैयार करने।"

"जाकर तुरन्त देख आओ। यात्रा की थकावट का पता आराम से खा-पीकर रहनेवाली तुम लोगों को भला कैसे हो?"

आज्ञा पाते ही सेविका भागी गयी।

"हमारे राजमहल के सेवकों को दुबारा बताने की आवश्यकता नहीं होती। कदाचित् हम अपेक्षित समय से पहले ही आ पहुँचे हैं।" शान्तलदेवी ने कहा।

चन्नव्वे ने आकर प्रणाम किया।

"सब तैयार है?" बम्मलदेवी ने पूछा। उसने इंगित से बता दिया तैयार है।

"ठीक, इन्हें ले जाओ।" बिट्टियण्णा, हरियलदेवी और राजकुमारी वहाँ से चली गयीं।

बाहर से द्वार बन्द हुआ। बम्मलदेवी अन्दर से साँकल चढ़ाकर शान्तलदेवी की बगल में आ बैठी। कुछ बोली नहीं। शान्तलदेवी ने सोचा कि इतने शीघ्र शेष लोगों को बाहर भेजने का सम्भवतः कोई कारण होगा। इस कारण से वह

कुतूहल से यह प्रतीक्षा करने लगी कि देखें क्या कहती हैं ? लेकिन बम्मलदेवी मौन ही रही।

आख़िर शान्तलदेवी ने ही पूछा, "महासन्निधान यदुगिरि कब गये ?"

"वेलापुरी को ख़बर भेजने के एक-दो दिन बाद ही चले गये।"

"तुम क्यों नहीं गयीं ?"

"महासन्निधान वहाँ युद्ध करने तो नहीं गये न ?"

"तो केवल युद्ध के समय में तुम्हारा साथ होगा ?"

"मेरा यह अभिप्राय नहीं।"

"तो फिर युद्ध की बात क्यों उठी ?"

"अब तक ऐसे ही प्रसंग में मुझे बुलावा आया है।"

"क्या वह रुचि का काम नहीं ?"

"मैंने यह नहीं कहा। पता नहीं, क्यों ? महासन्निधान ने मुझे बुलाया नहीं। आचार्य के दर्शन की अभिलाषा मुझे नहीं क्या ? मैंने समझा था कि कोई राजकीय कार्य होगा।"

"समझा था, क्या अब नहीं है ?"

"मैं कुछ नहीं कह सकती। राजलदेवी को बुला लाने के लिए उदयादित्य-रसजी गये हैं।"

मेरा मन कुछ उथल-पुथल अवश्य कर रहा है।"

"शहर की सज-धज देखने पर तो लगा कि यहाँ विजयोत्सव की तैयारी है।"

"आपको जो पत्र भेजा उसमें यह बात थी ?"

"नहीं, केवल इतना ही था कि तुरन्त चली आवें।"

"विजयोत्सव तो कोई रहस्य की बात नहीं थी, लिखा सकते थे न ?"

"हाँ लिखा सकते थे। नहीं लिखाया। मान लेंगे। फिर भी यह सज-धज विजयोत्सव ही के लिए है न ? इसकी व्यवस्था राजमहल की ओर से हुई है न ?"

"राजमहल ने कोई आदेश नहीं दिया है।"

"आश्चर्य है ! क्या हो सकता है ?"

"असली बात महासन्निधान पट्टमहादेवी को शय्या में शायद बता दें।" —कहकर बम्मलदेवी ने एक प्रश्नवाचक दृष्टि से देखा।

शान्तलदेवी ने उस ओर ध्यान नहीं दिया। परन्तु बम्मलदेवी के कहने की रीति में वह सहज हास्य की रीति नहीं लगी। शान्तलदेवी ने शयन के सम्बन्ध में जो निर्णय किया था उसे सुना देने की बात सोची। जिन्हें बताना चाहिए उन्हें तो बता दिया गया है। शेष लोगों से उसका क्या सम्बन्ध—यही सोचकर कहा, "तो रानीजी को अभी महासन्निधान की रीति का पता नहीं लगा होगा।" यों कहकर बात बदल दी।

"अर्थात् ?"

"वे सीधा रानी बम्मलदेवी के ही शयनागार में आयेंगे। अश्वारोहियों के जाँघ बड़े बलवान होंगे न ?"

"अब कुछ समय से एकान्त की इच्छा कर रहे हैं महासन्निधान। अब उनका मन पट्टमहादेवी की ओर लग गया होगा। इसलिए···"

"तो उस एकान्त की इच्छा का कोई दूसरा कारण होना चाहिए। तुम्हारी कल्पना सही नहीं। मैं उन्हें अच्छी तरह समझती हूँ। तुम पर जब स्नेह हुआ तब कैसे बरता, सो तो तुमको पता है न ? यदि मैं इस पर असूया करती तो जीवन में मुझे शान्ति कदाचित् मिल ही नहीं सकती थी।"

"तो उनकी अभिलाषा कुछ और ही रही होगी, यही न ?"

"ऐसा नहीं। उनका स्वभाव ही इस तरह का है। कुछ चपलता कभी-कभी दिखा देते हैं। फिर बाद में वह ठीक नहीं समझकर, उसी से लगे न रहकर, उससे पार पाना चाहते हैं। मैंने एक निश्चय किया है। उसका कारण मैंने महामातृश्री को जो वचन दिया है, वह है। उसके अनुसार मैं आजीवन शान्ति के साथ असूया रहित रह सकती हूँ। विशेषकर पद्मलदेवीजी के जीवन को टूटता हुआ देख मैं कभी भी अपने जीवन में अशान्ति के लिए स्थान ही नहीं दूँगी। ओर के लोगों की तृप्ति में मेरी शान्ति निहित है। इस बात को

मेरा मन कुछ उथल-पुथल अवश्य कर रहा है।"

"शहर की सज-धज देखने पर तो लगा कि यहाँ विजयोत्सव की तैयारी है।"

"आपको जो पत्र भेजा उसमें यह बात थी ?"

"नहीं, केवल इतना ही था कि तुरन्त चली आवें।"

"विजयोत्सव तो कोई रहस्य की बात नहीं थी, लिखा सकते थे न ?"

"हाँ लिखा सकते थे। नहीं लिखाया। मान लेंगे। फिर भी यह सज-धज विजयोत्सव ही के लिए है न ? इसकी व्यवस्था राजमहल की ओर से हुई है न ?"

"राजमहल ने कोई आदेश नहीं दिया है।"

"आश्चर्य है ! क्या हो सकता है ?"

"असली बात महासन्निधान पट्टमहादेवी को शय्या में शायद बता दें।" —कहकर बम्मलदेवी ने एक प्रश्नवाचक दृष्टि से देखा।

शान्तलदेवी ने उस ओर ध्यान नहीं दिया। परन्तु बम्मलदेवी के कहने की रीति में वह सहज हास्य की रीति नहीं लगी। शान्तलदेवी ने शयन के सम्बन्ध में जो निर्णय किया था उसे सुना देने की बात सोची। जिन्हें बताना चाहिए उन्हें तो बता दिया गया है। शेष लोगों से उसका क्या सम्बन्ध—यही सोचकर कहा, "तो रानीजी को अभी महासन्निधान की रीति का पता नहीं लगा होगा।" यों कहकर बात बदल दी।

"अर्थात् ?"

"वे सीधा रानी बम्मलदेवी के ही शयनागार में आयेंगे। अश्वारोहियों के जांघ बड़े बलवान होंगे न ?"

"अब कुछ समय से एकान्त की इच्छा कर रहे हैं महासन्निधान। अब उनका मन पट्टमहादेवी की ओर लग गया होगा। इसलिए···"

"तो उस एकान्त की इच्छा का कोई दूसरा कारण होना चाहिए। तुम्हारी कल्पना सही नहीं। मैं उन्हें अच्छी तरह समझती हूँ। तुम पर जब स्नेह हुआ तब कैसे बरता, सो तो तुमको पता है न ? यदि मैं इस पर असूया करती तो जीवन में मुझे शान्ति कदाचित् मिल ही नहीं सकती थी।"

"तो उनकी अभिलाषा कुछ और ही रही होगी, यही न ?"

"ऐसा नहीं। उनका स्वभाव ही इस तरह का है। कुछ चपलता कभी-कभी दिखा देते हैं। फिर बाद में वह ठीक नहीं समझकर, उसी से लगे न रहकर, उससे पार पाना चाहते हैं। मैंने एक निश्चय किया है। उसका कारण मैंने महामातृश्री को जो वचन दिया है, वह है। उसके अनुसार मैं आजीवन शान्ति के साथ असूया रहित रह सकती हूँ। विशेषकर पद्मलदेवीजी के जीवन को टूटता हुआ देख मैं कभी भी अपने जीवन में अशान्ति के लिए स्थान ही नहीं दूंगी। चारों ओर के लोगों की तृप्ति में मेरी शान्ति निहित है। इस बात को मैं अच्छी तरह

समझती हूँ।"

"आपने उन्हें जितना समझा है, उतना मैंने नहीं समझा है, यह सही है। क्योंकि आप दोनों बचपन से ही एक-दूसरे से अच्छी तरह परिचित हैं।

"जानते हैं। परन्तु, केवल हम दोनों ही नहीं, रेविमय्या राजमहल के सभी को अच्छी तरह समझता है, यह कहना अधिक संगत है।"

"तो उससे पूछने पर पता लग सकता है कि महासन्निधान एकान्त क्यों चाहते हैं। है न?"

"परन्तु वह बताये तब न?"

"आप पूछेंगी तो वह आपसे कुछ भी नहीं छिपायेगा।"

"वह एक विशेष ही व्यक्ति है। औचित्य-अनौचित्य का उसे पूर्ण ज्ञान है। यदि उसे यह लगे कि नहीं कहना तो वह किसी से भी कुछ नहीं कहेगा।"

"तब तो उसपर आपके विश्वास का फल ही क्या है?"

"उसका बरताव इस बात की प्रेरणा देता है कि उसपर अधिक विश्वास करें। पहले महासन्निधान को लौटने दीजिए। बाद में सोचेंगी कि आगे क्या हो?"

"वही करेंगे। अब विश्राम कर सकती हैं न?"

"पहाड़ियों की ओर हो आवें। मेरे जीवन में वह स्थान बहुत महत्त्व का है। चलोगी न?"

"आप साथ होंगी तो चिन्ता किस बात की? उसके लिए व्यवस्था कर आऊँगी।"

"किसी व्यवस्था की आवश्यकता नहीं। हमारे साथ मायण और चट्टला रहेंगे। दो सिपाही ही रहें तो काफ़ी है। लौटते वक़्त लक्ष्मीनारायण मन्दिर जाकर लौटेंगे।"

"धर्मदर्शी को सूचित कर दूँ?"

"वैसे ही हो आने की अभिलाषा है।"

"परन्तु पट्टमहादेवी जायँ और सूचना के बिना ही तो, वहाँ वालों को कुछ बुरा लग सकता है।"

"किसी को कुछ समझने की आवश्यकता नहीं। सूचना भेजने से तो वहाँ तरह-तरह की व्यवस्था होने लगेगी और हमारा जाना औपचारिक हो जायेगा और सहजता नहीं रहकर एक कृत्रिम वातावरण हो जायेगा। भगवान का सान्निध्य ऐसा हो जिसमें किसी तरह की औपचारिकता न रहे, वह सहज रहे। इसलिए पूर्वसूचना नहीं दें।"

"यहाँ मूर्ति-स्थापना के बाद यही पहली बार पट्टमहादेवी आ रही हैं। इसलिए औपचारिकता को कृत्रिम होने पर भी सह लेना चाहिए।"

"ठीक है।"

वही व्यवस्था हुई।

यादवपुरी से लगकर दीवार की तरह खड़ी पहाड़ियों पर चढ़कर ऊपर बने मण्डप में बैठ चारों ओर के प्राकृतिक सौन्दर्य को देखकर शान्तलदेवी का चित्त प्रसन्नता से भर उठा। बीते दिनों में उस स्थान पर उन्होंने आनन्द के जो-जो क्षण भोगे थे, उन सारे सन्निवेशों का विस्तार के साथ वर्णन करने लग गयीं। उनका मन उन पुरानी स्मृतियों में रम गया था। बोलीं, "वह कैसा समय था, बम्मलदेवी। मेरे भावी जीवन की सार्थकता का एक सुन्दर आरम्भ। यह ऐसे ही अनन्त काल तक सतत आनन्द देता रहेगा, इस तरह का दृढ़ विश्वास पैदा करनेवाला समय था वह। स्त्री अपने प्रेम के गर्भ में क्या-क्या आशा-आकांक्षाएँ रखी रहती है, उन्हें केवल स्त्री ही समझ सकती है, है न?"

"अब यह बात क्यों उठी, देवी? आपके महान् त्याग से मुझे और राजलदेवी को आपका प्रेम बाँट लेने का सौभाग्य मिल सका। हम इसके लिए आजीवन ऋणी हैं परन्तु आपके उस त्याग का मूल्य हम क्या लगा सकेंगी? क्या देकर उस ऋण को चुका सकेंगी?"

"बम्मलदेवी, मैं इस विषय पर बातचीत करना नहीं चाह रही थी। परन्तु, पता नहीं, यह क्यों छिड़ गया।"

"यों ही यह नहीं छिड़ा। एक विकट आग्रह के कारण यह बात उठी है। पहले इस स्थान पर जो भावनाएँ आपके मन से उत्पन्न हुई थीं वे सब अब हवा-महल की तरह बन गयी—ऐसा आप सोच रही हैं—यह भावना आपके मन में अन्तर्मुखी होकर बह रही है। ऐसा क्यों?"

"मुझमें सौतिया डाह नहीं है, बम्मलदेवी।"

"वह हमारा सौभाग्य है। आपने हमें जो भाग्य दिया उसके बदले में हम आपके आनन्द को ही लोप कर रही हैं। अब तो यही लग रहा है।"

"मैंने यह आशय तो नहीं प्रकट किया न?"

"आपने कहा नहीं। परन्तु स्थिति तो वही है, ऐसा मुझे प्रतीत होने लगा है। भूल हमारी ही है। आपके आनन्द के मार्ग में हम बीच में पड़कर उसे आपसे छीन रही हैं।"

"बम्मलदेवी, मैंने इच्छापूर्वक तुम्हारा विवाह कराया है। मुझे सन्तोष नहीं होता तो मैं क्या यह काम करती? जो आनन्द सन्निधान को मिलता है, उसमें आधा आनन्द उनकी अर्धांगिनी होने के नाते मुझे मिलता है। स्त्री, माँ होकर, पत्नी होकर, बेटी बनकर अलग-अलग रूप में पुरुष के जीवन में सन्तोष भर सकती सकती है; स्वार्थ प्रधान हो जायँ तो वह दुःसाध्य हो जाता है। मेरे दाम्पत्य जीवन के प्रारम्भिक दिन इसी तरह के स्वार्थ से शायद भरे थे। इसीलिए वैसा आनन्द हमेशा बना रहे, यह इच्छा उत्पन्न हुई थी परन्तु जैसे-जैसे दिन बीतते गये और

अनुभव ज्यों-ज्यों बढ़ा वह स्वार्थ ढीला पड़ गया। मानसिक सुख और शान्ति प्रधान हो गये। ऐसी स्थिति में आनन्द प्राप्त करने की रीति को भी बदलना पड़ा। वास्तव में अब मैं एक तरह से निश्चिन्त हूँ। क्योंकि मेरा कोई भी कार्य महामातृश्री को मैंने जो वचन दिया है, उसके लिए बाधक न हो—यही मेरी रीति है। आपके हाथ में सन्निधान उतने ही सुखी हैं जितने मेरे निकट रहने से। आपका साथ मिलने से सन्निधान को कोई कमी महसूस नहीं हुई है। अपने दुःख को दूसरों पर लादकर उनके आनन्द में विष नहीं घोलना चाहिए। बल्कि उनके आनन्द को ही हमें अपना समझना चाहिए। यही जीवन का रहस्य है।"

"मुझमें तो इतनी दूर तक विचार करने की शक्ति नहीं है। हमारे जीवन की दृष्टि तो केवल आँख पर पट्टी बंधे अश्व के समान है।"

"सो तो माना जा सकता है। ऐसी न हुई होती तो सन्निधान से पाणिग्रहण करने की इच्छा न करती।"

"उस समय की हमारी स्थिति, घटी घटनाएँ, सब कुछ ने हमारी प्रवृत्तियों को उसी ओर बहाया था। ऐसी स्थिति में सभी को वही करना पड़ता है।"

"इसे मैं स्वीकार नहीं करती। मैं ही आप लोगों की स्थिति में होती तो ऐसा नहीं करती?"

"क्यों?"

"प्रेम जब एक जगह स्थायी हो गया, उसे दूसरी ओर आकर्षित करना या उसे बाँटकर स्वार्थ साधना मेरे जीवन का लक्ष्य नहीं बन सकता था। इसलिए किसी भी विवाहित से पाणिग्रहण करने की इच्छा मेरी न हुई होती।"

"हम कैसे मान सकतीं कि राजाओं की अनेक रानियाँ हो सकती हैं, यह बात आप नहीं जानती थीं?"

"तुम एक बात भूल गयी हो, बम्मलदेवी! प्रभु अपने माता-पिता की द्वितीय सन्तान हैं। सिंहासन पर बैठने का अधिकार बड़े राजकुमार बल्लालदेवजी का था, यह निश्चित था। यदि मुझे रानी बनने की अभिलाषा होती तो स्पर्धा कर सकती थी। मेरी आकांक्षा तो मात्र इतनी थी कि जिसे मैं प्रेम करती हूँ वे आजीवन मेरे ही बनकर रहें।"

"पट्टमहादेवी बनने के बाद आपका विरोध कर सकने का साहस कोई नहीं कर सकता था। ऐसी दशा में आपने हमारी अभिलाषा को पुरस्कृत क्यों किया? सन्निधान को अपने ही लिए सुरक्षित कर लेना साध्य हो सकता था।"

"हाँ हो सकता था। उसे किया जा सकता था। ऐसा करने की सलाह भी कइयों से मिली। फिर भी मैंने इस विवाह की स्वीकृति दी।"

"तो इसके लिए आप ही उत्तरदायी हैं, यही न?"

"हाँ, परन्तु मैंने यह मन से किया है। आप लोगों को पता ही है।"

"पता है। परन्तु आपने जो आकांक्षा कर रखी थी, उसके लिए तो यह काँटा ही बना ?"

"यह काँटा बना—कह दिया। यदि मैं अपने अधिकार बल से इस विवाह को रोक देती तो उससे मुझे क्या प्राप्त होता—इसे आपने सोचा है ?"

"सन्निधान आप ही के लिए सुरक्षित रहते।"

"हाँ, निर्जीव मूर्ति बनकर।"

"तो क्या वे आपसे गहरा प्रेम नहीं करते थे ?"

"मैंने ऐसा तो नहीं कहा। यदि मेरे मन में उनके प्रेम के प्रति कोई शंका होती तो मैं पाणिग्रहण ही नहीं करती। उनका प्रेम जब मेरे ही लिए सुरक्षित था उस समय की मुझे जानकारी है। वे अगर सिंहासनारूढ न हुए होते ये राजनैतिक दाँव-पेच न होकर राज्य-भर मे शान्ति विराजती, राज्य के शुत्र न होते तो पता नहीं क्या होता। राजनैतिक सुविधाओं की दृष्टि से अनेक रानियों को बना लेने की सुविधा है। ऐसे विवाहों से सभी स्त्रियों को तृप्ति मिलेगी यह कल्पना नहीं कर सकते। परन्तु यहाँ आप लोगों को वह सुख मिले—यही मेरी इच्छा थी। आप लोगों का विवाह नैमित्तिक, केवल राजनैतिक लाभ के लिए नहीं होना चाहिए। उसे वैयक्तिक आशाओं को सफल बनाने का भी हेतु होना चाहिए—यही मेरी अभिलाषा रही। उस तरह आप लोगों का जीवन बने; इसके लिए मैंने हृदयपूर्वक प्रयत्न किया है। इस सम्बन्ध में मुझे किसी भी तरह की व्यथा नहीं है। केवल दैहिक सुख में ही सम्पूर्ण समय व्यतीत कर दें तो भगवान् की आराधना के लिए समय कहाँ मिल सकेगा ? अब मुझे वह सुविधा मिली है। आशय यह कि प्रकारान्तर से आपका विवाह मेरे लिए लाभकारक ही हुआ न ?"

"आपके सोचने की रीति तक हमारी समझ नहीं पहुँच पाती।" बम्मलदेवी ने कहा।

"आपने चारों ओर रहनेवालों के जीवन में प्रकाश भरना ही हमारी पट्टमहादेवी जी की रीति है। इसके लिए हमसे बढ़कर उदाहरण और कौन चाहिए ?" अब तक मौन बैठी चट्टलदेवी ने कहा।

"मन, वचन, तन—तीनों किसी कार्य के लिए सम्मति दें, तब की बात ही अलग है। वचन और मन की स्वीकृति न होने पर केवल काया के वशीभूत क्रिया के लिए व्यक्ति कारण नहीं बन सकता। तुम्हारे जीवन को समझने के लिए बहुत उदारता होनी चाहिए, चट्टला। तुमने पहले अपने लिए हमारे मायण को चुना, वह हवा लगने पर भभक उठा तब भी वह ख़रा सोना है। उसकी बुद्धिमत्ता से और विवेकपूर्ण रीति से तुम्हारे जीवन को प्रकाश मिला। उसने तुम्हें बहुत बुरा माना था। किसी दूसरी स्त्री से विवाह कर लेने में उसे कौन-सी बाधा थी ? परन्तु जो भावना तुम्हारे बारे में बनी, वही और स्त्रियों के बारे में भी हुई, व्यापक बनी।

उसके मन में व्याप्त यह भावना ही तुम्हारे लिए भाग्य बनी।" शान्तलदेवी ने विश्लेषण किया।

मायण तुरन्त वहाँ से उठकर कुछ दूर जाकर अस्त होते हुए सूरज को देखते हुए खड़ा रहा।

"मायण! उठकर क्यों चले गये?" बम्मलदेवी ने पूछा।

"उसका वैसा ही स्वभाव है। अपने अच्छे काम के बारे में अगर सुनता है तो उसे अच्छा नहीं लगता।"

वहाँ उपस्थित लोगों ने उसकी ओर देखा फिर भी वह मानो उन लोगों की बातें नहीं सुनता हो—खड़ा रहा। फिर इन लोगों की ओर मुड़कर बोला, "सूर्यास्त का समय हो गया। मन्दिर भी जाना है न? आप लोग कहते रहें और उसे सुनता खुश होता बैठा रहूँ तो उधर जाने का ध्यान ही नहीं रहेगा। सन्निधान आज्ञा दें तो अब यहाँ से चल सकते हैं।" कहकर मायण ने बात ही बदल दी।

सभी मन्दिर जाने के उद्देश्य से उठे और मार्ग में राजमहल में जाकर सेवकों को साथ लेकर वहाँ से मन्दिर जा पहुँचे।

श्री श्री आचार्य के शिष्यवृन्द का तिरुमलै के पेरुमालु वंश का तिरुवरंगदास लक्ष्मीनारायण मन्दिर का धर्मदर्शी था। उसने पट्टमहादेवी, रानी बम्मलदेवी, राजकुमार, राजकुमारी, दण्डनायक बिट्टियण्णा-सुव्वला आदि का पूर्णकुम्भ के साथ स्वागत किया। फिर प्राकार में प्रदक्षिणा करवाकर लक्ष्मीनारायण भगवान् के गर्भगृह के सामने के मण्डप में ले गया। यथाविधि पूजा-अर्चना सम्पन्न हुई।

छोटे नवरंग मण्डप में प्रसाद-वितरण की व्यवस्था की गयी थी। इसलिए धर्मदर्शी ने सब को वहाँ ले जाकर बिठाया। शान्तलदेवी ने कहा, "आप भी बैठिए, धर्मदर्शीजी।"

"ठीक है। बहुत समय से प्रतीक्षा कर रहे थे। आज प्रतीक्षा सफल हुई। यहाँ मूर्ति-स्थापना के बाद सन्निधान आयी नहीं थीं। मन्दिर-निर्माण, आचार्यजी की आकस्मिक अभिलाषा का फल है। शीघ्र पूरा कर देने का आचार्य ने आदेश दिया था। इसलिए बाहरी सौन्दर्य पर ध्यान नहीं दिया जा सका। पर इससे क्या, भगवान् के रहने का हर स्थान सुन्दर ही होता है। सुना है कि वेलापुरी में सन्निधान के नेतृत्व में भव्यतम मन्दिर बन रहा है, उसे देखने का भाग्य यथा-शीघ्र मिले, यही अभिलाषा है। महासन्निधान के विजयी होकर लौटने के इस शुभ अवसर पर वहाँ के भगवान् को विजयनारायण के नाम से अभिहित करें—यही आचार्यजी का अभिलाषा है।"

"उनका अभिमत हमेशा ठीक ही होता है। उनकी वाणी महासन्निधान के लिए वेद है। ऐसी दशा में वही किया जायेगा। श्री श्री आचार्यजी और आप सभी लोग तो मूर्तिप्रतिष्ठा के अवसर पर ही जाएँगे।"

"प्रतिष्ठा का समारम्भ कब हो सकेगा ?" धर्मदर्शी ने पूछा।

"महासन्निधान के साथ वहाँ हो आने के बाद एक दिन निश्चित करना होगा। फिर भी वह समय बहुत दूर नहीं।"

"उस दिन की ही प्रतीक्षा करता रहूँगा।"

"यदुगिरि में भी मन्दिर-निर्माण हो रहा है, उसका कार्य कहाँ तक हुआ है ?"

"सन्निधान को वहाँ ले जाने की इच्छा है। आचार्यजी की अभिलाषा है कि एक बार आप उसे देखें।"

"महासन्निधान के साथ विचार-विनिमय करेंगे। आचार्यजी का दर्शन किये एक साल से अधिक हो गया। यहाँ, आपके लिए सब सुविधाएँ हैं न ?"

"सचिव नागिदेवण्णाजी की व्यवस्था में किसी तरह की कमी का कोई प्रश्न ही नहीं है।"

"मुझे स्मरण नहीं कि मैंने इससे पहले आपको देखा हो।"

"हाँ, मैं आचार्यजी के आदेश के अनुसार तिरुमलै से यहाँ आया। हम चाहे कहीं रहें, भगवान् की सेवा ही में रहनेवाले हैं न ?"

"गान-सेवा करनेवाली वह कन्या ?"

"यहीं है। लक्ष्मी ! यहाँ आओ। सन्निधान बुला रही हैं।" उत्साह से धर्मदर्शी ने बुलाया। लक्ष्मी इठलाती, लजाती चंचल दृष्टि से देखती हुई आकर तिरुवरंगदास के पास आ खड़ी हुई।

"मधुर कण्ठ है। अच्छा गाती है। कहाँ सीखा ?"

"तिरुमलै में।"

"गुरु कौन हैं ?"

"वहाँ के पुजारीजी।"

"क्या-क्या सीखा है ?"

"भगवान् को अर्पित संगीत-सेवा के लिए जो चाहिए सब सीखा है।"

"तो शास्त्रीय ढंग से गाना नहीं सीखा।"

लक्ष्मी टिमटिमाती देखती रही। धर्मदर्शी ने कहा, "इस सबके लिए वहाँ समय ही नहीं था, सुविधा भी नहीं थी।"

"तो यह कन्या आपकी बेटी है ?"

"हाँ, बेटी की तरह पाला है।"

"उसके माँ-बाप ?"

"उसी को मालूम नहीं। एक दिन तिरुमलै के गालिगोपुर (हवा-बुर्ज) के पास रोती हुई खड़ी थी। मैं उसे ले आया और पालन-पोषण किया मैंने। आंडवन की कृपा से प्राप्त कन्या है—यही सोचता हूँ। उसे मालूम नहीं वह

वहाँ आयी कैसे ?"

"भगवान् की महिमा है। किसी तरह रक्षण करेगा ही।"

"उनके मन में क्या है कौन जाने ?"

"सो तो सच है।"

"पट्टमहादेवी को प्रणाम करो, लक्ष्मी ! सदा उनका आशीर्वाद तुम्हें मिलते रहना चाहिए।" धर्मदर्शी ने कहा।

लक्ष्मी ने उसके आदेश के अनुसार प्रणाम किया। शान्तलदेवी ने उसका सिर, पीठ सहलायी और कहा, "अच्छा पति मिले और सुन्दर जीवन हो।"

लक्ष्मी वहाँ से उठकर जानेवाली थी। शान्तलदेवी ने कहा, "बैठो !"

वह बड़े संकोच के साथ सँभलकर बैठ गयी।

प्रसाद बाँटा गया।

प्रसाद सेवन करते हुए शान्तलदेवी ने पूछा, "नगर की सजावट क्यों हो रही है—आप जानते हैं धर्मदर्शीजी ? सुना कि राजमहल का आदेश नहीं है।"

"कल लक्ष्मीनारायण भगवान् की रथ-यात्रा है। मंगलकार्य है। देव-दम्पती नगर की परिक्रमा करेंगे। इस अवसर पर घर-घर के लोग भक्ति-भेंट समर्पित करेंगे। इसलिए यह मन्दिर की ओर से अनुरोध हुआ है। इसीलिए यह सब हो रहा है। यह समाचार राजमहल तक नहीं पहुँचा है।"

"इस मन्दिर का कोई काम-काज राजमहल को ज्ञात नहीं होता ?"

"राजमहल चाहे तो बताया जा सकता है। फिलहाल हमने कोई ऐसी प्रथा नहीं रखी है। आचार्य के आदेश के अनुसार हम कैंकर्य करने आये हैं।"

"आचार्य का आदेश है कि राजमहल को न बतावें ?"

"कभी वे ऐसा कहेंगे ? उन्हें पोय्सल राजवंश पर अपार ममता है।"

"ऐसा है तो यूँ ही सही, सूचना तो देनी ही चाहिए थी न ?"

"आचार्यजी ने बताने का आदेश नहीं दिया था।"

"तो उन्होंने क्या आदेश दिया है ?"

"इस मन्दिर में आनेवाले आण्डवन के भक्तों को उनकी अपेक्षा के अनुसार पूजा-अर्चा करना, उन्हें यहाँ के कैंकर्य की विधि से परिचित करना, और भक्तों को दिन में प्रसाद वितरण करना अर्थात् अन्नदान करना।"

"इस व्यय के लिए धन-संग्रह कैसे करते हैं ?"

"सचिव नागिदेवण्णाजी राजकोष से धन देते हैं।"

"फिर भी राजमहल को समाचार देने की परिपाटी नहीं है ?"

"सन्निधान इच्छा करें तो भविष्य में सूचना भेजने की व्यवस्था कर सकेंगे।"

"राजकोष सचिव नागिदेवण्णाजी का अपना कोष नहीं है।"

"वह राजघराने का है, यह सबको पता है।"

"वह सार्वजनिक है। राजकोष में धरोहर के रूप में रखा गया है। इसलिए उस धन का विनियोग किस तरह किया जा रहा है, यह बात राजमहल को पता होना चाहिए और नगर के सभी लोगों को इसकी जानकारी होनी चाहिए।"

"नगर के सभी लोगों को पता है।"

"सो कैसे, आप अपने आण्डवन के भक्तों को ही बतायेंगे।"

"यहाँ केवल वे ही लोग आते हैं। इसलिए शेष लोगों को बताने से क्या लाभ है?"

"तो आशय यह हुआ कि मेरा आना ठीक नहीं हुआ न?"

"शान्तं पापं, शान्तं पापं, मैंने यों नहीं कहा न?"

"यहाँ आनेवाले केवल आण्डवन के भक्त हैं, कहा न?"

"हाँ।"

"मैं जिनभक्त हूँ।"

"तो क्या हुआ? महासन्निधान आण्डवन के भक्त हैं। उनकी पट्टमहादेवी अलग, महासन्निधान अलग—इस तरह हम आपकी पृथक् गणना नहीं कर सकते।"

"यह व्यक्तिप्रधान निर्णय हुआ। मुझे विषयप्रधान निर्णय चाहिए। मैं पट्टमहादेवी होने पर भी जिनभक्तिन हूँ। क्या आपकी इच्छा है कि जिनभक्तों को यहाँ नहीं आना चाहिए?"

"वे नहीं आते हैं; यही कहा।"

"क्यों नहीं आते हैं?"

"उन्हीं को बताना होगा।"

"तों जिनभक्तिन मैं कह सकती हूँ न?"

"सन्निधान की बात सदा मान्य रही है।?"

"सन्निधान को भूल जाइए। मुझे केवल जिनभक्त मात्र मानिए। तब कहिए कि मेरी बात कैसी लगती है; फिर अपनी राय दें। आप यहाँ आनेवालों के वस्त्र, माथे पर का तिलक देखकर उनका आदर करते हैं, वह भेद करने की रीति है। पोय्सल राज्य में यह रीति ठीक नहीं।"

"जैसी आज्ञा हो वैसा करेंगे। एक बार आचार्यजी से कहलवा दें तो हमें इस विषय में अधिक स्वतन्त्रता मिल जाएगी।"

"आचार्यजी को इसमें क्यों घसीटते हैं? यह मन्दिर किस तरह निर्मित हुआ? किस-किस ने इस निर्माणकार्य के लिए आर्थिक सहायता दी, आवश्यक सामग्री का दान दिया, श्रमदान किस-किसने किया; इस सबमें किस-किस भगवान् के भक्तों ने मदद की यह आपको पता है?"

"इस तरह विविध रूपों में मदद देनेवाले सभी को हम आण्डवन के ही भक्त

मानते हैं।"

"परन्तु वे सब आण्डवन के भक्तों का तिलक धारण नहीं करते न? उन लोगों को आप कैसे पहचानते हैं?"

"भक्तों को पहचानने के लिए बाह्याचार को छोड़ अन्य कोई उपाय नहीं।"

"आपके भक्तों को ही यहाँ अग्रस्थान देने का आदेश आचार्य ने दिया है?"

"आचार्यजी ने ऐसा आदेश नहीं दिया है परन्तु उनके आदेश का अर्थ तो वही होता है।"

"ऐसा है तो उन्हीं से बात करेंगे।" कहकर शान्तलदेवी उठ खड़ी हुई। शेष लोग भी उठ खड़े हुए।

"अच्छा, धर्मदर्शीजी, अब हम चलेंगे। कल के उत्सव में आचार्यजी आयेंगे?"

"पता नहीं। उनकी स्वीकृति के लिए सचिव नागिदेवण्णाजी से बिनती की है।"

"वे यदि पधारेंगे तो मुझे भी आचार्यजी के दर्शन का सौभाग्य मिलेगा।" धर्मदर्शी से कहकर वह आगे बढ़ी। बाकी लोगों ने उनका अनुसरण किया। धर्मदर्शी ने भी अनुसरण किया। मन्दिर के महाद्वार पर झुककर प्रणाम किया। और पूछा, "श्री आचार्यजी के उपचार से जो स्वस्थ हुई वह यही राजकुमारी है?"

"हाँ, उनके इस उपकार को हम कभी भूल नहीं सकेंगे।"

"फिर भी सन्निधान अपने को जिनभक्त कहेंगी तो विरोधाभास ही प्रतीत होगा न?"

जिन्हें सही जानकारी नहीं हो उनके लिए सब विरोधाभास ही है। इस पर अब चर्चा न करें।" कहकर शान्तलदेवी आगे बढ़ गयीं। सबने उनका अनुगमन किया।

राजमहल में पहुँचने के बाद बम्मलदेवी ने कहा, "वह धर्मदर्शी कुछ बातूनी मालूम पड़ता है।"

"वह अल्पज्ञ है, अन्धविश्वासी है। उसकी बातों को गम्भीरता से लेकर हमें अपने मन को कलुषित करने की आवश्यकता नहीं।" शान्तलदेवी ने कहा।

"वह कहता है कि आचार्यजी ने बताया है, आदेश दिया है...।"

"यह एक रोग है। बेचारे आचार्यजी को इसमें अनेक बातों का पता ही नहीं है। आचार्यजी का भी वही अनुभव है, जो हमारा है। अपनी बड़ाई दिखाने के लिए बार-बार आचार्यजी का नाम लेता है। तिरुमलै में शायद चामरधारी था; यहाँ धर्मदर्शी के पद को पाने का मार्ग जानकर ही आया होगा। फिर भी कहता है कि आचार्यजी के आदेशानुसार आया।"

"ऐसे लोगों से भलाई की जगह अधिक बुराई के होने की ही सम्भावना है।"

"इससे उसे तृप्ति होगी, बुराई क्या होगी?"

"उस नाम को, किस-किसके लिए कैसे-कैसे अवसर पर लेता है, इसपर उसका पर्यवसान होता है। फिर भी ऐसे लोग विश्वसनीय नहीं, मुझे तो यही लगता है।"

"हमें उससे क्या ? वह जाने, उसके आचार्य जानें, उनका धर्म जाने; उनका भगवान् जाने, उनका मन्दिर है, उनका कार्यक्षेत्र वहीं तक सीमित है। इससे बुरा होगा तो उसके धर्म का, उसके मन्दिर का और उसके आचार्य का।"

"ऐसी स्थिति में हमें जो प्रतीत हुआ उसे आचार्यजी को बता देना हमारा कर्त्तव्य नहीं ?"

"वे स्वयं पूछें तब कहना ठीक होगा। हम ही कहने जायें तो वह कान काटना होगा। हम अभी केवल कल्पना को ही लेकर चर्चा कर रही हैं। वास्तव में उसके मन में कोई बुरा उद्देश्य नहीं भी हो सकता है।"

"उसकी वह अति विनय, वह दिखावटी हँसी मुझे तो अच्छी नहीं लगी।"

"केवल इतने ही से हमें आदमी को नहीं माप लेना चाहिए। और फिर जब उससे हमारा कोई सरोकार ही नहीं तो इसपर सोचना ही अनावश्यक है।"

"जैसा मुझे लगा, मैंने कह दिया। ऐसी बातों में आपका-सा धैर्य मुझमें नहीं है।"

"ऐसी कुछ बातों में हमें कुछ उदारता बरतनी चाहिए, बम्मलदेवी। परन्तु इसका यह अर्थ नहीं कि हमें लापरवाही से बरतना चाहिए।"

"तब तो ठीक है। आप जब से आयीं हैं तब से मैं उस स्थपति के बारे में पूछना चाहती थी। उसके यादवपुरी आने और वहाँ से खिसक जाने आदि सारी बातें महासन्निधान ने मुझे बतायी हैं।"

"वे एक अत्युत्तम कलाकार हैं। सुन्दर कल्पनाएँ उनमें उत्पन्न होकर स्थायी बनती हैं। उन्हें अपने काम पर स्वतन्त्र रूप से छोड़ दें तो उत्तम कृति का निर्माण होता है। उनके जीवन में ऐसी कोई घटना घट गयी है जिसकी प्रतिक्रिया उनमें पैदा हुई है। उनकी इच्छा है कि वह बाहर प्रकट न हो। यदि उसे प्रकट करने का कहीं प्रयत्न होता हुआ जान पड़े तो वहाँ से दूर हट जाना ही श्रेष्ठ मार्ग है, यही उनकी भावना शायद होगी। हम शिल्पकार्य की बात छोड़कर दूसरा कोई विषय उनसे छेड़ते नहीं। उनके दायित्व में काम तेजी से चल रहा है। अनुशासन, संयम ये उनके गुण हैं जिनसे मैं अच्छी तरह परिचित हूँ।"

"युद्धक्षेत्र में जाने के बाद प्रारम्भिक दिनों में महासन्निधान उनके बारे में बहुत चिन्तित रहे। सोचते थे कि यदि बीच में छोड़ जाय तो क्या हो। आप राजधानी में ही रहीं और बलिपुर के ख्यात शिल्पी भी जो आपसे अच्छी तरह परिचित रहे उनके भी वहाँ रहने से उन्हें विश्वास-सा रहा कि किसी तरह काम चलेगा। बाद में जब कभी राजधानी से सूचना मिलती कि मन्दिर-निर्माण अच्छी प्रगति

पर है वे खुशी होते। उन्होंने समझ लिया था कि आपने स्थपति को मना लिया है।"

"यह लोगों की उदारता है कि लोग हमें प्रेम से देखते हैं। यह हमारा सौभाग्य है। स्थपतिजी भी हम जैसे मानव ही तो हैं। उनका कार्य हमें पसन्द आया। उनसे और अच्छा काम पा सकने के लिए आवश्यक सुविधाएँ हमने जुटा दी हैं। उनके वयक्तिक विषय से हम सरोकार नहीं रखते। बड़ी श्रद्धा से काम करते हैं।"

"उनका शील-स्वभाव कैसा है ?"

"वे अपने काम से काम रखते है। उनकी देखरेख के लिए हमने मंचणा को नियोजित किया है। वह तो उनसे बहुत प्रसन्न है। कहता है ऐसे कोमल-स्वभाव के व्यक्ति को देखा ही नहीं। उसे भी उनको समझने में कुछ समय लगा। पहले-पहल तो उनको कुछ कठोर और शीघ्र कोपी समझ रहा था। अब कहता है कि उनका हृदय बच्चे का-सा निर्मल और कोमल है। अनेक कारणों से किसी के विषय में कोई भावना उत्पन्न हुआ करती है। वह भावना स्थायी नहीं रह सकती। हमारा गुण यदि प्रेम करना हो तो हमें प्रेम मिलता है। यदि हमारा स्वभाव चिड़चिड़ा हो तो हमारे प्रति भी वही बरता जाता है। अपने बारे में ही सोच लो। आप लोगों को अपने निर्णय में शंका होती तो पोय्सल राज्य में आश्रय मिलता ? आपका मन निर्मल और निष्ठायुक्त है, इसे अपने व्यवहार से प्रमाणित कर दिया। खुले हृदय से व्यवहार किया। उसका फल आपको मिला। यदि मैं ईर्ष्या करती तो आप लोगों का मेरे प्रति द्वेषभाव हो जाना निश्चित बात होती।"

"आपसे द्वेष करनेवाले प्रेम के परम शत्रु होंगे।" बम्मलदेवी ने कहा।

इतने में भोजन के लिए बुलावा आया। शान्तलदेवी ने कहा, "आप लोग भोजन कर आइए। मेरे भोजन का समय तो निकल गया। सूर्यास्त के पहले ही हो जाना चाहिए था। भूल मेरी है। पहाड़ पर चढ़े, वहाँ अपने को ही भूल बैठे। इसी में रह गया।"

"आपको भूखी रखकर हम खायें ? यह संगत होगा ?"

"मेरे लिए मेरा धर्म एक मर्यादा देता है। आपके लिए आपका धर्म अनुकूल है। इसके कारण धर्मयुद्ध न करें। आप जाकर भोजन कर आयें। मैं आराम करूँगी।" शान्तलदेवी ने कहा। लाचार हो बम्मलदेवी भोजन करने चली गयी।

शान्तलदेवी कुछ ध्यान करती हुई पलंग पर लेट गयी। पता नहीं कब आँख लग गयी। बम्मलदेवी भोजन समाप्त कर लौटी तो देखा कि शान्तलदेवी नींद में हैं। सेविकाओं से सतर्क रहने के लिए कहकर वह स्वयं भी विश्राम करने के लिए अपने शयनकक्ष में चली गयी।

दूसरे दिन भोजन के समय महाराज बिट्टिदेव, सचिव नागिदेवण्णा, आचार्य के शिष्य आण्डान आदि यदुगिरि से यादवपुरी आये। राजमहल में प्रवेश करते ही पट्टमहादेवीजी के पहुँच जाने की बात महाराज को मालूम हुई। आण्डान महाराज की अनुमति लेकर धर्मदर्शी के यहाँ चला गया और सचिव अपने घर।

महाराज को पट्टमहादेवी से मिलने की तीव्र लालसा थी। वे उनसे मिलने के लिए उन्हीं के विश्राम-कक्ष में गये। वे वहाँ नहीं थीं। पता लगाने पर ज्ञात हुआ कि वे रानी बम्मलदेवी के साथ राजमहल की वाटिका में गयी हैं।

सेविका ने कहा, "जाकर बुला लाती हूँ।"

महाराज ने कहा, "हम स्वयं वहाँ जायेंगे। जल्दी भोजन की तैयारी हो।" वे वाटिका की ओर चल पड़े।

वाटिका के द्वार से उन्होंने प्रवेश किया ही था कि सामने से शान्तलदेवी और बम्मलदेवी आती हुई दिखायी पड़ीं। सामने आते हुए महाराज को देख दोनों मुसकुरायीं मानो उनका स्वागत कर रही हों।

"सन्निधान को यहाँ तक क्यों आना पड़ा? कहला भेजते तो स्वयं ही चली आतीं। सन्निधान के आने की बात हमें पता ही नहीं लगी। मेरे यहाँ आये दो दिन हो गये। कल पूरा समय पहाड़ पर बिताया; पुरानी स्मृतियों में खो गयी। सन्ध्या लक्ष्मीनारायण मन्दिर गयी। दर्शन किया। मैंने जिस उद्यान की योजना बनायी थी वह कैसा है, यह देखने की इच्छा हुई। सुबह के कार्यों से निपटकर अल्पहार सेवन के बाद इस तरफ चली आयी।" संक्षेप में शान्तलदेवी ने बताया।

मन्दहास से उनके स्वागत का उत्तर देने का प्रयत्न बिट्टिदेव का था मगर उनका मन शान्तलदेवी की बातों की ओर लग गया। मन्दहास लुप्त हो गया। सहज रीति से आगे फैला हुआ हाथ अपने आप ही समिट गया। उनकी ये क्रियाएँ शान्तलदेवी की दृष्टि से छिपी नहीं थीं। अर्थात् उन्होंने देख-समझ लिया था। फिर भी उन्होंने अपनी बात जारी रखी। विजययात्रा पर जाने के पश्चात् यही उनकी प्रथम भेंट थी। उस संदर्शन के सुख में कड़ुआहट न हो—यही वह सोच रही थी। ऐसा विचार करना उनके स्वभाव के अनुरूप ही तो था।

बिट्टिदेव ने प्रश्न किया, "वाटिका का विस्तार कैसा हुआ है?"

"यहाँ खड़े होकर बात करने के बदले राजमहल में ही चलकर बातें क्यों न की जायँ? सन्निधान मार्गायास की भी चिन्ता न कर यहाँ तक पधारे, इसके लिए हम कृतज्ञ हैं।" कहती हुई शान्तलदेवी राजमहल की ओर क़दम बढ़ाने लगीं।

बिट्टिदेव कुछ कहना चाहते थे मगर कह न सके, मन की बात मन ही में रह गयी। उन्होंने कहा, "भोजन का भी समय हो आया है, साथ-साथ सुबह से उद्यान में टहलते हुए थक भी गयी होंगी न? ठीक, वहीं चलेंगे।"

"थक जाने के लिए न तो हम वृद्धा हैं, न ही बच्ची।" बम्मलदेवी ने कहा।

बिट्टिदेव ने तुरन्त उत्तर नहीं दिया। । आगे बढ़ने से शान्तलदेवी रुकीं। बम्मलदेवी की ओर देख फिर बिट्टिदेव की ओर दृष्टि डाली। वह धीरे-धीरे आगे क़दम बढ़ाने लगे। बम्मलदेवी के कहने की रीति और महाराज का मौन इन दोनों के पीछे कुछ बात होगी—यों सोचकर शान्तलदेवी ने कहा, "जो भी हो; सन्निधान की पाणिगृहीता होकर हमने अपने सर्वस्व को अर्पित किया है न? उनकी इच्छानुवर्तिनी ही हैं हम। शायद सन्निधान को बहुत भूख लगी होगी। हमें भी पंक्तिलाभ देने की दृष्टि से इधर पधारे हैं। हाँ, चलो बम्मलदेवी।" कहती हुई आगे बढ़कर दासब्वे को पुकारा।

दासब्वे जो दूर थी, भागी-भागी आयी। "दौड़कर जाओ। शीघ्र ही भोजन की तैयारी करने को कहो; हम अभी आ ही रहे हैं।" शान्तला ने आदेश दिया।

"भोजन की तैयारी हेतु हमने अभी आदेश दिया है।" बिट्टिदेव ने कहा। उनकी ये बातें भागनेवाली दासब्वे को नहीं सुनायी पड़ी होंगी।

"देखा बम्मलदेवी, मैंने ठीक कहा न?" कहती हुई शान्तलदेवी मुस्करायीं और आगे बढ़ीं। बिट्टिदेव और बम्मलदेवी दोनों उनके पीछे चलने लगे।

भोजन मौन ही हुआ। बीच में एक-दो बार बिट्टियण्णा ने ही युद्ध के बारे में पूछने का प्रयत्न किया था। बिट्टिदेव ने पूछा, "क्यों, मायण और चट्टला ने कुछ नहीं बताया?"

"प्रत्येक अपनी जानकारी के अनुसार ही तो बता पायेगा। उससे पूर्ण चित्र उपस्थित नहीं होता। इसलिए अच्छा हुई कि सन्निधान के मुँह से सुनें।" बिट्टियण्णा ने कहा।

"रानीजी हमारे साथ युद्ध-शिविर में रहीं, उनसे पूछो; विस्तार के साथ बता देंगी।" कहकर बिट्टिदेव ने उस बात को वहीं समाप्त कर दिया।

बिट्टियण्णा ने पूछा, "हमें यहाँ तक बुलवाने का कारण···?"

"उसे अभी तक पट्टमहादेवी को ही नहीं बताया जा सका है, तुम्हें उनसे भी भी अधिक विकलता है। क्यों है न?" बिट्टिदेव ने कहा।

बात वहीं रुक गयी। आगे पूछने के लिए उसके पास और कुछ था ही नहीं। मौन में ही भोजन चला। उसके बाद सब अपने-अपने विश्रामकक्ष की ओर चले गये। सेविका ने आकर शान्तलदेवी से कहा, "आधे घण्टे के बाद सन्निधान ने यहाँ पधारने के लिए कहा है।"

"ठीक। बम्मलदेवी से कहो कि वे यहाँ आ जावें।" शान्तलदेवी ने कहा। सेविका चली गयी।

बिट्टिदेव के आने के पहले बम्मलदेवी वहाँ पहुँच चुकी थी। बिट्टिदेव को वहाँ उसकी अपेक्षा नहीं थी। दोनों ने उठकर महाराज का स्वागत किया। बिट्टिदेव ने हाथ आगे बढ़ाया। शान्तलदेवी ने उनका हाथ अपने हाथ में लेकर उन्हें पलंग

पर बिठाया। उन्होंने उनके हाथ को दबाकर पकड़ लिया।

शान्तलदेवी ने कहा, "ऐसी विकलता क्या...? सन्निधान विश्राम करने के बाद इधर आते या कहला भेजते तो मैं स्वयं उपस्थित हो जाती।"

"एक ही बात है। वाटिका कैसी है?" बिट्टिदेव ने पूछा।

"उसे देख-भाल करने का ज्ञान जिसे न हो, ऐसे की देखरेख में जैसी होना चाहिए वैसी ही है।"

"प्रारम्भिक योजना से कुछ अधिक विस्तृत है। अनेक तरह के पेड़-पौधे लगाये गये हैं। सुनता हूँ कि वे फल-फूल भी रहे हैं।" बिट्टिदेव ने कहा।

"फिर भी एक क्रमबद्ध योजना के अनुसार रूपित नहीं किया गया है। संख्या तो बढ़ी है। तरह-तरह के पौधे भी लगाये गये हैं। परन्तु उनकी ओर ध्यान कुछ कम ही दिया गया है, ऐसा लगता है।"

"ऐसी बात है? हमारा ध्यान तो उधर गया ही नहीं। अच्छा हो यदि मालियों को बुलवाकर उसे ठीक करवा दें।"

"सामने रहकर काम कराना है। प्रत्येक पौधे की क्यारी को स्वच्छ होना चाहिए। उसमें फूस को उगने नहीं देना चाहिए। उसके उगने पर असली पेड़ या पौधे को जो खाद दिया जाता है, उसे यह फूंस ही खा जायेगा। दिया जाने-वाला पानी तक यह फूस पी जायेगा। इस तरह की परोपजीवी कुछ बेलें भी उग आयी हैं। वे मूल वृक्ष का आश्रय लेती हैं, उन्हें ऐसे ही जीना है। परन्तु, उससे कभी-कभी मूल वृक्ष को अपना अस्तित्व ही मिटा लेना पड़ता है। इस तरह के परोपजीवी पौधे यहाँ बहुत हो गये हैं। माली की लापरवाही से ऐसा हुआ है। उसका ध्यान नये रोपे पौधों पर अधिक हो जाने के कारण पुराने पौधों की ओर उसकी उदासीनता होती गयी, इस वजह से ऐसे परोपजीवी पौधे पनप आये हैं। यही कारण है।" शान्तलदेवी ने कहा।

"तो एक गहन अध्ययन ही हुआ है, समझना चाहिए।" बिट्टिदेव ने कहा।

"अध्ययन करके ही जानने योग्य बारीक बातें तो हैं नहीं। देखते ही पता लग जाता है कि वे यहाँ बहुत हो गये हैं। यह बदनिका यहाँ आश्रय पाकर इतनी अधिक संख्या में बढ़ गयी है कि इससे बगीचे की सुन्दरता ही नष्ट हो जाने का भय हो गया है।" शान्तलदेवी ने कहा।

"वह सब तो हमारी दृष्टि में नहीं आया। ठीक करने के लिए आदेश दे देंगे तो हो जायेगा।" कहकर बिट्टिदेव मौन हो गये।

रानियों को लग रहा था कि बिट्टिदेव केवल बगीचे के ही बारे में बातचीत करने नहीं आये हैं, क्योंकि वह तो ऐसी उतावली का विषय नहीं था, यह उनकी समझ में आ ही चुका था। वे प्रतीक्षा करती रहीं कि वह आगे क्या कहेंगे, देखें।

बिट्टिदेव ने दो-तीन बार कुछ कहने का प्रयत्न किया, मगर मौन ही रहे।

किसी तरह की संदिग्धता के विना महाराज को यह संकोच क्यों ? यही सोचकर शान्तलदेवी ने कहा, "हम समझती हैं कि हमने प्रभु के विश्वास को खो नहीं दिया है।"

विट्टिदेव किसी धुन में ही थे। मौन तोड़ते हुए बोले, "हमने ऐसा कब कहा ? हमारा विश्वास अटल है।"

"ऐसा है तो संकोच किस बात का ? हमें लगा कि सन्निधान के हमारे पास इतनी शीघ्रता में आने के लिए कोई विशेष कारण तो होगा ही। सो भी रानी बम्मलदेवी से बात करने के बाद मुझे लगा है कि शायद विषय बहुत सूक्ष्म है— क्योंकि असली बात क्या है सो वह भी नहीं जानती हैं। इसीलिए उन्हें भी मैंने बुलवाया है।" शान्तलदेवी ने कहा।

"अच्छा हुआ !" कहकर विट्टिदेव फिर मौन हो गये।

"सुना कि राजलदेवी के पास भी बुलावा भेजा गया है ?" शान्तलदेवी ने प्रश्न किया।

"हाँ, जो भी बात होगी सबसे विचार-विनिमय करने के बाद ही निर्णय करना होगा; इसीलिए यह सब किया है।"

"तो उनके आने तक प्रतीक्षा करेंगे।" शान्तलदेवी ने कहा।

"अब तक आ ही जाना चाहिए था।" बम्मलदेवी ने कहा।

"दूर से आना है। कभी-कभी यात्रा जैसी चाहते हैं वैसी नहीं हो पाती। इसलिए तब तक प्रतीक्षा करते बैठना शायद नहीं होगा।"

"ऐसी जल्दी है ?"

"हाँ, हम किसी काम को पट्टमहादेवी की सम्मति के विना नहीं करते।"

"पट्टमहादेवी भी सन्निधान की आशा-आकांक्षा को पूर्ण करने में सहयोग देनेवाली ही तो है।" शान्तलदेवी ने कहा।

"इसके लिए रानी बम्मलदेवी साक्षी हैं न ?" विट्टिदेव ने कहा।

"तो क्या अब सन्निधान एक और रानी बनाना चाहते हैं ?" शान्तलदेवी ने सीधा प्रश्न किया।

"इसे इस तरह का अर्थ देने की आवश्यकता नहीं।" बिट्टिदेव ने कहा।

"चोल राजकुमारी से विवाह करने जैसी कोई परिस्थिति पैदा हो गयी है ?"

"इस तरह की सलाह होती तो हम पहले ही अस्वीकार कर देते।"

"क्यों ? अगर वह राजनैतिक स्थिरता का मार्ग प्रशस्त करनेवाली हो तो क्यों अस्वीकार करेंगे ?" शान्तलदेवी ने प्रश्न किया।

"चोल वैष्णव-द्वेषी हैं।"

"आचार्यजी ने ऐसा तो नहीं बताया था न ?"

"वे सबको समान रीति से देखनेवाले हैं। वास्तविक स्थिति का तो उनके

शिष्यवर्ग से हमें पता चला है। इस कारण से उनका सम्बन्ध हमें सम्मत नहीं लगा।"

"तो अब सम्भावित सम्बन्ध ?"

"वह धर्म से सम्बन्धित है।"

"तो बात यह कि आचार्य की पन्थानुयायी भी एक रानी होनी चाहिए। यही न ?"

"हमने स्वयं नहीं चाहा। ऐसी एक सलाह हमारे पास आयी है।"

"किससे ? श्री आचार्यजी से ?"

"उनसे सीधे यह सलाह नहीं आयी है। परन्तु इस सलाह के वे विरोधी नहीं। आण्डवन की ऐसी इच्छा हो तो उसे कौन रोक सकता है—वे यही कहते हैं।"

"तो निर्णय कर लेना। हमारी राय की क्या आवश्यकता है ?"

"यों असन्तोष प्रकट करेंगी···?" बिट्टिदेव ने बात को अधूरा ही छोड़ दिया।

"रानी बम्मलदेवी और राजलदेवी ने जब कहा कि सन्निधान ने जिस धर्म को स्वीकार किया, वही हमारा है। तब यह सलाह उचित है ?"

"मूलतः सभी विषयों को जाननेवाली जन्मतः वैष्णव एक रानी हो तो अच्छा है—यही यहाँ के लोगों की राय है।"

"गंगराज क्या कहते हैं ?"

"उनसे पूछना होगा ?"

"वे क्योंकि वृद्ध हैं। पोय्सल राज्य की प्रगति के लिए ही अपने जीवन को उन्होंने धरोहर बना रखा है।"

"हमारे बड़े भैया की क्या हालत हुई ? गंगराज की भानजियाँ ही रानियाँ बनी थीं न ?"

"सन्निधान का मन ऐसा क्यों हुआ ? उनकी भानजियों ने जो भूल की उसके लिए गंगराज कैसे उत्तरदायी हैं। इस तलकाडु के युद्ध में विजय के लिए कारण कौन हैं ?"

"पट्टमहादेवी यदि यह चाहेंगी तो उनसे भी सलाह ले लेंगे। पहले यह पता हो कि पट्टमहादेवी की क्या राय है ?"

"इस विषय में पट्टमहादेवी अपनी राय न भी दे तो भी महासन्निधान की इच्छा का विरोध नहीं करेंगी।"

"विरोध नहीं करने का अर्थ यह नहीं कि स्वीकृति है। पट्टमहादेवी को इससे असन्तोष होता हो तो हम···"

"पट्टमहादेवी का जीवन पवित्र प्रेम से परिपूर्णता को प्राप्त कर चुका है। अब तो कोई दैहिक लालसा रही नहीं। ऐसी स्थिति में ईर्ष्या या असन्तोष

भला क्यों होगा? सन्निधान की किसी भी इच्छा का विरोध ही नहीं रहता। निर्णय सन्निधान का ही है। रानी बम्मलदेवीजी की राय···?"

"उसकी ज़रूरत नहीं। मेरी राय की आवश्यकता होती तो सन्निधान मुझसे पहले बातचीत कर सकते थे। मैं साथ रही, तब भी इस विषय से मुझे दूर ही रखा गया तो मेरी राय की आवश्यकता नहीं; यह स्पष्ट है।" बम्मलदेवी ने कुछ असन्तुष्ट स्वर में ही कहा।

"न, न, सन्निधान के मन में इस तरह की भावना कभी नहीं रहती। ऐसा होता तो राजलदेवी को क्यों बुलाया जाता?" शान्तलदेवी ने कहा।

"यह वे ही जानते हैं। हम तो पट्टमहादेवी के ही अनुयायी हैं।" बम्मलदेवी ने कहा।

"तात्पर्य···" बिट्टिदेव ने पूछा।

"शुभस्य शीघ्रं" शान्तलदेवी ने कहा।

"देवी आपकी उदारता के हम ऋणी हैं। किसी विजय के उन्माद में मैंने आचार्यश्री को वचन दे दिया। उसे पालन करने में तुमने यह सहायता की है। अपने उस उन्माद का बोध बाद को हुआ। लेकिन तब समय बीत चुका था।"

"पहले भी तो सन्निधान ने यही किया था न? वह जल्दबाजी ही इस मतान्तर के लिए कारण हुई न? एक विनम्र निवेदन है। सन्निधान चाहे कितने ही विवाह कर लें, मुझे कोई आपत्ति नहीं। परन्तु उन विवाहों के साथ धर्म का गठबन्धन न हो। अब तक पोय्सल राज्य में विविध धर्मों के होते हुए भी उनमें एकता ही रही है। वह एकता इस धर्मान्धता के बहाव में कहीं गड़बड़ा न जाये। हम सबके स्वहित से भी बढ़कर है राष्ट्रहित।" शान्तलदेवी ने कहा।

"क्या करना होगा? इस विषय पर पट्टमहादेवी के क्या विचार हैं?"

"पाणिग्रहण कर लीजिए। उस पर धर्म की मुद्रा लगाकर उसके प्रचार के लिए अवसर न दें।"

"इसका तात्पर्य···"

"बिना किसी धूम-धाम के यह विवाह मन्दिर में देवसान्निध्य में हो। आचार्यजी आयेंगे ही?"

"नहीं, वे नहीं आयेंगे। उनके शिष्य आण्डान आये हैं।"

"सन्निधान के मन पर से भार उतर गया न? अब विश्राम करने में क्या बाधा है?" शान्तलदेवी ने कहा।

बिट्टिदेव वहीं बैठे रहे।

"और भी कोई बात है?" शान्तलदेवी ने फिर प्रश्न किया।

"नहीं, कुछ नहीं!" कहकर वह उठ खड़े हुए। रानियाँ भी उठ खड़ी हुईं।

बिट्टिदेव धीरे से दरवाज़े की ओर क़दम बढ़ाने लगे। द्वार खोलने के लिए

बम्मलदेवी जल्दी-जल्दी द्वार की ओर बढ़ी। बिट्टिदेव ने खड़े-खड़े ही कहा, "देवी, तुम्हारी यदि इच्छा न हो तो यह नहीं होगा।"

"मैंने ऐसा तो नहीं कहा न ?"

"वह कौन है, यह बात जानने का उत्साह ही यदि तुममें न हो तो उसके बारे में तुम्हारे मन में कैसी भावना हो सकती है, इसकी हम कल्पना कर सकते हैं।"

"विवाह तो सन्निधान करनेवाले हैं। उत्साह उन्हें हो। लेकिन सन्निधान को जो प्रिय है, वही हमें भी है। वह कौन है, इसे जानने का कुतूहल शंका के लिए कारण हो सकता है। इसलिए जानने के लिए कोई शीघ्रता नहीं है। परन्तु सन्निधान ने यह नया चुनाव कैसे किया, यह बात जानने का कुतूहल है। प्रतीक्षा कर उस भाग्यशालिनी को देखने तक संयम से रहेंगे, इसीलिए नहीं पूछा।" शान्तलदेवी ने समाधान दिया।

"वह कन्या···"

बिट्टिदेव की बात को वहीं रोककर शान्तलदेवी ने कहा, "सन्निधान को भी शीघ्रता करने की आवश्यकता नहीं। पाणिग्रहण के ही अवसर पर प्रथम बार देखने की हमारी इच्छा है। इसलिए उस बारे में कुछ भी न कहें।" शान्तलदेवी ने कहा।

"जैसी तुम्हारी इच्छा···" कहकर बिट्टिदेव द्वार की ओर चल दिये। बम्मलदेवी ने द्वार खोला। बिट्टिदेव के चले जाने के बाद उसने द्वार बन्द कर दिया। दोनों पलंग की ओर चल दीं।

बैठती हुई बम्मलदेवी ने शान्तलदेवी से कहा, "आपने इस विवाह के लिए सहमति दे दी, यह बहुत आश्चर्य की बात है!"

"क्यों ? ऐसा तुमको क्यों लगा ?"

"आपने अस्वीकार किया होता तो अच्छा होता—ऐसा मुझे लग रहा है, इसलिए।"

"तुम्हारे विवाह के समय भी मैं यही बात कह सकती थी।"

"वह मेरा भाग्य है।"

"ऐसा समझने के लिए, तुम्हें अधिकार मात्र की चाह नहीं, यह तुमने अपनी उदारता से प्रमाणित कर दिया है। नहीं तो क्या राजलदेवी रानी बन सकती थी ?"

"मेरे और राजलदेवी के जीवन की रीति ही एक तरह के विचित्र मेल से जुड़ी है। उसके हिय को छोड़कर मैं कुछ भी नहीं सोचती, न सोच ही सकती हूँ।"

"ऐसा है, तो सन्निधान का हित ही हमारा हित है—ऐसा सोचने में भला

गलत क्या है?"

"सो तो ठीक है। आप अब अपनी सन्तान द्वारा अपने दाम्पत्य जीवन में एक परिपूर्णता पा चुकी हैं। परन्तु मैं और राजलदेवी इस विषय में अभी भी अपूर्ण हैं। इस स्थिति में···" बम्मलदेवी कहते-कहते रुक गयी।

"इस विवाह को मना करने का स्वातन्त्र्य तुमको भी था न? खुलेपन से कह सकती थी न?"

"आपकी स्वीकृति पर भी मैं अस्वीकार करती तो मुझे निकृष्ट दृष्टि से देखे जाने की सम्भावना थी इसलिए नहीं कहा।"

"इस तरह की आत्मवंचना करने से सुख नहीं मिलता। अब भी समय है। सन्निधान से अपने अन्तरंग की बात कह सकती हो।"

"उनके समक्ष स्वीकार कर अब विरोध करें?"

"इस तरह हम अपने को विषम स्थिति में डालकर घुलते रहें···?"

"अब आगे···?"

"जिसे स्वीकार कर लिया उसके अनुसार अपने जीवन को बना लेना। नहीं तो राजलदेवी के आने पर उनसे विचार-विनिमय करके आगे का कार्य-क्रम निश्चित करना।" शान्तलदेवी ने कहा।

बात यहाँ तक आकर रुक गयी। थोड़ी देर मौन रहा। बाहर से घण्टी की ध्वनि सुन पड़ी। बम्मलदेवी ने द्वार खोला। देखा कि राजलदेवी और उदयादित्य द्वार पर खड़े हैं। मुस्कुराते हुए उसने दोनों का स्वागत किया।

"सन्निधान को हमारे आने की सूचना दी जा चुकी है। आप दोनों के यहाँ होने की बात मालूम हुई तो सीधे यहीं चले आये।" उदयादित्य ने नम्रता से कहा।

"अच्छा हुआ। हाथ-मुँह धो-धाकर वस्त्र बदलकर आ जाइए। सब एक साथ अल्पाहार करेंगे।" शान्तलदेवी ने कहा। दोनों जाकर शीघ्र ही लौट आये। राजलदेवी सज-धजकर ही आयी थी।

"इस तरह शीघ्र ही बुलाने का क्या कारण है?" राजलदेवी ने पट्टमहादेवी से पूछा।

"क्यों, उदयादित्यरस ने नहीं बताया?"

"नहीं, कहते हैं कि कुछ भी पता नहीं। सन्निधान का आदेश हुआ, आ गये। ये उस राम के योग्य भाई लक्ष्मण हैं न?" राजलदेवी ने कहा।

"लक्ष्मण हैं सही। परन्तु, राम राम नहीं हैं न?" शान्तलदेवी ने कहा।

राजलदेवी ने आश्चर्य से पट्टमहादेवी की ओर देखा। उसे बड़ा आश्चर्य हुआ कि पट्टमहादेवी के मुँह से ऐसी बात भी निकल सकती है। एक तरह की शशंक दृष्टि से शान्तला को देखने लगी।

"क्यों, मेरी बात ठीक नहीं जँची ? मैंने सन्निधान पर आक्षेप नहीं लगाया। सच्ची बात कही। राम एक पत्नीव्रत रहे न ?" शान्तलदेवी ने कहा।

"तो अर्जुन कहिए !" राजलदेवी ने कहा।

"हाँ, यह ठीक है। तुलना बराबर है। अब उन्हें एक चित्रांगदा मिलनेवाली है। इसीलिए यह बुलावा है।" शान्तलदेवी ने कहा।

"पट्टमहादेवी ने स्वीकृति दे दी ?"

"उनकी स्वीकृति कभी की मिल गयी है। आपके और बम्मलदेवी के विवाह की स्वीकृति दे चुकने के बाद, प्रभु के मन में जो बात उठती है, उसे अस्वीकार करने के अपने अधिकार को मैंने तिलांजलि दे दी है। अब तो यह बताओ कि तुम क्या कहती हो ?" शान्तलदेवी ने पूछा।

"मुझसे हो सकता हो तो मैं मना करती हूँ। परन्तु जब आपने मान लिया है तो मेरी बात का मूल्य ही क्या होगा ?" राजलदेवी ने कहा।

"मैंने इसी कारण से स्वीकार कर लिया। परन्तु तुम्हारे स्वातन्त्र्य को मैं छीनना नहीं चाहती।" बम्मलदेवी ने कहा।

"तुम्हारी क्या राय है ?" शान्तलदेवी ने उदयादित्य से पूछा।

"मुझे तो असल में क्या बात है यही मालूम नहीं। मैं क्या कहूँ ?" उदयादित्य बोला।

शान्तलदेवी ने सारी बात बता दी।

"ऐसी स्थिति में किसी की भी राय को कोई मान्यता नहीं मिलेगी। पट्टमहादेवीजी यदि पहले अस्वीकार कर देतीं तो अच्छा होता। पट्टमहादेवीजी ने ऐसा क्यों किया यह मुझे समझ में नहीं आ रहा है।" उदयादित्य ने कहा। वह कुछ चिन्तामग्न हो गया।

"सम्पूर्ण पोय्सल राज्य पट्टमहादेवी की राय पर टिका है—ऐसा कहनेवाले लोगों की रीढ़ की हड्डी ही टूट गयी है—यह कहना पड़ता है। पट्टमहादेवी राज्य के इस भारी रथ का एक अंग अवश्य हैं, पर वही सब कुछ नहीं हैं। पट्टमहादेवी ऐसा नहीं समझतीं कि वही सबकुछ हैं, और उन्हीं की बात अन्तिम है। उन्हें ऐसा अहंकार नहीं। उन्हें ऐसा लगा कि इससे कोई बाधा नहीं होगी। मान लिया। जो समझते हैं कि बाधा है वे उन्मुक्त मन से चर्चा करें।" शान्तलदेवी ने कहा।

"मुझमें साहस है या नहीं, इसे पट्टमहादेवी ही देख लें। सभा बुलाने के लिए कहूँगा। उस मन्त्रालोचन सभा में बताऊँगा, अपनी राय चाहिए।"

"ऐसा करने पर तुम्हारा मन तृप्त होगा। किसी के प्रभाव में आकर एक बार मान कर कल फिर असमंजस में नहीं पड़ना चाहिए।" शान्तलदेवी ने कहा।

राजलदेवी ने भी उदयादित्य की ही तरह राय बतायी।

"तुम दोनों बहनें पहले आपस में विचार-विनिमय कर लो। और एक निर्णय

पर पहुँच जाओ। बाद में आगे क्या हो, इस बात पर विचार करेंगे। उदयादित्य-रस जी के कहे अनुसार करेंगे तो किसी के भी मन में तरह-तरह से सोचने के लिए जगह ही नहीं रहेगी।" शान्तलदेवी ने कहा।

सब लोग थोड़ी देर तक मौन बैठे रहे।

बाद में शान्तलदेवी ने युद्ध के बारे में बताने के लिए उदयादित्य से कहा। जो कुछ जाना था सो विस्तार के साथ वह बताने लगा। इसी बीच अल्पाहार का बुलावा आ गया। सब उठकर चले गये।

वहाँ उदयादित्य और राजलदेवी को देखकर मुस्कुराते हुए बिट्टिदेव ने उनका स्वागत किया और कहा, "बहुत शीघ्र और बड़े वेग से यात्रा करके आये होंगे?"

"राजकार्य होता ही ऐसा है न?" उदयादित्य ने कहा।

उसके कहने के ढंग ने बिट्टिदेव की दृष्टि को उदयादित्य की ओर आकर्षित किया। उदयादित्य के चेहरे पर जो चिन्ता के भाव थे वे अभी पूरी तौर से दूर नहीं हो सके थे।

"यात्रा में कोई बाधा तो नहीं पड़ी?" कहते हुए बिट्टिदेव ने राजलदेवी की ओर दृष्टि डाली।

वह सिर झुकाये, मौन अपना अल्पाहार ग्रहण करती रही।

बिट्टिदेव को लगा कि इन्हें भी बात का पता लग चुका है। उसी की अभिव्यक्ति हो रही है।

उन्होंने कहा, "उदय! जलपान के बाद तुम्हें अवकाश हो तो हमारे अन्तःपुर में आओ।"

"जैसी आज्ञा!" उदयादित्य ने इतना ही कहा। फिर किसी ने कुछ नहीं कहा।

मौन ही उपाहार चला और समाप्त भी हुआ। बिट्टिदेव पहले चले गये बाद में उदयादित्य वहाँ से उनके यहाँ जा पहुँचा।

"बैठो उदय!"

वह खड़ा ही रहा। बिट्टिदेव ने सीधा प्रश्न किया, "तुम्हें भी कुछ असन्तोष है क्या?"

उदयादित्य ने कहा, "सन्निधान पट्टमहादेवी को इस तरह पीड़ा पहुँचायेंगे इसकी मुझे स्वप्न में भी कल्पना नहीं थी। क्षमा करें। मैं छोटा हूँ। सलाह देने की योग्यता मुझमें नहीं है। परन्तु मुझे जो लगा उसे कहे बिना नहीं रह सकता, मैं अपने को धोखा नहीं देना चाहता। सन्निधान सर्वाधिकारी हैं। उनसे कौन कुछ कह सकता है? फिर भी, हमारे पूर्वज इतने स्वतन्त्र होकर कोई काम नहीं किया करते थे। सन्निधान भी उन्हीं के मार्ग पर चलें, यही मेरी विनती है। निर्णय जो भी हो, सबकी सम्मति से हो। कल एक मन्त्रालोचना सभा हो। सबकी राय लेकर

निर्णय किया जाय।"

"कल सभी आयेंगे। तुम्हारी राय क्या है सो बताओ?"

"इस तरह अलग-अलग राय लेने की पद्धति ही ठीक नहीं। यह विचार-विनिमय की रीति नहीं। पट्टमहादेवी से स्वीकृत करवाकर सबको संदिग्ध स्थिति में डालना क्या ठीक है? सन्निधान को सोचना चाहिए।"

"हमने यह तो नहीं कहा कि पट्टमहादेवी की ही राय सबकी हो।"

"नहीं कहा। परन्तु प्रकारान्तर से यही अर्थ होता है। सन्निधान ने मेरी राय माँगी, इसलिए कहे देता हूँ। राजकुमारी स्वस्थ हुईं, वह एक चमत्कार था। वह स्थिति ही अलग थी। अब इस धर्मधुरन्धर की बात सन्निधान को नहीं मानना चाहिए।"

"उदय! आज तुम, पता नहीं क्यों, पूर्वाग्रहग्रस्त होकर बातें कर रहे हो। हमने पर्याप्त विचार किया है। इस विवाह से कोई बाधाएँ नहीं खड़ी हो जायेंगी।"

"राज्य निर्वहण का दायित्व रखनेवाले सभी लोगों की वैसी राय हो, तब सन्निधान के लिए भी अच्छा होगा, हमें भी अच्छा होगा। तो कल आलोचना-सभा......"

"तुम ही व्यवस्था करो! जैसा तुमने कहा, तब वह दायित्व हमारे अकेले पर नहीं पड़ेगा।"

"ठीक! तो अब आज्ञा हो" कहकर, प्रणाम कर उदयादित्य वहाँ से चल पड़ा और दूसरे दिन की व्यवस्था में लग गया।

इधर रेविमय्या—पट्टमहादेवी अकेली अपने विश्रान्ति-गृह में ऐसा समझकर उनके दर्शन के लिए आया।

"क्यों रेविमय्या? तुम दिन-ब-दिन दूर होते जा रहे हो?" शान्तलदेवी ने पूछा।

यह सुनते ही उसकी आँखें भर आयीं। शान्तलदेवी ने इसे देखा, कहा कुछ नहीं। थोड़ी देर बाद उसने कहा, "मैंने चाहा कुछ, हो कुछ रहा है। मेरा सपना ही कांच की तरह चूर-चूर हो गया।" वह भावविह्वल हो आया।

"अब क्या हुआ है?"

"जो नहीं होना चाहिए वही हुआ है। पहले तो बम्मलदेवी और राजलदेवी के विवाह के लिए ही सम्मति नहीं देनी चाहिए थी। अब एक और विवाह के लिए भी सम्मति हो तो पट्टमहादेवी का क्या बच रहा? सन्निधान के दूसरे विवाह से आपने संन्यास स्वीकार कर लिया है। उस संन्यास ने आप दोनों को दूर कर दिया है। ऐसा नहीं होना चाहिए था। मेरे विचार से महामातृश्री की इच्छा यही थी कि आप दोनों का दाम्पत्य-जीवन आदर्श बने। मेरे मन की अभिलाषा भी वही थी। इसके लिए भगवान् बाहुबली का आशीर्वाद भी था। परन्तु यह क्या? यह

तो विवाहों की हाट ही लगती जा रही है। कह सकते हैं यह क्रम कहाँ जाकर रुकेगा? यह आज एक छोटी बात लग सकती है। कल यह राजनैतिक संघर्षों का भी कारण बन सकती है। मेरे मन के किसी कोने में ऐसा लग रहा है कि अब बुरा समय आने ही वाला है। अब भी अगर पट्टमहादेवी चाहें तो यह टल सकता है।"

"रेविमय्या! तुम्हारे सभी विचार मुझे ज्ञात हैं। मुझे यह पता है कि कभी भी तुम्हारा मन बुरी बात सोचता ही नहीं। परन्तु इसमें तुम मेरे बारे में वात्सल्य भाव से सोच रहे हो। तुम्हारे इस भाव के लिए मैं कृतज्ञ हूँ। तुम जैसे निर्मल मन के व्यक्ति के प्रेम से बढ़कर मेरे लिए या मेरे बच्चों के लिए कुछ और नहीं है। तुमसे इतना ही चाहती हूँ। सन्निधान सन्निधान न हुए होते तो बात कुछ और होती। सन्निधान का मुझपर जो प्रेम है वह तुम्हारे मन में जब विचार उत्पन्न हुआ था, तब जैसा था अब भी वैसा ही है। मेरे संन्यास का अर्थ वे भी समझते हैं। राजनैतिक और धार्मिक एकता के लिए न चाहने पर भी कुछ काम करने पड़ते हैं। सन्निधान को भी ऐसे प्रसंग में सन्दिग्धता के वश हो व्यवहार करना पड़ता है। इसलिए सब एक मन होकर उन्हें सहयोग दें। यदुगिरि में क्या हुआ? वह कन्या कौन है?"

"यह बात पट्टमहादेवीजी को पता नहीं?"

"नहीं।"

"तब इसका यही अर्थ है कि सन्निधान ने नहीं बताया। अब मैं बताऊँ तो ठीक होगा?"

"न, वह ठीक नहीं। पट्टमहादेवी होकर मैं सन्निधान की इच्छा के अनुसार नहीं चलूँ तो मेरे इस पद की मर्यादा ही क्या है?"

"ठीक है, अब मैं नहीं बोलूँगा।"

"अच्छा हो, मेरे और मेरी सन्तान के लिए तुम्हारा प्रेम इसी तरह बराबर बना रहे।"

"इस रेविमय्या का जीवन आप और सन्तान के लिए सदा-सदा के लिए अर्पित है। इस सम्बन्ध में तो सोचना ही नहीं चाहिए।"

"बहुत है यही। तुम्हें यादवपुरी में आये कितना समय हुआ?"

"दो-तीन घण्टे हुए होंगे।"

"अब हमारी याद आयी?"

"केवल देख लेना मात्र मेरे लिए पर्याप्त नहीं। एकान्त में मुक्त मन से बात करनी थी इसलिए प्रतीक्षा करना अनिवार्य था, दूसरा चारा नहीं था। मिलने में विलम्ब के लिए क्षमा करें।"

"अच्छा यह सब रहने दो। बच्चों से मिले?"

"हम सब अभी तक उद्यान में ही तो थे। उनका ही मन बहला रहा था।"

"अच्छा किया। उदयादित्य अरस जी कहाँ हैं?"

"कल की व्यवस्था में लगे हैं।"

"लगता है सन्निधान को मना लिया है।"

"आपकी स्वीकृति के बाद सभी की क्या आवश्यकता थी?"

"किसी के भी मन में इस विषय में सन्देह न रहे। मुक्त मन से विचार-विनिमय करके निर्णय हो जाय तो यह विषय किसी के मन में रहकर कष्ट नहीं देगा। इसलिए यह सभा होनी ही चाहिए।"

"तो क्या यह पट्टमहादेवी की सलाह है?"

"ऐसा कुछ नहीं है। क्या मुझसे यह सब हो सकता है?"

"ठीक है। परन्तु एक पुरानी बात याद आ रही है। तब क्या हुआ था सो शायद पट्टमहादेवी को पता नहीं होगा।"

"कब?"

"बड़े महाराज विनयादित्य ने प्रभु युवराज एरेयंग प्रभु को पट्टाभिषिक्त करने की इच्छा प्रकट कर निर्णय के लिए सभा बुलवायी। उस सभा की समाप्ति ने बहुत-से लोगों के मनों में कटुता भर दी।"

"यह बात मुझे बाद में पता लगी। सभी प्रसंगों में एक ही तरह का परिणाम होगा—ऐसा नहीं सोच सकते रेविमय्या! और फिर जैसी ईश्वरेच्छा होगी, वैसा ही होगा।"

"ठीक"।

तभी भोजन के लिए बुलावा आ गया। शान्तलदेवी भोजन करने चली गयीं।

दूसरे दिन दोपहर को सभा बैठी। प्रधान गंगराज, पुनीसमय्या, सुरिगेय नागिदेवण्णा, दण्डनायक, बिट्टियण्णा, आण्डान, धर्मदर्शी तिरुवरंगदास, उदयादित्य, पट्टमहादेवी शान्तलदेवी, रानी बम्मलदेवी, रानी राजलदेवी; सभी सभा में उपस्थित रहे। महाराज बिट्टिदेव तो थे ही।

सारी बातों पर खुलकर विचार हुआ। उदयादित्य ने कहा, "इस विवाह की आवश्यकता नहीं। पोय्सल राज-घराने में धर्म के नाम से किसी कार्य को धूम-धाम से मनाने की परिपाटी नहीं है। कल यही छोटों के हाथ अस्त्र बनकर धर्म-जिज्ञासा, ऊँच-नीच, श्रेष्ठ-अश्रेष्ठ—इस प्रकार के वाद-विवाद के लिए अवसर देकर परस्पर ईर्ष्या-द्वेष उत्पन्न करने का साधन बन जायेगा। इसलिए अभी सन्निधान इस पर पुनर्विचार करें तो अच्छा है।" इस ढंग से उन्होंने अपनी राय प्रस्तुत की।

गंगराज ने कहा, "राजाओं की अनेक रानियाँ रह सकती हैं, इसके लिए

समाज ने स्वीकृति दी है। राजा ही क्यों, हम जैसे सामाजिकों को भी वह छूट है। ख़ुद मेरी ही दो पत्नियाँ रहीं। ऐसी स्थिति में विवाह का विरोध हम नहीं कर सकते। परन्तु ऐसे विवाहों में राजनैतिक कारणों की ओर विशेष ध्यान दिया जाना परम आवश्यक है। इसी प्रकार हमारा बल बढ़ाने में हार्दिक सहायता मिलने के कारण रानी बम्मलदेवी और रानी राजलदेवी भी आज पोय्सल रानियाँ बनी हैं। इसके लिए पट्टमहादेवी ने सम्मति दी। परन्तु उदयादित्यरस के अनुसार धर्म के नाम से यह काम होना उचित है या नहीं, यह विचारणीय है। उनके कथन के अनुसार सूक्ष्म धार्मिक बातों को लेकर संकीर्णता बढ़े तो उससे राष्ट्र के लिए संकट हो सकता है और फिर, पोय्सल राष्ट्र का नाम मत-सहिष्णुता के लिए प्रसिद्ध है। उससे किसी के आन्तरिक या सामाजिक अथवा राजनैतिक जीवन में कभी कोई अड़चन नहीं रही है।"

सुरिगेय नागिदेवण्णा ने कहा, "आचार्यजी के पोय्सल राज्य में आने के बाद धार्मिक चेतना जाग्रत हुई है, वह किसी तरह के ईर्ष्या-द्वेष का कारण नहीं बनी है। अनावश्यक बातों को सोचकर आशंकित होना अच्छा नहीं। इसमें सबसे मुख्य बात सन्निधान की इच्छा है। हम सब सन्निधान के इच्छानुवर्ती हैं न? सन्निधान इस सम्बन्ध में पूर्वापर विचार कर चुके हैं। तब यह हमारा कर्तव्य है कि हम उन्हें प्रोत्साहन दें।"

पुनीसमय्या ने कहा, "विवाह सन्निधान का अपना विषय है। इस विषय में उनके परिवारियों की स्वीकृति हो तो इस विषय पर चर्चा की आवश्यकता ही नहीं।"

बिट्टियण्णा मौन रहा।

राजलदेवी कभी ऐसी सभाओं में नहीं बोली, वह प्रायः मौन ही रहती थी। इस मौन के लिए वह प्रसिद्ध थी। जब वह बोलना चाहने लगी तो सभा कुतूहल से और आश्चर्य से देखने लगी। उसने कहा, "पुनीसमय्याजी ने जैसा कहा, यह एक कौटुम्बिक प्रश्न है। इसे राजनैतिक या धार्मिक दृष्टि से नहीं देखना चाहिए। मैं किसी तरह की ईर्ष्या से प्रेरित होकर यह बात नहीं कर रही हूँ। पट्टमहादेवीजी की उदारता के कारण हमारा पारिवारिक जीवन समरसतापूर्ण है। परन्तु आगे भी यही सामरस्य बना रहेगा या नहीं, इस दृष्टि से सोचकर निर्णय करने का विषय है। सौत सदा बुरे अर्थ में ही प्रसिद्ध है, यह लोक में रूढ़ हो गया है। यह सौतिया डाह अब तक राजपरिवार में प्रवेश नहीं कर सका है। इस विवाह से इसका प्रवेश हो तो आगे राजमहल में अशान्ति फैलने की सम्भावना है। इसलिए सन्निधान को इस दृष्टि से इस पर पुनर्विचार करके निर्णय करना चाहिए। अपनी राय में, इस समय जो समरसता है वह अर्थपूर्ण है और तृप्तिदायक भी है। इसे इसी तरह रहने देना ही अच्छा है। एक और के प्रवेश से इसे आलोडित करना

उचित नहीं है। इससे कोई अनहोनी नहीं भी हो सकती है और हो भी सकती है। इसलिए मेरी अपनी राय है कि इस विवाह के विचार का त्याग ही कर दें तो अच्छा है। मेरी इस राय का कारण असूया नहीं। क्योंकि मैं थोड़े में ही तृप्त होनेवाली हूँ। मुझे जो मिल जाता उसी से मैं तृप्त रहती हूँ। उसी को मैं अपना सौभाग्य समझती हूँ। मैंने सदा से बम्मलदेवी की अनुवर्तिनी होकर जीना सीखा है।"

"धार्मिक पृष्ठभूमि को लेकर विवाह करने में कोई दोष नहीं है। ऐसा होने से कुछ अनहोनी हो जाए, ऐसा सोचना कल्पना मात्र है। सन्निधान बहुत दयावान और उदार हैं। पट्टमहादेवीजी भी ऐसी ही हैं। अपने धर्म में वे अचल हैं। विभिन्न धर्म-श्रद्धावाले दाम्पत्य के फलस्वरूप उन्हें जन्म मिला है। फिर भी धर्म ने उन्हें शान्ति ही दी है, अशान्ति नहीं। तीन जब एक होकर जी सकती हैं तब चार नहीं जी सकेंगी? इसमें शंका क्यों? इस पाणिग्रहण को श्री आचार्यजी का आशीर्वाद प्राप्त है। राजकुमारी पर उनके आशीर्वाद के परिणाम से आप सब परिचित हैं ही। ऐसी स्थिति में उनके आशीर्वाद से जब यह पाणिग्रहण हो रहा है तो इसमें बुराई कैसी? यह पोय्सल राज्य आज से भी बढ़कर मतीय विश्वासों पर दृढ़ हो सभी मत-धर्मों का विश्वास बढ़े, यही आचार्यजी की आकांक्षा है। आचार्य को आश्रय स्थान देने में जो उदारता दिखायी वही इसके बारे में भी दिखाना चाहिए।" आण्डान ने सूचित किया। आण्डान तो आचार्यजी का भानजा है। आचार्यजी के यदुगिरि में ठहरने के वहाँ से बाद जो तिरुवरंगदास आया था, उसने भी इसी से मिलती-जुलती बात कही।

शान्तलदेवी ने प्रश्न किया, "इस विवाह की सूचना आचार्यजी की ओर से है?" बिट्टिदेव ने जिज्ञासा की दृष्टि से उसकी ओर देखा।

आण्डान ने कहा, "यह सांसारिक विषय है। इस विषय में कभी भी आचार्यजी कोई सूचना किसी को भी नहीं देते। वे स्वयं दाम्पत्य जीवन की कड़वी घूंट पीकर सन्यासी बने हैं। इसके अलावा उनकी पत्नी भी एक ही थी। हमने जो सलाह दी उस पर सन्निधान से सोच-विचार करने की अनुरोध किया है। 'पट्टमहादेवीजी भी स्वीकार करें तो कोई अड़चन नहीं रहेगी' मुझमें इस भाव को उत्पन्न कराने के कारण मैंने ही आचार्यश्री से कहकर इस विवाह के लिए उनसे आशीर्वाद प्राप्त किया। शेष सभी बातें पट्टमहादेवी की स्वीकृति पर निर्भर हैं।"

"सन्निधान की किसी भी इच्छा का विरोध पट्टमहादेवी नहीं करेगी।" शान्तलदेवी ने कहा।

"इसका तात्पर्य तो यही है कि सारा उत्तरदायित्व स्वयं सन्निधान का है।" गंगराज ने यह कहकर अपनी राय बता दी। "सन्निधान को और भी इस विषय पर सोच-विचार करना हो तो सोचकर निर्णय कर सकते हैं। हम सब सन्निधान की इच्छा को स्वीकार करेंगे। अब आज्ञा हो तो सभा को विसर्जित किया जाय।"

सभा विसर्जित हो गयी। आण्डान वहीं खड़ा रहा।

गंगराज ने पूछा, "और कोई बात?"

उसने कहा, "सम्भव हो तो पट्टमहादेवीजी से बात करना चाहता था।"

गंगराज ने आण्डान को बरामदे में बैठाकर पट्टमहादेवी को बताया। वे गंगराज के साथ बरामदे में आयीं। उनके साथ रेविमय्या भी था। गंगराज पट्टमहादेवी की आज्ञा लेकर चले गये।

आण्डान को बैठने के लिए कहकर स्वयं पट्टमहादेवी भी बैठ गयीं। रेविमय्या दूर पर खड़ा रहा। शान्तलदेवी ने बात आरम्भ की, "कहिए क्या बात है?"

"इस विषय को जब मैंने आचार्यजी के समक्ष रखा तब उन्होंने मुझसे एक बात कही थी, उसे आपसे निवेदन करना है।"

"कहो!"

"आचार्यजी ने कहा कि आण्डान, इस विषय में तुमने और तिरुवरंगदास ने त्वरा से काम लिया है। पहले पट्टमहादेवीजी से विचार-विनिमय करना चाहिए था। वे दूरदृष्टिवाली हैं। उनके प्रत्येक कार्य में यह बात दृष्टिगोचर होती है। उनका अपना व्यक्तित्व है। स्वभाव हठीला होने पर भी उसका फल द्वेष में परिणत न होकर प्रीति में प्रेम में परिणत होता है। वह उनकी उदारता है, त्याग का फल है। इसलिए वे मन से इसे स्वीकृत नहीं करेंगी तो इस विचार को आगे नहीं बढ़ाना होगा।" इसीलिए पट्टमहादेवीजी को यहाँ तक यात्रा करने का कष्ट देना पड़ा। इसमें आचार्यजी की सम्मति है—ऐसा आपको लगा हो तो वह ठीक नहीं है। आचार्यजी पट्टमहादेवी को एक अत्यन्त पूजनीय व्यक्तित्व मानते हैं, इसी दृष्टि से देखते हैं। इसलिए इस विवाह का······"

बीच ही में शान्तलदेवीजी ने कहा, "मैंने महामातृश्री को जो वचन दिया है उसे पालन करना है। उस वचन-पालन के लिए मैं सर्वस्व त्याग के लिए भी तैयार हूँ। मैं अपने और सन्निधान के मन में किसी भी कारण से क्यों न हो, परस्पर विरोध के लिए स्थान नहीं दूंगी। इसीलिए उनका जो भी निर्णय होगा उससे मैं सहमत हूँ। और क्या?"

"और कुछ नहीं!"

शान्तलदेवी उठ खड़ी हुईं। आण्डान भी उठा, हाथ मलने लगा। शान्तलदेवी ने इसे देखा और पूछा, "कुछ और हो तो कहिए। सन्निधान उपाहार के लिए प्रतीक्षा कर रहे हैं।"

"इतनी सब बातें हुईं फिर भी किसी ने पूछा तक नहीं कि वह कन्या कौन है।" धीमी आवाज़ में उसने कहा।

"वह सन्निधान का ही चुनाव है न? इस बारे में हमें क्या करना है? उप-

युक्त समय पर वह स्वयं पता लग जायेगा। अच्छा !" शान्तलदेवी राजमहल में चली गयीं। आण्डान धीरे से राजमहल से बाहर चला गया।

यादवपुरी के राजमहल में बिट्टिदेव-लक्ष्मीदेवी का पाणिग्रहण शान्तलदेवी की इच्छा के अनुसार बिना किसी विशेष धूमधाम के सम्पन्न हुआ।

दोनों रानियों ने परिस्थिति के अनुसार अपने को ढाल लिया; फिर भी उनके मन में यह भावना रही कि जिसके कुल-वंश आदि का पता तक नहीं है—ऐसी लड़की रानी बनी है न ? सब सम्पन्न होने के बाद उन्हें जैसा लगा था; उसे खुलकर पट्टमहादेवी से कह भी दिया।

शान्तलदेवी ने कहा, "इसमें मुख्य बात है कि उस कन्या ने सन्निधान के हृदय को छेड़ने की कोशिश की। वह किसी वंश की हो, उसके जन्म समय का योग ही ऐसा होगा कि उसे रानी बनाना चाहिए। मुझे तो यही लगता है कि इसमें उस तिरुमलै के तिरुवरंगदास का बहुत बड़ा हाथ है। आचार्यजी या उनके शिष्य आण्डान की तरह वह शुद्ध प्रकृति का व्यक्ति नहीं। उसके चेहरे पर, शरीर पर ये तिलकादि केवल व्यापार के लिए हैं। वह इन बाह्याचारों का व्यापार करता है, यह निश्चित है। इसलिए उसने कई बातों को आचार्यजी या उनके शिष्यों की जानकारी से दूर ही रखा है। ऐसे में कई बातों को सन्निधान से भी नहीं कहा होगा। वह कन्या शायद उसकी ही लड़की हो। उसने सोचा होगा कि अपनी लड़की कहने पर इच्छापूर्ण नहीं हो सकती है। उस दिन मन्दिर में उसने जो विवरण दिया वह याद है न बम्मलदेवी ! वह एक कूप-मण्डूक के-से स्वभाव का व्यक्ति है। उसकी धारणा है कि अपना धर्म ही धर्म है दूसरे धर्म···"

"वह चाहे उसकी लड़की हो या न हो, उसका प्रभाव बढ़ता जा रहा है, इतना तो निर्विवाद है। उसी दिन मुझे यह शंका उस पर हो गयी थी। मैंने बताया भी था।" बम्मलदेवी ने कहा।

"इस तरह का डर तुम्हें हो तो उसके चाल-चलन, गतिविधियों पर ध्यान देकर सन्निधान को सब बताकर, उसकी गतिविधियों पर रोक लगा देनी होगी।" पट्टमहादेवी ने कहा।

यह बात यहीं समाप्त हो गयी। यादवपुरी से गंगराज, पुनीसमय्या, मायण और चट्टला विवाह समारोह के एक सप्ताह के अन्दर ही वेलापुरी चले गये। दूसरे सप्ताह शान्तलदेवी ने भी महाराज को अपने लौट चलने की सूचना दी।

"सब मिलकर साथ चलेंगे तो न होगा ?"

"वहाँ मन्दिर का काम क्या हुआ है कुछ पता नहीं चला। यहाँ आये लगभग एक महीना बीत चला। हम सब को जाकर नयी रानी के स्वागत की तथा विजयोत्सव की तैयारी भी तो करनी है। इसके अलावा स्थपति की कार्यपद्धति से तो सन्निधान परिचित हैं ही। मेरा वहाँ रहना उत्तम है। आज्ञा दें तो कृतार्थ होऊँगी। वैसे जाते हुए बाहुबली का भी दर्शन करते जाना है। सन्निधान के साथ तो यह सम्भव नहीं होगा।"

"क्यों ?"

"नयी रानी सौ फीसदी जन्म से ही वैष्णव है। उन्हें बाहुबली में क्या रुचि ? हो भी तो हम नहीं जानतीं। अज्ञान के कारण स्वामी का अपमान नहीं होना चाहिए।"

"तो वह रानी उदार नहीं है ?"

"मैं कैसे कहूँ ? उनके पालन-पोषण करनेवाले तो मत-सहिष्णु हैं नहीं। इसलिए उसके मन में बाल्यकाल से कैसी भावना उत्पन्न हुई है, उसे जाने बिना उनके साथ जाना अच्छा नहीं, ऐसा मुझे लगता है।"

"उस व्यक्ति पर ऐसी राय हो तो मुझसे पहले ही क्यों नहीं कहा ?"

"सन्निधान का उधर अधिक लगाव हो, तो हम कुछ कहें तो उसका मूल्य नहीं होगा। फिर सन्निधान ने भी इस विषय में पहले किसी से विचार भी नहीं किया। यही नहीं बम्मलदेवी जो सन्निधान के साथ ही रही उससे भी नहीं कहा। ऐसी दशा में सन्निधान के सामने सिर झुकाने के अलावा कोई दूसरा चारा ही नहीं था। अब वह उधर वेलापुरी में निर्मित होनेवाले मन्दिर का धर्मदर्शी बनने की आकांक्षा रखता है। सन्निधान को सूचित किया ही होगा।"

बिट्टिदेव धक से रह गये। चकित होकर शान्तलदेवी की ओर देखा। कुछ बोले नहीं।

"मौन को सम्मति समझूँ ?"

"तुमसे उसने ऐसा संकेत किया था ?"

"नहीं। जहाँ कहने से काम बनता है, वहीं अपना जाल फैलाते हैं।"

"तो उनके बारे में राय अच्छी नहीं। यही न ?"

"हाँ, इसीलिए मैंने अपने मन की बात को सन्निधान के सामने निवेदन किया है।"

"अब क्या करना होगा ?"

"जहाँ है, वहीं रहे। इच्छा न हो तो तिरुमलै वापस जाय।" शान्तलदेवी ने निर्णय ही सुना दिया।

"तो तात्पर्य यह हुआ कि यह सम्बन्ध आरम्भ से ही जटिल है। रानी

लक्ष्मीदेवी ने इसकी सूचना दी थी। आखिर वे पोषक पिता ही हैं, अन्य कोई सगे सम्बन्धी नहीं हैं। आवें तो आ जायें, क्या आपत्ति हो सकती है।" यों कह भी दिया।

"विजयोन्माद वीरों को भी भटका डालता है। इसके लिए इससे बढ़कर दूसरा उदाहरण हो क्या सकता है ? सन्निधान मुझे क्षमा करें। यह शीघ्रता आगे चलकर कई कठिनाइयों के लिए कारण होगी, मुझे तो ऐसा ही लगता है। मुझे स्वच्छ हृदय से अपने मन की बात बता देना चाहिए—यही मेरा धर्म है सो बता दी है। सन्निधान जो भी निर्णय करें हमें मान्य है। अभी तो हमें लौट चलने की आज्ञा अवश्य दें।"

"हम भी साथ ही चलेंगे। बाहुबली के बारे में हम रानी को समझायेंगे।"

"एक छोटे-से भाषण से समझा सकने का विषय नहीं वह। सन्निधान की धमनियों में जैन-संस्कार का ही रक्त बह रहा है। ऐसे सन्निधान ही जब अपना मन बदल सकते हैं, तब व्यावहारिक ज्ञान-शून्य छोटी रानी इसे कैसे समझेंगी ?"

"तो हमारा धर्म-परिवर्तन पट्टमहादेवी में एक स्थायी असन्तोष की जड़ जमा चुका है। यही हुआ ?"

"ऐसा हो सकना कितना कठिन है, यही बताने के लिए उदाहरण दिया। क्षोभ से नहीं। अगर मुझे क्षोभ होता तो इस मतान्तर का अवसर ही नहीं आता। अच्छा, अब यह बात छोड़िए। मैं एक बात बताऊँ ?"

"क्या ?"

छोटी रानी को आरम्भ के कुछ दिनों में एकान्त सुख मिलना चाहिए। हम सामने रहेंगी तो उनके लिए हमारी उपस्थिति अड़चन-सी लगेगी इसलिए राजदम्पती ही यादवपुरी में दो-तीन महीने रहें, इतने में वहाँ मन्दिर का कार्य पूर्ण करके, नयी रानी का स्वागत, विजयोत्सव एवं विजयनारायण की स्थापना—सब एक साथ करवायेंगे। उस समय आचार्यजी को भी बुलावा भेजेंगे।"

"तो कौन-कौन जायेंगे ?"

"सब। हम तीनों, उदयादित्यरसजी, बिट्टि-सुव्वला, हमारे बच्चे और रेविमय्या।"

"यहाँ हमारे साथ ?"

"राजमहल के पण्डित सोमनाथ जी रहेंगे।"

"रेविमय्या होगा तो अच्छा रहेगा।"

"न रहना ही अच्छा। क्योंकि उस तिरुवरंगदास को यहाँ स्वतन्त्रता रहेगी। तब सन्निधान उसे अच्छी तरह समझ सकेंगे।"

"सारा निर्णय कर चुकने के बाद बात खोली गयी ?"

"सन्निधान ने ही ऐसा पाठ पढ़ाया।"

"तुम्हारी इच्छा।"

योजना के अनुसार दो ही दिनों के भीतर प्रस्थान हुआ।

मार्ग में बाहुबली के सान्निध्य में शान्तलदेवी ने दो दिन बिताए। यहाँ पुजारी अब भी वही था। पट्टमहादेवी ने उसी जिनस्तुति को गाया।

"सन्निधान की आज की स्तुति संवेदना-भरी है। इसके पहले की मुग्ध-भक्ति, लालित्य से अधिक अनुभवपूर्ण संवेदनायुक्त, तीव्र अनुकम्पा उत्पन्न करने में सशक्त हो गयी है। तब केवल आनन्द होता था। अब अनुकम्पा स्पन्दित हो रही है।" पुजारी ने कहा।

"एक हृदय की संवेदना दूसरे हृदय को स्पर्श करे, वही कला की चरमावस्था है। मेरी कला-साधना की सिद्धि की यह सूत्रता है। कला के द्वारा भी अध्यात्म की साधना कर सकने के लिए यह साक्षी है।"

इसके पश्चात् विशेष पूजा-अर्चा आदि सम्पन्न हुए। शान्तलदेवी और साथ के लोग शीघ्र ही वेलापुरी पहुँच गये। अब की बार शान्तलदेवी रास्ते में दोर-समुद्र जाकर अपने माता-पिता को भी वेलापुरी साथ ले आयीं।

अपनी अनुपस्थिति में भी बहुत कार्य हो चुका था, इसे देखकर शान्तलदेवी को सन्तोष हुआ।

उदयादित्य तो अपनी ही आँखों पर विश्वास न कर सका। एकदम कह उठा, "बड़ा अद्भुत और कल्पनातीत !" फिर शान्तलदेवी पूर्ववत् अपने कार्य में वृत्त हुईं। उदयादित्य पूर्ववत् कार्य के निरीक्षण के काम में लग गया।

चावुण ने नाट्य-सरस्वती तैयार कर ली थी। इस सम्बन्ध में जो विचार-विनिमय हुआ था उसे शान्तलदेवी ने उदयादित्य से कहा, "तो वह नाट्य-सरस्वती सप्त-स्वरों से युक्त होकर मूर्त हो गयी है ?" उदयादित्य ने पूछा।

पास में स्थित स्थपति की ओर चाउण ने देखा। स्थपति ने कहा, "इसमें मुझे जितनी जानकारी है उतनी सीमा तक सप्त-स्वरों को सम्मिलित कर मूर्त रूप दिया है।"

"तब तो ठीक ही होना चाहिए।" शान्तलदेवी ने कहा।

"इस विश्वास के लिए मैं कृतज्ञ हूँ। परन्तु मैं यह कहने का साहस नहीं कर सकता कि सब ठीक है। एक बार देख लेने पर सन्निधान को सन्तोष हो तो मुझे तृप्ति मिलेगी।" स्थपति से कहा।

बिट्टियण्णा से पूछा, "इसमें सप्त-स्वरों के आधार षड्ज को कैसे पहचाना ?"

"नारदीय शिक्षा में जैसा बताया है, उसी के अनुसार इसमें सप्त-स्वरों को समन्वित किया है। चावुण ! इस मूर्ति में स्वर-स्थानों को स्पन्दित कीजिए।" स्थपति ने कहा। चावुण ने अपने हाथ की छैनी से धीरे से मूर्ति के उस स्थान पर टंकार की।

लक्ष्मीदेवी ने इसकी सूचना दी थी। आखिर वे पोषक पिता ही हैं, अन्य कोई सगे सम्बन्धी नहीं हैं। आवें तो आ जायें, क्या आपत्ति हो सकती है।" यों कह भी दिया।

"विजयोन्माद वीरों को भी भटका डालता है। इसके लिए इससे बढ़कर दूसरा उदाहरण हो क्या सकता है? सन्निधान मुझे क्षमा करें। यह शीघ्रता आगे चलकर कई कठिनाइयों के लिए कारण होगी, मुझे तो ऐसा ही लगता है। मुझे स्वच्छ हृदय से अपने मन की बात बता देना चाहिए—यही मेरा धर्म है सो बता दी है। सन्निधान जो भी निर्णय करें हमें मान्य है। अभी तो हमें लौट चलने की आज्ञा अवश्य दें।"

"हम भी साथ ही चलेंगे। बाहुबली के बारे में हम रानी को समझायेंगे।"

"एक छोटे-से भाषण से समझा सकने का विषय नहीं वह। सन्निधान की धमनियों में जैन-संस्कार का ही रक्त बह रहा है। ऐसे सन्निधान ही जब अपना मन बदल सकते हैं, तब व्यावहारिक ज्ञान-शून्य छोटी रानी इसे कैसे समझेंगी?"

"तो हमारा धर्म-परिवर्तन पट्टमहादेवी में एक स्थायी असन्तोष की जड़ जमा चुका है। यही हुआ?"

"ऐसा हो सकना कितना कठिन है, यही बताने के लिए उदाहरण दिया। क्षोभ से नहीं। अगर मुझे क्षोभ होता तो इस मतान्तर का अवसर ही नहीं आता। अच्छा, अब यह बात छोड़िए। मैं एक बात बताऊँ?"

"क्या?"

छोटी रानी को आरम्भ के कुछ दिनों में एकान्त सुख मिलना चाहिए। हम सामने रहेंगी तो उनके लिए हमारी उपस्थिति अड़चन-सी लगेगी इसलिए राजदम्पती ही यादवपुरी में दो-तीन महीने रहें, इतने में वहाँ मन्दिर का कार्य पूर्ण करके, नयी रानी का स्वागत, विजयोत्सव एवं विजयनारायण की स्थापना—सब एक साथ करवायेंगे। उस समय आचार्यजी को भी बुलावा भेजेंगे।"

"तो कौन-कौन जायेंगे?"

"सब। हम तीनों, उदयादित्यरसजी, बिट्टि-सुव्वला, हमारे बच्चे और रेविमय्या।"

"यहाँ हमारे साथ?"

"राजमहल के पण्डित सोमनाथ जी रहेंगे।"

"रेविमय्या होगा तो अच्छा रहेगा।"

"न रहना ही अच्छा। क्योंकि उस तिरुवरंगदास को यहाँ स्वतन्त्रता रहेगी। तब सन्निधान उसे अच्छी तरह समझ सकेंगे।"

"सारा निर्णय कर चुकने के बाद बात खोली गयी?"

"सन्निधान ने ही ऐसा पाठ पढ़ाया।"

"तुम्हारी इच्छा।"

योजना के अनुसार दो ही दिनों के भीतर प्रस्थान हुआ।

मार्ग में बाहुबली के सान्निध्य में शान्तलदेवी ने दो दिन बिताए। यहाँ पुजारी अब भी वही था। पट्टमहादेवी ने उसी जिनस्तुति को गाया।

"सन्निधान की आज की स्तुति संवेदना-भरी है। इसके पहले की मुग्ध-भक्ति, लालित्य से अधिक अनुभवपूर्ण संवेदनायुक्त, तीव्र अनुकम्पा उत्पन्न करने में सशक्त हो गयी है। तब केवल आनन्द होता था। अब अनुकम्पा स्पन्दित हो रही है।" पुजारी ने कहा।

"एक हृदय की संवेदना दूसरे हृदय को स्पर्श करे, वही कला की चरमावस्था है। मेरी कला-साधना की सिद्धि की यह सूत्रता है। कला के द्वारा भी अध्यात्म की साधना कर सकने के लिए यह साक्षी है।"

इसके पश्चात् विशेष पूजा-अर्चा आदि सम्पन्न हुए। शान्तलदेवी और साथ के लोग शीघ्र ही वेलापुरी पहुँच गये। अब की बार शान्तलदेवी रास्ते में दोरसमुद्र जाकर अपने माता-पिता को भी वेलापुरी साथ ले आयीं।

अपनी अनुपस्थिति में भी बहुत कार्य हो चुका था, इसे देखकर शान्तलदेवी को सन्तोष हुआ।

उदयादित्य तो अपनी ही आँखों पर विश्वास न कर सका। एकदम कह उठा, "बड़ा अद्भुत और कल्पनातीत !" फिर शान्तलदेवी पूर्ववत् अपने कार्य में वृत्त हुईं। उदयादित्य पूर्ववत् कार्य के निरीक्षण के काम में लग गया।

चावुण ने नाट्य-सरस्वती तैयार कर ली थी। इस सम्बन्ध में जो विचार-विनिमय हुआ था उसे शान्तलदेवी ने उदयादित्य से कहा, "तो वह नाट्य-सरस्वती सप्त-स्वरों से युक्त होकर मूर्त हो गयी है ?" उदयादित्य ने पूछा।

पास में स्थित स्थपति की ओर चाउण ने देखा। स्थपति ने कहा, "इसमें मुझे जितनी जानकारी है उतनी सीमा तक सप्त-स्वरों को सम्मिलित कर मूर्त रूप दिया है।"

"तब तो ठीक ही होना चाहिए।" शान्तलदेवी ने कहा।

"इस विश्वास के लिए मैं कृतज्ञ हूँ। परन्तु मैं यह कहने का साहस नहीं कर सकता कि सब ठीक है। एक बार देख लेने पर सन्निधान को सन्तोष हो तो मुझे तृप्ति मिलेगी।" स्थपति से कहा।

बिट्टियण्णा से पूछा, "इसमें सप्त-स्वरों के आधार षड्ज को कैसे पहचाना ?"

"नारदीय शिक्षा में जैसा बताया है, उसी के अनुसार इसमें सप्त-स्वरों को समन्वित किया है। चावुण ! इस मूर्ति में स्वर-स्थानों को स्पन्दित कीजिए।" स्थपति ने कहा। चावुण ने अपने हाथ की छैनी से धीरे से मूर्ति के उस स्थान पर टंकार की।

बिट्टियण्णा बोले, "मयूर !" चावुण ने दूसरे स्थान पर छैनी छुआयी। कहा, "वृषभ।" इसी क्रम से अज, क्रौंच, कोकिल, अश्व, कुंजर, स्वरों को बिट्टियण्णा ने व्यक्त रूप से पहचान लिया। शान्तलदेवी हर्षित हो उठीं। इसे देख स्थपति और चावुण दोनों को संतोष हुआ। उदयादित्य नाट्य-सरस्वती को एकाग्रचित्त से देख रहा था। यह बात समाप्त कर उसने कहा, "इस सरस्वती का चेहरा पट्टमहादेवी के चेहरे से मिलता-जुलता-सा लग रहा है।"

"कुछ-कुछ ऐसी छाया है। कारण कि चावुण ने पहले जो चित्र बनाया था वह मेरे बाल्यकाल का ही था। उसकी छाया इसमें रह गयी। क्योंकि वह चित्र शेष तो ठीक था, परन्तु चेहरा बाल्यकाल का लग रहा था। उसमें प्रौढ़ता लाने को कहा था।" शान्तलदेवी ने कहा।

"इस सम्बन्ध में पट्टमहादेवी की राय ?" स्थपति ने धीरे से कहा।

"इसे मन्दिर के उत्तर द्वार पर चुनने का सोचा था ?" शान्तलदेवी ने कहा।

"चारों ओर की मूर्तियाँ कितनी बनी हैं।" बिट्टियण्णा ने पूछा।

"कुछ तैयार हैं। स्वीकृत चित्र अलग-अलग शिल्पियों को दिये गये थे। उन्हें अब देख सकते हैं। परन्तु अभी और चाहिए। उनकी अभी तक कल्पना ही उत्पन्न नहीं हो सकी। कुछ सूझी नहीं, इसलिए सन्निधान की प्रतीक्षा में रहा। अब सन्निधान आ गयी हैं, महासन्निधान के लौटने तक उन्हें तैयार कर युक्त स्थानों में चुन देना होगा। इसके लिए सन्निधान एकान्त दर्शन देने की कृपा करें।" स्थपति ने कहा।

"आपकी यह विनती हमारे यादवपुरी जाने के पहले ही आयी थी। परन्तु इस तरह का एकान्त दर्शन पोय्सल राजमहल की स्त्रियाँ नहीं दे सकतीं। महासन्निधान स्वीकार करें तो बात अलग है।" शान्तलदेवी ने कहा।

"तब तक प्रतीक्षा नहीं की जा सकेगी। सन्निधान स्वीकार कर लें तो मैं कृतकृत्य होऊँगा। शायद इससे मेरा जीवन भी बदल सकता है। अब तक मेरे हृदय में जो शून्य-भरा बैठा है उसे दूर करने में भी यह एकान्त संदर्शन सहायक बन सकता है। मुझ पर विश्वास हो तो एकान्त दर्शन की कृपा करें।"

"पट्टमहादेवी के साथ जो भी रहे, आपका कोई रहस्य खुलेगा नहीं। इसलिए कोई साथ रहे, इससे आपका क्या ? उनसे आप जो निवेदन करना चाहेंगे उसे बेधड़क कह सकते हैं, स्थपतिजी !" उदयादित्य ने कहा।

"मुझे रीति-नीति का परिचय नहीं—ऐसा अरसजी या पट्टमहादेवीजी न समझें ! मेरी इस विनती में मेरी कोई दुर्भावना नहीं है। कृपा करेंगी तो मेरा सौभाग्य होगा। नहीं तो मेरे जीवन का कोई भविष्य नहीं। अभी जैसा हूँ वैसा ही रहना अपना दुर्दैव समझकर चुप हो रहूँगा।" स्थपति ने कहा।

"आपके भविष्य को सुन्दर बनाने में सदा मेरा सहयोग रहेगा। परन्तु

व्यावहारिकता को अपने स्थान से लाँघ नहीं सकती। इसलिए औचित्य का प्रश्न है। आपकी विनती राजमहल के व्यवहार से भिन्न है, इसलिए एकदम कोई बात इस सम्बन्ध में नहीं कह सकती। अपने स्थान पर मैं अपनी आन्तरिक तृप्ति मात्र से कार्य सँभालकर सन्तुष्ट नहीं हो सकती। मेरा व्यवहार कभी किसी ओर से आक्षेप का कारण न होना चाहिए। इसलिए यह पूरी गम्भीरता से सोच-कर निर्णय करने का कार्य है। सोचकर बता दूँगी। अब उन तैयार मूर्तियों को देखें, चलिए!" शान्तलदेवी ने कहा।

पहले दासोज के कृति-निर्माण-स्थान में गये। केश-शृंगार, किरातिनियों की मूर्तियाँ तैयार थीं। एक और को स्थूल आकार दे रखा था, जिसे शुद्ध आकार चमक देकर भाव भरना शेष था। सिद्ध मूर्तियाँ पट्टमहादेवी को पसन्द आयीं। एक अर्धसिद्ध मूर्ति के वस्त्र को एक बन्दर दूर से खींचता हुआ-सा एक विग्रह बना था। बन्दर की इस खिलवाड़ की प्रतिक्रिया दिखाने के लिए उसे मारने के उद्देश्य से उस विग्रह का बायाँ हाथ मारने की भंगी में उठा था। शान्तलदेवी ने पूछा, "इसका उद्देश्य क्या है?"

"चित्र रचना करनेवाले ही को यह विवरण देना चाहिए।" दासोज ने कहा।

स्थपति को कुछ संकोच हुआ। इस देव मन्दिर में बहुत-सी मूर्तियों के रूप नग्न हैं। उनमें किसी के बारे में न पूछकर इसके बारे में ही यह प्रश्न क्यों?" यही विचार उनके मन में आ रहा था।

"शरीर के नग्न-सौंदर्य को देखना चाहनेवाले मानव की चंचलता यहाँ के बन्दर की क्रिया में रूपित है सांकेतिक रूप से।"

"तो यह नग्न स्त्री को दिखाने के लिए कृत प्रयत्न नहीं है न।"

"ऐसा होता तो नग्न स्त्री को बनाने में क्या कठिनाई थी? यहाँ का यह बन्दर पुरुष की कामना का संकेत है। इसीलिए उसका आकार छोटा और सांकेतिक है।"

"तो उस बन्दर की क्रिया की प्रतिक्रिया उस स्त्री के मन में जो होगी, उसे भी शिल्प में व्यक्त करना चाहिए न?" शान्तलदेवी ने पूछा।

"बन्दर की क्रिया से नारी के शरीर में लज्जा उत्पन्न होती है। मन में क्रोध उत्पन्न होता है।"

"इन्हें शिल्प में उत्कीरित करें तो वह क्रियात्मक शिल्प होगा, केवल भंगिमा नहीं रहेगी।"

"पट्टमहादेवीजी के आशय को दासोजजी सार्थक बना देंगे, ऐसा मुझे विश्वास है।" स्थपति ने कहा।

"जो आज्ञा!" दासोज ने स्वीकृति की मुद्रा में सिर झुकाया।

उसके मन में शान्तलदेवी की बात वार-बार दुहरा जाती थीं। "कला केवल भंगिमा में नहीं है; जब वह क्रियात्मक होती है तब कला का उद्भव होता है।"—यह भाव उसके मन में स्थायी हो गया।

वैसे ही गदग के शिल्पी मल्लियण्णा की बनायी मूर्ति वेणुधरा, रूवारि जगदल काटोज के पुत्र सरस्वती चरण-सरोज-भ्रमर, सुप्रसिद्ध नागोज की बनायी लास्य मनोहरा, शिल्पी बेचम का डमरू नृत्य, डमरू नृत्य की अलग-अलग भंगिमाएँ रूपित करनेवाले शिल्पी मल्लण्णा के शिल्प, वैसे ही प्रख्यात शिल्पियों के केसरि नाम से सुप्रसिद्ध पदरि मल्लोज, शिल्पी-मुखतिलक सुप्रसिद्ध वर्धमानाचारि, कलियुग-विश्वकर्म के नाम से विख्यात मासन शिल्पी, शिल्पव्याघ्र कुमार-माचारि, विरुदांकित शिल्पी मुकुटमणि गंगाचारी, शिल्पकंठीरव बालरदेव, और अन्य शिल्पी, जो इतने प्रसिद्ध नहीं थे, फिर भी श्रेष्ठ शिल्पी थे— गुम्म वीरण, कल्कणी के माचोज, गंगाचारी का भाई कांवाचारी, भण्डारि मधुवण्णा, यल्लणा का पुत्र मसद आदि शिल्पियों के द्वारा उत्कीरित शिल्प-मूर्तियाँ—जैसे शुकभाषिणी, ताण्डवेश्वरी, गानलोला, वीणापाणि, नग्नप्रिया, हाव-विलासिनी, अलंकारप्रिया, दर्पणामोदा, कोरवंजि, नागवीणा-प्रिया, शकुनशारदा, फल-पुल-किता आदि मूर्तियों को देखकर अपना सन्तोष व्यक्त करके तृप्त हुए।

उदयादित्य ने कहा, "स्थपतिजी, इन विग्रहों को मन्दिर के बाहरी आवरण पर सजा देने से मन्दिर सजी-धजी सुन्दरी की तरह विशेष आकर्षक और सजीव हो उठेगा।"

"अलंकार वैविध्य तथा कलापूर्ण होने पर उसमें सजीवता रूप धारण करती है। अभी केवल उसके लिए आवश्यक उपकरण मात्र तैयार हैं। उसे सम्पूर्ण बनना हो तो और भी, जैसा पट्टमहादेवीजी ने सुझाया, क्रियात्मक मूर्तियों की आवश्यकता है। इसके लिए उन्हीं से हम सलाह की प्रतीक्षा कर रहे हैं।" स्थपति ने कहा।

"अच्छा, फिर एक वार उस पर विचार करेंगे। समय का पता तक नहीं चला। भोजन का समय भी बीत गया।" शान्तलदेवी ने कहा।

"रेविमय्या अर्ध प्रहर पूर्व ही आ गया था।" विट्टियण्णा ने वताया।

"मैंने ध्यान ही नहीं दिया।" कहकर शान्तलदेवी ने उसकी ओर देखा और, "चलो रेविमय्या, बच्चे प्रतीक्षा करते होंगे वेचारे।" कहती हुई राजमहल की ओर चल दीं। उदयादित्य, विट्टियण्णा और रेविमय्या ने उनका अनुसरण किया।

स्थपति ने जिस एकान्त संदर्शन की अभिलाषा की थी, उस सम्बन्ध में शान्तलदेवी ने अन्तःपुर में विचार-विनिमय किया। उस विषय में मुक्त हृदय से सबने अपना-अपना अभिमत बताया। इसके बाद शान्तलदेवी ने स्थपति के बारे में—जब से वह काम में लगा तब से लेकर उसके व्यवहार की रीति और उसमें जो परिवर्तन दिखे उन्हें पहचानने के पश्चात् की सारी स्थितियों की चर्चा सबसे की। उसे सुनने के बाद यह राय बनी कि पट्टमहादेवी एकान्त संदर्शन दे सकती हैं। महाराज उपस्थित होते तो उनसे विचार-विमर्श करके सहज ही निर्णय किया जा सकता था परन्तु उनके न रहने से यह चर्चा सबके साथ शान्तलदेवी को इसलिए करनी पड़ी कि उनका कोई कार्य-कलाप पतित या विपरीत मनोभाव से प्रचारित न किया जाय।

एकान्त संदर्शन की स्वीकृति के बाद स्थपति को सूचना दे दी गयी। वह समझता था कि वास्तव में उसे यह एकान्त संदर्शन नहीं मिल सकेगा। अनुमति की प्राप्ति पर उसकी प्रसन्नता का ठिकाना न रहा। उत्साह से भर उठा। इस संदर्शन की व्यवस्था मन्त्रणालय में की गयी थी। उसके द्वार के बाहर चट्टलदेवी और रेविमय्या तैनात थे।

इस संदर्शन के लिए मन्त्रणालय की आसन-व्यवस्था बदल दी गयी थी। केवल दो ही आसन रखे गये थे—एक पट्टमहादेवी के लिए और दूसरा स्थपति के लिए। इस व्यवस्था से मन्त्रणालय एक तरह से शोभाहीन हो गया था। काफी दूर पर एक-दूसरे से आसन रखे गये थे। स्थपति का आसन द्वार के निकट था।

स्थपति के आने के पहले ही पट्टमहादेवी वहाँ उपस्थित थीं। स्थपति ने प्रवेश करते ही झुककर प्रणाम किया। शान्तलदेवी ने आसन की ओर संकेत करके उसे बैठने को कहा। वह बैठ गया। हाथ में चित्रों का पुलिन्दा था, उन्हें गोद में रखकर द्वार की ओर उसने देखा।

"द्वार बन्द है, आप जो भी कहना चाहें कहिए, कोई नहीं सुन सकेगा। इसलिए निःसंकोच कह सकते हैं।" शान्तलदेवी ने कहा।

"सन्निधान की कृपा के लिए मैं कृतज्ञ हूँ।"

"यह सब रहने दें। पहले बतायें बात क्या है?"

"मेरे हृदय पर भारी बोझ है। मेरे मन में यह धारणा दृढ़ होती आयी कि सन्निधान के समक्ष ही यह बोझ उतर सकता है। मुझे इस बात को आपके समक्ष छेड़ने का साहस भी नहीं होता था। परन्तु चट्टला-मायण का जीवन किस तरह आपके प्रयत्नों से सुन्दर बना—यह सुनकर उनसे बहुत-सी बातों पर चर्चा करने के बाद मुझमें एकान्त संदर्शन की आशा-अभिलाषा बढ़ती आयी।"

"तो आपके दाम्पत्य जीवन में भी कोई ऐसी कड़ुवाहट आयी है?"

"कड़ुवाहट नहीं, वह हलाहल है।" कहते हुए उसके होंठ काँपने लगे।

चेहरा रक्ताभ हो उठा।

"तो वह इतना भयंकर है?"

"निवेदन करूंगा। सन्निधान ही निर्णय करें।"

"पहले जब भी आपका निजी विषय जानने की बात उठती थी तो काम छोड़कर चल देने की बात कहते थे न?"

"अब वह बात व्यर्थ लगती है। अन्तरंग का बोझ जब तक न उतरे तब तक जहाँ भी रहूँ एक-सा है। उस सम्बन्ध में कहना ही लज्जा की बात है, इस तरह के विचार उत्पन्न होने से उस बात को प्रकट कर अपने आपको अपमानित कर लेने की इच्छा नहीं हो रही थी।"

"वही भारी भूल की आपने। उसे अन्दर-ही-अन्दर दबाये रखकर सड़ाते रहने से मानसिक शान्ति मिलेगी भी कैसे?"

"सन्निधान का कहना सच है। उसकी जानकारी मुझे नहीं हुई थी। पता नहीं कोई उन्माद छा गया था मेरे मन पर, इसी कारण से मैंने परिवार का त्याग कर दिया। मेरी इच्छा थी कि यह बात किसी को पता न चले। मुझे लगता था कि यदि पता हो जाय तो मैं दूसरों के सामने छोटा बन जाऊँगा। परन्तु अब यहाँ आने पर अनेक बातों की जानकारी मिली। तब यह अनुभव होने लगा कि मैंने अविवेक किया। इसलिए अब मैं अपनी निजी बातों को सन्निधान से निवेदन कर, अपने इस अन्तरंग के बोझ को उतार लेना चाहता हूँ।"

"आपने परिवार का त्याग जो किया उसके लिए कौन-सा बड़ा कारण था?"

"मेरी पत्नी का शील रहित दुर्व्यवहार!"

"इस सम्बन्ध में आपको निश्चित प्रमाण मिला है?"

"नहीं तो परिवार को त्याग देने जैसी मूर्खता करता?"

"ठीक, मान लेंगे। इससे आपको क्या लाभ हुआ!"

"प्रत्यक्ष देखते रहना मेरे लिए सह्य नहीं था। यदि परिवार को त्याग न देता तो मैं कसाई बन जाता। कसाई होने के दोष से मुक्त हुआ।"

"वास्तव में वह ठीक ही किया। पत्नी की हत्या करने जैसा क्रोध क्यों कर हुआ?"

"वही कहना चाहता हूँ। एक बात का पहले ही निवेदन करूंगा। मेरा गांव कौन-सा? मेरी पत्नी कौन? यह ब्यौरा मत पूछें। इतनी कृपा करें।"

"अभी आपकी वह हठीली वृत्ति पूरी तौर से दूर नहीं हुई है। कोई बात नहीं। जितना कहना चाहते हैं, उतना ही कहें। मैं किसी भी व्यक्ति का कोई परिचय नहीं पूछूंगी। ठीक है न?"

"मैं कृतज्ञ हूँ। हमारा घराना प्रसिद्ध शिल्पियों का घराना है। नीतियुक्त साम्प्रदायिक घराना है। हमारी पूर्व-पीढ़ियों ने चोल और पाण्ड्य देशों में अपनी कलाकृतियों के लिए बहुत ख्याति पायी थी। मैं बचपन में उन लोगों के साथ उन प्रदेशों में घूम आया हूँ। बचपन से ही कुछ-न-कुछ नवीनता की खोज करना और उस नवीन को रूपित करने का प्रयत्न करना—यही मेरी आकांक्षा रही है। पता नहीं क्यों मेरे अग्रजों को उस पुरानी लीक को छोड़कर मेरे नवीन मार्ग का अनुसरण भला नहीं लगा। इससे मेरे उस उत्साह पर पानी फिर गया। मुझे किसी तरह की स्वतन्त्रता नहीं थी। इस कारण उनकी देखरेख में उन्हीं के आदेश-निर्देश के अनुसार चलता रहा। जहाँ भी मैं गया वहाँ मेरे हस्त-कौशल की प्रशंसा ही हुई। कर्नाटक से चोल देश में जाकर बसे एक पांचाल घराने के साथ मेरी आत्मीयता बढ़ी। इसीके फलस्वरूप उसी घराने की लड़की से मेरा विवाह सम्पन्न हुआ।"

"आपने उस कन्या को देखकर चाह करके ही विवाह किया?"

"मैंने कन्या को विवाह के पहले ही देख लिया था। परन्तु, यह विचार मेरे मन में नहीं था कि मैं उससे विवाह करूँगा। मेरे मन में यह इच्छा ही उत्पन्न नहीं हुई थी।"

"ऐसा! क्यों?"

"क्योंकि तब मेरे मन में विवाह के विषय में कोई विचार ही उत्पन्न नहीं हुआ था। इसलिए उस कन्या को देखने की मेरी दृष्टि ही कुछ और थी। परन्तु उसके पिता ने मेरे पिता से बातचीत करके विवाह का मुहूर्त भी निकलवा लिया। बाद में मुझे बताया। मेरी माँ की मृत्यु मेरे बाल्यकाल में ही हो चुकी थी, इसलिए अपनी बस्ती में सूचना देने की आवश्यकता ही नहीं थी। जन्म-पत्री के मिलने पर अच्छा मुहूर्त ठहराया और विवाह सम्पन्न हो गया। विवाह निश्चित करनेवाले ज्योतिषी ने कहा कि यह आदर्श दाम्पत्य होगा और इनकी सन्तति कीर्तिशाली होगी तथा पीछे चलकर महान् मंगलदायक योग होंगे। परन्तु इस फल के लिए इन्हें अपने देश में जाना होगा। यह ज्योतिषियों की भविष्यवाणी थी। हृदयपूर्वक हमें आसीसा भी।"

"उस कन्या की जन्मपत्री आदि को आपने भी देखा था?"

"नहीं, उस समय मेरा ज्योतिष-शास्त्र का ज्ञान इतना गहरा न था। सामान्य ही था।"

"जितनी जानकारी थी, उसी के सहारे देख लेते?"

"नहीं!"

"क्यों?"

"बड़े-बूढ़ों ने जब सब देख लिया था, तो मुझे क्या देखना था? इसलिए

नहीं देखा।"

"ठीक, विवाह के बाद आप अपनी बस्ती लौटे ?"

"तुरन्त तो नहीं आये। मेरी पत्नी को मेरे यहाँ आना था न। उसके बाद मेरे पिताजी ने कहा कि थोड़े दिन और यहीं मेरे साथ रहे, अब जो कार्य हमने अपने हाथ में लिया है, उसे पूरा कर लेने के बाद, एक साथ अपने गाँव चले जायेंगे।"

"तो आपको वहीं ठहरना पड़ा ?"

"दूसरा चारा न था। मेरी पत्नी को इससे सन्तोष ही हुआ।"

"आपके साथ चलने की उमंग उनमें नहीं दिखायी दी ?"

"कुछ नहीं कह सकता। उसका सहवास प्राप्त होकर एक अनमोल जोड़ी मिलने की तृप्ति मुझे मिली थी अवश्य! जब अपने यहाँ जाने की बात कही तो उसने कहा था कि, 'ओह, इतनी दूर जाना होगा ?' यह तो नहीं कहा कि नहीं जाएँगी। परन्तु मेरे पिताजी की इच्छा के अनुसार थोड़े दिन वहाँ रहने का हुआ तो उसने सन्तोष व्यक्त किया था। उसने कहा—अभी तो यहीं रहना है न, दूर तक जाना तो फिलहाल के लिए स्थगित हुआ, आगे देखा जायेगा।"

"स्त्री के लिए मायका छोड़ जाना इतना आसान नहीं होता, स्थपतिजी। थोड़ा विचार कर देखिए। पाल-पोसकर बड़ा बनानेवाले मायके को छोड़कर, वहाँ के रिश्ते-नाते को तोड़कर, उस समस्त को पाणिग्रहण करनेवाले पतिदेव के परिवार की ओर तुरन्त मोड़ना इतना आसान नहीं होता। पाणिग्रहण करनेवाले पतिदेव क्या-क्या आशाएँ लेकर अग्निदेव के समक्ष प्रतिज्ञाएं करके विवाह कर लेते हैं, उन्हें कहाँ तक पूर्ण करते हैं, प्रतिज्ञा का पालन किस हद तक करते हैं—यह सब भविष्य के गर्भ में निहित होता है। फिर भी लड़की किसी तरह की चिन्ता या शंका के लिए मौक़ा न देकर अपने को समर्पण कर देती है। क्या इस आत्मसमर्पण का कोई मूल्य नहीं ?"

"है। इसका बहुत बड़ा और महान् मूल्य है। कब ? जब वह नैतिक दृष्टि से पवित्र रहकर उत्तम सन्तान-प्राप्ति में सहयोग दे तब! क्या यह उसका दायित्व नहीं ?"

"है। कौन कहता है कि नहीं है ? यदि व्यवहार पक्षपातपूर्ण हो और पुरुष स्वेच्छाचारी हो जाय तो ? तब क्षेत्र उसके द्वारा कलुषित न होगा ? मन एक ओर क्रिया दूसरी ही ओर हो तो अच्छा फल मिले कैसे ?"

"ऐसा न होकर पुरुष द्वारा अग्नि के समक्ष कृत प्रतिज्ञा का पालन करने पर भी स्त्रीक्षेत्र कलुषित हो जाय तो ?"

"दोष है। परन्तु वह कहाँ तक सहयोग देकर उत्तरदायिनी हुई—इस पर विचार कर निर्णय करना होगा। वह अबला है। उसके उस अबलापन का जब

दुरुपयोग हो तो इसका कारण पुरुष ही है न ? इस सम्बन्ध में हड़बड़ी में निर्णय करना अच्छा नहीं होता ।"

"मानता हूँ । हड़बड़ी का कोई निर्णय उचित नहीं होगा । परन्तु जब प्रबल प्रमाण मौजूद हो तब ?"

"तब स्त्री दण्डनीय अवश्य है । आपके स्व-विषय के विवरण का पक्ष बदलकर किसी और बात की चर्चा की ओर मुड़ गया । अच्छा अब आगे की बात कहिए ।"

"आगे दो साल हम वहीं रहे । हमारे साथ ही रहनेवाली वह, जब हम अपने काम पर जाते तो अपने मायके की ओर चल देती । बहुत समय तक हमें इसका पता ही नहीं लगा । एक दिन काम करते-करते मुझे चक्कर आने लगा । मेरे पिताजी मुझे साथ लेकर जब निवास पर पहुँचे तो वह घर पर नहीं थी । पड़ोसियों से पूछने पर पता चला कि वह प्रतिदिन दोपहर के समय मायके जाती है और सन्ध्या को लौटती है । मेरे पिताजी गये और बहू को बुला लाये । फिर वे अपने कार्यस्थान की ओर चले । मुझे देख वह डर गयी । उसके सारे काम उल्टे-सीधे होने लगे । मैंने पूछा—'ऐसा क्यों हो रहा है' उसने कहा, 'पता नहीं क्यों, मुझे कुछ सूझता नहीं । घबड़ाहट होती है । ससुरजी होते तो अच्छा होता ।' मैंने पूछा, 'घबड़ाहट क्यों ?' उसने कहा, 'जब आपकी ऐसी दशा है तो घबड़ाहट न होगी ? आपका यह प्रश्न भी विचित्र है । मैं जानती नहीं क्या करना होगा । घर पर बड़े होते तो उनसे पूछा जा सकता था ।' 'डरने की कोई बात नहीं । पित्त का उद्रेक होगा, घर पर नीबू हो तो कुछ पानी गरम करो, मैं बताऊँगा कि क्या करना चाहिए ।' वह पानी गरम कर लायी । नीबू के टुकड़े बना लायी । थोड़ा नमक लाने को कहा । गरम पानी में थोड़ा-सा नमक डालकर नीबू निचोड़ा और फिर घूँट-घूँटकर थोड़ा-थोड़ा पिया । जोर की डकार आयी । डकार की आवाज़ सुन वह ठिठकी । मुझे हँसी आ गयी । मैंने कहा, 'डकार से डरनेवाली तुमसे और क्या काम हो सकेगा ।' उसने मुझे एक विशेष दृष्टि से देख सर झुका लिया । कुछ कहा नहीं । मैं कुछ सुधर गया, वैसे ही लेटा रहा । वह बायाँ हाथ टेके बैठी थी तो मैंने उसका हाथ पकड़ा । वह कुछ ध्यानमग्न-सी बैठी थी, हाथ पकड़ते ही वह मुझ पर झुक पड़ी । घबड़ाकर कुछ आगे खिसक आयी । मैंने पूछा, 'जब हम घर पर नहीं होते हैं, तब तुम अपने मायके जाती हो, यह क्यों ?' घबड़ाकर उसने पूछा कि 'किसने कहा ।' 'चाहे कोई कहे, अपने घर में न रहकर मायके क्यों जाती हो ?' उसने कहा, 'यहाँ अकेली क्या करूँ ? बैठे-बैठे ऊब जाती हूँ । दीवार देखती बैठी रहूँ ? कोई दूसरा काम नहीं होता इसलिए वहाँ चली जाती हूँ और आपके लौटने से पहले यहाँ आ जाती हूँ ।' मैंने पूछा, 'यह बात मुझसे या पिताजी से क्यों कही

नहीं' ? 'मुझे सूझा ही नहीं कि यह बात कहनी है' उसने कहा, 'पास-पड़ोस के लोग अच्छे नहीं। मुझे इनका संग अच्छा नहीं लगा।' 'तो तुम इसलिए वहाँ जाती हो कि वहाँ तुम्हें अच्छी संगति मिलती है ?' उसने कहा, 'हाँ, वहीं पहले से रही, वहाँ अपनापन है।' मैंने पूछा, 'वहाँ कौन-कौन रहते हैं ?' उसने सबके नाम बताये। जब उसने अपने मामा का नाम बताया तो उसका उत्साह सौगुना बढ़ गया-सा लगा। यह मुझे कुछ अच्छा न लगा। मैंने सोचा कि अब बात नहीं बढ़ानी चाहिए। तब से मैं एक पखवारे तक काम पर नहीं गया। इसी बीच उसका वह मामा एक-दो बार हमारे यहाँ भी आया-गया। बड़े ही उत्साह के साथ उसका आतिथ्य मेरे यहाँ हुआ। तब मुझे लगा कि इस स्थान को छोड़ देना ही अच्छा है। पिताजी से कहा कि मैं और मेरी पत्नी अपने गाँव जायेंगे। इधर कुछ समय से यहाँ का अन्न-जल मुझे कुछ अच्छा नहीं लग रहा है। पिताजी ने कहा, 'एक पखवारे में यह काम समाप्त हो जायेगा। बाद को सब साथ ही चलेंगे।' मैंने कहा, 'कोई दूसरा काम आ जाय तो आप उस पर लग जायेंगे। हमें अनुमति दीजिए।' उन्होंने यह कहकर छेड़ा कि 'वहाँ जाकर तुम दोनों किसी अड़चन के बिना आराम से रहना चाहते हो, तुम लोगों के सुख के बीच में मैं क्यों पड़ूँ ?' और जाने की अनुमति दे दी। हम अपने गाँव चले आये। पिताजी अपने कहे अनुसार वापस नहीं आये। किसी दूसरे काम में लगकर वहीं दक्षिण में ही रह गये।"

"तो उनकी इच्छा के अनुसार आप लोगों के दिन सुखपूर्ण रहे होंगे !"

"दो जीव एक होकर रहे। वास्तव में वे दो वर्ष ही मेरे जीवन के अत्यन्त सुखमय दिन हैं। विक्रम संवत्सर आया तो मेरे जीवन पर अचानक ही दुर्दिन की घटाएँ छा गयीं। अचानक ही मेरी पत्नी का वह मामा आया। मेरी पत्नी की स्फूर्ति बढ़ गयी। उसकी उस तरह वृत्ति मुझे अच्छी नहीं लगी। छिपाये रखने का मेरा स्वभाव ही नहीं। मैंने पूछ लिया। उसने कहा, 'आपको क्या पता ? मायका छोड़कर दो साल हो गये। उधर से कोई आये तो मुझे कुछ उत्साह नहीं होगा ? क्या मेरे मायकेवालों से आपकी अनबन है ?' उस विषय को वहीं तक रहने दिया। वह दो-चार दिन रहा, फिर चला गया। हमारा पारिवारिक जीवन पहले जैसा चलने लगा। इसके एक महीने के बाद अच्छी शिला का संग्रह करने के लिए मैं कोनेहल्लि की ओर एक पखवारे के लिए चला गया। मेरे दूर की रिश्ते की एक बुढ़िया थी जो मदद के लिए उस बीच मेरे घर रही। इसके लिए बुढ़िया से कहकर मैंने व्यवस्था की थी। अपना कार्य समाप्त कर मेरे लौटने के बाद एक महीना बीता। सुबह-सुबह मेरी पत्नी का ओकना शुरू हो गया। आया को बुलवाकर जाँच कराने के बाद पता लगा कि मेरी पत्नी गर्भवती है। हम दोनों को वास्तव में प्रसन्नता ही हुई, इस बात को सुनकर। इसी में कुछ महीने बीते।

मेरी पत्नी का मन मायके जाने को हुआ। उसने कहा, 'प्रथम प्रसव के लिए वहीं जाऊँगी।' मैंने कहा, 'दूर की यात्रा है, साथ कोई नहीं, भेजें भी कैसे?' वह बुढ़िया किसी काम पर मेरे यहाँ आयी थी तो उसने बताया—'उसका मामा आजकल में ही आनेवाला है, उसके साथ भेज दो।' मैंने पूछा, 'आपने उन्हें कहाँ देखा था?' जब तुम कोनेहल्ली गये थे तब वह यहाँ आकर एक सप्ताह रहा था। जब जाने लगा तो सप्ताह के बाद आने की बात कह गया इसीलिए कहा।' बुढ़िया ने कहा। यह सुन मेरे शरीर में एक तरह का कम्पन पैदा हो गया। चप रहना ठीक न समझकर कह दिया, 'उसे पहले आने दो, फिर देखा जायेगा।' यों कुछ दिन बीते। मेरी पत्नी और उसके मामा के व्यवहार के बारे में मेरे मन में शंका उत्पन्न हो गयी। फिर भी मैं संयम से रहा, अपनी भावना को प्रकट नहीं किया। जैसा उसने कहा था, वह आया, परन्तु मैंने यह कहकर कि अपनी पत्नी को नहीं भेज सकता, उसे लौटा दिया। मेरी पत्नी ने दो-तीन दिन खाना-पीना छोड़ दिया। मैंने उसकी परवाह नहीं की। पत्थर में सजीवता को, पूर्ण-कला को भर सकनेवाला मेरा हृदय पत्थर ही बन गया। बच्चे का जन्म हुआ, मेरी पत्नी लड़के की माँ बनी। परन्तु मैंने जो जन्मपत्री बनायी उसके अनुसार बच्चे का पिता नहीं पहचाना जा सका। लज्जा और अपमान ने मुझे घेर लिया। दिशाहीन होकर मैं किसी से कहे बिना गाँव छोड़कर चल पड़ा। पिताजी से मिलने के उद्देश्य से मैं दक्षिण की ओर चल पड़ा, जहाँ वे काम करते थे। मेरा पूर्व पुण्य था कि मुझे उनका अन्तिम दर्शन मिल गया। बात करने की सामर्थ्य नहीं थी। उन्होंने मुझे पहचान लिया, चेहरे पर सन्तोष छाया रहा। मगर गले से आवाज़ नहीं निकली। होंठ हिले, शायद कुछ कहना चाहते थे। छाती पर के हाथ से संकेत किया, 'बेटा'। और उन्होंने अन्तिम साँस ले ला। मैं कुछ उत्तर देने की स्थिति में नहीं रहा। उनकी अन्त्येष्टि की; तब से मैं घुमक्कड़ बन गया। यह कहने में लज्जा आती थी इसलिए अपने को यात्री कहकर घूमते हुए समय विता रहा हूँ।" इतना सब कहकर अपनी राम-कहानी समाप्त करके एक दीर्घ निश्वास छोड़ा।

उसकी एक-एक बात को ध्यानपूर्वक सुनती हुई शान्तलदेवी वात समाप्त होते ही बोल उठीं—"न, न, ऐसा नहीं होना चाहिए था।"

"होना था या नहीं होना था—सो तो अलग बात है; अब हो चुका है न, अब क्या हो सकता है?"

"यह आपका विचार है।"

"तो सन्निधान के विचार···"

"कुछ दूसरे ही। कथा का एक अध्याय समाप्त हुआ। वह दूसरे अध्याय के लिए श्रीगणेश है। मनुष्य की कहानी उसके जन्म से प्रारम्भ होती है और उसके

अवसान के साथ समाप्त होती है। फिर भी यह सब क्यों और कैसे—यह समझ में ही नहीं आता।"

"इसमें समझ न आने जैसी कौन-सी बात है? सब दिन की तरह स्पष्ट है।"

"तो आपके मन की शंका पर उस शिशु की जन्मपत्री ने राजमुद्रा-सी लगा दी।"

"शंका को निश्चित भी किया।"

"तो आप अपने सब कार्य ज्योतिष के ही आधार पर किया करते हैं?"

"क्यों, उसमें क्या दोष है। शास्त्र जब निश्चित है।"

"शास्त्र निश्चित है परन्तु उसका विश्लेषण करनेवाला मन और उस विश्लेषण की जानकारी, ज्ञान, बुद्धिशक्ति आदि कुछ अस्त-व्यस्त हो तो क्या दशा होगी?"

"तो सन्निधान समझती हैं मेरा ज्योतिष ज्ञान कम है।"

"मैं यह नहीं कहती कि जानकारी कम है; फिर भी जन्मपत्री पर परिशीलन समग्र रूप से नहीं हुआ, ऐसा लगता है।"

"दोनों एक ही बात हैं; परिशीलन समग्र रूप से नहीं हुआ है का यही माने है कि हड़बड़ी में निर्णय किया गया है। बड़े-बूढ़े कहते हैं कि ज्योतिषी को शीघ्रता में निर्णय नहीं करना चाहिए। यह बात मुझे पता है। इसलिए पूरी तौर से साव-धान रहकर, समग्र रूप से ही मैंने जन्मपत्री देखी।"

"यह भी कहते हैं कि अपने से सम्बन्धित विषय को स्वयं नहीं देखना चाहिए?"

"तो अपने यहाँ जो घटा उसे सारे गाँव के लोगों के सामने प्रकट कर देना चाहिए था?"

"अच्छा, फिर?"

"अभी किसी को मालूम नहीं कि मैं कहाँ और क्यों गया?"

"तो आपकी पत्नी अपने गर्भसंजात शिशु का पिता आप ही को समझती होगी न?"

"सो कैसे? वह स्वयं जानती है कि उसने क्या किया।"

"यदि जैसा आप समझते हैं वैसा कुछ नहीं हुआ हो तो?"

"जन्मपत्री झूठी होगी?"

"आपके प्रश्न का उत्तर न देकर मैं स्वयं एक प्रश्न करूँगी, आप उत्तर देंगे?"

"यथाशक्ति प्रयत्न करूँगा।"

पट्टमहादेवी ने एक जन्मकुण्डली का सम्पूर्ण विवरण उसकी नवांश कुण्डली को भी बताते हुए बताया। और कहा, "इसके बारे में आप क्या-क्या कह सकते हैं सो सब बताइए।"

"यह तो बहुत बड़ी बात हुई। सन्निधान क्या जानना चाहती हैं सो बताने पर उत्तर देने का प्रयास करूँगा।"

"इस जातक का कैसा भविष्य रहेगा?"

"यह किसकी जन्मपत्री है?"

"वह आपके लिए प्रधान नहीं। मेरे प्रश्न का उत्तर दीजिए।"

स्थपति ने थोड़ी देर सोचकर खड़िया और पाटी माँगी। पाटी और खड़िया मन्त्रणालय में ही थीं सो शान्तलदेवी ने उन्हें उठाकर दिया।

"सन्निधान ने मुझसे प्रश्न करने की बात पहले से ही सोची होगी, इसलिए पाटी और खड़िया मन्त्रणालय में है।"

"यह मन्त्रणालय है। ये वस्तुएँ यहाँ हमेशा रहती हैं। मैंने कुछ नहीं सोचा था। ज्योतिष से निर्णय करना साध्य है, इस विषय ने इसमें कुतूहल पैदा किया इसलिए पूछा, इतना ही।"

स्थपति ने जन्मकुण्डली और नवांश कुण्डली बनायी। भावकुण्डली भी बनायी; दशांश द्वादशांश कुण्डलियाँ भी बनायीं। अष्टक वर्ग का अंकन किया। सर्वाष्टक वर्गांकन भी कर लिया। त्रिकोणांश का भी हिसाब लगाया। इतना सब होने तक शान्तलदेवी चुप रहीं। सबको अच्छी तरह गुनने के बाद स्थपति ने कहा, "इस जातक के एक बड़ा भाई और एक छोटा भाई होना चाहिए।"

"ठीक है, विवाह?"

"हुआ है।"

"कब?"

"तारण संवत्सर में पहला विवाह।"

"अर्थात्।"

"उस विवाह के बाद ही इस जन्मपत्री का सम्पूर्ण फलयोग प्राप्त है। जन्म स्थान में प्रभावशाली ग्रह होने के कारण इस जातक को श्रेष्ठ पद मिलना ही चाहिए।"

"कुछ और अधिक स्पष्ट कर सकते हैं?"

"वंश-परम्परा से प्राप्त अधिकार अग्रज से अनुज को मिलना चाहिए।"

"कब मिलेगा?"

स्थपति ने सोचा, गुना और बताया, "मिल गया होगा न? विवाह के नौ वर्ष के अन्दर मिल चुका होगा न? तो···" स्थपति ने बात वहीं रोक दी।

"क्यों रुके? सन्देह क्या है?"

"मृत्यु का प्रश्न नहीं पूछना चाहिए। इसलिए···"

"सच है। आपकी कल्पना सच है।"

"कल्पना नहीं। यह कुण्डली बताती है।"

"फिर ?"

"कलत्र पर कलत्र का योग है।"

"तो पहली पत्नी ?"

"थोड़ा ठहरिए।" फिर स्थपति ने गुना और बताया, "वे जीवित हैं। परन्तु कटे-कटे-से।"

शान्तलदेवी के चेहरे पर एक तरह की हँसी झलकी और लुप्त हो गयी। स्थपति ने इसे देखा और पूछा, "क्यों ? मेरी बात सन्निधान को जँची नहीं।"

"मैंने तो नहीं कहा। अच्छा, आगे ?"

स्थपति ने उंगलियों से हिसाब किया। तीन-चार-पाँच-छः ······

"क्यों स्थपतिजी, आपकी एक पत्नी रही, उसे छोड़कर चले आये और दूसरों को इतनी पत्नियाँ क्यों बताते जाते हैं ?"

"जन्मपत्री में जो दिखता है उसका हिसाब लगा रहा था। मुझसे क्या होता है ?"

"अभी कितनी पत्नियाँ हैं ?"

"दुर्मुखि संवत्सर की भी मिलाकर चार पत्नियाँ।"

"इनमें जीवित कितनी हैं ?"

"सभी जीवित हैं।"

"इतने विवाहों का परिणाम ?"

"मनःक्लेश।"

"किसे ?"

"सम्बन्धित सभी के लिए।"

"आपकी इस बात का आधार ?"

"जीवन का अनुभव।"

"मैंने ज्योतिष का आधार जानना चाहा।"

"जीवन के अनुभव को छोड़कर ज्योतिष है कहाँ ?"

"तात्पर्य ?"

"उस शास्त्र के सूत्रों की रचना ही अनुभवजन्य विषयों के आधार पर हुई।"

"तो कभी-कभी फल का निर्णय दोषपूर्ण भी हो सकता है न ?"

"हो सकता है। परन्तु ऐसा प्रसंग विरला ही होता है। हज़ारों में एक-आध ही।"

"जिसके बारे में हम सोच रहे हैं वही उन हज़ारों में एक हो तो ?"

"अर्थात् मैंने जो कुछ कहा वह सन्निधान को विश्वसनीय नहीं लगा। वास्तव में मैं ज्योतिषी नहीं हूँ। सन्निधान भी इस शास्त्र से परिचित हैं। इसलिए अब तक जो बातचीत हुई उसे केवल विचार-विनिमय मात्र मान सकती हैं।

कौन-सी बात सही नहीं हुई है, सो बताने पर फिर गुनकर बताया जा सकता है।"

"मैं आपकी परीक्षा नहीं कर रही हूँ। यों ही सहज पूछ लिया। आपने भी सहज ही उत्तर दिया।"

"यह जन्मकुण्डली किसकी है?"

"केवल कल्पना है। अब एक जानी-पहचानी जन्मपत्री पर विचार करेंगे। कर्काटक लग्न, लग्नाधिप लाभ में उच्च है। तीसरे में शनि, सप्तम में कुज उच्च; नीच गुरु, अष्टम में रवि, शुक्र। भाग्यस्थान में बुध नीच। कर्म-सुख स्थान में राहु-केतु। इस कुण्डली का फल बता सकेंगे?"

"इस जन्म-पत्री के अनुसार जातक को चार तगड़े राजयोग हैं। बहुत कीर्तिशाली होकर प्रगति पाने का योग इस जातक को है। परन्तु माता-पिता को खोकर दूसरों के आश्रय में पलकर बढ़ने का योग है···तो यह जन्मपत्री दण्डनायक बिट्टियण्णा की है?"

"हाँ, अब आपने जो बताया उसका क्या आधार है?"

"मोटे तौर से कुज, चन्द्र, शनि—इनका आपस में कोनों में रहना, मातृस्थानाधिपति और पितृकारक रवि का लग्न से अष्टम में रहना, इन दोनों ग्रहों और शनि का षष्ठाष्टक होने के कारण नष्ट ही होगा। गुरु का वीक्षण लग्नाधिपति और लग्न की ओर होने के कारण यह उत्तम आश्रय को सूचित करता है।"

"तो आपके ज्योतिष के ज्ञान को मान्यता मिलनी ही चाहिए।"

"सन्निधान यह मानें तो वह मेरा सौभाग्य है।"

"सो क्या?"

"सन्निधान मेरे निर्णय को मान्य कर सकती हैं, इसलिए।"

"परन्तु आप भी हज़ारों में एक बार भूल कर सकते हैं न? आपके जीवन की इस विचित्र घटना के लिए कारणभूत वह जन्मकुण्डली याद है?"

"है। वहाँ जन्म द्वितीया रविवार स्वाति नक्षत्र है। साथ ही चन्द्र सूर्य और राहु एक साथ हैं। ऐसी स्थिति में उस शिशु की जन्मदात्री का पति उसका कारण नहीं, कोई अन्य पुरुष है इसमें शंका के लिए पूरा आधार है।"

"सम्पूर्ण जन्म-कुण्डली का विवरण बताइए।"

स्थपति ने पूरी जन्मकुण्डली बतायी।

"परन्तु यहाँ गुरु लग्न का वीक्षण करता है न? इसकी ओर आपका ध्यान क्यों नहीं गया?"

स्थपति ने चकित होकर देखा और कुछ सोचकर बताया—"वह गुरु नीच है।"

"नीच गुरु को नीच भंग राजयोग है न स्थपतिजी?"

स्थपति मौन रहा।

"अच्छा इस बात को अब यहीं तक छोड़ दीजिए। ईश्वरेच्छा के सामने कोई क्या कर सकेंगे?" आपका यह अभिलषित एकांत संदर्शन बहुत समय तक हुआ। आपका बोझ उतर गया न?"

"अन्दर काँटे की तरह जो चुभ रहा था उसे निकालना चाहा। परन्तु अब काँटे का दूसरा छोर भी उसी तरह तीव्र होकर चुभने लगा है। इस ओर से भी चुभता है, उस ओर से भी।"

"चुभते-चुभते वह स्वयं सहज हो जायेगा। आप कुछ समय तक इस सम्बन्ध में सोचें नहीं। खुले हृदय से आपने सारी बात मुझसे कह दी, यह अच्छा हुआ। अब आगे की बात मुझ पर छोड़ दीजिए।" कहकर शान्तलदेवी उठ खड़ी हुईं मानो स्थपति को जाने की सूचना दे रही हों।

वह उठ खड़ा हुआ और बोला, "एक नम्र निवेदन है। अनुग्रह करें।"

"क्या?"

"मन्दिर के बाहरी सौन्दर्य को बढ़ाने के लिए अब जो शिला-मूर्तियाँ बन रही हैं, उनमें विविधतापूर्ण सजीवता भरने के लिए, सन्निधान कुछ भाव-भंगियों की मुद्राएँ कर दिखावें, मैं सन्निधान के समक्ष एकान्त में चित्रित कर लूँगा।"

"ओह! वह बिट्टिगा की सलाह आपके मस्तिष्क में कुरेद रही है। यह कैसे हो सकेगा, स्थपतिजी? एक शिल्पी की इच्छा के अनुसार भाव-भंगिमाओं को एकान्त में पट्टमहादेवी दें और वह प्रकट हो जायँ तो उसका परिणाम क्या होगा इस पर आपने विचार भी किया है?"

"सन्निधान अनुग्रह करें तो मन्दिर को एक स्थायी सौन्दर्य प्राप्त होगा। अनुग्रह न कर सकें तो वह राष्ट्र का दुर्भाग्य है। मैं एक अत्यन्त साधारण मनुष्य हूँ। अधिक कह नहीं सकता।"

"राष्ट्र के लिए हर तरह के त्याग को मैं तैयार हूँ। परन्तु इस दुनिया में प्रत्येक की अपनी-अपनी सीमाएँ होती हैं। उस सीमा को लांघना आसान नहीं। इसलिए शीघ्रता में कोई निर्णय नहीं ले सकती। मैंने जान लिया है कि आप क्या चाहते हैं? किस तरह आपकी अभिलाषा को पूरा करना होगा—इसपर विचार करना पड़ेगा। अब आप अपने काम पर जाइए।" कहकर घण्टी बजायी। स्थपति ने प्रणाम किया। द्वार खुला। चट्टला अन्दर आयी। जाते-जाते स्थपति ने उसे देखा। उसने परदा हटाया। रेविमय्या अन्दर आया।

"बहुत वक्त हो गया, है न रेविमय्या? स्थपति की राम-कहानी सुनने में समय का पता ही नहीं चला। उनकी आत्मा अब पक्वावस्था में है। इनसे अनेक वस्तु-रूपों का निर्माण होगा। तरह-तरह के सुन्दर रूपों की कल्पना करने के लिए अब क्षेत्र तैयार है। क्योंकि उनका बोझ अब उतरकर हल्का हो गया है।

चलो !" रेविमय्या ने क़दम आगे बढ़ाया। शान्तलदेवी उसके पीछे चलने लगीं। चट्टला भी साथ चल दी।

उधर यादवपुरी में बिट्टिदेव-लक्ष्मीदेवी का दाम्पत्य जीवन अत्यन्त आनन्द में बीत रहा था। लक्ष्मीदेवी ने अपने अब तक के जीवन में किसी भी तरह के वैभव को नहीं देखा था। मन्दिर के प्रसाद-चढ़ावे पर ही पली थी। जब कभी कोई धनी भक्त मन्दिर में आता तो उसके वैभव को देखकर कभी ईर्ष्या भी उसमें उत्पन्न होती थी और भोगने की लालसा भी।

अब उसको देखकर दूसरों के मन में ईर्ष्या उत्पन्न हो—ऐसी स्थिति उत्पन्न हो गयी थी। इस हद तक उसकी आशाएँ पूर्ण हो गयी थीं, जिसकी वह कभी कल्पना भी नहीं करती थी। रानी की पदवी उसे मिल गयी तो वह समझने लगी कि वह स्वर्ग में रह रही है। उसका यों सोचना ग़लत भी नहीं था। इस अल्पवय में ऐसा वैभव उसकी कल्पना से बाहर था। इंगितमात्र की देर हो कि सेवक-सेविकाएँ तैयार! मनचाहा भोजन तुरन्त उपस्थित हो जाता। आभूषणों की कमी नहीं कितना भी सजाये। वास्तव में वह सोच भी नहीं पाती थी कि जो मिला है, उसे कैसे भोगना और उपयोग में लाना चाहिए। ऐसी वातावरण में वह यादवपुरी के राजमहल के अन्तःपुर में निवास कर रही है। वह सोचती थी कि जीवन का अक्षुण्ण सुख और सम्पत्ति तथा तृप्ति उसी के भाग्य में है। उसके जैसा भाग्यशाली कौन?

उसका अभिभावक-पालक-पिता तिरुवरंगदास भी उसके पद से लाभ उठाने की धुन में था। यादवपुरी में उसकी प्रतिष्ठा कुछ बढ़ गयी थी। अब अपनी पालित पुत्री को देखने के बहाने वह राजमहल में अधिकाधिक आने-जाने लग गया था। यह किसी को मालूम नहीं होता कि वह राजमहल में करता क्या है। परन्तु उसकी बातें सुनकर लोग समझने लगे थे कि वह वास्तव में महाराज का आप्त सलाहकार है। उधर वह धीरे-धीरे अपने अधिकार को जमाने और फैलाने में लगा था। कुछ लोगों को उसके अधिकारों का ताप भी अनुभव होने लगा था। एक साधारण धर्मदर्शी का इस तरह अपने अधिकार की सीमा से बाहर अधिकार बढ़ाना, कुछ लोगों के लिए असह्य हो उठा था। छोटी-मोटी शिकायतें मन्त्री नागिदेवण्णा तक पहुँचीं। उन्होंने शिकायत करनेवालों से कहा, "महासन्निधान ने धर्मदर्शी की लड़की से विवाह किया है। हमें सुनकर संयम से बरतना होगा।

इस तरह की बातों को बढ़ाते जाएँगे तो वह रानी द्वारा सन्निधान की धारणाएं तक बदलवा सकता है। तब हमें निर्दोष होते हुए भी राजा का कोपभाजन बनना पड़ेगा। अब तो सन्निधान शीघ्र ही राजधानी जानेवाले हैं। तब यह धर्मदर्शी भी वहाँ चला जायेगा। बुद्धिमानी इसी में है कि चुप रहा जाय।"

मन्त्री ही जब यों कहेंगे तो साधारण व्यक्ति क्या कर सकेंगे? फिर भी शिकायत करनेवालों में से एक गण्यमान व्यक्ति ने कहा, "मन्त्री महोदय को अन्यथा नहीं लेना चाहिए। हमारे राजघरानेवालों ने अब तक कभी व्यक्ति के प्रभाव के वशीभूत होकर कुछ नहीं किया है। कोई भी बात उनके समक्ष प्रस्तुत हो तो उस पर वस्तुनिष्ठ होकर विचार करते आये हैं। इसलिए मेरी राय में सन्निधान को बता देना अच्छा है।"

"मुझे जो ठीक लगा, उसे मैंने कहा। मानना न मानना आपके हाथ। सन्निधान अब छोटी रानी के यौवन-ऐश्वर्य के उपभोग में निरत है। यही कारण है कि पट्टमहादेवी और अन्य रानियाँ यहाँ न रहकर, चली गयी हैं। ऐसी स्थिति में विशेष विवरण देने की आवश्यकता नहीं।"

"तो आपकी राय में अब सन्निधान छोटी रानी की हाथ की कठपुतली...?"

"न, न, मैंने यह नहीं कहा।"

"कहा तो नहीं, संकेत तो यही है न?"

"मैंने केवल तात्कालिक व्यावहारिक बात बतायी है। इससे अधिक मैं कुछ नहीं कह सकता। सन्निधान यदि किसी के हाथ की कठपुतली हो सकते थे तो केवल पट्टमहादेवी के हाथ की। मगर पट्टमहादेवी का स्वभाव अपने ढंग का है। उनकी उदारदृष्टि सहज सुलभ नहीं। अभी छोटी रानी की अवस्था ही यौवन-सुख की है। यह सोचकर स्वयं ही दूर रखना उन्होंने ठीक समझा। यह अनुभवियों का मार्ग है। इसलिए अभी सन्निधान के एकान्त जीवन में चिन्ता उत्पन्न करना या ऐसी कोई बात कहना हम उचित नहीं मानते।"

"तब हम भी प्रतीक्षा करेंगे। फिर भी आप अपने ढंग से धर्मदर्शी को संकेत कर दें कि वे व्यवहार की अपनी रीति को बदलें।"

"उसमें क्या, बता देंगे। वे भी यहाँ के नहीं हैं। बाहर से आये हैं। हमारे राज्य की रीतिनीति से परिचित नहीं हैं।" यह कह बात वहीं समाप्त कर दी।

इन बातों के बारे में महाराज कुछ नहीं जानते थे। प्रतिदिन धर्मदर्शी मन्दिर में पूजा-अर्चा के बाद चरणामृत और प्रसाद महाराज और रानी को दे आया करता था। विशेष बातचीत के लिए मौक़ा ही नहीं। तीर्थ-प्रसाद दे आना प्रतिदिन का नियम बन गया था। महाराज के पास वह केवल क्षण-भर के लिए रहता; किन्तु रानी के पास कुछ समय बिताता था। गांव के प्रमुख व्यक्तियों के द्वारा जो

सूचना मिली थी, उसके सम्बन्ध में सचिव नागिदेवण्णा ने धर्मदर्शी से एक बार कहकर, उसे पोय्सल राज्य की रीति-नीति और व्यवहार आदि का परिचय दिया भी था। उन्होंने बताया था, "आम लोगों के समक्ष राजमहल से सम्बन्धित बातों को प्रकट नहीं करना चाहिए और अपने बड़प्पन के प्रदर्शन की दृष्टि से लोगों के सामने ऐसा करना अच्छा नहीं। इसका परिणाम बुरा होगा। अभी तो लोग आपको रानीजी से सम्बन्धित व्यक्ति मानकर चुप हैं, मैंने भी उन लोगों को रोक रखा है। मेरी बात को भी न मानकर, वे आपके बारे में सन्निधान तक न पहुँच जायें—इसका ध्यान रखकर लोगों से बरताव करें।" मन्त्री नागिदेण्णा की यह सलाह धर्मदर्शी के लिए अच्छी नहीं लगी। मगर इसके विरोध करने का भी साहस नहीं हुआ। चुपचाप मान गया और अपने मन में उसने निर्णय कर लिया कि इस बात को रानी से कहूँगा। अवसर पाते ही रानी से कहा, "बेटी, मैंने बड़ी आशा लेकर तुमको रानी बनाया।"

"श्री आचार्यजी ने आपको यहाँ बुलवाया, तभी न आपके मन में यह विचार उत्पन्न हुआ ?" लक्ष्मीदेवी ने कहा।

"लक्ष्मी ! तुम मेरी औरस पुत्री नहीं हो। भगवान् की भेंट हो मेरे लिए तो। मैंने अपनी पुत्री की तरह तुम्हें पाला-पोसा। तुमको क्या पता कि तुम्हारे माँ-बाप कौन हैं और न मुझे ही पता है। सब लक्षणों से सम्पन्न उत्तम कुल संजात मानकर जन्म-जात वैष्णव की तरह मैंने तुम्हें पाल-पोसकर बड़ा किया। पोय्सल राज्य के बारे में यहाँ से आनेवाले यात्रियों से सूचना मिला करती थी। यह समाचार भी संक्षेप में ज्ञात हुआ था कि राजा ने श्री वैष्णव मत को श्री आचार्यजी से स्वीकार किया है। तब मुझमें एक आशा पैदा हुई। क्यों यह आशा उत्पन्न हुई सो तो ईश्वर ही जानें। यह सत्य बात है कि आशा उत्पन्न हुई अवश्य। आज तुम रानी बनी हो तो वह इसी का फल है। मेरी भी यही अभिलाषा थी। इसीलिए मैं तुमको साथ लेकर यहाँ आया। आचार्यजी ने तो मुझे बताया नहीं। मैं भी उनका शिष्य हूँ, आने के बाद मुझे एक धन्धे की आवश्यकता थी तो यह धर्मदर्शित्व मिला। यथासम्भव आचार्यजी के आदेश का पालन करते हुए मैंने अपनी आशा के अनुसार वांछित फल प्राप्त किया। कैसा और क्या-क्या किया—यह सब मत पूछो। क्योंकि मेरे लिए अपने सुख से अधिक तुम्हारा सुख प्रमुख है। तुम्हारे विवाह की समस्या थी। किसके साथ तुम्हारा विवाह हो—यह बात समस्या बनकर मेरे सामने खड़ी थी। तुम्हारे माता-पिता मेरी तरह जन्मजात वैष्णव ब्राह्मण थे या नहीं, पता नहीं। इसलिए मैं किसी वैष्णव-ब्राह्मण से तुम्हारा विवाह नहीं कर सकता था। यों किसी कुलशील-हीन से तुम्हारा विवाह कर देना भी नहीं चाहता था। वास्तव में तुम भी औरस पुत्री की तरह मुझे प्यार करती आयी हो। तुम्हारे जीवन को सुखी देखने की मेरी इच्छा भी

अनुचित नहीं थी। तुम्हें रानी बनाने का मेरा प्रयत्न भी सफल हो गया। फिर भी इधर कुछ समय से मेरे मन में एक शंका उत्पन्न हो गयी है इसलिए मैं यह जानना चाहता हूँ कि अब तक के इस राजमहल का तुम्हारा जीवन तुम्हें कैसा लग रहा है?"

"इससे बढ़कर भाग्य क्या मिल सकेगा, पिताजी ? मैं आपके हाथ में न पड़कर किसी और के हाथ लग जाती तो पता नहीं मेरा जीवन क्या होता ? कौन जाने ?" लक्ष्मीदेवी ने कहा।

"तुम्हारा भाग्य लिखनेवाला ब्रह्मा भी अपने लिखित को नहीं बदल सकता, बेटी। इसलिए यह भगवान का ही काम है कि उन्होंने तुम्हें मेरी झोली में डाल दिया।"

"हम पूर्वजन्म में पिता-पुत्री ही थे—यही कहना पड़ेगा।"

"अब पूर्वजन्म की बात क्यों बेटी, इस जन्म की ही बात तुम अपने ही बारे में नहीं जानती हो। मैं भी नहीं जानता। तुम्हें छोड़कर मेरा कौन है ? बेटी, मेरा सारा भविष्य तुम पर ही अवलम्बित है। तुम सुखी रहोगी तो मेरी देखभाल ढंग से करोगी। इसलिए तुम्हारे जीवन के बारे में पूछा।"

"पिताजी ! महाराज बहुत अच्छे हैं। वे मुझे बहुत प्यार करते हैं। मैं कुछ माँगूँ वे अस्वीकार नहीं करते। मुझे ही सूझता नहीं कि क्या पूछना चाहिए।"

"सो तो ठीक है। महाराज बहुत उदार हैं। आचार्यजी की बात उनके लिए वेद-मन्त्र है। मैंने यह नहीं पूछा। मैंने पूछा कि राजमहल के लोग तुम्हें कैसा मानते हैं?"

"कैसा मानते हैं ? इनके क्या माने ? रानी ही की तरह मानते, देखते हैं। बहुत गौरव से व्यवहार करते हैं।"

"अर्थात् कोई ऐसा व्यवहार नहीं हो रहा है, जिससे तुम्हें दुःख हो।"

"ऐसा क्यों होगा ? उन्हें पता है कि मैं रानी हूँ और तिस पर महाराज की अत्यन्त प्यारी हूँ।"

"यह बुद्धिमानी की बात हुई। पुजारी घराने में बढ़नेवाली तुमको यहाँ का वातावरण ठीक लगेगा या नहीं—यही मेरा संशय था। बेटी, नवीन दाम्पत्य का जीवन सदा ऐसा ही हुआ करता है। बहुत रसमय लगता है। इस रसानुभव की धुन में अपनी सजगता को भुला न देना। इसलिए तुम सदा महाराज से ऐसा ही बरतना कि जिससे तुम उनकी चहेती ही बनी रह सको।"

"इसका आशय ?"

"जितनी तुम उनकी चहेती बनकर रहोगी, उतनी ही अधिक वे तुम्हारी बात मानेंगे। यह कला तुममें रहनी चाहिए।"

"अब तक जो बात नहीं कहा करते थे, वह आज क्यों आपके मुँह से

निकल रही है ?"

"यह बताओ कि तुम्हारा मैं क्या लगता हूँ ?"

"पिता।"

"महाराज को ?"

"ससुर।"

"तो मेरे लिए वह स्वातन्त्र्य नहीं है ?"

"कौन कहता है कि नहीं है ?"

"मन्त्रीजी ने आज एक बड़ा भाषण ही दे दिया। कहते हैं कि मुझे यह कहना नहीं चाहिए कि मैं महाराज का ससुर हूँ।"

"क्यों ?"

"ऐसा कहने का अर्थ, बताते हैं, अपनी प्रतिष्ठा व हैसियत को बढ़ाना है। इसलिए मुझे यह कहना नहीं है। राजमहल के विषय में बाहर कहीं किसी से कुछ नहीं कहना चाहिए।"

"सो बात क्या है, मुझे मालूम नहीं पिताजी ! एक बार महाराज ने स्वयं मुझसे कहा था कि राजमहल में कोई भी बात हो, वह यहीं तक सीमित रहनी चाहिए। बाहर किसी को भी पता नहीं चलनी चाहिए।"

"यह सुन, तुम चुप रह गयी बेटी ?"

"नहीं ! मैंने पूछा, 'क्यों ?' उन्होंने कहा, 'एक बात कहें तो उसे सैकड़ों रूप देकर लोग तरह-तरह की बातें चलायेंगे। इसलिए ऐसा अवसर नहीं देना चाहिए।' मुझे भी उनका कहना सही लगा।"

"ऐसा हो गया तो हम कनपटी लगे घोड़े की तरह हो जायेंगे। स्वतन्त्रता डरकर दूर भाग जायेगी। ऐसा जीना भी कोई जीना होता है ?"

"मनुष्य होने के बाद किसी-न-किसी नीति-नियम के अनुसार चलना चाहिए न पिताजी ? यदि कुछ नीति-नियम न हों तो समाज का अस्तित्व ही कहाँ रह सकता है ?"

"इसका तात्पर्य है कि तुम्हें कोई पाठ पढ़ाया गया है। बेटी, बुद्धिमती बनने से, मैं तुम्हें मना नहीं करता। परन्तु प्रज्ञावती बनने के ढोंग में त्याग के नाम से अपने अस्तित्व को ही समाप्त नहीं कर देना। पहले तुम श्रीवैष्णव, उसके बाद हो रानी। तुम्हारे किसी भी काम से उस श्री वैष्णवपन को अपमानित नहीं होना चाहिए। श्री वैष्णव तत्व में 'श्री' के ही द्वारा 'विष्णु' का अस्तित्व है। तात्पर्य यह कि स्त्री की बात को पुरुष माने—इसी में उस श्रीत्व का बड़प्पन है। अगर तुम अपने उस श्रीत्व की रक्षा न कर सकोगी तो हमारी रक्षा कैसे सम्भव होगी ?"

"क्यों पिताजी आपको ऐसा भय ? किसी ने आपके धर्मदर्शित्व में बाधा डाली है ?"

"जब तक श्री आचार्यजी का वरदहस्त है तब तक किसी को हस्तक्षेप करने का साहस नहीं।"

"तब आपको और कौन-सी रक्षा चाहिए ? आपको सुखी जीवन व्यतीत करने के लिए इस धर्मदर्शित्व से सबकुछ प्राप्त हो रहा है न ?"

"यह क्या बात है तुम्हारी बेटी ? रानी होने की हवा तो नहीं लग गयी। यही लगता है। मुझे क्या पड़ी है ? मैं अकेला। कहीं कुछ नहीं मिला तो भिक्षा-वृत्ति है ही, उसी से पेट भर लूंगा। या फिर मैंने जो थोड़ा-बहुत सीखा है, उसे दो-चार को पढ़ाकर पेट भर लूंगा। मुझे अपनी चिन्ता नहीं। जो भी चिन्ता है, वह तुम्हारे ही बारे में।"

"पिताजी, आपको इस सम्बन्ध में चिन्ता करने की कोई आवश्यकता नहीं। महाराज ने मेरे लिए सभी प्रकार की व्यवस्था की है।"

"बेटी, मैं तुमसे क्या कहूँ ? तुम अभी बच्ची हो। तुम हमेशा इसी यादवपुरी में नहीं रह सकोगी। तुम्हारा रहना तो राजधानी ही में निश्चित है। मैं यहाँ रह जाऊँ तो राजधानी में तुम्हारे बारे में सोचनेवाले कौन होंगे ?"

"यह क्या पिताजी, आप बच्चों की तरह बात कर रहे हैं ? मेरे बारे में सोचने-विचारने के लिए मुझसे प्रेम करनेवाले महाराज हैं। मेरी देख-रेख करने के लिए बड़ी रानियाँ हैं, पट्टमहादेवीजी हैं। इसके अलावा स्वयं रानी होने के नाते मेरे लिए स्वयंसिद्ध अधिकार एवं सुविधाएँ भी हैं।"

"ऐसा नहीं बेटी ! तुम्हें दुनिया का अनुभव कम है। पट्टमहादेवी रह सकती हैं। वे जैन हैं। शेष दोनों रानियाँ जन्मत: शैव हैं। रानियों में इस तरह धार्मिक मत-भेद हो गया तब श्रीवैष्णव होकर तुम अकेली रह जाओगी। धर्मसम्बन्धी कोई पेचीदगी उठ खड़ी हुई तो उसका निवारण कौन करेगा ? इसलिए जहाँ तुम रहोगी, वहाँ मुझे रहना होगा। इससे तुम्हें कोई कष्ट होगा ?"

"आपके मन में जो विचार है, वह स्पष्ट रूप से कह दीजिए। मैं उस सम्बन्ध में महाराज से बातचीत कर लूंगी।"

"अभी वेलापुरी में एक बहुत बड़ा मन्दिर बन रहा है। वह अब पूरा होने को है। वहाँ प्रतिष्ठित होनेवाले केशव भगवान को विजयनारायण के नाम से अभिहित करने का आदेश आचार्यजी ने दिया है महाराज को। वहाँ उस मन्दिर के धर्मदर्शी का काम मुझे मिल जाय तो धर्म कार्य और स्वकार्य सध जायेंगे। इतना काम करा दो तो बड़ा उपकार होगा।"

"यह क्या पिताजी ! मैं और आपका उपकार···? इसके लिए आप मेरे सामने गिड़गिड़ायें ?"

"हाँ बेटी, अब तो तुम एक राज्य की रानी हो और मैं ठहरा एक साधारण प्रजाजन, इसलिए गिड़गिड़ाना ही पड़ता है।"

"यह कौन-सा बड़ा काम है, पिताजी ! मैं महाराज से कहकर करवा दूँगी।"

"इतना हो जाय। तब देखना ऐसा कर दूँगा कि वेलापुरी के लोग रानी लक्ष्मीदेवी की प्रशंसा करते रहेंगे।"

"ओह ! यह सब आशा मैं नहीं रखती। मुझे एक दुर्लभ गौरव मिला है। इतने से मुझे तृप्ति न मिले तो अन्य किसी वस्तु से तृप्ति नहीं मिल सकती। इसलिए तरह-तरह की अण्ट-सण्ट बातों के बारे में आप कुछ मत सोचें।"

"अच्छा, जाने दो; जब तुमको ही नहीं चाहिए तो मुझे इन बातों से क्या ? मुझे वहाँ विजयनारायण भगवान की सेवा करने के लिए अवकाश मिल जाय, यही पर्याप्त है। उन भगवान की सेवा से ही मैं कृतार्थ हो जाऊँगा।"

"वही हो, पिताजी।"

"यह प्रस्ताव महाराज के सामने कैसे प्रस्तुत करोगी ?"

"कैसे, क्या कहूँगी—आपकी ऐसी इच्छा है, उसे पूरा करें।"

"तो यही होगा न कि मैंने गिड़गिड़ाकर माँगा।"

"अब आप जो कर रहे हैं, वह वही है न ?"

"क्या कहा ? मैं गिड़गिड़ा रहा हूँ ? अच्छा हुआ। इतने प्रेम से तुम्हें पाला-पोसा और रानी बनाया। ऐसे तुम्हारे बाप को अब तुम्हारे सामने हाथ पसारना होगा ?"

"पिताजी, आपका यह वाक्चातुर्य मेरी समझ में नहीं आता। आपने माँगा, मैंने हाँ कहा। कहा कि महाराज से कहूँगी। इसी को आपने गिड़गिड़ाना कहा। मैंने माना।"

"इसका तात्पर्य तो यही हुआ न कि तुम्हें भी मेरा वहाँ जाना प्रिय नहीं।"

"मुझे भी—इसके क्या माने ? किसी अन्य को भी आपका वहाँ जाना प्रिय नहीं है क्या ?"

"दूसरों की बात मैंने नहीं कही। अभी यह तो हुआ न कि तुम्हें प्रिय नहीं। खैर, छोड़ो इस बात को। अच्छा अब मैं चलता हूँ।" कहकर तिरुवरंगदास उठ खड़ा हुआ।

"यों असन्तुष्ट होकर चले जायेंगे तो मुझसे सहज रहा जायेगा पिताजी ? यह बताइए कि इस विषय को महाराज के समक्ष कैसे प्रस्तुत करूँ ?"

"मैं क्यों बताऊँ ? लोग कहने लगेंगे कि मैं रानी को भड़काता रहा हूँ।"

"मैं जब कहूँ तब न ?"

"तो मेरा वहाँ जाना तुम्हें स्वीकार है न ?"

"अस्वीकार है, यह मैं किस मुँह से कह सकती हूँ ?"

"यदि तुम्हें स्वीकार है तो बताओ कि मेरे पिताजी चाहते हैं कि वे, जहाँ मैं रहूँ, वहाँ रहें। उनकी इस अभिलाषा को पूर्ण करें। वे मानेंगे। उन्हें भी यह

मालम है कि तुम्हारे लिए मुझको छोड़ दूसरा कोई अपना नहीं।"

"ठीक है पिताजी, वैसा ही करूँगी।"

धर्मदर्शी सन्तुष्ट हो चला गया। उसी दिन रात को रानी लक्ष्मीदेवी ने महाराज को जिस शय्या पर सन्तुष्ट किया था, उसी पर यह संकेत किया।

पुरुष को दैहिक सुख देकर ही स्त्री अपनी इच्छा को पूर्ण किया करती है, लक्ष्मीदेवी इस बात से पहले ही परिचित हो गयी थी। किसी गुरु ने उसे यह पाठ पढ़ाया है अथवा यह स्त्री की अपनी प्रतिभा-जन्य-विद्या है, कौन जाने?

परन्तु बिट्टिदेव ने इसका उत्तर तुरन्त नहीं दिया।

"क्यों मेरी इच्छा अनुचित है?"

"हमने ऐसा तो नहीं कहा।"

"तो स्वीकृति···?"

"रानी की माँग के दो पक्ष हैं। एक, बेटी होकर पिताजी के बारे में माँग करना, दूसरा व्यवस्था से सम्बद्ध है। जहाँ बेटी हो वहाँ पिता रहे, इसके लिए हमारी स्वीकृति है। इसे कैसे करें—यह सोचेंगे। परन्तु वेलापुरी के विजयनारायण भगवान् के मन्दिर के धर्मदर्शित्व के विषय में अकेले निर्णय नहीं ले सकते।"

"आप महासन्निधान हैं। आपकी आज्ञा को न मानने का साहस कौन कर सकता है?"

"अभी तो साथ रहनेवाली रानी ही कर सकती है।"

"यह आप क्या कह रहे हैं?"

"हमारा निर्णय निश्चित था। उस पर प्रश्न ही नहीं उठाना चाहिए था।"

"तो निर्णय करने का अधिकार किसी दूसरे के हाथ है?"

"वह अब धीरे-धीरे पता हो जायेगा। अभी यही निर्णय है। रानी चाहें तो उनके साथ ही रहें—यह व्यवस्था की जा सकती है। धर्मदर्शित्व के बारे में निर्णय वेलापुरी जाने के बाद वहाँ सभी की सलाह के अनुसार ही किया जायेगा।"

"तो आपकी राय है कि मेरे पिताजी में यह योग्यता नहीं है?"

"यह रानी की सन्निधान के बारे में अत्यन्त तात्कालिक रूप से दी गयी राय है। हमारे राज्य का एक अनुशासन है। उसी के अनुसार सब काम चलेंगे। महाराज होकर हम भी उस सामूहिक निर्णय से परे नहीं जा सकते। पोय्सल राजा स्वयंभू नहीं हैं।"

"तो सन्निधान ने मुझसे जो विवाह किया···"

"हाँ, सो भी सबकी सम्मति लेकर ही; तभी विवाह किया। इसीलिए पट्टमहादेवी और दूसरी रानियाँ यहाँ आयीं।"

"तो उनकी स्वीकृति न मिलती तो मैं अस्वीकृत हो गयी होती, यही न?"

"इसमें क्या सन्देह है ?"

"अर्थात् सन्निधान मुझसे हार्दिक प्रेम नहीं रखते।"

"यों कुछ-का-कुछ अर्थ नहीं करना चाहिए। सन्निधान का प्रेम न हो यह तो प्रश्न ही नहीं। प्रेम करने के बाद ही सलाह माँगी गयी। स्वीकृति मिलने से यह सिद्ध हुआ कि सन्निधान के प्रेम को मान्यता मिली। स्वीकृति न मिलती तो सन्निधान त्याग करने के लिए तैयार रहते।"

"यह तो बड़ी बिचित्र बात है ! दूसरे मना करें तो अपने प्रेम को त्याग कर देना।"

"अनेकता में एकता, विविधता में लक्ष्य एक को साधना हमारी रीति है। तुमको अभी पट्टमहादेवी का सहवास नहीं मिला। उसके प्राप्त होने पर तुम कुछ और ही तरह बनोगी।"

"तो क्या वे इतनी प्रभावशील हैं ?"

"उसका वर्णन नहीं हो सकता। हमारा जीवन उन्हीं के श्रेष्ठ आचरण के कारण कृतकृत्य है।"

"तो मेरी इच्छा सफल नहीं हुई न ?"

"देवी, इस विषय में आग्रह न करो। यहाँ बहुमत की मान्यता है। यह रीति सबको सन्तोष दे चुकी है। प्रजा अतृप्त और असन्तुष्ट हो तो राज्य में शान्ति-समाधान के लिए स्थान न रहेगा। न राज्य की प्रगति ही होगी। पोय्सल रानी होकर तुमको भी इसी रास्ते चलना होगा, जिस पर हम चल रहे हैं। राष्ट्र की प्रगति में तुम्हें इसी तरह सहयोग देना होगा।"

"मेरे पिता यदि वेलापुरी में धर्मदर्शी बनकर रहे तो उससे राष्ट्र के लिए आघात पहुँचेगा ? सदा भगवान् की सन्निधि में रहनेवाले राष्ट्र के लिए हानि-कारक काम वे क्या कर सकते हैं ?"

"देवी, अभी तुममें इन बातों को समझने योग्य प्रौढ़ता नहीं आयी है। तुम्हारे हठ और चर्चा करने की रीति को देखने से ही ज्ञात होता है कि ये बातें तुम नहीं कर रही हो, बल्कि कोई तुम्हारे अन्दर बैठकर कहलवा रहा है।"

"हाँ, मैं मूर्ख हूँ। अपनी कोई बुद्धि नहीं। दूसरों की बातों को ही मानती कहती हूँ। मैं पुजारी की बेटी ही तो ठहरी !" यों कुछ क्षोभ प्रकट करती हुई रानी ने व्यंग्य किया और मुँह फुलाकर बैठी रही।

"इस तरह का व्यंग्य हमें ठीक नहीं लगता। जो परम्परा चली आयी है, उसे छोड़कर हम नहीं चलेंगे। यह बात अब यहीं रुक जानी चाहिए।" महाराज ने कहकर विषय को यहीं विराम लगा दिया।

रानी लक्ष्मीदेवी का दुःख उमड़ आया। उसने करवट बदलकर उसे रोकने की कोशिश की। फिर भी दो-एक सिसकियाँ निकल ही गयीं।

बिट्टिदेव का मन उधर वेलापुरी की तरफ उड़ चुका था। वह मन-ही-मन सोचने लगा, "देवी, उस दिन जब तुमने सूचना दी, तब हमने इस विषय में इतना विचार नहीं किया था। आज जब वह प्रत्यक्ष हुआ तो तुम्हारी भविष्यवाणी के बारे में हम चकित हो रहे हैं। इस विवाह के लिए सम्मति न देती तो ऐसी स्थिति ही न आती। यह बात यहीं समाप्त हो जायतो अच्छा है। यदि फिर दुहरायी जाय तो उससे परिणाम अच्छा न होगा। इसीलिए हम जितना शीघ्र होगा वेलापुरी जायेंगे। यादवपुरी हमें अत्यन्त सुखद रही है, इस जगह पर क्षोभ पैदा न हो..."

दूसरे ही दिन उन्होंने इस भावना से प्रयत्न किया, और एकदम सन्निधान का वेलापुरी की ओर जाना भी निश्चित हो गया। वेलापुरी की ओर से किसी सलाह की प्रतीक्षा तक न करके वेलापुरी की यात्रा का विवरण भी वहाँ भेज दिया।

इतने में धर्मदर्शी तिरुवरंगदास को रानी लक्ष्मीदेवी के द्वारा इसका पूर्ण विवरण पता लगा। वह व्यवहारकुशल तो था ही। उसने समझ लिया कि उसे वेलापुरी बुलवाने की इच्छा नहीं है। उसे क्रोध आ गया। फिर भी वह कुछ कर नहीं सकता था। अब उसे इस सम्बन्ध में निर्णय करना था। उसे अब या तो यादवपुरी में धर्मदर्शी बनकर पड़े रहना था या रानी के साथ वेलापुरी जाकर अधिकार खोकर खा-पीकर पड़े रहना था—ये दो ही मार्ग रह गये थे। इन दोनों में से एक को चुनना था। अन्त में वह एक निर्णय पर पहुँचा। अभी अपने असन्तोष को प्रकट न होने देना चाहिए। राजदम्पती सपरिवार अपनी यात्रा करें। बाद में आचार्यजी के द्वारा अपने कार्य को साध लूँगा। यह सब विचार कर उसने रानी लक्ष्मीदेवी से कहा, "अच्छी बात है, जाने दो बेटी! भगवान् का सान्निध्य चाहनेवाले के लिए यहाँ या वहाँ—दोनों बराबर हैं। यहीं रहूँगा। यहाँ का धर्म-दर्शित्व आचार्यजी के द्वारा प्राप्त है। इसके लिए आचार्यजी का सम्पूर्ण आशीर्वाद है। राज्याश्रय में उनकी चित्तवृत्ति के अनुसार स्थिति बदल भी जाती है। उसके लिए कोई ठौर-ठिकाना नहीं। जिसे राजनीति में आसक्ति हो वे ही अपने को परिस्थिति के अनुसार बना लेते हैं। हमेशा पारलौकिक चिन्तनरत हम-जैसों को इन बातों की चिन्ता ही क्यों? हमें तो केवल तुम्हारा सुख मात्र चाहिए। इस समय एक बात याद रखो। राजमहल में कोई-न-कोई षड्यन्त्र होता ही रहता है। तुम्हें सदा सावधान और सतर्क रहना होगा। किसी पर एकदम विश्वास नहीं करना साथ ही, नौकर-नौकरानियों में से किसी-न किसी प्रमुख व्यक्ति को अपना बनाये रखना। इससे राजमहल में कहाँ क्या होता है, इन बातों की जानकारी मिलती रहती है, जिससे तुम्हें सतर्क रहने में सहायता मिलेगी।"

"राजमहल में इतना सब गड़बड़ है तो मेरा राजा से विवाह क्यों करवाया?

मुझे यह सब समझ में नहीं आता है ?"

"देखो बेटी ! तुम वैसे ही बुद्धिमती हो। परिस्थिति के अनुसार अपने को ढाल सकती हो। अनुभव धीरे-धीरे मार्गदर्शन करेगा। मैं किसी-न-किसी तरह वहाँ पहुँच जाऊँगा। इस पर तुम्हें चिन्ता करने की कोई आवश्यकता नहीं।"

"मेरी सब बातें सुनकर महाराज ने कहा कि यह तुम्हारी अपनी बातें नहीं। कोई दूसरा तुमसे कहलवा रहा है। जब उन्होंने ऐसा कहा, तब मुझे एक बात सूझी। पिताजी ! कोई आपका द्वेषी है, जिसने पहले ही आपके बारे में महाराज से कुछ कह दिया है।"

"हो सकता है।"

"ऐसा आपका द्वेषी कौन है ? आपको किसी के बारे में ऐसी शंका है ?"

"जो द्वेषी होंगे, वे अपना द्वेष प्रकट में नहीं दिखाते, बेटी। पीठ पीछे कान भरते हैं। मुझे कैसे पता होगा ? इसीलिए तो मैंने कहा कि वहाँ जाने के बाद सतर्क रहना। तुम्हारी ओर से कोई तुम्हारा विश्वासपात्र अपना व्यक्ति रहे तो सारी बातें पता रहेंगी। तब ऐसे द्वेषी को प्रकट में लोगों के सामने खड़ा कर उसी से कहलवा सकते हैं। मैंने किसका क्या बिगाड़ा है बेटी ? मुझे तुम जानती ही हो।"

"आपसे द्वेष करनेवाले दैवद्वेषी ही होंगे। उसका फल वे ही भुगतेंगे। आप मातृहृदय रखते हैं, यह बात मुझसे अधिक कोई नहीं जान सकता।"

"इतना ही पर्याप्त है, मेरे बारे में तुम्हारे मन में ऐसी भावना रहेगी तो इतना मेरे लिए पर्याप्त है। सारी दुनिया मुझसे द्वेष करे तो भी मैं उसकी चिन्ता नहीं करूँगा। अब बताओ तो आप लोगों की यात्रा कब होगी ?"

"शीघ्र ही प्रस्थान की बात सन्निधान ने कही थी। निर्दिष्ट रूप से यह नहीं बताया कि कब ?"

"तुमने पूछा नहीं ?"

"नहीं ! इसमें मेरा पूछना क्या है ? जब चलने को कहेंगे, तब चल देंगे। और क्या करना है ?"

"यदि समय मिले तो आचार्यजी के दर्शन कर आशीर्वाद पाकर जाते तो मेरी दृष्टि में ठीक होता, इसलिए कहा।"

"हाँ, मेरा ध्यान उस ओर नहीं गया। सन्निधान से इस पर विचार करूँगी।"

"वही करो। आप लोग वहाँ जाते हो तो मैं भी आचार्यजी का दर्शन पाकर लौट आऊँगा।"

"ठीक है।" रानी लक्ष्मीदेवी ने सम्मति दी। धर्मदर्शी वहाँ से चला गया।

लक्ष्मीदेवी ने उसी रात इस सम्बन्ध में महाराज से निवेदन किया।

महाराज ने कहा, "हमने भी यही सोचा है। देवी! तुम्हें भी यह बात सूझी, अच्छा हुआ। यात्रा कल सूर्योदय के एक घटिका बाद प्रारम्भ होगी। सारे सामान के साथ सेना रात को चाँदनी में ही प्रस्थान कर जायेगी।"

"हमारे साथ?"

"थोड़े-से घुड़सवार होंगे। पण्डित सोमनाथजी रहेंगे। कुछ नौकर-चाकर भी होंगे।"

"पिताजी भी आचार्य के दर्शन के लिए आना चाहते थे।"

"उन्हें कौन रोकता है? चाहें जब हो आ सकते हैं। हम लौटनेवाले नहीं, इसलिए वे अपनी इच्छा के अनुसार जब चाहें तब जा सकते हैं।"

लक्ष्मीदेवी के लिए आगे कुछ कहने के लिए शेष न रहा। वास्तव में यह बात पिता को बताने के लिए भी समय नहीं मिला। राजपरिवार ने निश्चित मुहूर्त पर पण्डितजी के साथ प्रस्थान कर दिया।

ब्रह्ममुहूर्त में धर्मदर्शी जो मन्दिर गया तो उसे पता तक न था कि राजपरिवार जा चुका है। जब कोई भक्त भगवान् के दर्शन करने के लिए आया तो उससे महाराज के प्रस्थान की सूचना धर्मदर्शी को मिली। सुनकर धर्मदर्शी को बड़ा आश्चर्य हुआ, साथ ही कुछ खटका भी। फिर भी उसने पूछा कि जब राजपरिवार ने प्रस्थान किया, तब कितने बजे थे। उसे जो पता था, सो बताया। धर्मदर्शी ने कहा, "अच्छा हुआ। नवदम्पती की यात्रा का मुहूर्त बहुत ही अच्छा है।"

उस भक्त ने पूछा, "क्यों? आप अपनी बेटी को विदा करने नहीं गये?"

"कन्यादान के बाद समाप्त! फिर हम सदा भगवान् के सन्निधान में रहनेवाले। यहाँ की सेवा ठीक समय पर होती रहे तो हमें तृप्ति और सन्तोष होगा। वह बेटी भाग्यवती है। पालनेवाले मुझे भी उसने गौरवान्वित किया। स्वयं ने भी अच्छा स्थान पाया।"

"पालित-पुत्री के रानी बन जाने से ही आपको इतना गौरव मिला है, अगर औरस पुत्री ही रानी बनती तो आपका गौरव कितना बढ़ गया होता!"

"शान्तं पापं, औरस पुत्री को यों देने के लिए क्या मैं इतना हीन कुल का हूँ? मैं जन्मतः श्रीवैष्णव ब्राह्मण हूँ। मेरी पुत्री, किसी अन्य जातिवाले से विवाह करे? तब मेरे जन्म की श्रेष्ठता क्या रही होती?"

"अब इस कन्यादान से आपकी पवित्रता पर कलंक नहीं लगा—ऐसा समझते हैं?"

"हाँ तो, क्योंकि मैंने जिस कन्या को पाल-पोसकर बड़ा किया, उनके वंश का या जाति का पता मुझे ही नहीं।"

"फिर तो यह एक तरह से जात बिगड़ने पर भी सुख प्राप्त करने का ढंग हुआ। है न?"

"सच बात मैंने कह दी। जो हुआ है सो दुनिया जानती है। चाहे कोई भी किसी भी तरह की राय रखे। मैं तो कृतार्थ हुआ। भगवान् ने कन्या दी, उसे एक अच्छी जगह दान कर दिया।"

"ठीक है धर्मदर्शीजी, तो आप मूर्तिप्रतिष्ठा के समय वेलापुरी जायेंगे न?"

"अभी यह कैसे कहूँ? भगवान् की जैसी इच्छा होगी। उसकी इच्छा कौन जान सकता है।"

"यादवपुरी में प्रचार है कि आप वहाँ धर्मदर्शी बनकर जायेंगे।"

"वड़ी अजीब बात है।"

"सुना कि आप ही ने यह बात देशिकाचार्यजी से कही।"

"वह कुछ ऊँचा सुनते हैं। कुछ कहें तो वे कुछ और ही सुनते हैं। उन्होंने ही पूछा कि वहाँ धर्मदर्शी बनकर जायेंगे? मैंने कहा, वह या यह, दोनों एक ही भगवान् हैं। मेरे लिए यहाँ भी ठीक है, वहाँ भी ठीक है।"

"अब की रथयात्रा के समय आचार्यजी क्यों नहीं पधारे?"

"यह सब बड़ों की बातें हैं। वे एक तरह से अपनी अन्तःप्रेरणा के अनुसार काम करनेवाले हैं। सम्भवतः उस समय उन्हें कुछ और करने की प्रेरणा हुई होगी, सो हम क्या जानें?···यों तो उन्होंने पधारने का वचन दिया था।"

"सच है। बड़ों की बातें ही ऐसी होती हैं। अपनी यात्रा के बारे में स्वयं रानी ने अपने पिता होने पर भी आपको सूचित नहीं किया। ऐसी स्थिति में आपका कहना सही ही लगता है।"

"इसीलिए हम किसी भी बात को लेकर सोचते ही नहीं। मैं और मन्दिर इतनी ही हमारी सीमा है। इस जगत्पिता की सेवा निर्विघ्न होती रहे—यही पर्याप्त है।"

वह माननीय भक्त चले गये। धर्मदर्शी प्रधान पुजारी के पास गये और, "मुझे सचिव से मिलना है, इसलिए वहाँ हो आऊँगा।" कहकर अपना उपरना और दुशाला सँभालकर वहाँ से निकल पड़ा।

मन्त्री से मिलने के उद्देश्य से सीधे राजमहल के कार्यालय में जा पहुँचा। वहाँ जाने पर पता लगा कि मन्त्रीजी भी महासन्निधान के साथ गये हैं और आचार्यजी का दर्शन कर आशीर्वाद लेकर महासन्निधान के राजधानी की ओर प्रस्थान करने के बाद वे इधर आवेंगे।

"इसका अर्थ यह कि मैं यहाँ अवांछित व्यक्ति हूँ। राजा को सुन्दर और युवती कन्या को देनेवाला मैं इतना शीघ्र अवांछित व्यक्ति बन गया? इसमें किसी का हस्तक्षेप अवश्य हुआ है। इसका पता लगाना होगा। उस हस्तक्षेपकारी का

पता लगाकर उसे दण्ड देना होगा। यदि मैंने यह काम न किया तो मेरा नाम तिरुमलाई का तिरुवरंगदास नहीं।" यही निर्णय करके वह वहाँ से मन्दिर न जाकर सीधे अपने निवास की ओर चला गया।

"कम-से-कम लक्ष्मी नौकर के द्वारा सूचना दे देती? मन्त्रीजी तो साथ थे ही। मैं उनके साथ आचार्यजी का दर्शन कर वेलापुरी जाने के सम्बन्ध में कुछ भूमिका भी बना देता। परन्तु उसे कौन-सी सन्दिग्धावस्था रही होगी सो तो विदित नहीं। जब मैंने कहा तो उसने 'हाँ' भी की थी। अब इस स्थिति में आगे क्या करना होगा? मन्त्रीजी को लौटने दें। उनसे कोई सूचना मिल जाय, तभी आगे की कुछ योजना बनायेंगे।" यों सोचकर उसने अपने मन को विश्राम दिया।

उधर महाराज सपरिवार सुरक्षित यदुगिरि पहुँचे। पूर्वसूचना होने के कारण वहाँ भव्य स्वागत की तैयारियाँ हुई थीं। आचार्यजी ने अपने विशिष्ट निवास में दैनिक अर्चन से विशेष पूजा की। राजदम्पती को आचार्यजी के हाथ से ही तीर्थ और प्रसाद प्राप्त हुआ। आण्डान सब कार्यों की देखभाल के काम में लगा रहा और अच्चान रसोई में मिष्ठान्न की तैयारी में। उसे नागिदेवण्णा के खान-पान की रुचि का परिचय तो था ही। राजमहल के भोजन से परिचित नागिदेवण्णा की रुचि के अनुसार खाना बने तो महाराज को भी रुचेगा, यह उसकी धारणा थी। रानीजी की रुचि के बारे में तो परिचित था ही। बहुत ही मज़ेदार भोजन हुआ। इसके बाद राजदम्पती का आचार्यजी से आप्त संदर्शन भी सम्पन्न हुआ।

कुशल-प्रश्न के बाद आचार्यजी ने अपनी गम्भीरवाणी में कहा, "महाराज! यह कन्या एक तरह से हमारे आश्रय में पली-बढ़ी है। उसे केवल धर्म-श्रद्धा का पालन करना ही मालूम है; उसे अन्य किसी भी बात का ज्ञान नहीं है। रानी बनने योग्य सारा कौशल उसमें है, यह हम नहीं मानते। इतना कहा जा सकता है कि सूक्ष्मग्राही बुद्धिमत्ता उसमें है। उसका हस्तलक्षण बड़ा प्रबल है। इसीलिए उस पर महाराज की कृपा हुई। वह एक बलवान ध्येयवादी राजपरिवार की रानी बनी, हमें इसका एक आश्चर्यजनक सन्तोष है। आपकी पट्टमहादेवी का मन कितना स्वच्छ और निर्मल है, यह हम सुन चुके हैं। एक साधारण हेगड़े के परिवार में जन्म लेकर भी अपने परिशुद्ध व्यवहार से आपके पितामह और माता-पिता के प्रेम का पात्र बनीं, इन सब बातों को हम जान चुके हैं। एक साधारण नौकर से लेकर महाराज तक सभी को समान प्रेमपूर्ण दृष्टि से देखती हैं। उनकी कार्य-दक्षता, व्यवहार-कौशल आदि सभी बातों से हम परिचित हैं। उन्होंने अपना सारा भाग्य आपको समर्पित किया है। उन्होंने आपके ही सुख के लिए कितना महान् त्याग किया है और कर सकेंगी, यह सब हम जानते हैं। विद्वेष में प्रेम और विष में अमृत उपजाने की क्षमता उनमें है। तो फिर आपके किसी भी काम से

उन्हें दुःख न हो, यह बात इस रानी को भी मालूम होना चाहिए। लक्ष्मी ! तुम रानी बनीं। तुम्हारा भाग्य ही ऐसा था। इस तरह का भाग्य कभी-कभी विपर्यास का निमित्त भी होता है। इस तरह के व्यवहार के लिए अवकाश न देकर, उस महामाता पट्टमहादेवी ने जिस उदारता से तुम्हें अपनी बहन के रूप में स्वीकार किया है, उसी तरह तुम्हें भी उनकी सुख-शान्ति की कामना करती हुई किसी भी तरह की विरसता को स्थान न देकर, अपने जीवन को राजपरिवार की एकता और प्रगति हेतु समर्पित कर देना चाहिए। अपनी स्वार्थ-साधना के लिए महाराज को कभी सन्दिग्धावस्था में न डालना। इस पोय्सल राज्य ने महाराज और पट्टमहादेवी के निर्मल बुद्धि-मिलन के फलस्वरूप उपजी महानता पायी है। ऐसी साधना के लिए तुम्हें भी सहयोग देना होगा। एक और बात है, उसे सदा स्मरण रखो। धर्म की बात को लेकर कभी किसी को किसी भी तरह से दुःखी न करना। हम विष्णु की आराधना करके जिसे साध सकते हैं, वह सब जिनेन्द्र की आराधना करके पट्टमहादेवी साध सकेंगी। भगवान् पर विश्वास रखना और पट्टमहादेवी पर विश्वास रखना दोनों एक ही बात हैं। वे तुम्हें बेटी से अधिक प्यार करेंगी, सौत की दृष्टि से कभी नहीं देखेंगी। वे इस सम्पूर्ण राज्य के लिए मातृतुल्य हैं। उनके आश्रय में रहकर तुम्हें विकास करना होगा। जितना आदर और गौरव तुम हम पर रखती हो, उतना ही आदर और गौरव तुम्हें पट्टमहादेवी पर रखना होगा। उन्हें दिया गया दुःख या उनके प्रति अपचार एक तरह मेरे प्रति ही अपचार करने, दुःख देने जैसा होगा। समझीं?"

आचार्यजी ने पट्टमहादेवीजी के विषय में जो कहा उसे रानी लक्ष्मीदेवी चकित होकर सुनती रही। अब तक राजमहल के नौकर-चाकरों एवं अधिकारी वर्ग से पट्टमहादेवीजी के बारे में प्रशंसा की बातें सुनी थीं। स्वयं महाराज के मुँह से भी सुनी थीं। परन्तु इन सबकी बातों का उसके मन पर कोई विशेष प्रभाव नहीं पड़ा था। वह केवल पट्टमहादेवी के प्रति सद्भावना रखती थी। दूसरे सभी लोगों की प्रशंसोक्तियों को केवल कर्मचारी वर्ग की सहज प्रशंसा ही समझती रही। परन्तु, अब जब स्वयं आचार्यजी ने ही पट्टमहादेवीजी के बारे में जो बातें कहीं, उन्हें सुनकर वह चकित रह गयी। वह कुछ कह नहीं पायी। एक-दो क्षण चुप रह आचार्यजी ने पूछा, "तुम्हारे पिताजी कुशल से हैं न?"

"कुशल हैं। वे भी साथ ही यहाँ तक आना चाहते थे। मुझसे कहा भी था।" रानी लक्ष्मीदेवी ने कहा।

"फिर क्यों नहीं आये?" आचार्यजी ने पूछा।

"हमारी यात्रा कब होगी, यह मुझे पहले मालूम न था। रात में महाराज ने कहा। महाराज ने यह भी कहा कि पास रहने के कारण जब चाहे तब उनको यहाँ आने-जाने की सुविधा तो रहती ही है। इसलिए हमारे प्रस्थान करने की

सूचना उन्हें नहीं दी गयी।" लक्ष्मीदेवी ने कहा।

आचार्यजी ने तुरन्त कुछ नहीं कहा। उन्होंने बिट्टिदेव की ओर देखा। वह गम्भीर ही बैठे रहे। बाद में सुरिगेय नागिदेवण्णा की ओर देखा। उन्हें राजमहल में क्या हुआ था, सो मालूम नहीं था। यह बात सुन उनका चेहरा कुछ फीका पड़ गया। आचार्य ने कहा, "महाराज को इस तरह से आज्ञा देना सकारण ही होना चाहिए।"

बिट्टिदेव ने कहा, "वेलापुरी के विजयनारायण के मन्दिर-निर्माण का कार्य समाप्तप्राय है। वहाँ मूर्ति-प्रतिष्ठा के उत्सव के लिए श्रीआचार्यजी अवश्य पधारें। वहाँ जाने के बाद वहाँ की स्थिति के अनुसार निवेदन भिजवाऊँगा।"

"हमारी ओर से महाराज और रानीजी रहेंगी न?"

"तो भी आपके अमृत-हस्त से प्रतिष्ठा हो यही हमारी हार्दिक इच्छा है। पट्टमहादेवीजी कायशुद्धि का व्रत-आचरण कर रही है।"

"क्या कहा ? कायशुद्धि ?"

"हाँ !"

"यह क्या···?"

"मन्दिर की शंकुस्थापना के समय से निरन्तर ब्रह्मचर्य का व्रत पालन कर रही हैं।"

आचार्य के चेहरे पर मुस्कुराहट झलक पड़ी। उन्होंने कहा, "उनका यह संकल्प देवमन्दिर के संकेत से भी परे है। वे कायशुद्धि का व्रत पालन करेंगी। उनमें इस तरह का संयम तो है ही, एक महान् त्याग भी निश्चित है। महाराज, आपके अनेक जन्मों के सुकृत का फल ही हैं पट्टमहादेवीजी ! उनकी इच्छा के विरुद्ध आप कभी कुछ न करेंगे।"

"उनकी स्वीकृति के बिना हम कुछ भी नहीं करते यह तो जानी-मानी बात है।"

"सो तो ठीक है। तो भी महाराज को एक बात सोचनी चाहिए। महाराज की कोई इच्छा उन्हें पता चल जाय तो उसे पूरी करने के लिए स्वयं की अनिच्छा रहने पर भी अपने को भूलकर वे उसे स्वीकार कर लेती हैं। इसलिए महाराज अपनी इच्छा प्रकट करते समय इस बात का विचार अवश्य करें कि उससे उन्हें कोई आघात या क्लेश तो नहीं? यह सोच-विचार कर ही अपनी आशा-आकांक्षाओं को प्रकट करना उचित है, हमें तो यही लगता है।"

"हमने उस दृष्टि से सोचा ही नहीं। फिर भी आचार्यजी का सुझाव हमें मान्य है।" बिट्टिदेव ने कहा।

रानी लक्ष्मीदेवी को कायशुद्धि का अर्थ पूरी तरह स्पष्ट नहीं हुआ। उसने सोचा कि एकान्त के समय इस बारे में जान लेंगे।

थोड़ी देर तक मौन छाया रहा। बाद में आचार्यजी ने अन्दर के द्वार की ओर दृष्टि डाली।

नागिदेवण्णा ने पूछा, "किसी को बुलाना था ?"

आचार्यजी ने कहा, "एंबार को आना था।" नागिदेवण्णा अन्दर गये और जल्दी ही लौटे। उनके पीछे ही एंबार और अच्चान दोनों आये। एंबार के हाथ में वस्त्राच्छादित विशाल पात्र था।

"यह राज-दम्पती को आशीर्वादपूर्वक दत्त दीक्षा-वस्त्र है। महाराज और पट्टमहादेवी इसे प्रतिष्ठा-महोत्सव के अवसर पर धारण करें। रानी लक्ष्मीदेवी के लिए भी अलग से है। अच्चान ! परात को महाराज के हाथ में दो।" आचार्य ने कहा।

महाराज उठ खड़े हुए और झुककर प्रणाम किया। लक्ष्मीदेवी ने भी प्रणाम किया। राजदम्पती के हाथों में अच्चान ने परात दिया।

"अच्छा, भगवान् का अनुग्रह पोय्सल राजवंश पर सदा रहे।" आचार्यजी ने अभय हस्त से सूचित किया।

"आज्ञा हो तो हम अब प्रस्थान करेंगे। प्रतिष्ठा के अवसर पर किसी तरह से वहाँ तक पधारने की कृपा करें।" बिट्टिदेव ने कहा।

"भगवान् की ऐसी इच्छा हो तो उसे कौन रोक सकता है ? आने की इच्छा हमारी भी है। देखेंगे।" आचार्यजी ने नागिदेवण्णा की ओर देखा और पूछा, "आपको आज ही यादवपुरी लौटना है ? आज ठहरकर कल नहीं जा सकेंगे ?"

"वैसा ही कीजिए मन्त्रीजी," बिट्टिदेव ने निर्णय सुना दिया। राजदम्पती के रवाना हो जाने के बाद नागिदेवण्णा ने फिर आचार्यजी से भेंट की। आचार्यजी ने नागिदेण्णा को बैठने के लिए कहा। पास रहे एंबार से कहा, "एंबार ! तुम किवाड़ बन्द करके बाहर ही रहो। कोई अन्दर न आये। जब तक हम न बुलावें, तब तक तुमको भी अन्दर प्रवेश नहीं।"

आचार्यजी का ऐसा आदेश उसने आज तक नहीं सुना था। आश्चर्य से उसने आचार्यजी की ओर देखा।

"सुना ? हमने जो कहा, एंबार !" आचार्यजी ने कहा।

"जो आज्ञा !" कहकर वह आज्ञा के अनुसार द्वार बन्द कर साँकल खींचने के बाद बाहर ही खड़ा रहा।

आचार्यजी ने नागिदेवण्णा से कहा, "हम समझते हैं कि आपको यादवपुरी की सारी बातें ज्ञात हैं।"

"सारी बातों से तात्पर्य ?"

"राजमहल और महाराज से सम्बन्धित।"

"सब पता है, यह तो नहीं कह सकता, फिर भी पर्याप्त जानकारी है इतना कह सकता हूँ।"

"हमारे तिरुवरंगदास के बारे में आप जानते हैं?"

"किस सम्बन्ध में, यह बतावें तो जितना जानता हूँ बता दूँगा।"

"वह लक्ष्मीदेवी का पालक पिता है न?"

"हाँ!"

"तो इसका तात्पर्य हुआ कि वह महाराज का ससुर है।"

"हाँ!"

"ऐसा होने पर भी पहली बार अपनी पुत्री को विदा करने के लिए भी उसे अवसर नहीं मिला तो समझना चाहिए कि दाल में कुछ काला है। उससे कोई अपराध या अपचार हुआ है?"

"मुझे इसका विवरण नहीं पता। महाराज के वेलापुरी जाने की सूचना मिली थी। प्रस्थान करने का मुहूर्त्त निश्चित नहीं हुआ था। तब उन्होंने मुझे भी सूचित किया था। उन्होंने कहा था राजदम्पती के साथ यहाँ तक आने की इच्छा है। यह भी बताया था कि रानीजी से कहा है। मैं भी सोच रहा था कि वे आयेंगे। परन्तु उनके न आने का कारण मुझे पता नहीं चला।"

"अपने साथ उसे न लाने की महाराज की इच्छा स्पष्ट है। तात्पर्य यह कि महाराज की तिरुवरंगदास के बारे में अच्छी राय नहीं। इसका कारण जानना है। अज्ञानवश उसने कोई त्रुटि की हो उसे समझाकर ठीक करना हमारा धर्म है। समधी होने के व्याज से अनावश्यक स्वान्त्र्यपूर्ण व्यवहारों में लगना, अधिक अधिकार प्रदर्शन उचित नहीं। वह कुछ अधिक ही डींग मारता है। वह एक तरह का धर्मभीरु है। लगता है कि उसने ऐसा कुछ कहा हो। इसलिए यदि आपको कुछ पता हो तो हमसे कहिए।" आचार्य ने कहा।

"आचार्यजी का कहना ठीक है। वे व्यावहारिकता से अनभिज्ञ हैं। इसलिए यों ही कुछ कह बैठते हैं। मैंने भी इस सम्बन्ध में उनको समझाया है।" कहकर उन्होंने जो कुछ उससे कहा था, सो सब कह सुनाया।

"ठीक, हमारा सोचना ठीक ही निकला। आप यादवपुरी जाने के बाद, उसे यहाँ भेजिए। हमारी आपस में जो बातें हुईं और महाराज के साथ जो बातचीत हुई, इसके बारे में उससे कुछ न कहें।"

"जैसी आज्ञा!"

उस रात को वहाँ रहकर नागिदेवण्णा दूसरे दिन प्रातःकाल यादवपुरी आ पहुँचे। तिरुमलाई तिरुवरंगदास को आचार्यजी का सन्देश सुनाकर उसे आचार्यजी के पास भेज दिया।

महाराज के राजधानी में नयी रानी के साथ इतने आकस्मिक आगमन को लेकर कुछ हड़कम्प-सा मच गया। शान्तलदेवी महाराज के स्वागत के लिए जिस धूम-धाम से व्यवस्था करना चाहती थीं, वह थोड़े समय में कर देना सम्भव नहीं था। इसके लिए जितना समय चाहिए था, उतना नहीं था। उस थोड़े समय में ही बड़ी धूमधाम का स्वागत-समारोह हुआ। वेलापुरी को एक नयी शोभा प्राप्त हुई।

नागिदेवण्णा और मंचिअरस उपस्थित नहीं रहे। रानी बम्मलदेवी और राजलदेवी भी आसन्दी चली गयी थीं। उन्हें बुलवाने के लिए समय नहीं रहा।

वेलापुरी के पूर्व द्वार में यगची नदी के पार प्रधान गंगराज और अन्य दण्डनायकों ने तथा राजमहल के अधिकारी वर्ग ने महाराज का स्वागत किया। वेदोक्त रीति से स्वागत के बाद राजाशीर्वाद वेदघोष के साथ महाराज राजमहल के महाद्वार पर आये। महाद्वार पर पट्टमहादेवी ने नववधू को हल्दी-कुमकुम और सिन्दूर आदि मांगलिक द्रव्यों से तिलक देकर आरती उतारकर स्वागत किया।

उस दिन अधिकारी वर्ग के साथ नगरप्रमुखों को भोज में निमन्त्रित किया गया था। महाराज के एक और विवाह कर लेने की बात वेलापुरी पहुँच चुकी थी। इसलिए नयी रानी को देखने का कुतूहल सहज ही लोगों में उत्पन्न हो गया था। पट्टमहादेवी ने ही नयी रानी का परिचय अधिकारी वर्ग एवं आमन्त्रित नगरप्रमुखों से कराया।

इन आमन्त्रितों में स्थपति और कुछ प्रमुख शिल्पी भी रहे। महाराज को युद्ध में गये हुए एक साल से भी अधिक समय बीत गया था। इसे महाराज भी जानते थे। उन्होंने स्थपति में काफी परिवर्तन देखा था; उन्होंने पूछा, "स्थपतिजी को शायद वेलापुरी की जलवायु अच्छी लगी होगी।"

स्थपति ने कहा, "पट्टमहादेवीजी सब कुछ करा सकती हैं। जैसे माँ बच्चों को अपना लेती है; वैसे ही पट्टमहादेवीजी सबको अपना बना लेती हैं।"

"फिर भी पहले के वह स्थपतिजी यहाँ नहीं ठहरे न?"

"वह उन्हीं के लिए हानिप्रद है, दूसरों को नहीं।'

"सो तो सच है। आचार्यजी ने भी आपके बारे में बहुत कुछ पूछा।"

"वे प्रतिष्ठा के अवसर पर पधारेंगे न?"

"उनकी आने की इच्छा है, परन्तु आप ही का डर है।"

"डर! मेरा?"

"है न? फिर बिना कहे-सुने पहले की तरह चल दें तो? पहले की तरह कर बैठें तो क्या डर नहीं होगा?"

"अब बहुत कुछ बदल गया हूँ। उस समय मेरे मन में जो कलंक की

भावना थी, वह अब नहीं। पट्टमहादेवी ने चिकित्सा कर उसका निवारण कर दिया है। इसलिए मैं बिना कहे-सुने चला जाऊँ, यह सम्भव नहीं।"

"आपके मुँह से यह सुनकर हमें अपार संतोष हुआ। मन्दिर का काम कब तक पूरा हो जाएगा ?"

"वह कार्य समाप्तप्राय है। मुख्य मूर्त्ति भी अब एक-दो दिनों में पूर्ण हो जायेगी। कुछ अलंकृत मूर्तियों का बनना मात्र शेष है। वे कैसी हों, इसका निर्णय हो जाने पर चार दिनों का काम है। अभी निकट भविष्य में प्रतिष्ठा के लिए योग्य मुहूर्त्त हो तो मूर्तिप्रतिष्ठा के समारोह को सम्पन्न कर सकते हैं।"

"सुनते हैं कि आपका ज्योतिषशास्त्र में भी अच्छा अधिकार है। आप ही एक अच्छे मुहूर्त्त को निश्चित कर दीजिए। आचार्यजी के पास आमन्त्रण भिजवा देंगे।"

"ऐसा कहीं हो सकता है ? राजमहल के ज्योतिषी को मुहूर्त निकालना चाहिए और हमें उनका अनुसरण करना चाहिए।"

"पट्टमहादेवीजी ने हमें बताया है कि आप इस शास्त्र में भी बड़े निपुण हैं, निष्णात हैं।"

"उनका हृदय विशाल है। तुच्छ को भी महान बना देती हैं।"

"तो इसका यही अर्थ हुआ कि आपने पट्टमहादेवीजी को ठीक से समझा नहीं। वे गुणों की प्रशंसक हैं। जो श्रेष्ठ नहीं उसे वढ़ा-चढ़ाकर कहने वाली नहीं। सुनते हैं कि हम जब युद्ध-यात्रा पर निकले, तब आपने उसी समय गणित करके परिणाम बता दिया था। उसी तरह अन्य जन्मकुण्डलियों का भी विश्लेषण किया है। इसलिए आपकी जानकारी, आपके ज्ञान का स्तर क्या है, इस सम्बन्ध में उनकी उचित ही धारणा है।"

"मैंने भी इस विषय में असावधानी की थी, इस बात की ओर भी उन्होंने मेरा ध्यान आकर्षित किया है, उस असावधानी से मुझे परिचित कराया है।"

"कोई भी मनुष्य परिपूर्ण नहीं। कुछ-न-कुछ कमी रहती ही है। जल्दी में कुछ-न-कुछ असावधानी का काम कर बैठता है। इसलिए आप ही प्रतिष्ठा के लिए एक अच्छा मुहूर्त्त निकालकर बता दें।"

"यथामति विचार कर सूचित करूँगा। पर राजमहल के ज्योतिषी असन्तुष्ट न हों और यह न कहें कि यह संगतराश ज्योतिष में भी हस्तक्षेप करने लगा।"

"यह बात आपसे सम्बन्धित नहीं। आपको बताया गया कि हमारी क्या इच्छा है। आगे की बात से आपको क्या लेना-देना ?"

"जैसी इच्छा !"

"यह मन्दिर अनेक महान विशिष्टताओं का पुंज है। वास्तु-रचना, सौन्दर्य, विशालता, मत-सहिष्णुता आदि का संकेत बनकर एक नवीन उदाहरण बनकर

स्थायी रूप धारण करेगा। पट्टमहादेवीजी के अणु-अणु ने जैन तत्त्वानुष्ठान से
स्पन्दित होने पर भी इस भव्य कृति के निर्माण के लिए श्री वैष्णवत्व का ही रूप
दिया है। कन्नड जनता के इतिहास में यह एक भव्य साधना है। आचन्द्रार्क उनका
नाम स्थायी रहना चाहिए। इसलिए प्रतिष्ठा का मुहूर्त्त बहुत श्रेष्ठ होना
चाहिए।"

"इसे पोय्सल शिल्प के नाम से ही ख्यात होना चाहिए।"

"सबके साथ राजवंश का नाम जोड़ने की एक धुन चल पड़ी है। वास्तव में
आपके द्वारा निर्मित यह नवीन शिल्प है। आपके ही नाम पर इस नमूने को
स्थायित्व मिलना चाहिए।"

"मुझे अपने नाम का कोई मोह नहीं है। कोई भी कला कलाकार के नाम के
कारण स्थायित्व को प्राप्त नहीं करती। कलाकार की प्रतिभा को प्रकट होना हो
तो सहृदयतापूर्ण व्यक्तित्वों की आवश्यकता होती है। रसिक हृदय के आश्रय से
कल्पना रूप लेकर साकार बन सकती है। पोय्सल वंश उदारता से कल्पना को
रूप देने के इस कार्य में अपना हाथ न बँटाता तो यह महान कार्य इस तरह
साकार होकर प्रत्यक्ष न होता। उस स्थिति में मेरी कल्पना मेरे ही पास एक
पुलिन्दा बनकर रह जाती, यों भव्य रूप धारण कर खड़ी न होती। इस वास्तु-
रीति को पोय्सल नाम देने पर कोई अनुचित बात नहीं होगी। यह न्यायसंगत भी
है। क्योंकि यह किस समय का वास्तुशिल्प है—इसका संकेत होगा और
विविधतापूर्ण कला-कल्पना की प्रगति को भी द्योतित करेगा। महासन्निधान इस
शिल्परीति का पोय्सल नाम से अभिधान करने की अनुमति देने की कृपा करें। मैं
केवल व्यक्ति मात्र हूँ। राजवंश सम्पूर्ण राष्ट्र का संकेत है।"

"हम कोई नाम न दें। आनेवाली पीढ़ियाँ चाहे जो नाम दें। हमारी अभि-
लाषा केवल इतनी ही है कि यह मन्दिर स्थायी महत्त्व का रहे, क्योंकि यह हमारे
और पट्टमहादेवीजी के बीच की भिन्नता में अभिन्नतापूर्ण एकता का संकेत है।"

"एक दिन का अवकाश देने की कृपा करें।"

"वैसा ही हो।"

"एक बार महासन्निधान नयी रानीजी के साथ पधारकर अब तक जो रचना
हुई है उसे देखने की कृपा करें।"

"यह सब पट्टमहादेवीजी का दाय है।"

"आपकी इच्छा को महासन्निधान पूरा करेंगे।" शान्तलदेवी ने तुरन्त
कहा। बात वहीं समाप्त हुई। उस दिन के भोजन का समारम्भ सबके लिए
संतोषप्रद रहा। दूसरे दिन मन्त्रणा-भवन में यह निर्णय भी हुआ—'मूर्ति-प्रतिष्ठा
के साथ-साथ हिरण्यगर्भ, तुलापुरुष की प्रतिष्ठा, विजयोत्सव समारम्भ सम्पन्न हों,
इस अवसर पर महासन्निधान 'तलकाडुगोण्डा' की विरुदावली से यथाविधि

विभूषित हों।

राज्य के सभी ग्रामों के मुखियों के पास आमन्त्रण-पत्र भेजे गये। इसके साथ-साथ ग्रामों में निश्चित दिन विजयोत्सव समारोह यथाविधि मनाने की सूचना भी दी गयी। गाँव-गाँव में विजयोत्सव के उपलक्ष्य में पोय्सल-शार्दूल-लांछन ध्वज फहराये जाएँ और प्रत्येक व्यक्ति राष्ट्र के प्रति निष्ठावान बने रहने की प्रतिज्ञा करे—यह आदेश भी पारित किया गया।

नये निर्मित मन्दिर में विजयनारायण भगवान की प्रतिष्ठा, हिरण्यगर्भ, तुलापुरुष, विजयोत्सव एवं विरुद-धारण इन सब कार्यक्रमों को योग्य रीति से सम्पन्न कराने के लिए कितना व्यय होगा, कितने कार्यकर्ता चाहिए, इस सबके लिए पूर्व तैयारी होनी चाहिए—आदि बातों पर आमूलचूल विचार कर निर्णय करना होगा। इस कार्य के निर्वहण और व्यवस्था आदि के लिए एक समिति उदयादित्यरस के नेतृत्व में बनायी गयी।

आचार्यजी के पास निवेदन-पत्र भिजवाकर उनसे प्रार्थना की गयी कि इस मूर्ति-प्रतिष्ठा के कार्य को यथाविधि शास्त्रोक्त रीति से सम्पन्न करने के लिए क्या-क्या करना होगा—इस सबको करने-कराने के लिए एक वैदिक मण्डली को बना कर तुरन्त भिजवाने की व्यवस्था करें।

पहले महाराज बल्लाल के राज-काल में दोरसमुद्र में विजयोत्सव की व्यवस्था और उससे पूर्व एरेयंग प्रभु के सिंहासनारोहण के सन्दर्भ में बड़ी दक्षता के साथ सारी व्यवस्था करनेवाले अनेक अधिकारियों को वेलापुरी बुलवाने का निर्णय हुआ। तत्काल ऐसे अनुभवी अधिकारियों के पास आमन्त्रण भी भेज दिये गये।

बल्लाल की तीनों की तीनों रानियों को स्वयं उदयादित्य द्वारा जाकर साथ बुला लाने का निर्णय हुआ और दण्डनाथ मंचियरस को तुरन्त रानी बम्मलदेवी और राजलदेवी को साथ ले आने का आदेश भेजा गया।

डाकरस, बोप्पदेव, एचण, कुँवर बिट्टियण्णा, डाकरस के बेटे मरियाने-भरत, हेग्गड़े मारसिंगय्या, सिंगमय्या आदि प्रमुख व्यक्तियों को अन्यान्य कार्यों की जिम्मेदारी सौंपी गयी।

स्थपति ने मूर्ति-प्रतिष्ठा के लिए मुहूर्त निश्चय कर महाराज से निवेदन किया। उसने बताया, इस दुर्मुख संवत्सर में कोई अच्छा मुहूर्त नहीं मिलने के कारण आनेवाले हेविलम्बि संवत्सर के चैत सुदी पंचमी स्थिरवार के दिन रोहिणी नक्षत्र में कर्काटक लग्न में अभिजिन मुहूर्त के समय प्रतिष्ठा की जा सकती है। इसे आचार्यजी को सूचित कर, यदि वे स्वीकार करें, तो उसी दिन सम्पन्न किया जाय।

मुहूर्त का विवरण देकर आचार्यजी के पास पत्र भेज दिया गया। उनकी

स्वीकृति पाकर वही मुहूर्त निश्चिय किया गया। इसके एक सप्ताह के अन्दर-अन्दर आचार्यजी से आदिष्ट होकर प्रतिष्ठा-कार्य के विधिविधान से अच्छी तरह परिचित पाँच श्रीवैष्णव आचार्य वेलापुरी आये। उनके आने का समाचार अन्तःपुर में भी पहुँचा। रानी लक्ष्मीदेवी को भी समाचार मिला। उन्हें पिताजी के आगमन की भी प्रतीक्षा थी। परन्तु सूचना मिली कि वे नहीं आये। उनमें से एक को बुलवाकर उन्होंने पूछा—"मेरे पिताजी क्यों नहीं आये?"

उन्होंने कहा, "हमें यह मालूम नहीं, क्यों नहीं आये। आचार्यजी ने हमें प्रतिष्ठा सम्बन्धी सब तैयारियों को विस्तार के साथ समझाकर यहाँ भेजा और हम चले आये।"

"हम जब आचार्यजी के दर्शन करने आये, तब आप लोग यदुगिरि ही में थे न?"

"हाँ!"

"हमारे इधर चले आने के बाद हमारे पिताजी श्रीआचार्यजी के दर्शन के लिए यादवपुरी से आये थे?"

"हाँ, आये थे।"

"कब?"

"शायद दो-तीन दिनों के अन्दर ही आये थे। सन्निधान के साथ सचिव नागिदेवण्णाजी जो आये थे, वे दूसरे दिन यादवपुरी के लिए रवाना हुए, उसके एक-दो दिन में ही तिरुवरंगदासजी आये थे। वास्तव में यही सुनने में आया कि आचार्यजी ने ही उन्हें बुलवाया था।"

"मेरे पिताजी ने यह कहा?"

"उन्होंने नहीं कहा। श्री आण्डान ने कहा।"

"लगता है जब आचार्यजी ने स्वयं बुलवाया तो कोई विशेष बात ही रही होगी।"

"जान पड़ता है कि रही हो! क्योंकि वे तुरन्त ही यादवपुरी लौट गये।"

"तो आचार्यजी के साथ सम्भवतः पिताजी आयेंगे।"

"सो बात हमें मालूम नहीं।"

"आचार्यजी कब आवेंगे?"

"सो भी हमें मालूम नहीं। उन्होंने कहा—'चाहे हम आवें या न आवें श्री विजयनारायण स्वामी की प्रतिष्ठा का कार्य किसी तरह की विघ्न-बाधा के विना विधिवत् हो—कहकर प्रतिष्ठा का सारा विवरण समझाकर आदेश दिया। इसलिए हम ऐसी स्थिति में नहीं हैं कि यह बता सकें कि वे आयेंगे या नहीं!"

"नहीं, वे आयेंगे ही।"

"रानीजी की अभिलाषा के अनुसार आचार्यजी आ जाएँ तो कितना अच्छा हो ! इस भव्य मन्दिर को देखकर आनन्दित हो उठेंगे। पट्टमहादेवीजी की निष्ठा का साक्षी है यह मन्दिर !"

"यह मन्दिर स्थपति और शिल्पियों की निष्ठा का साक्षी है। पट्टमहादेवी, दूसरी रानियाँ या मैं क्या कर सकूँगी ?"

"हमें क्या पता है। हम तो आचार्यजी के सन्देशों-उपदेशों पर विश्वास करनेवाले हैं। इस मन्दिर के निर्माण का उत्तरदायित्व, इसकी रूपरेखा का निर्णय, सब पट्टमहादेवीजी का। अन्य मतावलम्बी होने पर भी उनकी तत्त्व-निष्ठा की रीति आचार्यजी को बहुत प्रिय है। निश्चय ही उनका व्यक्तित्व बहुत महान् होगा, इसीलिए आचार्यजी ने उनकी प्रशंसा की है। यों ही वे किसी की प्रशंसा नहीं करते। मुझे भी उन्होंने यही समझाया है कि कभी भी कार्य करना हो तो पहले उन्हें बताकर, उनकी स्वीकृति लेकर ही करें। आचार्यजी का मत मेरे लिए अटल है।"

"उनके सभी शिष्यों का तो यही कर्तव्य है कि उनके आदेश का पालन करें। मैं भी तो उनके आदेश के अनुसार चलनेवाली हूँ न ? यहाँ आप लोगों के लिए सभी सुविधाएँ हैं न ? कुछ और चाहिए हो तो मुझे बताइए।"

"जो आज्ञा" कहकर वे चले गये।

रानी लक्ष्मीदेवी को एक तरह की चिन्ता होने लगी : पिताजी को धर्मदर्शी बनकर यहाँ आने की बात तो दूर, अब तो इस प्रतिष्ठा के अवसर पर भी आ सकने की सम्भावना तक नहीं दिखायी देती। स्वयं बुलवाकर आचार्यजी ने मेरे पिता से क्या कहा होगा ? पिता ने तो कहा था कि आचार्यजी को संतुष्ट करके यहाँ आने की बात निश्चित करेंगे। तिरुमलाई ही में अनुभव प्राप्त करनेवाले मेरे पिता को यहाँ के इस नवीन मन्दिर के आरम्भोत्सव में कोई स्थान नहीं ? इससे तो यही लगता है कि कोई उनका प्रबल द्वेषी यहाँ है अवश्य ! निरन्तर उनके विरुद्ध दुष्प्रचार का कार्य चल रहा है। निश्चय ही सर्वप्रथम उसका पता लगाकर महाराज को बताना चाहिए—यों उसने निश्चय किया, किन्तु पता लगाने का काम करे कौन ? उसके लिए वेलापुरी का वातावरण ही नया था। सब लोग उसे गौरव के साथ देखते। उसकी व्यक्तिगत इच्छा-आवश्यकताओं के अनुसार वहाँ का जीवन बीतने लगा था। उसने सोचा था कि पहले पट्टमहादेवी की इच्छाएँ सम्पूर्ण होने के बाद ही हमारी इच्छा आकांक्षाएँ पूर्ण होंगी। परन्तु ऐसा कुछ नहीं था। विवाह के बाद से लगातार महाराज का संग उसी के साथ अक्षुण्ण बना रहा यह तो स्पष्ट ही था। महाराज भी उसके साथ प्रारम्भ से ही सहज व्यवहार करते रहे। ऐसी स्थिति में कभी-कभी उसे लगता था कि अपने पिता के बारे में महाराज से बात छेड़ूँ। फिर भी, वह साहस न कर सकी। घुन की तरह यह

बात उसके हृदय और मस्तिष्क को छेदती रही, किन्तु वेलापुरी की रीति-नीति और लोगों को समझने में ही उसका समय बीतता गया।

दिन बीतते गये। सभी अनवरत अपने-अपने कार्य में जुटे थे। किसी को यूँ ही बैठेठाले समय बिताते नहीं देखा। एक ओर मन्दिर में प्रतिष्ठा का कार्य पूर्णता पर पहुँचता जा रहा था तो दूसरी ओर विजयोत्सव की तैयारी। लोगों को बसाने, भोजन आदि की व्यवस्था, जानवरों के लिए दानापानी की व्यवस्था, इसके साथ ही दोनों वर्गों के स्वास्थ्य की ओर ध्यान देने के लिए वैद्य आदि की व्यवस्था भी होनी थी। खाद्य सामग्री से भण्डार भर दिये गये थे।

होली के बाद बाहर से आनेवाले आमन्त्रितों के आने की प्रतीक्षा थी। इसलिए उस समय तक सारी व्यवस्था कर लेने का आदेश राजमहल का था। बाहर से आनेवालों की सुविधा के लिए हाट का भी निर्माण किया जा चुका था। वेलापुरी में नयी चेतना का संचार दिखायी दे रहा था।

पट्टमहादेवी एवं शिल्पियों को मन्दिर के कार्य को समाप्त करना था। काम बड़ी तत्परता से चल रहा था। मन्दिर के चारों ओर स्तम्भों पर सजाने के लिए जिन मूर्तियों को तैयार करने की बात सोची थी, वे पूरी नहीं हो सकी थीं। एक दिन स्थपति ने फिर से अपनी प्रार्थना पट्टमहादेवी के सामने दोहरायी।

"महासन्निधान के समक्ष निवेदन कर विचार-विनिमय के पश्चात् बताऊँगी।" शान्तलादेवी ने कहा। अब समय नहीं था। इसलिए उन्होंने तुरन्त महाराज से एकान्त में विचार-विमर्श किया। वस्तु-स्थिति का विवरण दिया। "स्थपति ने अपनी कल्पना के वैविध्य को सम्पूर्ण रीति से इस मन्दिर में भर दिया है। इन मूर्तियों की भंगियों के लिए मेरी मदद माँगी है। हमें यादवपुरी बुलाने से पहले ही, उन्होंने प्रार्थना की है। मैंने स्वीकार नहीं किया है। स्थपति की अभिलाषा पूर्ण करने में कोई दोष न होने पर भी, उससे कुविचार फैलने और सन्देह होने की सम्भावना हो सकती है, इसलिए उनकी प्रार्थना को टालती आयी। फिर सन्निधान भी यहाँ उपस्थित नहीं थे। अब मुहूर्त का समय निकट आ रहा है। सभी सात-आठ विग्रहों को तैयार कराना है। उनके लिए मुझे, 'प्रतिमा भंगी' दिखानी होगी। सन्निधान यदि उचित समझें और अपनी स्वीकृति प्रदान करें तो मैं अपने अन्तःपुर में ही 'प्रतिमा भंगी' दे दूँ! क्या आज्ञा है?"

"अभी आचार्यजी तुम्हारी प्रशंसा के पुल बाँध रहे थे; यह कार्य हो जाय तो तुम्हें वे एकदम आकाश में ही टाँक देंगे।"

"बड़े सदा बड़े ही होते हैं। उनके मन की इच्छा के अनुरूप उनके सभी विचार भव्यता एवं विशालता से भरे हैं। अब सन्निधान की क्या आज्ञा है?"

"यह आचार्यजी की सेवा-कैंकर्य है। हम दोनों ने वचन दिया है। पोय्सल, वचन देने के बाद उससे टलने वाले नहीं हैं। ऐसे में पट्टमहादेवी की इच्छा के

लिए विरोध का प्रश्न ही नहीं है।"

"इसका केवल पट्टमहादेवी और महाराज से ही सम्बन्ध नहीं है। सन्निधान इस सम्बन्ध में और गहराई से सोचें, विचार करें। सन्निधान और मुझे दोनों को अपनी वैयक्तिकता के लिए जब कोई अधिकार-बन्धन न रहा, तब हम दो शरीर होने पर भी एक आत्मा मानते रहे। इसके लिए हमने महामातृश्री का आशीर्वाद प्राप्त किया और पति-पत्नी बने। मैंने अपने आपको पूर्णतया समर्पित किया। यह मन कभी कलुषित नहीं हुआ है, न होगा। यह शरीर भी कलुषित नहीं होगा, न होना चाहिए। यह सदैव मनसा वाचा पवित्र रहेगा। सन्निधान को भी इस पर अपार विश्वास है। परन्तु लोक का मुँह कैसे रुके? कौन रोके? उसका उपाय? जिन 'प्रतिमा भंगियों' को मुझे देना होगा, उनमें कुछ ऐसी भी हो सकती हैं, जिनके लिए मुझे देहाभिमान को भी त्यागना पड़े। वह कल लोगों के लिए मनमानी बातें करने का विषय बन सकता है। मैं दुनिया से डरती नहीं। कलाविदों का जीवन सदा ही द्वन्द्वमय रहा है यह मैं जानती हूँ। एक अपना और दूसरा कृतक और कल्पित। कला के लिए दिखायी जानेवाली, दिखाने की क्रिया। इन बात से सन्निधान अपरिचित नहीं हैं। फिर भी, सभी बातों पर विचार करके सन्निधान स्वीकृति दें तो मन को शान्ति रहेगी। सन्निधान के मन में कभी, किसी भी स्थिति में मेरे विषय में शंका उत्पन्न नहीं होनी चाहिए। बाहर से दबाव पड़ने पर भी शंका के सामने सन्निधान को सिर न झुकाना पड़े, इसलिए सन्निधान अब जो स्वीकृति देंगे, वही मेरे लिए रक्षा-कवच है।"

"हमारी पट्टमहादेवीजी के बारे में शंका प्रकट करनेवाले बच ही नहीं सकेंगे।"

"बिना सोचे-समझे बात करनेवालों पर सन्निधान का आदेश न हो। बूतुगा जैसों के लिए क्षमा भी मिलनी चाहिए। इसलिए मुझे सन्निधान की सीधी स्वीकृति मिलनी अपेक्षित है।"

"देवी! इसके लिए मेरी हार्दिक स्वीकृति है। वह नहीं मिल सकेगी ऐसी शंका ही क्यों हुई, यही मेरी समझ में नहीं आ रहा है।"

"सब राजमहल की रीति-नीति नहीं जानते। नयी रानीजी रानी बनने के पहले, जिस वातावरण में पलीं-बढ़ीं, उसमें उनके बौद्धिक विकास के लिए आवश्यक सहायता नहीं मिली। इसलिए उनको उपलब्ध उस वैदिक वातावरण की पृष्ठभूमि के कारण उनके मुँह से ऐसी कोई बात निकल सकती है। इसलिए···"

"इस विषय में देवी को चिन्ता करने की आवश्यकता नहीं। रानी को वश में रखना हम जानते हैं। पट्टमहादेवीजी के साथ कैसा व्यवहार चाहिए, यह बात आचार्यजी ने भी रानी से कही है।"

"हाँ, अब मेरे मन का बोझ कुछ हलका हुआ ?"

"उस समय साथ कोई होगा ? या देवी और स्थपति दो ही रहेंगे ?"

"स्थपति के विषय में शंका करने की आवश्यकता नहीं। फिर भी, सन्निधान की बात को ध्यान में रखकर साथ रहने के लिए चट्टला से कहूँगी।"

"ठीक है !"

बाद के चार-छः दिन पट्टमहादेवीजी का अन्तःपुर ही स्थपति के लिए 'प्रतिमा निरूपण' स्थान बना। पट्टमहादेवी ने जो-जो भंगिमाएँ दिखायीं उन्हें स्थपति ने चित्रित कर लिया। कुछ भंगिमाओं के बारे में विनम्र होकर कुछ सूचनाएँ भी दीं। एक बात की सूचना शान्तलदेवी ने आरम्भ में ही देकर स्पष्ट कहा था कि भाव-भंगियाँ मात्र मेरी हों, पर मेरा रूप उनका न हो, उनको अलग-अलग रूपों में बनाना होगा, किसी भी मूर्ति में मेरा चेहरा रूपित न हो। इसके अनुसार ही कार्य हुआ था। पट्टमहादेवी के अन्तःपुर में उन दो-चार दिनों में किसी का प्रवेश नहीं हुआ। स्वयं महाराज के लिए भी प्रवेश नहीं था। ऐसी स्थिति में दूसरों को प्रवेश कैसे मिले ? पट्टमहादेवी, स्थपति और चट्टला, ये तीन जन ही रहे। खाने-पीने तक के लिए वहीं व्यवस्था की गयी थी। अन्तःपुर में क्या हो रहा है, इसका किसी को पता न था। इस सम्बन्ध में कुछ न कहने की कड़ी आज्ञा स्थपति और चट्टला को दी गयी थी। चट्टला से कहा गया था कि मायण से भी इस सम्बन्ध में कुछ न कहे ? रेविमय्या बाहर पहरे पर रहा। उसे सन्दर्भ ज्ञात था। रेविमय्या से परिचित किसी को भी उससे पूछने का साहस नहीं होता था। मगर इस सम्बन्ध में सबका कुतूहल उठ खड़ा हुआ था। किसी के मन में कोई कुकल्पना या शंका उत्पन्न नहीं हुई थी। परन्तु सभी बातों को और सब लोगों को अभी तक न समझ सकनेवाली रानी लक्ष्मीदेवी के लिए यह समस्या ही हो गयी थी। उसने एक-दो नौकर-चाकरों से पूछा भी। उन लोगों ने कह दिया, "इन सब से हमारा क्या सम्बन्ध, हमें कुछ भी पता नहीं।"

अपने इस कुतूहल को न रोक सकने के कारण रानी ने सीधे जाकर महाराज से पूछ ही लिया।

"दूसरों के विषय में क्यों अनधिकार जिज्ञासा...?"

"पट्टमहादेवी को पराये पुरुष के साथ एकान्त में इतने दिन रहने का क्या रहस्य है यह नहीं जानना चाहिए ?"

"देवी !" बिट्टिदेव की आवाज़ कड़ी हो आयी थी, दृष्टि में भी क्रोध था।

"कुछ अनुचित पूछ लिया ?"

"इतने निम्न स्तर का व्यवहार पोय्सल रानी के योग्य नहीं। हमें पता है कि वह सब क्या है।"

"सन्निधान जानते हैं कि पट्टमहादेवी स्थपति के साथ अन्तःपुर में एकान्त में

रहती हैं। रानी होकर मुझको यह बात नहीं जाननी चाहिए ? तो क्या इस दृष्टि से यही न हुआ कि मैं निम्न-स्तर की हूँ ?"

"यह निम्न स्तरीय व्यवहार मात्र नहीं, यह तो परम क्षुद्रता है।"

"हाँ, मेरी मति तो क्षुद्र है। मैं निम्न-स्तर की हूँ। तो मुझसे विवाह ही क्यों किया था ?"

"श्री आचार्यजी की कृपा होने के कारण, तुम राजमहल की गरिमा के अनुकूल अपने मानस को उदात्त कर सकोगी, यही सोचकर विवाह किया था। सो भी हमारी पट्टमहादेवी और रानियों के स्वीकार करने पर।"

"यदि उनकी स्वीकृति नहीं मिलती तो सन्निधान मुझसे विवाह नहीं करते ?"

"हाँ, हम पट्टमहादेवी की इच्छा के विरुद्ध कुछ नहीं करते।"

"सन्निधान की इच्छा-अनिच्छाओं से भी अधिक पट्टमहादेवी की इच्छा-अनिच्छाएँ प्रमुख हैं ?"

"यह पारस्परिक है।"

"यहाँ रानी का क्या स्थान है ?"

"यहाँ सबके लिए वैयक्तिक रूप से समान स्थान है। प्रत्येक राजमहल की रीति-नीतियों की सीमा में स्वतन्त्र हैं। अब तक कोई स्वेच्छा प्रवृत्त नहीं हुए हैं। किसी ने किसी को शंका की दृष्टि से नहीं देखा। हम सब एक परिवार बनकर रह रहे हैं। आगे भी ऐसे ही रहना होगा। तुम इस परिवार में नयी आयी हो। तुमको भी उसी के अनुसार सबके साथ व्यवहार करना होगा। हमारे पहरेदार रेविमय्या से तुमको पता चलेगा कि राजमहल में कैसे रहना चाहिए।"

"मैं रानी हूँ। एक पहरेदार से मुझे सीखना होगा ?"

"पट्टमहादेवी ने ही उसे योग्य और विश्वसनीय माना है।"

"इसलिए हमें भी ऐसा मानना होगा ?"

"व्यक्ति को गुण से पहचानना चाहिए। मात्र स्थान-पद आदि की दृष्टि से जो व्यक्ति को तौलते हैं वे जीवन में कुछ भी नहीं साध सकते। रानी बम्मलदेवी रानी राजलदेवी दोनों अलग-अलग वंश की हैं। दोनों राजवंश की जन्मी होने पर भी दूर के किसी आप्त जन के साथ सगी बहनों की तरह बड़ी हुईं और पोय्सल रानियाँ बनीं। एक साधारण हेग्गड़ेजी की बेटी हमारी पट्टमहादेवी ने अपने आदर्शप्राय गुणों के कारण महादण्डनायकजी की बेटियों से सहस्रगुणा उत्तम मानी जाकर महामातृश्री तथा हमारे दादा विनयादित्यजी की प्रेमपात्र बनीं और हमारे हृदय को जीता। इधर श्रीवैष्णव ब्राह्मण के आश्रम में पली होने पर भी तुम्हारे पालक पिता ने तुमको रानी बनने का अवसर जुटाया। वे बड़े धर्मभीरु हैं, उन्होंने यह सोचकर, कि तुम उन जैसे उत्तम कुल की नहीं हो, तुम्हें हमको सौंपा है। यदि

उनकी औरस पुत्री हुई होतीं तो सम्भवतः इस विवाह के लिए स्वीकृति नहीं देते, और इस विवाह के लिए प्रयास नहीं करते। किसी दूसरे की पत्नी बनने से रानी होने में अधिक हित की सम्भावना समझ सकने की बुद्धिमत्ता तुम्हारे पिता तिरुवरंगदास की है। तुम अभी छोटी हो, तुम्हें सुख मिले इसी विचार से पट्टमहादेवी ने काय-दीक्षाव्रत का पालन कर रखा है। उनकी इस उदारता के लिए तुम्हारा शंका करना नहीं है। अनावश्यक शंका मत करो। उचित समय पर बात अपने आप सभी को स्पष्ट हो जाएगी।"

"बाद को यदि सारे संसार को वह सब पता हो सकता है तो उसके लिए अभी यह एकान्त क्यों? यह रहस्य क्यों?"

"जिस कार्य में लगी हैं उसमें एकाग्रता भंग न हो, इसलिए।"

"ऐसा क्या काम है? यह एकाग्रता क्या है—भगवान् ही जाने! मुझे तो कुछ भी समझ नहीं पड़ता।"

"उसे समझने के लिए कला का परिचय होना चाहिए, कला के प्रति प्रेम होना चाहिए। कल्पना और प्रतिभा का होना भी आवश्यक है। जिसमें यह सब नहीं है, उसे उसके बारे में माथापच्ची नहीं करनी चाहिए?"

"सो मेरा दोष नहीं। मुझे इसके बारे में जानने के लिए अवसर ही नहीं मिला। मुझे यह लगा ही नहीं कि उसके बारे में भी रुचि होनी चाहिए।"

"तो तुमको क्या-क्या लगा था? किसे जानने-समझने का अवसर मिला था।"

"मन्दिर, पूजा और उसके लिए आवश्यक वस्तुएं, अच्छा और स्वादिष्ट आहार तैयार करने की लगन; भगवान् का ध्यान, पारिवारिक कार्य, लीपा-पोती करना, चौक पूरना, सजाना···यही सब।"

"वस्तुओं को सजाना भी कला है, चौक पूरना भी एक कला है, स्वादिष्ट भोजन तैयार करना भी एक कला है।"

"सोना भी कला है, भोजन करना भी कला है, बैठना भी कला है, सिट-पिटाना भी कला है; हम जो भी करते हैं, सब कला है। है न?"

"व्यंग्य नहीं! देखनेवाली आँख को सौन्दर्यात्मक सभी बातें हैं। कला को बौद्धिक कल्पना या आधार पर रूपित करने के लिए एकाग्रता की नितान्त आवश्यकता होती है। मन को दसों दिशाओं में दौड़ाने से तपस्या सम्भव नहीं। तप में सिद्धि प्राप्त करना हो तो एकाग्रता रहनी ही चाहिए। तुमको इसका ज्ञान नहीं हो सका है। ज्ञान होने पर तुम स्वयं समझ सकोगी!"

"अच्छा देखें, नन्दो राजा भविष्यति।"

"तुमने स्वप्न में ही रानी बनने की बात नहीं सोची होगी, फिर भी जब बनीं तो यह कथन लागू कैसे हो?"

"जब बात करो, तब सन्निधान यही कहा करते हैं। भले ही मुझे रानी कहकर न पुकारें, कोई चिन्ता नहीं। आप सदा मेरे बने रहें।"

"मुझे तो जिन लोगों से पाणिग्रहण हुआ है उन सभी का होकर रहना है। मेरे हृदय में सबके लिए समान स्थान है।"

"अभी कितनी जगह और खाली पड़ी है? और फिर पट्टमहादेवी का विशेष स्थान।"

"ऐसा नहीं। तुम नहीं समझती हो, मेरे सारे हृदय में पट्टमहादेवी ही हैं। सबके लिए बराबरी का स्थान बना देनेवाली वे ही हैं, देनेवाली भी।"

"अर्थात्, वे शेष हम सबसे उच्चस्तरीय हैं, है न?"

"क्या करें! पहले जन्मनेवाली बड़ी दीदी, बाद को जन्मनेवाली छोटी बहन। छोटी बहन बड़ी दीदी कैसे बन सकती है? तुम रानी बनीं, क्या तुम अपने पिता को नौकर की तरह मानती हो?"

"सो कैसे होगा? पिता पिता हैं। बेटी बेटी ही।"

"यहाँ भी वैसे ही। एक माँ-बाप के दस बच्चे हों तो उनमें माँ-बाप कोई अन्तर मानते हैं क्या?"

"नहीं!"

"वही बात यहाँ भी लागू है। पट्टमहादेवी को प्रथम स्थान, शेष सबको बराबरी का स्थान, उनकी बहनों की तरह। इसीलिए तुम्हें उस गौरव स्थान का विचार कर पट्टमहादेवी के साथ व्यवहार करना चाहिए। कभी भी तुम्हें उनको अपने बराबर नहीं समझना चाहिए। अगर वे तुम्हें समान गौरव देती हैं तो वह उनकी उदारता है।"

"माना। परन्तु एक बात सन्निधान मुझे स्पष्ट करेंगे। स्थपति और पट्टमहादेवी दोनों को इस तरह एकान्त में रहने देना ठीक है? पट्टमहादेवीजी की देख-रेख की व्यवस्था होती तो अच्छा था न?"

"बताओ तो! तुम तिरुवरंगदास की बेटी हो?"

"नहीं!"

"तुम्हारे माँ-बाप कौन हैं?"

"ज्ञात नहीं।"

"समझ लो, वे यदि तुमसे शादी कर लेना चाहते या एक सुन्दर लड़की कहीं मिल गयी मानकर, तुम्हारी सुन्दरता पर मोहित हो, तुम्हें अपने सुख का साधन बना लेते तो?"

"कभी ऐसा हो सकता है? वे वैसे व्यक्ति नहीं। मुझको औरस पुत्री की तरह उन्होंने पाला है।"

"दुनिया में ऐसे बहुत-से लोग और भी हैं। इसलिए तुम्हें अविश्वास की दृष्टि

से किसी को नहीं देखना चाहिए।"

"अविश्वास का प्रश्न नहीं। सावधानी बरतने की बात है।"

"वह भी कोई कारण नहीं। फिर भी, दुनिया है न; उसमें आधा-परधा समझ के भी लोग रहते हैं। कुछ-का-कुछ अर्थ निकालनेवाले, अपार्थ करनेवाले भी होते हैं।"

"मुझे लक्ष्य करके यह बात कही गयी ?"

"नहीं ! पहले भी ऐसी ही एक घटना हो चुकी है। सुनना चाहती हो तो बताऊँ, सुनो।"

"बताइए।"

"ध्यान से सुनना।"

"सन्निधान के कहने की रीति पर एकाग्रता अवलम्बित है।"

"तो अब हमारी परीक्षा हो रही है ! छोटों को सन्तुष्ट करने के लिए, बड़ों की परीक्षा···चलो यह भी सही।" कहकर उन्होंने बताया कि धारानगरी के युद्ध में उनके पिताजी ने किस तरह चालुक्य चक्रवर्ती विक्रमादित्य की सहायता की थी; तब चालुक्यचक्रवर्ती की पिरियरसीजी को अज्ञातवास करने बलिपुर में आकर क्यों रहना पड़ा था इसे उन्होंने विस्तार से समझाया और रतनव्यास, चूतुगा, गालब्बे, दासब्बे, त्यारप्पा आदि हर एक के बारे में बताया। सम्पूर्ण घटनाचक्र को समझाने के बाद यह बताया कि हेग्गड़े दम्पती और शान्तलदेवी ने इस सन्दर्भ में किस तरह से व्यवहार किया था। महाराज ने सारी बातों का वर्णन किया; सारी घटनाएँ उसकी आँखों के सामने दृश्यमान-सी अनुभव हुई; चकित-सी सुनती, बैठी रही। दोनों—वाचक और श्रोता को समय का पता ही नहीं चला। कहने-सुनने की तन्मयता भावलोक में उन्हें बलिपुर तक ले गयी।"

लक्ष्मीदेवी ने कहा, "यह शुक-सप्तति की कहानी-सी है।"

"यह शुक-पिक की कल्पित कहानी नहीं है। यह वास्तविक घटना है। एक रत्नव्यास को छोड़, शेष सभी व्यक्ति अब भी जीवित हैं।"

एक झूठे दुरुप्रचार ने, एक शंका ने क्या-क्या किया, यह बात उसके मन में आयी होगी—यही भावना महाराज के मन में हुई। उन्होंने पूछा, "इसे सुनने के बाद अब यह बताओ कि शंका करना उचित है ?"

"सन्निधान को स्त्री का मनोभाव ही समझ में नहीं आया है। वह समझती है कि अपने साथ एक और स्त्री के रहने से वह सुरक्षित है।"

"स्त्री होकर इस बात को पट्टमहादेवी अच्छी तरह जानती हैं। चट्टला हमेशा उन्हीं के साथ रहती है।"

"क्या वह बदचलन ? पट्टमहादेवीजी के साथ ?"

"ऐसा मत कहो। असली बात न जानकर, जो भी मन में आता है, कहती

जाती हो। राजमहल में चट्टला के प्रति बहुत गौरव है।"

"जानती हूँ। लोग उसे पट्टमहादेवी की चहेती समझकर डर से चुप हैं। नौकर-चाकरों में उसके प्रति कैसे विचार हैं सो सब जान चुकी हूँ।"

"उसके बारे में चर्चा मत करो!"

"क्यों वह भ्रष्टशील नहीं?"

"शील-अश्लील के बारे में चर्चा करने की प्रबुद्धता अभी तुममें आयी नहीं। इसीलिए हमने कहा कि इस विषय में चर्चा मत करो। एक बात याद रखो, उसके बीते जीवन के बारे में कोई उसके सामने कहे तो वह हमें सहन नहीं होगा, हम क्षमा भी नहीं करेंगे। यह बात रानी को भी याद रखना चाहिए।"

"यहाँ सारी बातें विचित्र हैं। शीलभ्रष्ट पवित्र है, उसे त्याग से मण्डित किया जाता है। धर्म का कोई नियम नहीं। उस पर हृदय-वैशाल्य, धर्म-सहिष्णुता, सर्व-धर्म की समानता का आलेप किया जाता है। तमिलनाडु में, जिसे हमने कभी नहीं देखा-सुना ऐसी बहुत विचित्र-विचित्र बातें यहाँ इस पोय्सल राज्य में भी देखने-सुनने को मिलती हैं।"

"वहाँ नहीं हैं, इसलिए ये बातें विचित्र-सी लगती होंगी। यहाँ के जीवन में मिल जाने पर यहाँ की बातें अनुकरणीय लगेंगी। आचार्य-जैसे महानुभाव को शान्ति की खोज में अपने जन्म-प्रदेश को छोड़कर यहाँ आना पड़ा। ऐसी स्थिति में विचित्र कहाँ है यह स्वयं विदित है। धर्मान्धता से दैव-द्वेष उत्पन्न होता है। मनो-वैशाल्य से मत-सहिष्णुता और उससे प्रेम उत्पन्न होकर, वह उमड़ पड़ता है। हमारा-तुम्हारा विवाह तमिलनाडु में सम्भव हो सकता था?"

"मुझे इतना नहीं पता। फिर भी, कह सकती हूँ कि यह विवाह सम्भव नहीं हो सकता था वहाँ।"

"इसीलिए विषय का पूर्ण-परिचय जब तक न हो, तब तक टीका-टिप्पणी नहीं करनी चाहिए। और फिर जल्दबाजी में कोई भी बात पूरी तौर से समझ में नहीं आती। शान्त होकर सहनशीलता से व्यक्ति और विषय, दोनों को समझना सीखो। बाद को तुम स्वयं हमें सिखा सकोगी।"

"आज की सीख, सीखनेवाले पाठ का एक बहुत बड़ा अंश है। बातचीत आरम्भ करते समय मुझे लगा था कि मैं सन्निधान के क्रोध की आहुति हो गयी हूँ। परन्तु······"

"पट्टमहादेवी का मार्गदर्शन मिले तो उमड़नेवाला क्रोध भी पीछे सरक जाता है। तुम उस मार्गदर्शन को प्राप्त करने का प्रयत्न करो।"

"वे मिलें तब न? सुबह पूजा-नेम, उपाहार, फिर मन्दिर-निर्माण कार्य की देख-रेख; फिर भोजन, बाद में पाठशाला में पढ़ाने जाना, फिर वहाँ से लौटकर मन्दिर-कार्य का निरीक्षण, भोजन, विचार-विनिमय मन्त्रालय में, फिर विश्रान्ति।

यहाँ आने के बाद उपाहार और दो-पहर के भोजन के समय साथ रहने का अवसर मिलता था। अब तो उनका दर्शन ही दुर्लभ हो गया है; ऐसी स्थिति में मार्ग-दर्शन पाना हो तो कैसे ?"

"इच्छा हो तो पाठशाला जाकर पढ़ सकती हो न ?"

"मैं रानी, सामान्य लोगों के साथ बैठकर सीखूँ ?"

"सीखने की अभिलाषा हो तो साथ बैठकर सीखनेवालों की प्रधानता नहीं, सीखने की अभिलाषा प्रधान होती है। मेरे भाई भी तुम्हारी ही तरह के विचार रखते थे। प्रारम्भ में अपने जीवन को ही व्यर्थ गँवाया। बाद में जब उन्हें अपना दोष पता चला तो पछताने लगे। हड़बड़ी में जो काम कर डाला, उसके कारण उनका सारा जीवन ही नष्ट हो गया।"

"क्या हुआ ?" इतने में घण्टी का स्वर सुनायी दिया।

"अभी समय नहीं, फिर कभी बताऊँगा। अभी मन्त्रालोचना सभा में जाना है।" कहकर बिट्टिदेव उठे। रानी भी उठ खड़ी हुई। बिट्टिदेव ने अन्दर की घण्टी बजायी। पट खुले। वह मन्त्रालय की ओर चले गये।

वास्तव में रानी लक्ष्मीदेवी का मन कुछ उलझन में फँस गया। उसे लगने लगा कि वह जिस वातावरण में पली-बढ़ी, यहाँ उससे भिन्न परिस्थितियाँ हैं। अपने प्रारम्भिक जीवन के वातावरण के अनुसार उसने जीवन के कुछ मूल्यों की कल्पना कर रखी थी। यहाँ जीवन के दूसरे ही मूल्य थे। परन्तु इनकी श्रेष्ठता और औचित्य का आधार उसके मन में स्पष्ट न था। बताते हैं कि राज-महल के द्वारपाल से लेकर पट्टमहादेवी तक सभी लोगों से सीखने के योग्य कुछ-न-कुछ बातें हैं। ऐसी स्थिति में उसके मन में उथल-पुथल होना स्वाभाविक ही था। उसके पालक-पिता यही कहते थे कि 'तुम्हारे जीवन को सुखी बनाने के लिए मार्गदर्शन करूँगा, जैसा मैं कहूँ, वैसा तुम करती चलो ?' परन्तु देखती है कि उनका दर्शाया मार्ग यहाँ संगत नहीं लगता। वह सोचने लगी कि यहाँ की रीति-नीति के अनुसार न चले तो पानी से बाहर फेंक दी गयी मछली की-सी दशा हो जायेगी। सन्निधान के कहे अनुसार दिन के समय पाठशाला जाऊँ ? जाऊँ तो लेकिन सबके साथ बैठकर सीखना ठीक होगा ? अपने लिए कोई दूसरी व्यवस्था नहीं होनी चाहिए ? इसके लिए यदि पट्टमहादेवी न मानें तो ? ऐसे समय में मेरे पिता यहाँ होते···? परन्तु, जैसी बातें हो रही हैं, वे यहाँ कैसे आएँगे ? इन विचारों ने उसे अत्यन्त विकल कर दिया।

'प्रतिमा-भंगिमा' का कार्य समाप्त हो जाने के पश्चात् स्थपति द्वारा चित्रित उन चित्रों को लेकर शान्ति के साथ बैठकर शान्तलदेवी एक-एक चित्र का सूक्ष्मता से निरीक्षण करने लगी। चित्रित करते समय पट्टमहादेवी ने जो आदेश दिया था, उसका पूर्णतया पालन स्थपति ने किया था। कोई भी चित्र ऐसा नहीं

था जिससे यह लगता हो कि अमुक भंगिमा पट्टमहादेवी की ही है। चित्र-रचना वास्तव में पट्टमहादेवी को बहुत ही भायी।

"इनमें किस-किसको चुने? सन्निधान ही चुनने की कृपा करें।"

"चुनने का काम हम या आप न करें। पहले महासन्निधान, उदयादित्यरस, कुँवर बिट्टियण्णा, मैं और आप—इतने लोग एक साथ बैठकर, इन चित्रों को देखकर मत-संग्रह करें। बाद में आवश्यकता पड़ने पर कुछ प्रमुख शिल्पियों को राजमहल में बुलवाकर उनकी सम्मति भी लें।" शान्तलदेवी ने कहा।

उनका मत स्थपति को ठीक लगा। तदनुसार मन्त्रणालय में बैठक हुई। बिट्टिदेव ने अपनी रुचि जताने में किसी तरह का संकोच नहीं किया। उन्होंने स्पष्ट कहा, "हमारे समय के सौन्दर्य की कल्पना स्थायी होकर शिल्प में प्रत्यक्ष रह जायेगी।" इन चित्रों को देखकर, वह बहुत सन्तुष्ट थे।

"अब इनमें से किस-किसको चुनना है, यह तो तय हो। इसलिए सन्निधान सूचित करें तो हम कृतज्ञ होंगे।" स्थपति ने अपनी और पट्टमहादेवी की ओर से भी प्रार्थना की।

बिट्टिदेव ने अपने भाई की ओर देखकर पूछा, "सभी रह सकती हैं, है न उदय?"

उदयादित्य ने छोटे दण्डनायक की ओर देखकर कहा, "हमारे छोटे दण्ड-नायकजी का क्या विचार है?"

बिट्टियण्णा (छोटे दण्डनायक) ने कहा, "आप सब अधिकारी हैं, मुझे इसमें क्या कहना है?"

बिट्टिदेव ने प्रश्न किया, "तुम्हें बुलाया ही इसीलिए है कि राय दो, है न?"

"हाँ।"

"तो अब अपनी राय बताओ।"

"सबसे पहले मैंने ही सूचित किया था कि स्थपति की आवश्यकता के अनुसार भंगिमाओं को स्वयं पट्टमहादेवीजी ही दें तो अच्छा होगा। वह इच्छा अब मूर्त्त हुई है। वही जब चित्रित भी हुई है और चित्रित करते समय उसके समस्त सम्भावित पक्षों पर स्थपतिजी और पट्टमहादेवीजी ने पर्याप्त विचार किया है, तब उन पर राय देने या सलाह देने का प्रश्न ही नहीं है। जैसी कि महासन्निधान की सम्मति है, सभी चित्र लिये जा सकते हैं।"

"प्रतिभा-भंगी किसने दी है, कल वह सत्य प्रकट हो भी जाय तो वह किसी के लिए आक्षेप का विषय नहीं बनना चाहिए। इसलिए इनका परिशीलन आवश्यक है। ये सारे चित्र वैशिष्ट्यपूर्ण अवश्य हैं। फिर भी कला का लक्ष्य वहाँ रूपित सौन्दर्य का निर्विकल्प आस्वादन है। परन्तु आप लोगों में बहुतों को इस बात का ज्ञान नहीं रहता। जब हम उन्हें प्रकट करते हैं, इस प्रकटीकरण के

पूर्व हमें गम्भीर होकर विचार करना अच्छा है।" उदयादित्य ने मत व्यक्त किया।

बिट्टिदेव ने पूछा, "तो तात्पर्य यह कि कुछ भंगियों को रूपित करना ठीक नहीं; यही तुम्हारी राय है; है न ?"

"व्यक्तिगत रूप से प्रत्येक चित्र मुझे प्रिय है, इनमें से किसी को भी अस्वीकृत नहीं किया जा सकता। परन्तु जब वह मूर्त्त होकर सार्वजनिक रूप में, सामने आ जाय तो लोगों की अलग-अलग तरह की प्रतिक्रियाएँ हो सकती हैं। इसलिए इनमें से कुछ को रूपित नहीं किया जाय, ऐसा मुझे लग रहा है।" उदयादित्य ने कहा।

बिट्टिदेव ने कहा, "ऐसे चित्रों को तुम ही बता दो; छोड़ देंगे।"

"मैं ही चुनाव करूँ न करूँ, यह बात नहीं। पहले से ही हमने शिल्पियों के परिशीलन और उनकी सलाह पर सब छोड़ रखा है। उनका सम्पूर्ण सहयोग हमें प्राप्त हुआ है। अब भी इन्हें, उन्हीं के परिशीलन एवं सलाह पर छोड़......"

बीच में ही बिट्टिदेव बोल उठे, "स्थपति पर नियन्त्रण ?"

"नियन्त्रण नहीं। इससे दो काम बनते हैं। मेरी राय है कि सम्भवतः स्थपति ही स्वयं इन सभी को बनाने की इच्छा नहीं रखते।" कहते हुए स्थपति की ओर देखा।

स्थपति ने कहा, "जो जिसे बनाना चाहे, बनावे यही मेरी इच्छा है। इनमें से कोई भी मेरे लिए न बचे, तब भी मुझे कोई चिन्ता नहीं।"

"और भी अच्छा हुआ। इन सभी को शिल्पियों की बैठक बुलवाकर उनके सामने रखेंगे। इससे शिल्पियों को भी एक तृप्ति मिलेगी। इन सभी को मूर्त्तरूप देने की इच्छा उनमें उत्पन्न हो जाय, तो काम का बँटवारा भी अपने आप हो जायेगा। इस बंटवारे के हो जाने के बाद, जो चित्र छूट जाएँगे, उन पर फिर विचार कर लेंगे।"

"तुमने जो पहले कहा कि आम लोगों की टीका-टिप्पणी या आक्षेप के पात्र बनने की बात...वह विषय यों ही रह जायेगा...?" बिट्टिदेव ने कहा।

"पहले ही बात बता दी जाय तो वे भी अपनी राय दे देंगे।" उदयादित्य ने कहा ?

"ठीक, वही करो।" बिट्टिदेव ने कहा।

सभा समाप्त हुई। उदयादित्य, स्थपति और अन्य शिल्पिगण मिलकर निश्चित कर लेंगे, यही निर्णय अन्तिम रहा।

इस निर्णय के अनुसार आगे का कार्य हुआ; इन भंगिमाओं में से तीन-चार चित्रों को छोड़कर, शेष सभी चित्रों को शिल्पियों ने चुन लिया। उनके अपने कथनानुसार स्थपति के लिए कुछ भी नहीं बचा।

जो चुनाव में छूट गये, उन भंगिमाओं के चित्रों को लेकर रात के समय अपने आवास पर बैठकर उन्हें गढ़ने का काम स्थपति करने लगा। मन्दिर का कार्य और भी तत्परता से होने लगा।

होली आयी। वेलापुरी त्योहार के उत्साह से भरी थी। राजमहल में भी त्योहार मनाने के विशेष आयोजन की व्यवस्था की गयी थी। उस दिन दोपहर के भोजन के बाद विट्टिदेव पट्टमहादेवी के विश्रामागार में आये। उस दिन मन्दिर के कार्य की छुट्टी रही। शान्तलदेवी की पाठशाला में भी अध्यापन स्थगित रहने के कारण छुट्टी रही। इसलिए उनके लिए और कोई निश्चित कार्यक्रम नहीं रहा। आराम करने के उद्देश्य से अभी आकर वह पलंग पर लेटी ही थीं कि अचानक महाराज के आने से उन्हें कुछ अटपटा लगा।

उन्होंने तुरन्त खड़े होकर पूछा, "कोई विशेष···?"

"हाँ!" कहते हुए विट्टिदेव पलंग की ओर बढ़े।

शान्तलदेवी ने प्रश्नार्थक दृष्टि से उनकी ओर देखा।

वह पलंग पर बैठे और बोले, "देवी!"

शान्तलदेवी खड़ी ही रहीं, कहा, "क्या आज्ञा है?"

"खड़ी क्यों हो, बैठो न?"

शान्तलदेवी बग़ल के एक आसन पर बैठ गयीं। दोनों थोड़ी देर मौन रहे। शान्तलदेवी प्रतीक्षा की दृष्टि से महाराज की ओर देखती रहीं। उन्हें दूर बैठी देखकर, वह जो कहना चाहते थे उसे कह न सके और अपलक उनकी ओर देखते रहे। थोड़ी देर बाद उन्होंने ही पूछा, "देवी, मेरा यहाँ आना तुमको रुचा नहीं?"

"व्रत-त्योहार सन्तोष के लिए ही आते हैं। ऐसी स्थिति में आपके आगमन से असन्तोष होने का कोई कारण ही नहीं।"

"जब हम आये तो तुमने आश्चर्य प्रकट किया। अपनी आत्मीयता जताने की वह पहली रीति भी अब बदल गयी है।" विट्टिदेव ने कुछ उलाहना देते हुए-से पूछा।

"आत्मीयता का दैहिक निकटता या दूरी से कोई सम्बन्ध नहीं। अब हम इस विषय पर चर्चा करेंगे तो दुनिया हँसेगी। आज्ञा हो। छोटी रानी के साथ समय व्यतीत करना छोड़कर, इस समय यहाँ आना हो तो इसके लिए कोई विशेष कारण

होना चाहिए।"

"है, आज क्या है ?"

"आज होली है। होली का त्योहार है।"

"सबकी कामनाओं को पूर्ण करने का दिन।"

"इसे कौन मना करेगा ?"

"देवी, आज मन एक किसी विशिष्ट पूर्वावस्था की ओर गया है। उस समय जिस सुख का अनुभव किया, उस सारे सुख को वह अनुभव करना चाहता है। तब हम राजा नहीं थे। हम केवल पति-पत्नी ही रहे। उस समय आकांक्षा यही रही कि हम दाम्पत्य का आदर्श प्रस्तुत करें। इसलिए आज हमारी अभिलाषा को पूरा करने का दायित्व देवी पर है।"

"आपकी कामना काम-वासना से प्रेरित हो तो आज कामदहन है। ऐसी कामना भला कैसे पूर्ण होगी ? यदि सन्निधान की कामना वासना-रहित हो तो मेरा सम्पूर्ण सहयोग है।"

"देवी ! कामना में पूर्ण सिद्धि पाना हो तो उसमें वासना का भी अंश रहेगा ही।"

"परन्तु ऐसी कामना अभी इस रनिवास में सम्भव नहीं। क्या सन्निधान मुझे व्रत का पालन करने देना उचित नहीं समझते ?"

"मैंने तो अपने हृदय की बात कह दी है।"

"मैंने भी उन्मुक्त हृदय से उत्तर दिया है। मेरे व्रत को सन्निधान उदारता से पूरा होने देंगे, यही मेरा विश्वास है।"

"यह तो संयमी द्वारा असंयमियों से कहने की-सी बात है।"

"यदि सन्निधान ने संयम से बरतना नहीं सीखा हो तो उपदेश देने के अधिकार को ही खोना पड़ेगा। संयम न चाहनेवाली, सदा सुख चाहनेवाली छोटी रानी जब हैं, तो इच्छाओं को पूरा करने के लिए चिन्ता ही क्यों ?"

"देवी से कैसे कहूँ ? उसमें यौवन है। उसके अनुरूप ताप भी; परन्तु···"

"परन्तु क्या···?"

"जब तृप्ति न मिले, तब···"

"उसे पाने की बुद्धिमत्ता, आकांक्षा रखनेवाले की है।"

"वह कठिनाई कही नहीं जा सकती।"

"रानी बम्मलदेवी और राजलदेवी को अब तक आ जाना चाहिए था। वे आयी होतीं तो सन्निधान······"

"वह तो आगे की बात है।"

"तब तो छोटी रानी ही भाग्यशाली है।"

"ठीक !" कहकर बिट्टिदेव उठ खड़े हुए।

शान्तलदेवी निकट आयीं और पूछा, "कोई अनुताप तो नहीं ?"

"तुम भी विचित्र हो। अपने निर्णय को बदलती ही नहीं।"

"जब निर्णय किया था तो सोच-विचार कर ही किया था; कोई हठ की भावना नहीं थी। और फिर वह साधना का मार्ग है।"

"तो हम चलें !"

"सन्निधान के रहने से कोई बाधा नहीं।"

"रहकर करना क्या है ?"

"बात करने के लिए बहुत-से विषय हैं। राजनैतिक, सामाजिक, आर्थिक, वैयक्तिक, शास्त्र, कला, तत्त्व, धर्म—अनेक विषय हैं। चाहे जिस विषय को लेकर बातचीत कर सकते हैं। या सन्निधान अनुचित न मानें तो छोटा रानी के ही बारे में बता सकते हैं।"

"वह अभी कच्ची और अप्रबुद्ध है; कभी-कभी लगता है कि वह स्वभाव से ही निम्न स्तर की है। उन महादण्डनायकजी की बेटियों-जैसी···कनपटी लगे घोड़े-जैसी। कभी-कभी यही लगता है कि हम इस विवाह के लिए सहमत न होते तो अच्छा होता।"

"बेचारी, छुटपन में वह जिस वातावरण में पनपी, उसके मन में वैसा ही कुछ जमा हुआ है। यहाँ के बदले हुए वातावरण, यहाँ की रीति-नीतियों के अनुसार अपने को गढ़ लेने में समय तो लगेगा ही। सन्निधान को ही सहिष्णुता बरतना चाहिए।"

"हम सह तो सकते हैं। परन्तु हमें ऐसा प्रतीत हुआ है कि वह बहुत ही शंकालु है। स्थपति को 'प्रतिमा भंगी' जो दी, उस समय के एकान्त के विषय में उसके मन में शंका उत्पन्न हो गयी है।" यह बताकर उन्होंने इस सम्बन्ध में जो बातचीत हुई थी उसको भी ज्यों-का-त्यों सुना दिया।

"इस तरह की शंका का उत्पन्न होना अच्छा नहीं। इसलिए मैं ही एक काम करूँगी। आज उसे मेरे पास भेज दीजिए ताकि वह मेरे साथ रहे।" शान्तलदेवी ने कहा।

"मैं ही भेजूँ या तुम स्वयं ही बुलवा लोगी ?"

"एक ही बात है। मैं ही बुलवा लेती हूँ। सन्निधान को अकेले रहना पड़ेगा न ?"

"थोड़ी ही देर तक न ? मैं तब तक बल्लाल और छोटे बिट्टि को बुलवाकर उनके शिक्षण, अभ्यास आदि के विषय में उनसे ही पूछ-ताछ कर लूँ। यों तो उन बच्चों से बातचीत करने का अवसर ही मुझे नहीं मिल रहा है।"

"सन्निधान का यह विचार अच्छा है। बच्चे भी कई बार यही कहा करते हैं। वे सन्निधान से सीधे बातचीत करने से डरते हैं। वास्तव में सन्निधान से अधिक

सम्पर्क के लिए उन्हें अवसर नहीं मिला है। जबसे उन्हें कुछ समझने की शक्ति आयी है तबसे एक-न-एक युद्ध ही होता आया है।"

"चारों ओर जब शत्रु हों तो युद्ध अनिवार्य हो जाता है। आपके कविपुंगव ने चालुक्यों में सन्धान के बदले विद्वेष की आग भड़कायी होगी। पोय्सल पर हमला करने के प्रयास वहाँ हो रहे हैं, प्रधानमन्त्री ने इस बात की सूचना दी है और कहा है कि कल प्रातःकाल इस सम्बन्ध में उधर से समाचार मिला है।"

"हमारे कविपुंगव नहीं; सन्निधान के गुरुवर्य हैं।"

"फिर भी वे यहाँ से खिसक जाने के लिए सन्धान करने का बहाना बनाकर चले गये, मुझे तो यही लगता है।"

"वे बुद्धिजीवी हैं। आपस में ईर्ष्या-द्वेष उत्पन्न करने का काम नहीं करेंगे। ऐसे कार्य के लिए अपनी शक्ति का व्यय वे नहीं करेंगे। बल्लाल महाराज के जीवन के बरबाद हो जाने के परिणामस्वरूप उनके मन पर उसका भीषण प्रभाव पड़ा था। कन्नड़ सरस्वती के आराधक, कन्नड़-भाषी दो राजघरानों के परस्पर सौहार्द-पूर्ण-सहजीवन की प्रतिष्ठा करना चाहते थे, वह इसलिए कि इससे कन्नड़-साहित्य संस्कृति एवं कला का अच्छा विकास हो सके। इसके लिए इन दोनों कन्नड़-भाषा-भाषी राज-परिवारों की सौहार्दतापूर्ण सहजीवन की आवश्यकता पर विश्वास रखते थे। मेरी राय है कि वे इन दो कारणों से यहाँ से मुक्त होना चाहते थे। वे यहाँ राजगुरु थे, इसी कारण चालुक्यों ने उनके विचारों को मान्यता नहीं दी होगी। उनकी अनुपस्थिति में उन पर आक्षेप करना ठीक नहीं होगा। इस बात को रहने दें; यदि यह युद्ध अभी छिड़ जाय तो मन्दिर की प्रतिष्ठा के इस उत्सव का क्या हाल होगा?"

"यह केवल सूचना-मात्र है। मंचिअरस तो आने ही वाले हैं न? तब निश्चित रूप से सूचना मिल जायेगी। वहाँ अगर युद्ध का डर हो तो वे केवल दोनों रानियों को यहाँ भिजवा देंगे। उनके आने पर आगे के बारे में सोच सकेंगे। वह जो भी रहे, इस प्रतिष्ठा समारोह में आने के लिए आमन्त्रण भेज देते तो अच्छा होता। पिरियरसीजी यदि न भी आ सकती हों तो वहीं दूर से ही सच्चा आशीर्वाद तो देंगी ही।"

"उन्हें इस आमन्त्रण के मिलने से ही वहाँ आक्रमण करने का विचार उत्पन्न हुआ होगा। हमारी तलकाडु-विजय, और विरुदावली धारण करने का विचार—इन बातों ने उनके मन को छेड़ दिया होगा।"

"हम अपना कर्त्तव्य करें। युद्ध अपने-आप आवे तो हम पीछे हटनेवाले नहीं। हम पोय्सलों के हाथों में चूड़ियाँ तो नहीं, ऐसी स्थिति आ भी जाय तो चूड़ियों-वाले हाथ तलवार भी चमका सकते हैं, इस पोय्सल देश में। एक विनती है; इस प्रतिष्ठा के उत्सव के सम्पन्न होने तक सन्निधान किसी भी युद्ध के विषय में सोचें

मेरी ऐसी अभिलाषा करना उचित है? जब वे पास नहीं होते, तब कई बार समय काटना कठिन होता है। ऐसे समय पट्टमहादेवी से मिलने की इच्छा मेरे मन में होती रही है, किन्तु वह सफल नहीं हो पायी।"

"अब यह सब पुरानी बातें क्यों? एक बात तो स्पष्ट जान लो। जब भी तुम्हें कुछ ऐसा लगे तो मुझे बता दिया करो। ऐसी कभी चिन्तित न होना कि यहाँ अपना कोई नहीं। मैं तुम्हारे साथ हूँ, समझीं। अन्तःपुर में अकेली बैठी-बैठी उद्विग्न नहीं होना। राज-महल के कार्यों में तुम्हें भी हिस्सा लेना चाहिए।"

"मुझे यह पता ही नहीं पड़ता कि यहाँ क्या करना चाहिए, क्या नहीं। कुछ करने जाऊँ तो कुछ-का-कुछ हो जाय तो क्या हो। इसलिए मुझे कमल-पत्र पर टिकी पानी की बूँद की तरह रहना ही ठीक लगता रहा।"

"वह तो धैर्यहीन लोगों की बात है। तुमने किसी पुरोहितजी से विवाह नहीं किया है। एक राज्य के महाराज से तुमने विवाह किया है। मैं और बम्मलदेवी सन्निधान के साथ युद्धभूमि में गयी हैं। तुमको भी इस काम से पीछे नहीं हटना होगा।"

"ओफ-ओह ! यह सब मुझसे नहीं हो सकेगा।"

"इस तरह से डरना तो रानी के अनुकूल नहीं।"

"रानी हो जायँ तो क्या जन्मजात स्वभाव बदल जायेगा ?"

"रानी केवल एक साधारण-सा व्यक्तित्व नहीं। वह देश की जनता की प्रतीक है। साधारण स्त्री और एक रानी, इनमें बहुत अन्तर है। लोग राज-परिवार के लोगों पर सतर्कता की दृष्टि रखते हैं। राज-परिवार के लोगों का व्यवहार साधारण जनता के लिए मार्गदर्शक होना चाहिए। तभी राज-महल और रानियों को जनता गौरव की दृष्टि से देखती है। राज-परिवार के लोगों की टीका-टिप्पणी जनता करने लगेगी तो फिर राजघरानेवालों को सिर उठाकर चलना बहुत कठिन हो जायेगा। इसलिए हम रानियों को अत्यन्त सतर्क रहना होगा और अपनी कमियों को सुधार लेना होगा। अपनी प्रतिष्ठा को बनाये रखने के लिए जो अपेक्षाएँ होती हैं, उनका अर्जन करना होगा।"

"रानी के लिए क्या अपेक्षाएँ हुआ करती हैं सो पता हों तब न ?"

"क्यों, तुम्हारे पिताजी को ये सब बातें पता होनी चाहिए। उन्होंने जता दी होंगी न ?"

"उन्हें मन्दिर के कर्म, पूजा-पाठ की बातें, स्वादिष्ट भोजन की पाक विधियाँ, श्री वैष्णव धर्म के सम्प्रदायों की बातें, यही सब ज्ञात हैं। राजमहल के कार्य, रानियों की बातें ये सब उनको क्या पता ?"

"बिना समझे-बूझे तुम्हें यों ही रानी बना दिया ?"

"रानी बनने पर किसी बात की कमी नहीं रहती। श्रम करने की आवश्यकता पड़ती। अपने मन की सभी आशा-आकांक्षाएँ पूर्ण की जा सकती हैं। मान-मर्यादा-प्रतिष्ठा बढ़ती है। इच्छानुसार धन-आभूषण कपड़े-लत्ते, जो चाहें, जब जैसा चाहें, पहन सकते हैं। कुल मिलाकर पूर्ण सुखी जीवन सम्भवतः उन्होंने ऐसा ही समझा होगा, मेरे ही जैसा। वे मुझे बहुत चाहते हैं। उनकी यह इच्छा है कि मैं सदा सुखी ही रहूँ।"

"यदि एक धनी के साथ भी तुम्हारा विवाह कर देते तो भी यह इच्छाएँ पूरी हो सकती थीं न ?"

"श्रीवैष्णवों में धनी कहाँ ? सभी वैदिक हैं, पुजारी या पुरोहित वृत्तिवाले। श्रम करें, मन्त्र-पाठ करके गला सुखा लें तब कुछ प्रसाद खाने को मिले।"

"महाराज श्रीवैष्णव तो नहीं हैं न ?"

"श्री आचार्यजी ने उन्हें शिष्य के रूप में स्वीकार किया तो वे श्रीवैष्णव ही हुए न ? फिर राजा तो भगवान् के समान होते हैं। एसी स्थिति में इन सब बातों पर कौन सोचेगा ?"

"तब तो यही हुआ कि तुम्हारे पिता ने इन बस बातों को बताया है।"

"हाँ।"

"कब ?"

"जब तिरुमलाई में रहे तब ही।"

"इस विवाह के बारे में वहीं सोच लिया गया था ?"

"हाँ। यादवपुरी से कोई यात्री तिरुमलाई आये थे और हमारे यहाँ ठहरे थे।"

"कुछ स्मरण है कि वे कौन थे ?"

"नहीं, इतना पता है कि वे श्रीवैष्णव थे। उनके नित्य-नियमों के लिए मैंने ही व्यवस्था की थी। उन्होंने यहाँ का सारा हाल सुनाया था। राजकुमारी जी के स्वास्थ्य ठीक हो जाने के कारण महाराज द्वारा श्रीआचार्यजी का शिष्यत्व स्वीकार करना, और आपका जैन होकर ही रहना, ऐसा होने पर भी राजमहल में आपका जीवन सुखी रहना, आदि। तब मैंने पूछा—पति और पत्नी दोनों अलग-अलग जाति और मत के हों तो सुखी रहना कैसे सम्भव है ? उन्होंने बताया कि वास्तव में आपके माता-पिता भी विभिन्न मत के हैं फिर भी वे प्रसन्न हैं और सुखी भी। मुझे तो यह सब विचित्र ही लगा। मेरे पिता को भी ऐसा ही लगा। उन्होंने पूछा, इस तरह के भिन्न-भिन्न मत-वालों की सन्तान से महाराज ने विवाह कैसे कर लिया ? लगता है उन्हें तुरन्त कोई उत्तर नहीं मिला। बाद में बताया, इसमें क्या रखा है, वे महाराज हैं, भगवान् के समान हैं। वे जिसे भी हाथ लगावें, वह पवित्र हो जाता है। हमें भी लगा कि यही होगा। उनके चले जाने

पर मेरे पिता ने मुझसे विवाह की बात छेड़ी। कहा कि मुझे रानी बना देंगे। रानी शब्द सुनते ही मेरे भी मन में अभिलाषा हुई। परन्तु अपने-आप से मैंने कहा कि यह सब सम्भव नहीं। उनकी बात का प्रतिवाद मैं सोच ही नहीं सकती थी। उनको छोड़ मेरा कोई दूसरा आत्मीय ही नहीं था। उन्होंने मेरा पालन-पोषण बड़े ही प्रेम से किया है सो मैं यही समझती थी कि वे मेरे सुख-सन्तोष के अतिरिक्त और कुछ क्या सोच सकेंगे। उन्होंने जैसा सोचा था, वही हुआ। इसके लिए आचार्यजी का आशीर्वाद भी प्राप्त हुआ।"

"कुल मिलाकर तुमको तृप्ति मिल गयी, है न?"

"हाँ!"

"सन्निधान को भी वह तृप्ति मिले, ऐसा भी तुम सोच रही या कर रही होगी?"

"उनकी इच्छा का मैंने कभी विरोध नहीं किया।"

"विरोध न करना एक मार्ग है। परन्तु स्वेच्छया प्रसन्नतापूर्वक करना दूसरा मार्ग है। तुम सबसे छोटी रानी हो। फिर भी सन्निधान के मन में तुम्हारे प्रति अप्रबुद्धता का भाव उत्पन्न न हो, इसके लिए प्रयत्न करना होगा। राजमहल के तथा राज्य के कार्यकलापों में तुम्हें रुचि लेना चाहिए।"

"मुझे नहीं पता कि क्या करना चाहिए। कोई बतानेवाला भी नहीं। अभी हाल में एक बार जब सन्निधान असन्तुष्ट हुए तो उन्होंने कह दिया कि रेविमय्या से सीखो। क्या यह सम्भव है? आप ही बताइए।"

"क्यों, सम्भव क्यों नहीं? अच्छी बात छोटे बच्चे से भी सीखी जा सकती है। 'युक्तियुक्तं वचो ग्राह्यं बालादपि शुकादपि' इस उक्ति में यही तो निहित है। ऐसी दशा में सन्निधान के कथन में कोई दोष नहीं है। जो सीखना चाहते हैं, उन्हें अपने स्थान, अवस्था, पद आदि को भूलकर यह समझना चाहिए कि हम केवल छात्र हैं। सिखानेवाले के स्थान-मान की गणना न करके उन्हें गुरु मानना चाहिए। तभी सीखना सम्भव होता है।"

"मन को भी तो मानना चाहिए न?"

"जो सीखना चाहेंगे, उन्हें मान लेना चाहिए।"

"हरेक से नहीं, मुझे तो आप ही स्वयं मार्गदर्शन दें। श्रीआचार्यजी ने भी मुझे ऐसी ही आज्ञा दी है।"

"वे विशालहृदय हैं। उन्हें मुझपर विशेष वात्सल्य है।"

"फिर भी आप उनकी शिष्या न बनकर जैनी ही क्यों बनी रहीं?"

"मैं तो जन्म से जैन हूँ। मेरे मन में इस विश्वास ने जड़ें जमा ली हैं। किसी दूसरे विश्वास के लिए वहाँ स्थान नहीं। यह बात आचार्यजी बहुत अच्छी तरह जानते हैं। इस विषय पर मैंने आधारभूत चर्चा भी आचार्यजी से की है। इससे

हम दोनों के मन स्वच्छ हैं। इससे एक-दूसरे को अच्छी तरह समझने में सहायता भी मिली।"

"इतने बड़े व्यक्ति से चर्चा करना सम्भव हो सकता है?"

"शंका उत्पन्न होती है तो चर्चा करनी ही चाहिए। वास्तविकता को समझ लेना चाहिए। नहीं तो शंका हमारे अन्दर घर कर लेती है और वह अन्दर-ही-अन्दर घुलकर, अन्त में हमें ही निगल जाती है। इसलिए किसी के भी बारे में हमें शंका नहीं करनी चाहिए। यदि शंका हो जाय तो उसके बारे में आमने-सामने चर्चा कर लेनी चाहिए। चाहे वे, जिनसे हम चर्चा करें, कितने ही बड़े क्यों न हों। उनसे चर्चा करके शंका का परिहार कर लेना चाहिए।"

"इसके लिए तो बड़ा साहस चाहिए।"

"बिना साहस के मनुष्य कुछ भी नहीं साध सकता। संकोच के कारण शंका को अपने मन में आश्रय देना सर्वनाश का कारण है। अनेक बार ऐसी शंका के कारण युद्ध तक हो जाया करते हैं। अब देखो न, हम चालुक्य राजा के माण्डलिक रहे। ससुर ने उन्हीं चालुक्य राजा के लिए अपने प्राणों की आशा छोड़कर युद्ध किया और विजय दिलायी। ऐसे मेरे ससुरजी पर चालुक्यों ने एक साधारण-सी बात पर द्वेष करना प्रारम्भ किया। यह सब केवल शंका के ही कारण।"

"उस युद्ध के बारे में सारा किस्सा सन्निधान ने विस्तार के साथ सुनाया है। परन्तु यह नहीं बताया कि द्वेष की भावना क्यों पैदा हो गयी।"

"हमारे प्रभु जब सिंहासनारूढ़ हुए तब, कहा जाता है कि, पहले उनकी अनुमति लेनी थी। बस, इसीके फलस्वरूप शत्रुता हो गयी। अब इसी शत्रुता के कारण उधर युद्ध की तैयारियाँ हो रही हैं, इसकी अभी सूचना मिली है।"

"तो फिर युद्ध होगा?"

"हाँ, बिल्कुल। और उसी युद्ध में तुम्हें सन्निधान के साथ युद्धरंग में जाना होगा।"

"मैं क्या कर सकूँगी? आप या रानी बम्मलदेवी जाएँ तो उत्तम होगा।"

"पिरियरसी चन्दलदेवीजी जैसे रणरंग में गयीं न, वैसे ही······"

बीच में ही लक्ष्मीदेवी ने कहा, "इसीलिए क्या सब हुआ; न, मैं नहीं जाती; यदि मैं सहयोग न भी दे पायी तो कम-से-कम बाधा तो न पड़े?"

"अच्छा, ठीक है। अब तो अवकाश-ही-अवकाश है न?"

"है; वास्तव में मेरे लिए अब कोई काम ही नहीं है।"

"तो मेरे साथ राजमहल से बाहर चल सकोगी?"

रानी लक्ष्मीदेवी को लगा कि पूछें कहाँ? जब उन्होंने खुद बुलवाया है तो सोचा कि कोई पूर्व योजना अवश्य होनी चाहिए। फिर कहा, "अच्छा, मेरा यह पहनावा बाहर जाने योग्य नहीं, तुरन्त बदलकर आती हूँ।"

"ठीक है, विलम्ब अधिक न हो?"

इसके बाद लक्ष्मीदेवी अपने अन्तःपुर में गयी।

शान्तलदेवी ने रेविमय्या को बुलाकर कहा, "स्थपति से कहो कि वे मन्दिर के पास पधारें और यह भी बता दो कि मैं और छोटी रानी वहाँ आयेंगी और चट्टला भी साथ रहेगी।" शीघ्र ही व्यवस्था हो गयी। पट्टमहादेवी और रानी लक्ष्मीदेवी दोनों मन्दिर की ओर चल पड़ीं। लक्ष्मीदेवी कुछ सजधज ही आयी थी परन्तु शान्तलदेवी बिलकुल साधारण सौम्य और निराभरण सुन्दरी लगती थीं। इन सब के पहुँचने से पहले ही स्थपति वहाँ पहुँच चुके थे।

शान्तलदेवी ने कहा, "अवकाश के दिन की विश्राम को भी हमने आपसे छीन लिया; इसके लिए क्षमा करें। हमारी छोटी रानीजी ने चाहा कि इस मन्दिर का निर्माण-कार्य एकान्त में देखें। इसलिए आपको कष्ट देना पड़ा।"

"मुझे विश्राम करने का अभ्यास ही नहीं। अपने आवास पर भी कुछ-न-कुछ काम करता ही रहता हूँ।"

"तो अपने आवास पर भी काम में लगे रहते हैं!"

"सन्निधान इस मन्दिर-निर्माण के कार्य पर कितना श्रम कर रही हैं, इससे मैं परिचित हूँ। सन्निधान के श्रम के सामने मेरा कार्य नगण्य है। मैं केवल सेवक हूँ। आज्ञा हो।"

"इस मन्दिर के ढाँचे की कल्पना से लेकर अब तक जो कुछ कार्य हुआ है, वह सब हमारी छोटी रानीजी को बतावें। इस मन्दिर के निर्माण की प्रेरणा आचार्यजी की है। हमारी रानीजी उनके कृपापूर्ण आशीर्वाद से अनुग्रहीत हैं। एक कला-निर्माण के पीछे क्या सब होना चाहिए, यह कितना नियमबद्ध और निष्ठायुक्त कार्य है—यह सब उन्हें समझाइए। यह राजवंश किन-किन कार्यों में गहरी रुचि रखता है, उस सबका परिचय इन्हें होना चाहिए न?"

"जो आज्ञा। पहले प्रारूप को समझाकर बाद को कृतियों का परिशीलन करेंगे।"

"सारे प्रारूप आपही के पास हैं?"

"कार्य समाप्त होने के बाद शिल्पी प्रारूप मुझे ही लौटा देते हैं।"

"ठीक, वे कहाँ हैं?"

"यहीं जहाँ मैं काम करता हूँ।" आइए! दोनों रानियाँ, चट्टलादेवी और रेविमय्या ने उसका अनुगमन किया। सब अन्दर गये। रानियाँ वहाँ रखे आसनों पर बैठ गयीं। स्थपति चित्रों को उस पुलिन्दे से निकालने लगे थे। रेविमय्या द्वार पर और चट्टलदेवी अन्दर दीवार से सटकर खड़े थे।

लगभग सम्पूर्ण विजयनारायण की मूर्ति जैसा प्रतीत हो रहा था।

रानी लक्ष्मीदेवी ने प्रश्न किया, "यह मूर्ति?"

"यही मूल भगवान् की मूर्ति है। विजयनारायण अभिधान पानेवाले चेन्न केशव की है।"

"कितनी सुन्दर है! ऐसा लगता है कि जैसे अभी उठकर चलने को तत्पर हैं।"

"यह तो पाषाण है न?" शान्तलदेवी ने पूछा।

"हाँ।"

"इसमें जीव भी होता है?"

"ऐसा कहने पर लोग हँसेंगे न?"

"तो आपको ऐसा कैसे लगा कि मानो यह उठकर चलने को तैयार है! इसका क्या कारण है?"

"मुझे जो लगा, मैंने कहा। उस तरह क्यों लगा, इसका कारण नहीं पता।"

"यह पत्थर है। उसमें प्राण नहीं हैं। फिर भी उसमें प्राण के होने की भावना को उत्पन्न करने की कुशलता शिल्पी की कलाकारिता में है। इसी को हम कला कहते हैं। प्रस्तर को सजीव बनाना हो तो कलाकार अर्थात् शिल्पी के मन को परिशुद्ध होना चाहिए। कृति के निर्माण में तन्मयता की साधना करनी होगी। कलाकार सौन्दर्य का उपासक है। उससे वह मानसिक आनन्द प्राप्त करता है, दैहिक सुख नहीं।"

"पट्टमहादेवीजी ने अमूल्य वचन कहे। कलाकार का मन परिशुद्ध होकर जब शिल्प में प्रवृत्त होता है, तब उस कलाकृति में आह्लादकर सौन्दर्य उत्पन्न होता है।"

"तो शिल्प से शिल्पी के मन को पहचान सकते हैं?" लक्ष्मीदेवी ने पूछा।

"पर्याप्त से समझ सकते हैं।" कहकर स्थपति ने प्रारूपों के पुलिन्दे को लेकर रानीजी के सामने रखा और पास के एक आसन को लक्ष्मीदेवीजी के पास लगाकर, वहीं बैठ गये तथा एक-एक कर चित्रों को निकालकर, प्रत्येक को विस्तार के साथ समझाने लगे। लक्ष्मीदेवी की उत्सुकता बढ़ती गयी। बीच-बीच में कुछ-एक के बारे में वह प्रश्न करने लगी। वास्तव में लक्ष्मीदेवी तन्मय होकर चित्रों को देखती और जिज्ञासा करती जाती। शान्तलदेवी को छोटी रानी में इस तरह की तन्मयता की आशा नहीं थी।

इसी बीच में रेविमय्या अन्दर आया। चट्टला ने उसके पास जाकर पूछा, "क्या है?" उससे सूचना मिली कि सन्निधान ने पट्टमहादेवीजी को तुरन्त बुलाया है। चट्टला ने आवश्यक जानकर इंगित से पट्टमहादेवी को सूचित किया। शान्तलदेवी स्थपति और रानी लक्ष्मीदेवी की एकाग्रता को भंग किये बिना चुपचाप बाहर आयीं और चट्टला को यह बताकर कि क्या करना चाहिए, स्वयं रेविमय्या के साथ राजमहल चली गयीं। जो सेवक बुलाने आया था, उसे वहीं

रहने का आदेश दिया।

बहुत देर तक स्थपति रानी लक्ष्मीदेवी को चित्र दिखाते और उनके बारे में विवरण देते रहे और रानी लक्ष्मीदेवी बड़ी एकाग्रता से तल्लीन होकर देखती एवं सुनती रही। मन्दिर का विस्तार, नींव, आकार-प्रकार, ऊँचाई, भित्तियाँ, भित्ति-चित्र, उसकी जगत, सुन्दर बनाने के लिए बने देवी-देवताओं के चित्र, पंक्तिबद्ध रीति से सजाने के ढंग आदि-आदि। यह सब देखकर और विवरण सुनकर रानी लक्ष्मीदेवी महसूस करने लगी कि इतने बड़े विशाल निर्माण एवं ऐसी सुन्दर कला-कृतियों का निर्माण करनेवाले स्थपति कितने बड़े प्राज्ञ होंगे। अब उन भित्तियों पर कतारों में सजाये जानेवाले मूर्तियों के चित्रों को देखना शेष रह गया था। मन्दिर के अन्दर की भित्तियाँ, स्तम्भ, भुवनेश्वरी, प्रांगण, जगत आदि सब देख लिया। इतना सारा महान् कार्य आचार्यजी के लिए महाराज ने करवाया है; यह समझकर आचार्यजी के प्रति उसके मन में अपार भक्ति उत्पन्न हुई। उदारमना महाराज से विवाह करने की तृप्ति भी मिली। लक्ष्मीदेवी ने कहा, "महान् है, अद्भुत है।"

"इस महान् एवं अद्भुत के निर्माण के लिए प्रोत्साहन की आवश्यकता है। हमारी पट्टमहादेवीजी के सम्मुख उनके बारे में..." कहते हुए स्थपति ने सिर उठाकर उस ओर ताका, जहाँ पट्टमहादेवी विराज रही थीं। किन्तु वहाँ वह आसन सूना पड़ा था। स्थपति का हृदय धक्क से रह गया। बात वहीं रुक गयी।

लक्ष्मीदेवी किसी सुन्दर कल्पनालोक में विचर रही थी; अब उसकी भी दृष्टि उधर गयी, देखा कि आसन खाली है; दूर पर चट्टला खड़ी थी तो उसकी ओर देखा और पूछा, "पट्टमहादेवीजी कहाँ?"

"महासन्निधान ने स्मरण किया था, वे राजमहल चली गयीं।"

"कितनी देर हुई?" स्थपति ने पूछा।

"एक पहर से भी अधिक हो गया होगा। अब तो सूर्यास्त का समय हो आया है।"

लक्ष्मीदेवी ने कहा, "हमें बताया ही नहीं?"

"आपकी तन्मयता में बाधा न पड़े, इसलिए ऐसा किया। कला का अनुभव करने के लिए एकान्त और शान्ति की बहुत आवश्यकता होती है। इसलिए इन्होंने अपने जाने की सूचना तक नहीं दी। सन्निधान और स्थपतिजी तन्मयता के साथ देखने-समझाने में संलग्न थे, इसलिए वैसा किया।" चट्टला बोली।

"एक क्षण के लिए मन इधर-उधर होता तो क्या हो जाता। क्षण-भर के लिए देखना रुक जाता। इतना ही न?" लक्ष्मीदेवी ने कहा।

"रानीजी मुझे क्षमा करें। एकाग्रता का उत्पन्न होना कठिन है। एक बार यदि एकाग्रता भंग हो जाय तो फिर उसे पाना और अधिक कठिन हो जाता

है। अत्युत्तम श्रेणी के कलाकार ही इसे समझ सकते हैं। पट्टमहादेवीजी बहुत ऊँची श्रेणी की कलाकार हैं, इसीलिए यह बात वे बहुत अच्छी तरह समझती हैं। अच्छा, अब जो आज्ञा हो, वही करूँगा।" स्थपति ने कहा।

"उनके चले जाने की सूचना हमें मिलनी चाहिए थी। यह तो ठीक नहीं? शेष कार्य पर बाद में विचार करेंगे। अब तो तुरन्त राजमहल जाना होगा।"—लक्ष्मीदेवी ने कहा।

चट्टलदेवी, साथ चलने के लिए कोई है? कोई न हो तो मैं ही साथ चलूंगा।" कहते हुए स्थपति उठ खड़े हुए।

"सेविका उपस्थित है।" चट्टला ने बताया।

"हाँ, चलो" दो डग आगे बढ़ाकर लक्ष्मीदेवी स्थपति की ओर देखकर बोली, "स्थपतिजी, आप चिन्तित न होइए। आप जब सब विवरण बताते रहे, तब ऐसा लगा कि मानो किसी दूसरे ही लोक में विचरण कर रहे हैं।" फिर जाकर शिविका में बैठ गयी और राजमहल जा पहुँची।

उसी रात रानी लक्ष्मीदेवी ने महाराज बिट्टिदेव से पूछा, "अचानक बुलवाने का उद्देश्य कोई विशेष राजनैतिक कार्य···?"

"ऐसा कोई विशेष कार्य नहीं था। स्थपति के साथ अकेली रहने से रानीजी को स्थपति के स्वभाव का परिचय हो गया होगा न?"

"तो मैंने उस दिन जो शंका व्यक्त की थी, उसके निवारण का यह मार्ग है क्या?"

"हमने पहले तो यह नहीं सोचा था। शंका का बना रहना अच्छा नहीं। इस पर हमने पट्टमहादेवीजी से विचार-विनिमय किया; उस समय जो बातचीत हमारी तुमसे हुई थी, उसे कह दिया। पट्टमहादेवी ने हमें बताया कि इस विषय पर वे स्वयं ध्यान दे लेंगी। जब हमने सुना कि आप दोनों मन्दिर के प्रारूपों को देखने में तल्लीन हैं तो हमने पट्टमहादेवी को बुलवाया, इसलिए कि देखें, ऐसा करने से क्या होता है? इतना ही। हमारा उद्देश्य अच्छा है। इसलिए किसी तरह के असमाधान का कोई कारण नहीं। अच्छा, इसे रहने दो, यह बताओ कि स्थपतिजी कैसे व्यक्ति हैं?"

"कैसे पता लगेगा?"

"यदि बुरे होंगे तो अपने काम में तन्मय होकर लग जाना सम्भव है?"

"एक दिन साथ रहकर व्यक्ति को समझना सम्भव होता है?"

"सम्भव बनाना चाहिए। पट्टमहादेवी ने इसे सम्भव बनाया है।"

"तो क्या इसीलिए सन्निधान ने विवाह के पूर्व उनको बुलवाया था?"

"वहाँ उन्होंने तुम्हें देखने तक का उत्साह नहीं दिखाया। ऐसी स्थिति में तुम्हारे बारे में राय पूछने का न तो अवसर ही रहा, न राय जानने के लिए कोई

निश्चित विषय ही।"

"वे सन्निधान के यदुगिरि से यादवपुरी पहुँचने के पहले ही आ गयी थीं। उसी दिन मुझे अपने पिता के साथ मन्दिर में देख लिया था न!"

"उसी दिन उन्होंने तुम्हारे पिता के स्वभाव को पहचान लिया।"

"मेरे विषय में भी उन्होंने कुछ कल्पना की होगी।"

"तुम वास्तव में उनके परिशीलन का विषय हो जाओगी और तुम्हारा सम्बन्ध राजमहल से होगा, यह वे सोच भी नहीं सकती थीं। राजमहल और राजकाज से सम्वन्धित होनेवाले प्रत्येक व्यक्ति का परिशीलन उन्हें करना ही होता है।

"मेरे पिता के सम्बन्ध में उनकी क्या राय है?"

"यह तुम्हें उन्हीं से जान लेना चाहिए।"

"वही करूँगी। आज पट्टमहादेवीजी ने एक बात कही। वह मुझे भी ठीक लगी। कोई शंका उत्पन्न हो जाय तो उस विषय में स्पष्ट सीधे पूछ लेना चाहिए। इसलिए एक बात सन्निधान से सीधे पूछ लेने का साहस करना चाहती हूँ। क्या करूँ?"

"इस तरह कहना कि क्या करूँ, यह अधैर्य को दर्शाता है।"

"मेरे पिता की वास्तव में यह इच्छा है कि यहाँ के इस मन्दिर के धर्मदर्शी बनकर रहें। बेटी होने के नाते उन्होंने मुझसे अपनी इच्छा प्रकट की थी।"

"हमें भी यह बात पता है न! इस बारे में हमने निर्णय भी सुना दिया है।"

"सो तो ठीक है; वह एक ओर रहे। एक और बात मेरे मन को सालती रही है। इस मन्दिर की स्थापना के कार्य में धार्मिक, शास्त्रीय विधियों के आचरण में सलाहकारों में उन्हें भी एक बनाकर आचार्यजी भेजेंगे, ऐसा मेरा विश्वास था। आचार्यजी ने उन्हें नहीं भेजा। मुझे लग रहा है कि इसका भी कोई कारण अवश्य होगा।"

"सामने जो थे, उनमें से किन्हीं पाँच लोगों को भेज दिया होगा। कदाचित् अनिवार्य उत्तरदायित्व रहित लोगों को चुनकर भेज दिया होगा।"

"परन्तु सुना है कि हमारे इधर आने के बाद आचार्यजी ने पिताजी को यदुगिरि बुलवाया था। उसी दिन उनके यादवपुरी लौट जाने के बाद, इन लोगों को आदेश देकर भेजा है।"

"हो सकता है। कदाचित् तुम्हारे पिता की आवश्यकता यादवपुरी ही में हो, इसलिए नहीं भेजा हो।"

"यह ज्ञात होने पर भी कि वे मेरे पिता हैं, इस आनन्दपूर्ण विजयोत्सव, मन्दिर की प्रतिष्ठा, इन उत्सवों में उपस्थित होने का अवसर नहीं दिया गया। इससे यही लगता है कि इसमें कुछ षड्यन्त्र है। मुझे वास्तव में इसका समाधान

चाहिए।"

"तुम्हारे मन में अकारण ही संशय पैदा हो गया है। तुम्हारी राय को हमने मान्यता नहीं दी; इससे तुमको कुछ असन्तोष हुआ होगा। यह बात कह सकने का साहस न होने के कारण, इसे लेकर मन-ही-मन घुलती रही हो; यह असन्तोष ही तुम्हारे मन में संशय पैदा होने का कारण है।"

"पट्टमहादेवी के माँ-बाप यहीं हैं। रानी बम्मलदेवी और राजलदेवी, इन दोनों के साथ मंचिअरसजी भी आएँगे।"

"इस बात को निश्चित रूप से कहा नहीं जा सकता। चालुक्यों की सेना के हमारे राज्य पर आक्रमण करने की सूचना हो, तो वे यहाँ आ ही नहीं सकते। उत्सव और उससे होनेवाले आनन्द से भी बढ़कर है राष्ट्र की रक्षा। वही मुख्य है।"

"वह जो भी हो, मेरे पिताजी यहाँ आवेंगे तो मुझे बहुत ही प्रसन्नता होगी।"

"वहीं हमने कहा था न, वे तुम्हारे पिता होकर आ सकते हैं। उनके जीवन-यापन के लिए मासिक वृत्ति बँधी रहेगी। परन्तु यहाँ उनको नियुक्त करने के लिए कोई कार्य नहीं है।"

"यों, बैठे खाते रहने पर वे स्वयं सहमत न होंगे। पहले से श्रम करके खाने के आदी हैं।"

"तो जहाँ व्यवसाय है, वहीं रहकर उसी को उचित मान लेना उत्तम है।"

"इस उत्सव के अवसर पर कम-से-कम अवकाश देकर नहीं बुलवा सकते? इससे एक ओर मेरे लिए सन्तोष होगा और दूसरी ओर मेरे अन्दर की शंका भी दूर हो जायेगी।"

"विचार करेंगे।"

"सन्निधान चाहें तो हो सकेगा; इसमें सोचना क्या है?"

"यदि उनको अवकाश दें तो उनके स्थान पर दूसरे को नियुक्त भी तो करना होगा, है न? हम ही यहाँ से किसी को भेज दें, या आचार्यजी ने उन्हें नहीं भेजा, इसलिए उन्हीं के द्वारा सूचित करना होगा, आदि सभी बातों पर विचार करना होगा। कल प्रधानजी और पट्टमहादेवी से विचार-विनिमय करने के बाद निर्णय करेंगे।"

"मैं स्वयं पट्टमहादेवी से निवेदन करूँ?"

"आवश्यक नहीं। हम स्वयं बता देंगे। यदि हमारी बातों पर विश्वास न हो तो स्वयं जाकर उनसे कह सकती हो।"

"ऐसा नहीं कि सन्निधान पर विश्वास नहीं। मैं मातृविहीना, अनाथ हूँ। मुझे पाल-पोसकर बड़ी करनेवाले, पिताजी ही हैं। इस मातृविहीना की अभिलाषा

मातृहृदय पट्टमहादेवी, सन्निधान से अधिक तरह समझ सकेंगी। मुझे ऐसा लगा, इसलिए मैंने पूछा।"

"हमें कोई आपत्ति नहीं।"

"वर देकर अनुग्रह करनेवाले भगवान् की अव मैं क्या सेवा करूँ?"

"आज होली है।"

"तो प्रेम का प्रवाह हम दोनों को प्रेम-सागर में विलीन करना चाहिए।" कहती हुई रानी लक्ष्मीदेवी महाराज से आलिंगन-बद्ध हो गयी। महाराज ने उस दिन उसमें एक अभूतपूर्व उत्साह देखा। सुखद उत्साह!

दूसरे दिन, मध्याह्न के भोजन के बाद, लक्ष्मीदेवी पट्टमहादेवी के पास आयी और बोली, "मैं भी साथ चलूँ? कल जिसे अधूरा देखा था, उसे आज देख सकती हूँ?"

"अच्छा, आ सकती हो। मूल मूर्ति को कुछ ओप देना शेष है। इसलिए स्थपतिजी को समय निकालने में कोई कष्ट विशेष न होगा।" शान्तलदेवी ने कहा।

"कब तक मैं तैयार हो जाऊँ?"

"यही एक-दो घण्टे के बाद। आज भी शिक्षण स्थगित है। इसलिए शीघ्र ही चलेंगे।"

"ठीक है, मैं शीघ्रतिशीघ्र तैयार होकर आती हूँ।" कहकर लक्ष्मीदेवी अपने अन्तःपुर में चली गयी। एक घण्टे के अन्दर ही तैयार होकर पट्टमहादेवी के शयन कक्ष में आ उपस्थित हुई तो ज्ञात हुआ कि अन्दर महाराज हैं। उसने पूछा, "अन्दर जाना मना है?"

"ऐसा कुछ नहीं। आप यदि आवें तो सूचित करने की आज्ञा है।"

"सूचित करने का तात्पर्य?" अभी बात खतम नहीं हुई थी कि पट खुले, चट्टला बाहर आयी और प्रणाम कर बोली, "अन्दर पधारिए।"

लक्ष्मीदेवी अन्दर गयी। चट्टला उसके पीछे, और पट बन्द हो गये।

महाराज और पट्टमहादेवी दो अलग-अलग आसनों पर बैठे थे। बीच में चौकी पर सोने के एक परात में पान रखे थे। राजदम्पती पान खा चुके थे। शान्तलदेवी के बगल के आसन पर लक्ष्मीदेवी बैठ गयी। शान्तलदेवी ने कहा, "चट्टला, रानीजी को भी पान बना दो।"

"मैं पान खा चुकी हूँ, और नहीं चाहिए।" लक्ष्मीदेवी ने कहा।

"सन्निधान ने रानी की अभिलाषा बतायी। वही सोच रहे थे कि क्या करना चाहिए। इतने में......"

"मैं ही आ गयी। वास्तव में सन्निधान से पहले ही मैं इस सम्बन्ध में कहना चाहती थी।"

"चाहे कोई कहें। बात तो एक ही है न! तुम्हारी यह अभिलाषा सहज ही

है। मेरी सहानुभूति है। उन्हें यहाँ बुलवाना कई कारणों से सम्भव नहीं, यह राय थी। परन्तु उत्सव के समय उनके आने के विषय में कोई आपत्ति नहीं रहेगी। किसी को यादवपुरी भेजकर आचार्यजी से यह निवेदन करने की व्यवस्था करेंगे कि एक पखवारे तक किसी को यादवपुरी में रखें और तुम्हारे पिता को यहाँ भेज दें। उनके यहाँ आने पर नौकरी न रहे तो भी बेटी के साथ रहें उनकी राय हो तो उनके लिए क्या करना होगा, इस पर विचार करेंगे। ठीक है न?"

इस निर्णय को सुनने के बाद जो कहना चाहती थी, वह सब कहने के लिए अवसर ही नहीं रहा। जो भी हो, उस अवसर पर पिता के आने की बात तो तय रही न? यही बहुत है। यही एक समाधान रहा। मुस्कुराती हुई उसने अपनी सम्मति जता दी।

फिर स्थपति की बात उठी। शान्तलदेवी ने ही लक्ष्मीदेवी से सीधे पूछ लिया, "कला को रूपित करते समय और कला का आस्वादन करते समय तन्मयता की आवश्यकता है, यह बात तुम्हें स्पष्ट हुई?"

"तन्मयता क्या होती है, उसका अनुभव मुझे केवल कल ही हुआ। हमारे चारों ओर होनेवाली बातों और क्रियाओं की ओर ध्यान ही नहीं रहता, मन केवल एक ही जगह केन्द्रित हो जाता है। कल का अनुभव अमूल्य और अद्भुत है।"

"जब ऐसी भावना मन में उत्पन्न होती है, तभी कला के वास्तविक स्वरूप का बोध होता है। उनकी वह कला-कल्पना तुम्हें अच्छी लगी न?"

"यों ही चित्र देखती तो पता नहीं क्या और कैसा लगता। उन्होंने जो विवरण दिया, उसे सुनकर उसके सौन्दर्य की छाप अच्छी तरह मेरे मन पर पड़ी। वे व्याख्या में भी निष्णात हैं। जो कहते हैं, उसे अच्छी तरह मन में बैठा देते हैं।"

"वे वेद-वेदांगों में पारंगत, सर्वशास्त्र सम्पन्न, सर्वशिल्प निष्णात, परमज्ञानी पण्डित हैं।"

"देखने पर तो ऐसे नहीं लगते।"

"वैसे ही जैसे भरी गगरी छलकती नहीं। अर्ध कुम्भ ही छलकता है। ऐसा छलकना भोंडे प्रदर्शन का प्रतीक है। या हमारा वह व्यवहार उस छलकने का प्रतीक है। तुमने आचार्यजी को देखा है न?"

"हाँ!"

"वे कैसे हैं?"

"बहुत बड़े ज्ञानी और देवांश सम्भूत हैं।"

"वे भी अपने धर्म के लांछन (चिह्न) धारण करते हैं। उसी तरह उनके शिष्य और तुम्हारे पिताजी भी वही लांछन धारण करते हैं। इन दोनों में कोई

अन्तर तुम्हें दिखाई पड़ता है ?"

"आचार्यजी के मुख पर वह लांछन दिपता है। जबकि दूसरों के चेहरों पर वह चेहरे से भी अधिक उभरता है।"

"चेहरे से अधिक लांछन जो उभरकर दिखता है, उसी को हमें प्रदर्शन मानना चाहिए।"

"क्या वह अधिक श्रद्धा को द्योतित नहीं करता ?"

"श्रद्धा अपनी-अपनी क्रियाओं में अपने लिए रहनी चाहिए, न कि प्रदर्शन के लिए। ये प्रदर्शन-निपुण लोग अपने आधे-परधे अधूरे ज्ञान को ढँक रखने के लिए इस लांछन को एक साधन बना लेते हैं।"

"क्या यह बात केवल श्रीवैष्णवों के ही लिए है ?"

"नहीं, सभी मतावलम्बियों के लिए है। सारे देह पर भस्म, तिलक आदि लगाना मानव की अल्प-बुद्धि का प्रतीक है। यह सब निमित्त मात्र, सांकेतिक है। इसलिए सूक्ष्म है, दिखावा अनपेक्षित है।"

"यह स्थपति किस मत के अनुयायी हैं ?"

"मैंने पूछा नहीं। वे तो कोई भी लांछन धारण नहीं करते।"

"तो क्या नास्तिक हैं ?"

"नास्तिक होते तो मन्दिर की ऐसी भव्य-कल्पना उत्पन्न हो सकती थी ? ऐसे परमज्ञानी भी शंकाग्रस्त होकर, अपने सम्पूर्ण जीवन को ही नष्ट करने पर तुले थे। उनका पूर्व-पुण्य। एक दिन उन पर श्री आचार्यजी की कृपादृष्टि पड़ गयी।"

"तब तो उन्होंने आचार्य के शिष्यत्व को ग्रहण किया होगा।"

"श्रीआचार्यजी की कृपा सभी मानवों पर पड़ सकती है। वह कृपा केवल उनके शिष्यवर्ग तक ही सीमित नहीं है।"

"इसीलिए वे किसी मत का लांछन नहीं लगाते ?"

"उसका कारण स्वयं संशयग्रस्त हो जाने से उत्पन्न जीवन-निरपेक्ष उदासीनता है।"

"ऐसी स्थिति में तन्मयता कैसे पा सकेंगे ? जीवन में उदासीनता हो तो वह कैसे सम्भव है ?"

"जब अपनी त्रुटि पता हो जायगी, तब स्वय अपने को सुधार लेंगे।"

"तो अब उनकी स्थिति ऐसी हुई ?"

"शंका जिस नींव पर हुई, वही ढीली-ढीली थी, ऐसा ही लगने लगा। इसलिए वह चित्त-पटल पर से हट गयी-सी लगती है। उसके स्थान पर कार्य का दायित्व प्रधान हो चला है, अतएव उनका मन कार्य-प्रवृत्त हुआ है।"

"किस पर उनके मन में शंका उत्पन्न हुई ?"

"वह सब मुझे भी पूरा ज्ञात नहीं। धीरे-धीरे पता लग सकेगा।"

"यह बात जानने का प्रयास आचार्यजी के शिष्यों ने किया था, इसी कारण से वे वहाँ से खिसक गये थे, यह बात सुनने में आयी।"

"हाँ, इसीलिए हममें कोई भी उनसे निजी बातों के बारे में पूछ-ताछ नहीं करते। तुम्हें भी ध्यान रखना होगा। कभी उनसे उनके निजी जीवन के बारे में जानने का प्रयास नहीं करना।"

"ऐसा है? अच्छा हुआ कि आपने चेता दिया।"

इतने में घण्टी सुनायी पड़ी। चट्टला द्वार खोलकर बाहर आयी, देखा और अन्दर जाकर कहा, "मंचिअरसजी रानियों के साथ पधारे हैं।"

"तो अब हमें क्या काम है। हम आराम करने जायेंगे।" बिट्टिदेव ने कहा।

"क्यों रानियों से मिलेंगे नहीं? मंचिअरसजी से वहाँ की बातें जानने की इच्छा नहीं?"

"वहाँ कोई गड़बड़ी नहीं होगी, इसीलिए मंचिअरसजी आये हैं। आराम कर लेने के बाद मिलना अच्छा है न? रानियों के बारे में या दण्डनाथजी के बारे में आप लोगों को चिन्ता करने की आवश्यकता नहीं है। हम देख लेंगे।" कहकर बिट्टिदेव द्वार की ओर बढ़ गये। शान्तलदेवी ने घण्टी बजायी। द्वार खुला, बिट्टिदेव चले गये।

शान्तलदेवी और लक्ष्मीदेवी दोनों मन्दिर की ओर चल दीं। उदयादित्य, कुँवर बिट्टियण्णा पहले ही वहाँ पहुँच चुके थे।

"स्थपतिजी, हमारी रानीजी को शिल्प के विषय में बहुत श्रद्धा उत्पन्न हो गयी है जिन्हें आपने अभी नहीं दिखाया, उन चित्रों को दिखाइए और बताइए कि वे किस तरह बने। हम कुछ चलकर नगर-वीक्षण कर आयें। अभी से लोग आने लगे हैं। सारी सुविधाएँ हैं या नहीं; व्यवस्था ठीक हुई है या नहीं, सब देखकर आना है।" यह कहकर उदयादित्य और बिट्टियण्णा के साथ शान्तलदेवी चली गयीं। रानी लक्ष्मीदेवी स्थपति के साथ अकेली रह गयी।

स्थपति ने विनीत होकर कहा, "मूल मन्दिर की रचना के सभी चित्रों का कल ही परिशीलन किया गया है। यदि आप आहें तो एक बार निर्मित भवन को चारों ओर से देख लें; चित्रों के साथ मिलान कर लें। बाद में हाल में रूपित चित्रों ने किस तरह रूप धारण किया है, इसका परिशीलन कर सकती हैं।"

"ठीक है, प्रयास करती हूँ।" लक्ष्मीदेवी ने कहा।

स्थपति आगे बढ़े, रानी ने अनुसरण किया। पीछे रेविमय्या और चट्टला ने उनका अनुसरण किया। मन्निर के चारों ओर चक्कर लगाकर आने के बाद स्थपति ने पूछा, "जिन चित्रों को देखा था, उनके अनुसार ही हैं, या कहीं कोई अन्तर भी है? या सब ठीक जँचा···?"

"आपकी और पट्टमहादेवीजी की जब प्रतिभा लगी है तो समर्पक होना

ही चाहिए। और फिर, परिशीलन कर इन कृतियों पर राय देना हमसे सम्भव नहीं। इस विषय का हमें कुछ विशेष ज्ञान नहीं।"

"आपकी इस सज्जनतापूर्ण बात के लिए मैं कृतज्ञ हूँ। हमें और पट्टमहादेवी-जी के लिए प्रतिदिन देखते रहने के कारण, इनमें अन्तर ही दिखायी नहीं पड़ता। आप पहली बार देख रही हैं, अतः अन्तर हो या त्रुटियाँ हों तो आपको शीघ्र दिखायी पड़ना अधिक सम्भव है। इसलिए बताने पर बड़ा उपकार होगा।"

रानी लक्ष्मीदेवी सोचती रही। दो-एक क्षण बाद कहा, "नाट्य सरस्वती का मुख चित्र में बाल्यकालीन लगता था। उसमें यहाँ कुछ प्रौढ़ता-सी लगती है।"

"सच है, आपकी राय ठीक है। इन बातों पर ध्यानपूर्वक वीक्षण आपने किया है, इसके लिए यह आपकी राय ही प्रमाण है। इससे अधिक प्रमाण की आवश्यकता नहीं।"

"ऐसा क्यों?"

"उसके लिए कारण है।" कहकर स्थपति ने इस सम्बन्ध में जो बातचीत हुई थी, उन सारी बातों और क्रियाओं को समझाया।"

"तो अब यह संगीत-नाट्य सरस्वती बनी।'

"हाँ!"

"तो इसमें स्वर निकलते हैं?"

"सुनेंगी?"

"हाँ।"

दोनों फिर उत्तर द्वार की ओर गये। स्थपति ने धीरे से सरस्वती के विग्रह के भिन्न-भिन्न भागों पर अपने हाथ की छोटी छेनी से ताडन किया। शुद्ध सातों स्वरों को निकलते देख वह रोमांचित हो उठी। बोली, "मैंने सोचा भी नहीं था कि यह सब प्रस्तर में होना सम्भव हो सकता है।"

"सम्भव बनाने की निष्ठापूर्ण अभिलाषा हो तो साधा जा सकता है।"

"मन्दिर के महाद्वार के ऊपर के हिस्से को वैसे ही खाली रखा-सा दिखता है न?"

"हाँ, उसे इच्छापूर्वक वैसे ही खाली रखा है।"

"वहाँ कुछ और बनाकर सजाने का विचार है? कुछ इस पर निर्णय हुआ है?"

"नहीं! इसके लिए सन्निधान और पट्टमहादेवी को निर्णय करना है।"

"मुझे लगता है···" कहते-कहते रुक गयी और स्थपति की ओर देखा।

"आज्ञा हो।"

"वह ठीक है या नहीं कहते संकोच होता है न।"

"कौन जानता है, जो आपके मन में भावना उत्पन्न हुई है, वही सम्भवतः

ठीक हो।"

"आचार्यजी के शिष्यत्व को जो सन्निधान ने स्वीकार किया, उसे चित्र में रूपित कर उसे यदि उस जगह पर सजा दें तो अच्छा होगा, मुझे लगता है।"

"अभिमत पर विचार किया जा सकता है। इसके लिए आचार्यजी की स्वीकृति लेनी आवश्यक है। उनसे विचार-विनिमय किये बिना अन्तिम रूप से निर्णय नहीं किया जा सकता।"

"हाँ तो, मुझे विश्वास है कि वे स्वीकार करेंगे। महाराज को शिष्य के रूप में ग्रहण करना ऐतिहासिक महत्त्व की घटना है। यह उनके जीवन की भी एक अन्यतम घटना है। यदि यहाँ वह रूपित हो जाय तो इसके लिए ऐतिहासिक महत्त्व भी मिल जाता है।"

"आपने जो कहा सो ठीक है।"

"इस सबको देख आने के बाद एक कमी और दिखायी देती है।"

"सो क्या है, निस्संकोच कहें।"

"अनेक मूर्तियों के नीचे उनके बनानेवाले शिल्पी का नाम एवं उनकी विरुदावली आदि है। परन्तु आपका कहीं नाम नहीं है। जबकि इस महान् कृति के निर्माण की मूल-कल्पना आपही ने दी। ऐसी स्थिति में कहीं-न-कहीं आपका नाम होना ही चाहिए।"

"नाम को स्थायी बनाये रखने की मेरी अभिलाषा नहीं है। मेरा लक्ष्य केवल इतना ही है कि कृति स्थायी रहे। इसके अतिरिक्त मेरी किसी तरह की लौकिक इच्छा नहीं। परिवारियों के बीच में रहकर संन्यास स्वीकार न करने पर भी मैं सन्यासी हूँ। मेरा नाम संसार को ज्ञात न हो, यही मेरा निर्णय है। कहीं भी अपना नाम उत्कीर्ण नहीं कराऊँगा।"

"ऐसा क्यों?"

"वह मेरा निजी विषय है। मैं बताना नहीं चाहता। आप भी इस पर बल न दें।"

"आपकी इच्छा। अब आगे···"

"शिल्पियों के शिविर देख आवें। वहाँ कुछ मूर्तियाँ रूपित हो रही हैं।" कहकर उस ओर बढ़ने लगे। शेष लोग भी उधर उनके पीछे चलने लगे।

पहले के रूपित चित्र तथा शान्तलदेवी ने जो प्रतिमा-भंगियाँ दी थीं तब के चित्र सभी कृतियों में रूपित हुए थे शिविरों में। सभी शिविरों में हो आये। अन्त में स्थपति के शिविर में आये तो लक्ष्मीदेवी ने कहा, "इन सभी चित्रों की कल्पना आपकी है तो आपकी कल्पना की सामर्थ्य का अनुमान ही हम नहीं कर सकतीं। आपने तो लगता है, विश्व-मोहिनियों की कल्पना कर डाली!"

"कुछ कल्पित हैं। परन्तु उनमें जो सजीव लगते हैं, वे सब दूसरों की दी हुई प्रतिमा-भंगियों का फल है।"

"प्रतिमा-भंगी का अर्थ?"

"प्रतिमा-भंगी देने में निष्णात व्यक्ति उसी भंगी में स्थिर रूप से हमारे सामने खड़े होंगे। हम यथावत् उस भंगी का चित्र बना लेते हैं। इस तरह चित्रित चित्र ही बाद में पूर्ण शिल्पाकृति बनता है।"

"तो सम्पूर्ण चित्र के तैयार हो जाने तक उसी भंगी में ज्यों-का-त्यों रहना पड़ेगा?"

"नहीं तो सच्चा चित्र बनेगा कैसे?"

"फिर भंगिमा के साथ भाव भी हैं न?"

"हाँ, जब भावयुक्त हो तभी वह सजीव बनता है। भावपूर्ण भंगिमा चित्र में सजीवता लाती है।"

"मतलब यह कि अंग-अंग में भाव का संचार हो जाता है, यही आपका तात्पर्य है?"

"हाँ तो, इसी में कला की शक्ति निहित है।"

"तो क्या प्रतिमा-भंगी देनेवाले इन भावों से युक्त हो खड़े रहते हैं?"

"हाँ!"

"तब तो उन्हें इस तरह भावाविष्ट हो रहने के लिए ऐसा कोई सन्निवेश ही नहीं रहता। हमारे अन्तरंग पर प्रभाव डाल सके, ऐसी घटना के अभाव में भाव कैसे उत्पन्न हो सकता है?"

"वही तो कला है। सबकुछ की कल्पना मन में करके भाव उत्पन्न कर उसे भंगिमा में भरना होता है।"

"अर्थात् उनमें वास्तव में भाव की अनुभूति नहीं होती।"

"हाँ! मतलब यह कि भाव-प्रदर्शन तो कृतक है। उसमें वास्तविकता का भ्रम उत्पन्न हो जाता है। उसी को हम कला कहते हैं।"

"यह सब सुनने पर बड़ा विचित्र-सा लगता है!"

"जिन्होंने कला-साधना की है, उनके लिए यह सहज हो जाता है। जो कला का साधक नहीं, उनके लिए यह विचित्र लगता है।"

"तब तो आपको यह 'प्रतिमाभंगी' किसने दी हैं?"

"हमारी पट्टमहादेवी ने।"

रानी लक्ष्मीदेवी अवाक् हो गयी, कुछ कह न सकी। वह स्थपति की ओर चकित-सी देखती रह गयी।

"क्यों, यह बात अविश्वसनीय लगती है?"

"यह बात मेरे लिए समझ के बाहर की-सी लगती है। यह सम्भव है कि

पट्टमहादेवी ऐसा करें ? वे ऐसा कर सकेंगी ?"

"सकेंगी, सम्भव है, दोनों बातें सत्य हैं। हमारी पट्टमहादेवी खरा सोना हैं, अमूल्य हीरा हैं। वे साक्षात् कलामूर्ति हैं। उनकी अटल निष्ठा, सत्य-पूर्ण साहस उन्हें लोग-कल्याण के कामों में भाग लेने की प्रेरणा देते हैं। मेरी बातों पर अविश्वास हो तो आप उन्हीं से जान सकती हैं।"

"उन्होंने प्रतिमाभंगियाँ कब दीं ?"

"आपके वेलापुरी पधारने के बाद।"

"ओह ! उसी प्रसंग में सम्भवतः पट्टमहादेवीजी का दर्शन दूसरों के लिए दुर्लभ हो गया था।"

"हाँ, यह कार्य बहुत आवश्यक था। और वह शीघ्र समाप्त भी होना था।"

"पहले ही यह कार्य क्यों नहीं किया ? अन्त समय तक प्रतीक्षा क्यों की ?"

"मैं एक साधारण मनुष्य हूँ, राजमहल का एक सेवक। पट्टमहादेवीजी से क्या पूछें, क्या न पूछें, इसे जानता हूँ। संसार की रीति-नीतियाँ, कला के आराधक की निर्विकल्प कलाराधना की रीति—इन दोनों में भिन्नता है। दृष्टि-कोण की भिन्नता ही इन दोनों के इस अन्तर का कारण है। इसलिए ही यह सोचकर कि यह विषय बहुत संवेदनशील है, मैंने ही बहुत समय विचार-मंथन में व्यतीत किया।"

"अन्त समय में पूछने पर स्वीकार कर लेंगी, यह सोचकर ऐसा किया ?"

"वह भावना ही मेरे मन में नहीं आयी। मेरा संकोच ही विलम्ब का कारण बना। पट्टमहादेवी ने अन्त समय में ही स्वीकृति दी, सो भी काम शीघ्र हो जाना चाहिए था, इसलिए। उन्होंने भी बात को अच्छी तरह सोच-समझकर, महा-सन्निधान से विचार-विनिमय कर, उनकी स्वीकृति लेकर, तब अपनी स्वीकृति दी। इसके बाद ही उन्होंने प्रतिमाभंगी दी।"

"इतना सब होने पर भी एक भी चित्र में उनके चेहरे का साम्य नहीं दिखाई देता ?"

"सो भी उनकी ही इच्छा से। इन भाव-भंगियों में कुछ दूसरे अलग-अलग मुख हों यही उनकी इच्छा थी।"

"वह क्यों ? उनका ही चेहरा होता तो क्या होता ?"

"एकरूपता रहती। वैविध्य न होता।"

"कम-से-कम एक में उनका चेहरा रूपित होता तो अच्छा होता न ?"

"ये सब कल्पित मूर्तियाँ हैं, इस भावना को जागृत करना हो तो व्यक्ति को पहचानने की-सी निर्मित नहीं होनी चाहिए। यहाँ भाव-भंगियों की ही प्रधानता

होना चाहिए, इन भंगिमाओं को देनेवाले व्यक्ति 'प्रधान' नहीं।"

"ये सब नये विचार हैं। ये विचार हमारे मस्तिष्क में अभी ठहर नहीं पाते।"

"ऐसा कुछ नहीं। आपको इस क्षेत्र में मन लगाने का अवसर नहीं मिला है, इसलिए ऐसा हुआ है। यदि आप चाहें तो समझने की शक्ति आप में है।"

"आपको कैसे पता ?"

"आपकी स्मरणशक्ति अच्छी है। आपमें वीक्षक-दृष्टि और प्रवृत्ति जागृत स्थिति में हैं। इसीलिए जिस चित्र को देखा और जिस प्रस्तर प्रतिमा को देखा, उन दोनों में रहनेवाले अन्तर को आप पहचान सकी हैं।"

"वह अचानक सूझा होगा।"

"नहीं। बात यह है कि आपके जागृत मन के साथ एक सुप्त मन भी है जो जागृत होकर आपके न चाहने पर भी, वह अपना कार्य कर देता है।"

"यह सब मेरी समझ से बाहर है। जब वेदान्ती लोग जागृति, स्वप्न, सुषुप्ति कहते हैं, तब अन्तःचक्षु, सुप्त मन, आदि को कहते सुना है। परन्तु यह सब समझ में नहीं आया है।"

"वेदान्ती और कलाराधक इन दोनों में कोई अन्तर नहीं। दोनों एक ही सिक्के के दो पक्ष हैं।"

"यह बात भी मेरी समझ में नहीं आती।"

"पट्टमहादेवीजी जब पढ़ाती हैं, तब सुनने का अवसर प्राप्त करें, तो वे इन बातों को मुझसे भी अच्छा समझा सकती हैं।"

"हाँ, पट्टमहादेवीजी अभी नहीं आयी हैं, मैं राजमहल जाती हूँ।" कहती हुई, उसने चट्टला की ओर देखा। उसने कहा—"पालकी तैयार है।"

"कलाकार एक तरह से पागल होते हैं, वह पागलपन उनको अच्छा लगता है। मेरे इस पागलपन से आपको कुछ उलझन हुई हो तो मुझे क्षमा करें।" स्थपति ने विनीत भाव से कहा।

"ऐसा कुछ नहीं। इससे अनेक बातों की जानकारी मिली।" कहकर लक्ष्मी-देवी पालकी पर चढ़ गयी, राजमहल में जा पहुची।

रात के भोजन के समय शान्तलदेवी उपस्थित रहीं। मंचि दण्डनाथ, रानियाँ बम्मलदेवी और राजलदेवी, लक्ष्मीदेवी, महाराज—ये सब रात को भोजन करने-वाले थे। सूर्यास्त के पहले ही भोजन कर चुकने के कारण शान्तलदेवी साथ रहने के उद्देश्य से वहाँ उपस्थित रहीं। उन लोगों में कुछ इधर-उधर की बातें चलती रहीं। वास्तव में रानी लक्ष्मीदेवी और पट्टमहादेवी, दोनों ने उन्हें उनके आने के बाद, यहीं पहली बार देखा था। इसलिए देर तक कुशल-प्रश्न होते रहे। बिट्टिदेव लगभग मौन ही भोजन में लगे रहे।

बीच में शान्तलदेवी ने मंचि दण्डनाथ से पूछा—"चालुक्यों की क्या सूचना है?"

"सुना कि तावड़तोड़ युद्ध की तैयारियाँ हो रही हैं। अबकी बार युद्ध में मेरा सिर उड़ाने की बात चल रही है, यह सुनने में आया। कहते सुना कि स्वामी-द्रोहियों के प्राणहरण करनेवाले चलिके नायक-जैसे दण्डनायक के होते हुए भी पोय्सलों ने इस स्वामिद्रोही को आश्रय कैसे दिया, यह उनकी समझ में नहीं आया।"

यह सुन बिट्टिदेव ने कुछ आविष्ट होकर कहा, "वे इस बात को पूछने का अधिकार ही खो चुके हैं, ऐसी बात उनके मुँह से कैसे निकली, यही समझ में नहीं आता। जिन्होंने उन पर विश्वास किया उनके प्रति उन्होंने क्या विश्वास रखा?"

"अगर अपनी-अपनी भूल पहचान लें और उसे गौरव के साथ स्वीकार कर लें तो वह रीति ही अलग है। अपनी भूल दूसरों पर थोपकर अपने को निर्लिप्त बताने वाले ऐसे ही होते हैं, भेड़ियों की तरह।" शान्तलदेवी ने कहा।

"तो क्या युद्ध अवश्यम्भावी है?" घबड़ाकर लक्ष्मीदेवी ने पूछा।

"इतना शीघ्र नहीं होगा। किसी-न-किसी तरह पोय्सलों को समूल नष्ट करने की इच्छा से वहाँ की प्रचण्डता से युद्ध की तैयारियाँ हो रही हैं। कम-से-कम छः मास लगेंगे, यदि ऐसा आक्रमण करना हो तो।" मंचि दण्डनाथ ने कहा।

"यदि इतना समय हो तो हम ही उन्हें छका सकते हैं। अभी हमने जिस विजयोत्सव और मंदिर-प्रतिष्ठा की बात सोची है, वह पूरा हो। इस काम के लिए राज्य के प्रमुख सब आये ही हैं। एक नयी सेना का संगठन करेंगे। पोय्सल राज्य में लोगों की कमी नहीं। सम्पूर्ण राज्य एक बृहत शक्ति बनकर शत्रुओं को झुका सकता है, हरा सकता है।" शान्तलदेवी ने कहा।

"इस युद्ध में हमें अपनी अश्वशक्ति को बढ़ाना होगा। क्योंकि चालुक्यों की अश्वशक्ति कुण्ठित हो गयी है, ऐसा समाचार मिला है।" बम्मलदेवी ने कहा।

"इसे जानकर ही मैंने अच्छे घोड़ों को व्यापक स्तर पर खरीदने का प्रयत्न किया है। रानी बम्मलदेवीजी घोड़ों का परीक्षण भी कर आयी हैं। सन्निधान स्वीकृति देंगे तो उन्हें हम प्राप्त कर सकते हैं।"

"हमें कितने घोड़े मिल सकेंगे?" बिट्टिदेव ने पूछा।

"पाँच सौ।"

"मूल्य क्या देना होगा?"

"सहमति हो जायेगी।"

"तो खरीद लेंगे।"

"तात्पर्य हुआ कि पाँच सौ सवारों को शिक्षण देना होगा। उन योद्धाओं और घोड़ों के लिए रक्षा-कवच बनवाने होंगे।" मंचि दण्डनाथ ने कहा।

"लोगों की कमी नहीं। शिक्षित करने के लिए बम्मलदेवीजी हैं। विशेष तरह के रक्षा-कवच लोह आदि तैयार कर सकने वाले लोहार दोरसमुद्र में हैं। हमें तुरन्त कार्य में प्रवृत्त हो जाना चाहिए।" शान्तलदेवी ने कहा।

"जब कहते हैं कि छः माह लगेंगे तो अभी से इतनी चिन्तित क्यों?" राजलदेवी ने कहा।

"यह कैसे कह सकते हैं छः महीने ही होंगे या तीन महीने? छः महीने मानकर उसी पर विश्वास करके देरी करना अच्छा नहीं। यह मेरी निश्चित धारणा है।" शान्तलदेवी ने कहा।

"पट्टमहादेवीजी का सोचना मुझे भी ठीक लगता है।" मंचि दण्डनाथ ने कहा।

इसी तरह से निर्णय हुआ। दूसरे ही दिन मंत्रणा-सभा का आयोजन हुआ। इस विषय पर विचार-विनिमय किया गया। पट्टमहादेवीजी की सलाह को मान्यता मिली। उसी के अनुसार कोश से धन लेकर मंचि दण्डनाथ कुछ अश्वारोही रक्षक दल को साथ लेकर चल पड़े।

इधर वेलापुरी पहुँचाने वाले आमन्त्रित और उत्सव के सन्दर्भ में एकत्रित लोगों की सुविधाओं की ओर ध्यान देकर व्यवस्था करने ही में अधिकारी वर्ग का समय लग गया। नियोजित रीति से कार्य चलने लगे। वेलापुरी जनसमूह से भर गयी।

किसी को अवकाश नहीं। सभी हड़बड़ी में अपने-अपने कार्यों में लगे थे। वेलापुरी के निवासियों के घर सगे-सम्बन्धियों से भर गये। निवास, स्वास्थ्य, और आहार—इनकी व्यवस्था एक समस्या ही बन गयी। परन्तु सब कार्यों को हँसी-खुशी से एवं सन्तोष के साथ शान्तिपूर्ण ढंग से करनेवाले लोग पोय्सल राज्य में थे। फिर भी यह सहज ही है कि भारी संख्या में लोग एकत्रित हों तो कुछ-न-कुछ असुविधाएँ होंगी ही इसे लोग समझते भी थे। वे भी सहयोगपूर्ण व्यवहार कर रहे थे।

घर-घर में उत्साह छलक रहा था। मंचिदण्डनाथ एक सप्ताह के अन्दर घोड़ों को खरीदकर ले आये। बम्मलदेवी के साथ रायण और सिंगिमय्या शिक्षण के कार्यक्रमों की ओर ध्यान देने लगे। रानी राजलदेवी, रानी लक्ष्मीदेवी, प्रधान गंगराज की पत्नी लक्कलदेवी, हेग्गड़ती माचिकब्बे आदि राजमहल में होनेवाले अन्यान्य कार्यों की व्यवस्था में लगीं। तलकाडु से लौटनेवाले माचण दण्डनाथ, दण्डनायक एचम, दण्डनायक बोप्पदेव, डाकरस दण्डनाथ, कुँवर बिट्टियण्णा, छोटे मरियाने—ये सब लोग उदयादित्यरस के नेतृत्व में होनेवाले कार्यकलापों में

सहायक बने। पुनीसमय्या, प्रधान गंगराज और मारसिगय्या, व्यवस्था के कार्यों के सलाहकारों के रूप में लगे रहे। वयोवृद्ध होने के कारण अधिक परिश्रम के कार्यों में इन्हें लगने न दिया गया था। डाकरस दण्डनाथ का बेटा भरत राजमहल में राजकुमारों के साथ रहकर वहाँ के कार्यों में उत्साह दिखाने लगा। मायण गुप्तचर दल का प्रमुख होकर चाविमय्या के साथ अन्य राज्यों के गुप्तचर दल के लोग आये हैं या नहीं, आये हों तो उनके कार्य-कलाप क्या हैं आदि बातों की तहकीकात करने में लगा रहा।

वेलापुरी में शार्दूल लांछन फहरने लगा।

फागुन-वदी-तेरस स्थिरवार के दिन यदुगिरि से समाचार मिला, 'आचार्यजी मन्दिर प्रतिष्ठा महोत्सव के लिए नहीं आ सकेंगे और भगवान् की आज्ञा के अनुसार उत्तर की यात्रा पर जायेंगे। वहाँ बन्धन में पड़े भगवान् को मुक्त करके ले आने का कार्य बहुत आवश्यक है। यों न आने पर कोई चिन्तित न हों, जिन वैदिकों को भेजा है, उनके द्वारा इस प्रतिष्ठा के उत्सव को सम्पन्न करा लें। इस सन्दर्भ में एक और बात की ओर ध्यान दिलाना आवश्यक है। भगवान् ने स्वप्न में दर्शन देकर बताया है कि वेलापुरी के उत्तर से एक और दक्षिण से एक-दो चमार प्रतिष्ठित होनेवाले भगवान् चेन्नकेशव स्वामी की प्रतिष्ठा के समय पर भगवान् के चलने-फिरने की सुविधा के लिए भगवान् के एक-एक पैर के लिए पादत्राण ले आयेंगे। मन्दिर में उन्हें गौरव के साथ प्रवेश करने में कोई अड़चन न हो। इसके अतिरिक्त मन्दिर में प्रतिष्ठा के समय चमारों को प्रवेश की सुविधा हो, साथ ही ऐसी व्यवस्था रहे कि प्रत्येक वार्षिकोत्सव के समय उनके लिए मन्दिर-प्रवेश की सुविधा रहे। पवित्र-अपवित्र के भेदभाव बिना, संकोच या भय के बिना प्रवेश मिले, ऐसी व्यवस्था रहे। अपवित्र को पवित्र बनाने की मन्त्र-शक्ति जिसने पायी है, ऐसे किसी को अपवित्रता से डरना नहीं चाहिए।' आचार्यजी ने यह सन्देश अपने शिष्य के द्वारा भेज दिया। और अपनी यात्रा आरम्भ करने के मुहूर्त आदि की भी जानकारी दे दी। तदनुसार दशमी के दिन उन्होंने यात्रा प्रारम्भ कर दी थी। परन्तु तिरुवरंगदास के विषय का कहीं कोई उल्लेख तक नहीं था।

आचार्यजी के न आ पाने की सूचना से उत्साह कुछ कम अवश्य हुआ। फिर भी, कार्य तो रुक नहीं सकता था। न कोई व्यवस्था ही स्थगित हो सकती थी। परन्तु इस समाचार को फैलने नहीं दिया। सन्देशवाहक शिष्य को भी आदेश दिया गया कि सूचना को गुप्त रखे।

चौदस को लक्ष्मीदेवी के पालक-पिता तिरुवरंगदास का आगमन हुआ। वह सीधे राजमहल गये। वहाँ का द्वार-रक्षक उनसे परिचित नहीं था। कौन··· क्या···आदि सब परिचय द्वारपाल को देकर प्रवेश प्राप्त करते-करते वह थक

गया। यह प्रवेश असम्भव था यदि राजमहल के अन्दर से रेविमय्या बाहर न निकला होता। उसके माध्यम से तिरुवरंगदास को अन्दर जाना आसान हो गया। पिता के आने पर रानी लक्ष्मीदेवी के आनन्द की सीमा न रही। मंचिअरस दण्डनाथों के लिए बने निवासों में से एक में रह रहे थे। इसलिए लक्ष्मीदेवी के लिए यह सम्भव न हो सका कि पिता को राजमहल में ही ठहरावें। लक्ष्मीदेवी ने पिता को राजमहल में रखना चाहा, प्रयास भी किया किन्तु विफल हो गयी। अपने बन्धु-बान्धवों के आवासों में ही कहीं पर ठहरने की व्यवस्था करने का निर्णय किया जा सकता है। इसी सोच-विचार में अन्ततः अपने ठहरने के लिए स्वयं तिरुवरंगदास को ही निश्चय करना पड़ा। परिणामतः उसने बता दिया कि उसके लिए अलग निवास की व्यवस्था की जाय। वैसे ही उसके लिए अलग व्यवस्था हुई। वह आचार्यजी की आज्ञा के बिना स्वयं अपनी इच्छा से आया था, इसलिए उसे केवल एक अतिथि बनकर ही रहना पड़ा। वहाँ के कार्यकलापों में किसी भी तरह की सलाह-सुझाव तक नहीं दे सकता था। उसके लिए केवल इस बात की सुविधा थी कि वह जब चाहे तब अपनी बेटी से मिलने के लिए राजमहल में आ-जा सकता था। यह सुविधा मंचिअरस और मारसिंगय्याजी दोनों को रही। आचार्यजी ने उसे वेलापुरी जाने की अनुमति नहीं दी, इस वजह से वह अन्दर-ही-अन्दर जल रहा था। इसलिए वह पता नहीं क्या-क्या करने का निर्णय कर, आचार्यजी के उत्तर भारत जाने पर अपने किसी एक सहायक को यादवपुरी का काम सौंपकर, वेलापुरी चला आया था। यहाँ आने पर अपनी इच्छा के सफल होने का कोई लक्षण दिखाई नहीं पड़ा। फिर भी उसने कुछ गुनकर उसी निवास में जड़ जमा बैठने की बात सोची। फिर यहाँ के लोगों को देख-समझकर, परिस्थिति को जानकर, बाद में कुछ करने का निर्णय कर लिया। इस बात का ध्यान रखा कि कोई भी काम करे, उसे ऐसा करना होगा कि कोई प्रतिक्रिया का आभास न मिले। यह सब सोचकर उसने सबसे हँसते, मिलते-जुलते रहने का निर्णय किया। आने के दूसरे ही दिन उसने लक्ष्मीदेवी से मिलकर विस्तार से बातचीत की और अच्छी तरह से उसके कान भरे। कहा कि अवश्य कोई मेरा गुप्तशत्रु है, जिसने महासन्निधान को मेरे विरुद्ध भड़काया है, यहाँ तक कि आचार्यजी को भी मेरे विरुद्ध कर दिया है। उनके मन की इस भावना को दूर करने के लिए आत्म-शुद्धि से सेवा-कैंकर्य में लगे रहकर ही इस भाव को मिटाना होगा, परन्तु इसके लिए भी यहाँ परिस्थितियाँ साथ नहीं दे रही हैं—आदि-आदि ऐसी ही बातें बताकर लक्ष्मीदेवी के मन में परिस्थिति का मनचाहा चित्र बिठा दिया। वह बेचारी कुछ करने की स्थिति में नहीं रही। पहले कुछ व्यक्तियों के बारे में उसके जो विचार रहे, वे अब नहीं थे। अज्ञानवश उसमें जो भावनाएँ उत्पन्न हुई थीं,

वे सब दूर हो गयी थीं। यहाँ की व्यवस्थित रीति भी उसे भली लगी थी। वास्तव में शान्तलदेवी ने उसे सीधा उपदेश तो नहीं दिया था, किन्तु उन्होंने अपने व्यवहार से सबको अपना बना लेने के बरताव के कारण, जैसे सब उनके प्रिय पात्र बन गये थे, वैसे यह भी प्रिय पात्र हो गई। निरहंकार, स्थान-पद के आडम्बर से दूर पट्टमहादेवी अपने को प्राज्ञ नहीं समझती। उनके शान्त, सन्तोष, उत्साह और सरलता के व्यवहार ने ही सबके मन में पट्टमहादेवी के प्रति गौरव उत्पन्न कर दिया था। इन सब बातों से अच्छी तरह परिचित लक्ष्मीदेवी, अपने पिता की किसी भी बात को प्रोत्साहित कर सकने की स्थिति में नहीं थी। उसने एक ही बात अपने पिता से कही, "दूसरों के कार्यों में हस्तक्षेप न कर अपना काम जो हो सो करते रहने से विरोध होगा ही नहीं। बदले में गौरव मिलेगा। आप अतिथि बनकर आये हैं। सुख से दो-चार दिन रहकर सन्तोष से समय बितावें। सम्पूर्ण जीवन श्रम करके ही तो विताया है।"

"बेकार रहकर समय बिताना नहीं हो सकता है, बेटी!"

"यहाँ नियुक्त हुए बिना कोई काम नहीं कर सकते न?"

"तुम्हें महासन्निधान से कहना चाहिए। कुछ कुतन्त्री लोगों ने महासन्निधान से मेरे विरुद्ध कहकर उनका मन बिगाड़ दिया है। मुझे सब विधियों का ज्ञान है अतः मेरी सलाह मानकर यहाँ के कार्यों में मेरा उपयोग करें।"

"अभी यह सब हो ही नहीं सकता। मुझे सन्निधान से एकान्त में मिल सकने का अवसर भी मिलेगा या नहीं, कह नहीं सकती।"

"तो क्या सभी पुरानी रानियों ने मिलकर तुम्हें महाराज का संग अप्राप्य बना दिया है?"

"पिताजी, यह आपसे सम्बन्धित विषय नहीं। ऐसा कुछ लगना हो तो सबसे पहले मुझे लगना चाहिए। जब मुझे स्वयं ऐसा अनुभव नहीं होता है, तब आपके मुँह से यह बात सुनकर आश्चर्य होता है। मुझे तो लगता है कि आपने सब जगह ऐसी ही बातें करके अपने बारे में सबके मन में दुर्भावना पैदा कर ली है।"

"मैंने क्या किया, बेटी? तुमने कहा कि सन्निधान से मिलने का अवसर नहीं मिलेगा। उसके लिए दूसरा क्या कारण हो सकता है? बेचारी रानियों को भी भूख लगेगी न? उनको भी तृप्ति मिलनी चाहिए न? तुम बिलकुल अबोध हो। तुम्हें यह सब पता होना और अधिक अनुभव होना चाहिए। अभी शायद तुम्हारा मन तुम्हारे वश में न होकर, किन्हीं दूसरों के हाथ है। देखो बेटी, यदि तुम्हें सुख लेना हो तो तुम्हें अपना मन अपने वश में रखना होगा। अभी स्थापित होनेवाली यह किस भगवान् की मूर्ति है?"

"केशव की।"

"तुम्हीं बताओ, तुम्हारी पट्टमहादेवी केशव की भक्त हैं?"

"नहीं !"

"जो भक्त नहीं, उन्हें यहाँ ऊँचा स्थान क्यों हो ?"

"पिताजी, आपको पट्टमहादेवीजी के बारे में कुछ भी नहीं पता। यह मन्दिर भव्य-कृति है। इसे भव्य बनाने के लिए वे तपस्या कर रही हैं।"

"छोड़ो बेटी, तुम्हारी बात सुन लोग हँसेंगे। अब तुम ही बताओ—वे जैन जिसकी पूजा करते हैं, उस नग्न गोम्मटेश्वर की पूजा तुम जाकर करती हो ?"

"मुझसे उसे देखना तक सम्भव नहीं। उसके बारे में कुछ मत कहो।"

"ऐसे भगवान् की सेवा में यदि तुम्हें आगे बढ़ना हो तो वह मन शुद्ध रहेगा ?"

"मैं आगे बढ़ूँगी ही नहीं।"

"तुम तो नहीं जाती हो। तुम परम वैष्णव भक्तिन हो। मैंने तुम्हें उसी तरह पाला है। परन्तु अपने स्वार्थ साधनेवाले, द्वेष करनेवाले लोग हँसते-हँसते अपना स्वार्थ सिद्ध कर लेंगे। अब एक बात जान रखो। तुम विष्णुभक्त हो; जिन्होंने तुमसे विवाह किया, वह महानुभाव भी विष्णुभक्त हैं; यहाँ प्रतिष्ठित होनेवाले भगवान् केशव हैं; इसलिए यहाँ होनेवाले प्रत्येक धार्मिक कार्य में महाराज के साथ तुम्हें ही रहना होगा। दूसरों को अवसर नहीं देना चाहिए। अभी तुम यदि अपने स्थान को सुरक्षित नहीं कर सकी तो तुम्हें न इधर की न उधर की, बना रखेंगे। मैं वृद्ध हो गया हूँ। मुझे यहाँ से हटाकर कहीं दूर भिजवा देंगे। मुझे कोई अधिकार नहीं है। ऐसी दशा में मैं तुम्हारी कठिन परिस्थितियों में सहायता करने भी नहीं पहुँच सकूँगा। इसलिए तुम्हें अपनी भलाई को सोचने के लिए अभी से प्रयत्न करना चाहिए। अपनी भलाई अपने हाथ में है। भ्रम में पड़कर अपने भविष्य को अपने ही हाथ से नष्ट नहीं कर देना। मैं जो कुछ कहता हूँ उसे शान्त मन से बैठकर विचार कर देखो और निर्णय करो। मैं यह हठ नहीं करता कि तुम मेरी बात मानो ही। मेरे लिए तुम्हारे हित को छोड़कर दूसरी कोई चिन्ता नहीं। इसलिए मेरी बातों और धारणाओं के बारे में दूसरों की तरह और ही अर्थ कल्पित करोगी तो मेरे लिए असह्य दुःख होगा।"

लक्ष्मीदेवी का अबोध मन दुविधा में पड़ गया। उसने कुछ नहीं कहा। तिरुवरंगदास ने समझा कि उसकी बातों का प्रभाव उसके मन पर हुआ है, इसलिए और अधिक कहना उचित नहीं। यह समझकर उसने बिदा लेनी चाही। जाते हुए कहा, "यह मेरा सुझाव मात्र है; अब मैं चलता हूँ।" कहकर वह बाहर की ओर बढ़ गया।

लक्ष्मीदेवी का मन विकट द्वन्द्व में फँस गया था। वह मन-ही-मन सोचने लगी। कोई उनका अपना इष्टदेव तो है नहीं, जिस पर इतनी भक्ति-

श्रद्धा दिखायेंगे ! यदि यों श्रद्धा भक्ति अन्य देवता पर दिखायेंगे तो अपना इष्ट-देव क्रोध न करेगा ? इतना भी ज्ञान उनमें नहीं है ? यदि इतना भी नहीं समझते हों तो उनकी श्रद्धा-भक्ति यह सब केवल दिखावा है। जैसा पिताजी कहते हैं, यह सब केवल दिखावा ही होना चाहिए। इस सारे दिखावे का कोई-न-कोई लक्ष्य होना चाहिए। फिर भी पट्टमहादेवी बिलकुल निःस्वार्थजीवी हैं। उनका कोई स्वार्थ ही नहीं। सभी प्रसंगों में वे मेरा ही हित चाहती हैं—ऐसा ही व्यवहार करती रही हैं। सम्पूर्ण जनता उनको चाहती है। इसके लिए कोई-न-कोई प्रबल कारण होना चाहिए। कुछ लोगों की आँखों में धूल झोंक सकते हैं, सभी की आँखों में धूल कैसे झोंकी जा सकती है ? यों उसके मन में विचारों का आलोडन-विलोडन होता रहा।

रानी लक्ष्मीदेवी के मन को बिलोड़कर वहाँ से निकला तो सीधे अपने आवास पर न जाकर मन्दिर की ओर गया। मन्दिर की परिक्रमा की और महाद्वार के सामने आकर ध्वजस्तम्भ की तरह खड़ा होकर मन्दिर को वीक्षक-दृष्टि से देखने लगा। उस मन्दिर के सौन्दर्य को और उसकी भव्यता को देखकर वह अपने को ही भूल गया। बनना हो तो ऐसे मन्दिर का धर्मदर्शी बनना चाहिए। कहाँ यह भव्य मन्दिर और कहाँ वह लक्ष्मीनारायण मन्दिर ? पोय्सल महाराज का ससुर बनकर यदि मुझे यहाँ का पद न मिला तो मेरा जीवित रहना सार्थक होगा ? श्रीआचार्यजी का शिष्य बनकर भी क्या लाभ ? तिरुमलाई से कुछ बड़े-बड़े उद्देश्यों को लेकर मेरा यहाँ आना भी किसलिए ? चाहे कुछ भी हो, मुझे तो यहाँ का धर्मदर्शी बनना ही होगा। यह पद पाने के लिए एक ही रास्ता है। अपनी आकांक्षाओं को पूर्ण करने के लिए लक्ष्मीदेवी को एक अस्त्र बनाकर उसका उपयोग करना ही होगा। पट्टमहादेवी के बारे में उसके मन पर जो छाप पड़ी है, उसे खण्डित करना होगा। मुझे जब पहली बार देखा, तब तुरन्त ही उसके मन में मेरे विषय में अच्छी राय नहीं बनी, कहती है। क्या उसका कथन वेद है ? उस बूढ़े आचार्य को तो लौकिक ज्ञान ही नहीं है। राजा ने फूलमाला पहनायी। आराम से जीवन-यापन होता है। अच्छा आश्रय मिला है। पर्याप्त धन मिला है। राजा को भी एक तरह का पागलपन सवार हो गया है। मन्दिर के निर्माण पर पागल की तरह धन का व्यय कर रहे हैं। इसलिए कुछ आगा-पीछा देखे, लौकिक ज्ञान शून्य होकर इधर-उधर के लोगों की बातों में आकर मुझे तुच्छ समझ बैठे हैं ?

मुझे वेलापुरी की ओर न आने का कड़ा आदेश भिजवा दिया! यदि वे होते तो मुझे यह अवसर भी न मिलता। इसीलिए मैंने जिस भगवान् को माना, उन्होंने उसी को उत्तर की ओर भेज दिया! इस अवसर को यदि मैं खो दूँ तो मेरे लिए आगे अन्धकार ही अन्धकार···आदि-आदि सोचता हुआ वह घूमता हुआ वहाँ पहुँचा जहाँ शिल्पी काम कर रहे थे। भोजन का समय था, शिल्पी काम बन्द कर भोजन करने चले गये थे।

राजमहल का एक नौकर साथ था, इसलिए राजमहल के द्वार से लेकर इधर-उधर घूमने तक तिरुवरंगदास को कोई कष्ट नहीं हुआ। वह शिल्पियों द्वारा निर्मित उन नारी-मूर्तियों को देखकर चकित रह गया। उन मूर्तियों को दूर से देखा, निकट से देखा। उन मूर्तियों के कपोल, कुच, कटि, जघन आदि अंग-प्रत्यंगों पर हाथ फेरा। 'सुन्दर, अति सुन्दर' उसके मुँह से निकला। उसे इन मूर्तियों के सौन्दर्य को देखते रहने के इस आनन्द में भोजन तक न रुचा। एक स्थान से दूसरे स्थान पर गया। तीर चलाने के लिए लक्ष्य साधकर खड़ी प्रतिमा के चुचक की ओर देखते रहने से उसे जाने क्या भान होने लगा। बन्दर, बिच्छू तक उसकी आन्तरिक इच्छा पूरी कर रहे थे—नटखट बन्दर और डंक मारनेवाले बिच्छू दोनों को अपनी कृतज्ञता प्रकट की। अवलोकन करते-करते जब वह स्थपति के शिविर में आया तो वहाँ एक युवा को मूल मूर्त्ति की परीक्षा करते देखा। वह अपनी उँगलियों से मूर्ति के अंग-प्रत्यंग को ठोंक-ठोंककर देख रहा था। मूर्ति के अंग-प्रत्यंग को उँगलियों से माप रहा था। विग्रह के अंग-प्रत्यंग को मापकर प्रतिमा-लक्षण से मिलान कर रहा था। उस मूर्ति के अंग-प्रत्यंगों का माप शास्त्रोक्त लक्षणों के अनुसार किया जा रहा था। उस युवा को तल्लीन देख तिरुवरंगदास ने उससे पूछा, "तुम इस स्थपति के शिष्य हो?"

"मैं किसी का शिष्य नहीं हूँ। यह मेरा वंशानुगत गुण है।"

"ऐसा है! तो तुम यहाँ शिल्प का काम कर रहे हो?"

"नहीं, मैं आज ही यहाँ आया हूँ।"

"यहीं क्यों आये?"

"मैंने अपने जीवन में कुछ खोया है उसे खोजता हुआ चला आया।"

"वह क्या है?"

"किसी से न कहने की आज्ञा दी है, माँ ने।"

"किसी से न कहोगे तो वह खोयी हुई वस्तु तुम्हें मिलेगी कैसे?"

"अगर वह मिलेगी तो मुझ अकेले ही को मिलेगी दूसरों को तो उसकी पहचान तक नहीं होगी।"

"तुम्हारा गांव?"

"उससे आपका तात्पर्य?"

"यों ही पूछा। यह क्या अंग-प्रत्यंग की माप ले रहे थे ?"

"यह प्रतिमा-लक्षण के अनुसार है या नहीं, इसी को देखने के लिए।"

"तो प्रमाण इतना ही होना चाहिए, ऐसा ही होना चाहिए, यह सब कहा गया है ?"

"आपकी वेशभूषा और लांछन आदि देखने पर आप वैदिक-से लगते हैं। आपको भी तो आगम शास्त्र का परिचय होना चाहिए ?"

"परिचय तो रहता ही है। परन्तु हम अपनी वृत्ति के लिए, जितना चाहिए उतना ही हम सोचते हैं। केवल वेद, शास्त्र आदि का अध्ययन करने में ही लगे रहें तो अपनी वृत्ति के लिए अवकाश ही नहीं मिलेगा। इसलिए पूजा-अर्चा और अन्य पौरोहित्य (पण्डागिरी) करने-कराने के लिए जितना जानना आवश्यक है, उतने से ही हमारा प्रयोजन रहता है।"

"जो कुछ वेद या वैदिक है, वह सब अपना स्वत्व हैं, दूसरों का नहीं कहनेवाले आप लोग उसके सम्पूर्ण स्वरूप से परिचित नहीं हैं।"

"बेटा, मनुष्य को पहले जीवित रहने की कला आनी चाहिए। जीने के लिए आवश्यक विद्या सीखना चाहिए। शेष बातें तो मठ के महन्तों के लिए छोड़ रखनी पड़ती हैं। शिल्पियों के लिए भी यही है। निश्चित और नियोजित कार्य कर सकने की कुशलता हो तो उनके लिए पर्याप्त है। यह सब शास्त्र-विचार किसलिए ?"

"क्षमा करें; हम सहमत नहीं। देखिए, इस भव्य मन्दिर और इसमें सजी हुई सुन्दर हज़ारों शिल्पमूर्तियाँ एवं कला—इस सबकी कल्पना कर प्रस्तर में रूपित करना हो तो केवल पेट भरने की कला मात्र जाननेवाले, एक प्रस्तर पर छेनी चलानेवाले व्यक्ति से असम्भव है। भगवान् और मानव के बीच सम्बन्ध कल्पित कर भगवान् के साक्षात्कार का आनन्द प्राप्त करना हो तो वैदिक वर्ग को सर्वज्ञ बनना होगा, न कि केवल पेट पालने के लिए भाट बन जाना।"

"छोटे मुँह का लड़का और बातें इतनी लम्बी-चौड़ी !"

"सच कहना हो तो छोटे मुँह वाले को यदि लम्बा भी हो जाना पड़े, तो कोई अनुचित नहीं; साँच को आँच नहीं, ऐसा मेरी माँ कहा करती है।"

"तुम्हारे पिता कौन हैं ?"

"इस विषय से आपका क्या सम्बन्ध ?"

"तब तो तुम कलियुग के सत्यकाम हो।"

"आपके मुँह से ऐसी छेड़खानी की अपेक्षा मुझे नहीं थी। क्षमा कीजियेगा। मैं कोई ऐसी पट्टी लगाकर नहीं आया हूँ। आप अपना काम देखिए।"

"यह क्या ? मैं समझ रहा था कि यह कोई योग्य युवक दिखता है। मगर तुम तो बहुत बड़-बड़ कर बातें कर रहे हो, डींग मारते हो। छोटे-बड़े का ख्याल

तक न रखकर बातें बनाते जा रहे हो !"

"यह आपसे नहीं सीखना है।"

"अरे ! किसने इसे अन्दर आने दिया ? निकालो, बाहर करो इसे !" तिरुवरंगदास गरजा। इस गरज को सुनकर लोग इकट्ठे हो गये। इतने में स्थपति वहाँ आये। दूर से ही उन्होंने देख लिया था कि गड़बड़ की पूरी-पूरी सम्भावना है। आते ही उन्होंने कहा, "यहाँ इतने लोगों की यह भीड़ क्यों ? आप लोग अपने-अपने काम पर जाइए।"

तिरुवरंगदास ने कहा, "यह छोटा लड़का कहता है, अपना काम देखो।"

"आप ?"

"मैं महाराज का ससुर हूँ।"

"ओह ! रानी लक्ष्मीदेवीजी के पालक-पिता। रानीजी ने आपकी नियम-निष्ठा के बारे में बहुत कहा है। आपको देखने का सौभाग्य नहीं मिला था। ज्ञात हुआ कि आप कल ही यहाँ आये हैं। कुशल तो हैं ? बैठिए।" बड़ी सज्जनता से आदर के साथ स्थपति ने कहा।

"मैं आपसे मिलने के लिए ही शिविर में आया था। आप तो देवलोक की ही कल्पना कर निर्मित करनेवाले देव-शिल्पी हैं। आपके सरल और अहंभावशून्य स्वभाव के बारे में पट्टमहादेवीजी एवं श्री आचार्यजी तथा अपनी बेटी के मुँह से सुना है। भरी गगरी हैं। वह छलकेगी नहीं। और दूसरी ओर, यह छोटा लड़का बकवास कर रहा है···मुझे ही पाठ सिखाने चला है। अपना काम देखने को कहता है।" क्रोधपूर्ण दृष्टि से लड़के की ओर देखकर, वहीं किसी आसन पर स्वयं बैठ गया।

"अच्छा ! इस बात पर विचार करेंगे। यौवन के उत्साह में दो-एक बातें बच्चे कहे जाते हैं, हमें उन्हें क्षमा कर देना चाहिए। आओ बेटा, तुम भी बैठो। आप दोनों को इस शिविर से किसी तरह के मनमुटाव के बिना खुशी से जाना चाहिए। क्या हुआ ?"

"उन्हीं से पूछ लीजिए !" युवक ने संकोच भाव से खड़े-खड़े ही कहा।

"तुम ही कहो, यदि वह ठीक न हो, तो मैं बता दूँगा।"—तिरुवरंगदास ने कहा।

युवक ने तिरुवरंगदास के वहाँ आने के बाद से जो कुछ बातें हुईं उनको ज्यों-का-त्यों बता दिया। और कहा, "मुझे सत्यकाम कहकर प्रौढ़ होकर व्यंग्य कर सकते हैं ? गाली दें, मारें; थूकें, मैं सह लूँगा। परम पवित्र माता-पिता के सम्बन्ध में यों अपमानजनक बातें···कैसे सह्य हों ? आप ही बताइए !" युवक के चेहरे पर खिन्नता का भाव था।

"वह कौन, उसका नाम-धाम, माँ-बाप आदि को न बतानेवाले इस भिखमंगे

को कौन-सा गौरव देना चाहिए था ? मुझे कितनी वेद-विद्या आनी चाहिए, कितना आगमशास्त्र जानना चाहिए, इन सब बातों को इस छोकरे से सीखना होगा ? श्री आचार्यजी के शिष्य बनना हो तो मूलतः कुछ विशिष्ट योग्यताएँ होनी चाहिए, यह भी यह लड़का नहीं जानता। यौवन की चंचलता के सामने हम बुज़ुर्ग झुकेंगे तो ये छोकरे हमें वैसे ही निगल जायेंगे। इनका सुधार बहुत आवश्यक है।"

"इस तरह काटेंगे तो और अंकुर निकलेंगे, महाराज। ज्ञान द्वारा ही उन्हें प्रबुद्ध करना होगा। तब ये स्वयं इस प्रवृत्ति को छोड़ देंगे। अच्छा जाने दीजिए ! आप भोजन कर आये ?"

"नहीं ! सुबह स्नान और नित्यकर्म आदि से छुट्टी पाकर बेटी को देखकर कुशल-समाचार पूछकर मन्दिर-दर्शन के लिए इस ओर चला आया तो इस भव्यता को देखते-देखते मुग्ध होकर यहीं रह गया।"

"बहुत देर हो गयी। पहले आप भोजन कर आएँ।" स्थपति ने बातचीत वहीं समाप्त कर दी।

"अरे बच्चे, तुम्हारा भोजन न हुआ हो तो आओ, मेरे ही निवास पर कर लो। कहा कि कहीं से आये हो।" तिरुवरंगदास ने जाते हुए कहा।

"मैं कर चुका हूँ।" युवक ने उत्तर दिया। तिरुवरंगदास चला गया।

"बैठो बेटा !" स्थपति ने बड़ी आत्मीयता से युवक से कहा। वह बैठ गया।

"बड़े होने के नाते मैं दो बातें तुमसे कहूँ बेटा ?"

"आप जैसे प्राज्ञों की बात मानना हम जैसों के लिए धर्म है, आज्ञा हो !"

"मत-भिन्नता होने पर भी बड़ों से विनीत होकर व्यवहार करना चाहिए।"

"सभी के प्रति विनीत रहने का उपदेश माँ ने मुझे दिया है।"

"ऐसी दशा में तुम्हें उनसे संयम के साथ व्यवहार करना चाहिए था।"

"मैंने संयम से ही बातचीत की परन्तु उन्होंने मेरे वंश की बात को लेकर व्यंग्य किया तो वह मुझसे सहा नहीं गया। ऐसी बात आपके लिए भी सह्य नहीं होगी न ?"

"मैं निर्वंश हूँ। अतः मुझे उसकी चिन्ता ही नहीं। तुम्हारी बात को मैं मानता हूँ; फिर भी तुम्हें उनकी समर्थता की बात को लेकर, उनसे कहना ठीक न था।"

"उनका प्रश्न ही अज्ञानियों जैसा था। मूलतः उनके प्रश्न ही मुझे ठीक नहीं लगे इसलिए उस समय मैंने ऐसा कह दिया। अब लगता है कि ऐसा नहीं कहना था। चाहें तो मैं उनसे क्षमा माँग लूँगा।"

"ऐसी मानसिक प्रवृत्ति है न ? वही पर्याप्त है। तुम्हारी बातचीत से पता पड़ा कि तुम शिल्पी हो। तुम यदि पहले से आते तो तुमसे कुछ काम कराया जा

सकता था।"

"अब भी यदि कोई काम हो तो करने के लिए तैयार हूँ।"

"देखेंगे, कल सुबह तुम मुझसे मिलोगे?"

"हाँ, मिलूँगा।"

"कहाँ रहते हो?"

"अभी कहीं जगह नहीं बनायी।"

"तुमने फिर यह क्यों कहा कि भोजन हो गया?"

"यहाँ आया। रास्ते में यगची में नहाया। उत्सव के लिए व्यवस्थित धर्मशाला में भोजन किया। इस ओर आया। सम्पूर्ण मन्दिर को देखा। फिर यहाँ सभी कार्यशालाओं को देखा। आपकी कार्यशाला में आया, यहाँ की मूर्ति को देख रहा था कि इतने में यह तिलकधारी आ धमके। शेष सब आप जानते ही हैं।"

"तुम्हारा अन्य सामान?"

"वह मेरी थैली में हैं। उस कोने में।"

"इस मूर्ति को इतने ध्यान से क्यों देख रहे थे?"

"प्रतिष्ठित होनेवाली मूल मूर्ति यही है न? यदि यह सर्वलक्षण युक्त न हो तो इसका बनानेवाला, बनवानेवाले, प्रतिष्ठा करानेवाले सभी के लिए अशुभदायक होगा। इसलिए देखा।"

"तो तुमने समझा होगा कि इस कार्य में संलग्न किसी को यह पता नहीं?"

"मैं ऐसा मूर्ख नहीं हूँ। सीखने की अभिलाषा···परीक्षण करने का एक अंग ही है न?"

"तो तुमने इसे बनानेवाले की योग्यता की परीक्षा नहीं की। केवल विग्रह की परीक्षा की है न?"

"अपने जानकारी की समीक्षा के लिए परीक्षा कर लेना आवश्यक प्रतीत हुआ।"

ठीक इसी समय पट्टमहादेवी, उदयादित्य और कुँवर बिट्टियण्णा वहाँ आये। स्थपति उठ खड़े हुए और हाथ जोड़े। युवक भी संकोच से पीछे सरककर खड़ा हो गया।

"यह युवक कौन हैं?" शान्तलदेवी ने पूछा।

"अपरिचित! आज ही आया है। शिल्प कर्म में बड़ी रुचि रखता है।"

शान्तलदेवी ने उसे सिर से पैर तक देखा। "इस अल्पवय में ही इतनी लगन है तो, लगता है, वह वंशानुगत ही होगी। तुम कहाँ से आ रहे हो, बेटा!" शान्तलदेवी ने पूछा।

"क्षमा करें यह व्यक्तिगत बात है, इस सम्बन्ध में कुछ न पूछें।"

शान्तलदेवी ने मुस्कुराकर स्थपति की ओर देखा और कहा, "यह

सम्भवतः शिल्पियों का रोग है। फिर हमें गाँव वंश आदि जानकर करना भी क्या है ? हम तो कृति से मनुष्य की सामर्थ्य को जाननेवाले हैं न ! इसे कोई काम देने की सोच रहे हैं क्या ?"

"देखेंगे ! कल आने को कहा है। उतने में यदि कोई काम बचा हो तो देख लूंगा।"

"वैसा ही कीजिए !"

"पट्टमहादेवीजी से एक निवेदन करना है। महासन्निधान के ससुर और इस युवक के बीच कुछ कटु संवाद हो गया है। वह कुछ बढ़ा-चढ़ाकर सन्निधान को बतायें इससे पहले उस बातचीत का वास्तविकता का परिचय हो जाय तो अच्छा। जैसी आज्ञा हो।" स्थपति ने कहा।

"आप बतायेंगे या यह युवक ही बतायेगा ?"

"जैसा उचित हो !"

"क्यों बेटा ?···क्या करोगे ?"

"मैं राजा-रानियों से बातचीत करने की रीति नहीं जानता। वे ही बता दें। वे सब जानते हैं।" युवक ने कहा।

"राजा-रानी भी तो मनुष्य ही हैं, बेटा ! अपने माँ-पिता से बातचीत नहीं करोगे ? वैसे ही बातचीत कर सकते हो।" शान्तलदेवी ने कहा। युवक ने संकोच से सिर झुका लिया।

"ठीक है, स्थपतिजी, आप ही बताइए।" शान्तलदेवी ने कहा।

"खड़े-खड़े ही बातचीत हो रही है। पट्टमहादेवीजी, अरसजी, दण्डनायकजी बैठें तो···" स्थपति कहते-कहते रुक गये। तीनों जन जब बैठ गये तो स्थपति ने जो कुछ देखा-समझा था वह सब हू-ब-हू बता दिया।

"इन्होंने जो कहा, वह सब ठीक है बेटा ?" सिर हिलाकर युवक ने अपनी स्वीकृति जतायी।

"स्थपतिजी, यह बात मुझे पता लग गयी, यह अच्छा हुआ। उनका स्वभाव ही ऐसा है। कुछ ऐंठकर ही चलते हैं। उन्हें असन्तुष्ट न करके, विशेष बातों के लिए अवसर न देकर उनसे दूर रहना ही अच्छा है। यही बुद्धिमत्ता है। सब शिल्पियों को यह बात समझा दें।"

"जो आज्ञा !"

"हम जब यहाँ आये तो परीक्षण की बात सुनायी पड़ी। क्या बात है ? परीक्षण किसका ?"

"इस केशव की मूर्ति के परीक्षण की बात थी !"

"यह केवल केशव नहीं, यह चेन्नकेशव हैं। कितनी सुन्दर मूर्ति है ! उसका क्या परीक्षण ? जब आपने स्वयं उसे सजीव रूप दिया है तो परीक्षा की

बात क्यों ?"

"परीक्षा उस दृष्टि से नहीं। शिल्पशास्त्र में प्रतिमा-लक्षण स्पष्ट रूप से बताया है। उस उक्त लक्षण से भिन्न रूप में बनकर प्रतिष्ठित होने पर प्रतिष्ठित करनेवाले, बनानेवाले, बनवानेवाले, प्रतिष्ठा करवानेवाले सभी की बुराई होगी। इसलिए यह मूर्ति उन सभी लक्षणों से युक्त हैं या नहीं, इसी दृष्टि से अपनी जानकारी की पुष्टि के लिए ही वह परीक्षा कर रहा था।"

"आपकी क्या राय है ?"

"पूरा परीक्षण करके ही युक्त रीति से बनाया है।"

"तब तो उसकी परीक्षा करने का साहस कौन शिल्पी कर सकेगा ?" शान्तलदेवी ने निर्णय ही सुना दिया।

"फिर भी मनुष्य मनुष्य ही तो है ?" उदयादित्य ने कहा।

"इसका अर्थ ?" शान्तलदेवी ने प्रश्न किया।

"चलनेवाले का फिसलना सम्भव है—यह सामान्य तथ्य है न ?"

"अर्थात् स्थपति से भी भूल हो सकती है। यही न ?"

"हाँ !"

"अर्थात् उस लड़के की राय पूछें—जानें, यही न ?"

"पूछने में कुछ भी अन्यथा नहीं ! स्थपतिजी को···?"

"राय राय है। सत्य चाहे किसी के मुँह से निकले वह सत्य ही होगा।" स्थपति ने कहा।

शान्तलदेवी ने युवक की ओर देखा। उस युवक ने एक बार शान्तलदेवी की ओर, फिर स्थपति की ओर देखा। और तुरन्त कोई उत्तर नहीं दिया। बाद में बड़ विनीत भाव से और दृढ़ता के साथ बताया, "परीक्षण करने के लिए मुझे कुछ समय दीजियेगा। मैंने परीक्षण केवल अपने लिए ही करना चाहा था। परन्तु बात अब राजमहल तक पहुँच ही गयी है तो शीघ्रता में मुझे कोई बात नहीं कहनी है। कृपा करके कल दोपहर तक मुझे समय देने का अनुग्रह करें।"

"वही हो बेटा !" शान्तलदेवी ने कहा। तुरन्त किसी ने कोई बात नहीं की। स्थपति ने कहा, "मेरी एक विनती है।"

"कहिए ! आपको संकोच करने की क्या आवश्यकता है ?"

"ऐसा कुछ नहीं। मन्दिर के प्रमुख द्वार पर मैंने जो स्थान खाली रखा है, वहाँ क्या सजावें, यह अभी तक निर्णीत नहीं हुआ है। अब सन्निधान मेरी सलाह को मानकर अनुमति देवें तो उसे बनाकर वहाँ सजा सकता हूँ।"

"क्या सजाने का विचार है ?"

महासन्निधान और पट्टमहादेवी साथ विराजमान रहें और राजसभा हो, इसे सांकेतिक रूप से चित्रित कर वहाँ सजाने की अभिलाषा है। पहले भी यह

सूचित किया था।"

"न न, यह सब नहीं चाहिए। हम मानवों का संकेत मन्दिर में क्यों रहे?"

"अभी सब निर्मित सुन्दर शिल्प-मूर्तियाँ पट्टमहादेवीजी की सहायता से ही बनी हैं न? उन्हीं के सांकेतिक रूप ही हैं न?"

"नहीं, इसीलिए मैंने भिन्न-भिन्न मुख-भंगियों के होने की बात कही थी। वह केवल कल्पित हैं। भंगिमा की स्पष्ट कल्पना आपको हों, इसलिए मैंने भंगिमाएँ दीं।"

"आपने जो भंगिमाएँ दीं, वह केवल शारीरिक ही नहीं थीं, भावपूर्ण भी थीं।"

"हो सकता है, वह सब आपकी कल्पना के लिए सहायक मात्र रहा हो। उससे जो चित्र बने हैं, वे केवल कल्पित चित्र हैं, प्रतिकृति नहीं।"

"एक सीमा तक यह राय ठीक हो सकती है। फिर भी मेरी इस राय को स्वीकृति प्रदान करें।"

"मैंने अपनी राय बता दी है। महासन्निधान की जैसी इच्छा होगी, वैसा होगा।"

"महासन्निधान से स्वीकृत कराने का काम भी आपका ही रहा।"

"आपको सलाह ठीक जँचे तो उदयादित्यरस और हमारे छोटे दण्डनायक इस बात को महासन्निधान की सम्मति के लिए प्रस्तुत कर सकते हैं।"

"स्थपतिजी की राय बहुत ठीक है। इसके निर्माण की प्रेरणा महासन्निधान से मिली है। उसे रूपित करनेवाली पट्टमहादेवीजी हैं। इसलिए उन दोनों के नाम मन्दिर के साथ स्थायी रहें, यह बहुत ही उचित है। इसलिए मैं स्वयं महासन्निधान और मन्त्रियों के साथ बातचीत करूँगा।" उदयादित्य ने कहा।

"केवल स्वीकृति ही नहीं लेना है, मेरी सुविधा के लिए एक बार राजसभा को भी बिठाना चाहिए। मैं उसका चित्र बना लूँगा।"

"उसकी कल्पना आप नहीं कर सकेंगे?"

"कल्पना तो की जा सकती है। फिर भी, एक बार राजसभा को देखना होगा। मैंने तो कभी किसी राजसभा को देखा ही नहीं।"

"नव वर्षारम्भ के दिन निमित्त-मात्र के लिए राजसभा बैठेगी। आप निमन्त्रित किये जायेंगे इतना पर्याप्त होगा। इसके लिए महासन्निधान तक जाने की आवश्यकता नहीं रहेगी।"

"जैसी इच्छा!"

"इस युवक के लिए ठहरने की व्यवस्था?" शान्तलदेवी ने उठते हुए पूछा। और लोग भी उठ खड़े हुए।

"मेरे साथ रह सकता है।"

"वह मान ले तो हो सकता है।" शान्तलदेवी ने कहा।

"इतना स्थान है। अन्यत्र कहीं भी रह लूँगा।" युवक ने कहा।

"भीड़ बहुत है; मेरे साथ रहो बेटा!" स्थपति ने कहा। युवक ने तुरन्त उत्तर नहीं दिया।

"तो एक काम करेंगे। अन्यत्र व्यवस्था होने तक यह युवक मेरे पिताजी के पास ठहरे।" शान्तलदेवी ने कहा।

बाद में शान्तलदेवी ने सूचित किया, "अभी जितना काम बचा है, सब चैत सुदी तीज बृहस्पतिवार तक समाप्त कर देना चाहिए।"

"मेरा एक निवेदन है। कोई अन्यथा न लें। इस युवक को मूल विग्रह के परीक्षण के लिए अनुमति दी गयी, और उसके लिए उससे समय भी दे दिया गया! इस तरह के परीक्षण करनेवाले उस युवक की योग्यता और क्षमता कितनी है, इस बात की परीक्षा कर ली है या नहीं? कोई अपरिचित आये और कुछ कहे तो तुरन्त मान लिया जाय? इस जैसे और भी आ जाएँ और परीक्षण करते रहें तो इसका अन्त होगा?" कुँवर बिट्टियण्णा ने कहा।

"जहाँ तक मेरी बात है, मेरी कृति का परीक्षण कोई भी करे, मुझे क्या आपत्ति? इससे मुझे कोई असन्तोष नहीं होगा। जो अपने काम पर विश्वास नहीं रखते, जिनमें आत्मविश्वास नहीं, वे ही परीक्षण या परिशीलन से डरते हैं।" स्थपति ने कहा।

"आत्म-स्थैर्य ही कलाकार की मूल शक्ति है, यह बात मैं पट्टमहादेवीजी की कृपा से जानता हूँ। फिर भी प्रकृत सन्दर्भ में किसी दूसरे के परिशीलन के लिए अवकाश देना हो तो, उस तरह परिशीलन करनेवाले की योग्यता का परीक्षण कर यह जानना आवश्यक है कि वह इस योग्य है भी या नहीं।" बिट्टियण्णा ने बल देकर कहा।

"मेरी योग्यता की परीक्षा के लिए मुझे क्या करना होगा? आज्ञा हो!" युवक ने निवेदन किया।

"स्थपतिजी एक चित्र दें। युवक उसके अनुसार मूर्ति बनाए। होगा न?" कहकर बिट्टियण्णा ने शान्तलदेवी की ओर देखा, उनकी सम्मति मिले, इसी भाव से।

"स्वीकार है।" युवक ने कहा।

"परन्तु इस सबके लिए अब समय कहाँ?" शान्तलदेवी ने प्रश्न किया।

"अभी चित्र दें तो कल सूर्योदय तक तैयार कर दूँगा।" युवक ने कहा।

युवक की स्वीकृति के अनुसार उसे चित्र दे दिया गया।

"रात का काम करने के लिए प्रकाश की विशेष व्यवस्था करनी होगी।"

युवक ने कहा।

"मेरे निवास पर आ जाओ तो तुम्हारे लिए जो व्यवस्था चाहिए, सब कर दी जायेगी।" स्थपति ने कहा।

"आपके विश्राम में बाधा होगी न ?" युवक ने कहा।

"ऐसा कुछ नहीं। इस खुले मैदान के शिविरों में प्रकाश की व्यवस्था करना बहुत कठिन होता है, इसलिए यहाँ का प्रस्ताव किया।"

"ठीक है, तब वहीं ले जाइए। इस विग्रह के लिए उपयुक्त पत्थर को चुनना होगा न ?" युवक ने कहा।

"वहाँ बहुत हैं। जो तुम्हें चाहिए सब वहाँ हैं।" स्थपति ने कहा।

"पत्थर वहाँ क्यों गये ?" उदयादित्य ने पूछा।

"स्थपतिजी रात के समय अपने आवास पर भी विग्रह-निर्माण के कार्य में लगे रहते हैं, मुझे ऐसी सूचना मिली है। मैंने इस विषय में चर्चा नहीं की थी।" शान्तलदेवी ने कहा।

पट्टमहादेवी, उदयादित्य, बिट्टियण्णा, ये लोग राजमहल की ओर और स्थपति तथा वह युवक स्थपति के शिविर की ओर चले गये।

युवक ने वहाँ के पत्थरों की परीक्षा करके अन्त में अपने काम के लिए उपयुक्त एक पत्थर को चुना। उसपर मोटे तौर पर चित्र के अनुसार लकीर खींचकर चित्र का ढाँचा बनाया। इसके बनाने में उस युवक के हस्तकौशल और निखार को देखकर स्थपति का मन-मयूर नाच उठा। बाद में उन्होंने कहा, "मैं अब मन्दिर की ओर जाऊँगा। यहाँ मंचणा रहेगा, जो चाहिए होगा वह सब देगा ? उसे सब समझाकर जाऊँगा। यहाँ तुम्हारे कार्य में कोई बाधा न पड़ेगी।" —इतना कहकर स्थपति चले गये। सन्ध्या को सूर्यास्त के बाद, जब स्थपति अपने शिविर में लौटे तब उन्होंने इस युवक को कार्यमग्न पाया।

स्थपति ने मंचणा से पूछा, "बेचारे ने पता नहीं, कब भोजन किया था। उसके जलपान आदि की कोई व्यवस्था की ?"

"पूछा था, उसने कहा कि कुछ नहीं चाहिए। तब का बैठा तो उस जगह से हिला-डुला तक नहीं। लगातार काम पर ही बैठा है। विकट एकाग्रता है उसमें।" मचणा ने कहा।

"मैंने जो पाठ पढ़ाया था, सो तुमने मुझे ही सुना दिया। तुम बहुत चतुर हो गये हो। यदि उसने मना कर दिया तो तुम मान गये ? भूखे रहकर बेचारा वह लड़का कितनी देर तक काम कर सकेगा? शरीर थकेगा तो एकाग्रता कहाँ रहेगी ?"

"मैंने हठ भी किया। परन्तु कुछ भी वश न चला। अब आप ही समझावें तो शायद भोजन कर लें।"

स्थपति उस युवक के पास आये। देखा। जो कार्य हुआ था, उसे देख चकित रह गये। उन्होंने मन-ही-मन कहा, "पता नहीं, इस शिल्पी की धमनियों में किस पवित्र शिल्पी का ओज बह रहा है। निस्सन्देह कल्पनातीत हस्तकौशल है!" फिर कहा, "बेटा, चलो, भोजन कर लें।"

उस युवक ने पीछे मुड़कर देखे बिना ही कहा, "खायेंगे तो आलस्य घेर ही लेगा। प्रातः तक इसे सम्पूर्ण करना है। आप भोजन कर लीजिए।"

"भूखे रहकर कार्य कैसे···?"

"मुझे भूख ही नहीं है। मैं दत्तचित्त हूँ। कृपा करके मुझे इस समय दत्तचित्त ही रहने दीजिए।"

"तुम्हारी इच्छा। थोड़ा दूध भिजवा दूँगा। कम-से-कम उसे अवश्य पी लेना। वेणुगोपाल को दूध-माखन बहुत प्रिय है।"

"हाँ, यह ठीक है।" युवक बोला। स्थपति ने मंचणा से दूध लाने को कहा। स्वयं हाथ-पैर धोकर पूजा-पाठ में लग गये। फिर भोजन किया। अपने लिए जो प्रकाश की व्यवस्था थी, उसका सारा प्रबन्ध युवक के लिए करा दिया। कुछ और व्यवस्था करने के लिए अतिरिक्त साधन न थे इसलिए विश्राम करने लगे।

मंचणा ने दूध ला दिया। उसे पीते समय उस युवक का काम थोड़ा रुका, फिर, काम प्रारम्भ हो गया। ठीक सूर्योदय के समय तक मूर्ति बनकर तैयार हो गयी। स्थपति जगकर अपने प्रातःकालीन कृत्यों से निपटकर वहाँ आये। युवक उस समय तैयार मूर्ति को एक कपड़े से पोंछ-पाँछकर साफ कर रहा था।

"कार्य पूर्ण हो गया, बेटा?"

"जी हाँ। शीघ्रता में किया है। कुछ-न-कुछ कमी रह ही गयी होगी, क्षमा करेंगे।"

"इसका परिशीलन पट्टमहादेवीजी व अन्य लोग करेंगे। मेरी इसमें कोई भूमिका नहीं रहेगी। चलो, अपने नैमित्तक कर्म से निवृत्त हो लो। मन्दिर चलेंगे।" स्थपति ने कहा।

"यह मूर्ति?"

"वहाँ आ जायेगी। उसके लिए व्यवस्था हो गयी है।"

"तो आपने समझ लिया था कि मैं इसे पूरा कर लूँगा?"

"मेरा अन्तरंग ऐसा कह रहा था।"

"मैं भाग्यवान् हूँ। आप मन्दिर में पधारें। मैं आऊँगा। मेरे लिए आप प्रतीक्षा न करें।"

"ठीक है। मंचणा! देखो, यह लड़का कल दोपहर से निराहार है। उसे कुछ उत्तम जलपान कराकर भेजो! सेवक आवेंगे। इस मूर्ति को उनके हाथ भिजवा देना।" कहकर स्थपति मन्दिर की ओर चल पड़े।

युवक भी शीघ्र पहुँचा और मूल विग्रह के पास बैठकर, उसके परिशीलन-परीक्षण के कार्य में लग गया। दूसरे किसी कार्य की ओर उसने कोई ध्यान ही नहीं दिया।

पट्टमहादेवीजी, उदयादित्य और बिट्टियण्णा भी शीघ्र ही वहाँ जा पहुँचे। महाराज को सन्दर्भ बता दिया गया था। अन्य किसी को यह बात पता नहीं थी। शान्तलदेवी ने कहा था कि सन्निधान चाहें तो उस विग्रह को यहीं मँगवा लेंगे या उधर पधारेंगे तो भी ठीक है। उन्होंने कह दिया था कि इस सम्बन्ध में वही उसका निर्णय कर लें।

वेणुगोपाल को मूर्ति इन लोगों के आते-आते वहाँ पहुँच गयी थी। उसे उचित स्थान पर रखा गया था, जिससे सब उसे देख सकें। देखनेवालों को यह समझने में कोई कठिनाई न रही कि वही नयी बनी मूर्ति है। शान्तलदेवी ने बिट्टियण्णा की ओर मुड़कर देखा और कहा, "छोटे दण्डनायक इसका परिशीलन करके बतावें।"

"सो क्यों ? सन्निधान ही स्वयं परीक्षण कर बता सकती हैं।" बिट्टियण्णा ने कहा।

"युवक इस योग्य है या नहीं, इसे देख लेने की बात तो तुम्हीं ने कही थी न ?"

"मैंने अपने लिए तो नहीं कहा। राजमहल का कार्य ढंग से चले इसी दृष्टि से मैंने कहा था।"

"तो अभी क्या हुआ ? वैसी ही दो टूक राय अब भी दे दो न ?"

बिट्टियण्णा ने देखा। परीक्षण किया। कहा, "शायद स्थपतिजी ने इसे पहले ही तैयार किया हो, ऐसा लगता है।"

"विचित्र राय है ! स्थपतिजी स्वयं तैयार की गयी मूर्ति को क्यों देंगे ?" उदयादित्य ने प्रश्न किया।

"यह बात ठीक है। लेकिन हम प्रत्यक्ष ही देख रहे हैं न ? समय का अन्तर तो देखिए। इतने सीमित समय में ऐसी मूर्ति का निर्माण सम्भव ही नहीं।" बिट्टियण्णा ने अपनी राय दी।

"इतने थोड़े समय में इसे बनाना कैसे सम्भव हो सका, यों पूछना चाहिए था। इसे छोड़···"

बिट्टियण्णा ने बात को बीच में ही रोका और कहा, "इसे उत्कीरित करने-वाले हाथ का कौशल स्थपतिजी के ही हाथ की कुशलता का-सा लगता है, इसलिए मैंने उनका नाम लिया।"

"राय बताने का यह नया ढंग तुमसे आज सीखा। तात्पर्य यह हुआ कि यह फलक आपको सुन्दर लगा। ऐसा समझ सकते हैं कि इस विषय में युवक

प्रौढ़मति है, यह स्वीकार किया है।" उदयादित्य ने व्याख्या की।

"प्रौढ़मति ही नहीं, विशेष दक्ष भी है। पट्टमहादेवीजी मौन क्यों हैं? सन्निधान की राय?" कहते हुए बिट्टियण्णा ने शान्तलदेवी की ओर देखा।

"कलादेवी किस-किस पर प्रसन्न होती हैं, यह एक रहस्यमय समस्या है। विरुदावली, कीर्ति, मान्यता आदि की भी परवाह न करनेवाले श्रेष्ठ कलाकार शिल्पी पता नहीं कहाँ-कहाँ छिपे पड़े हैं। इस अल्पायु में भी कितनी प्रतिभा है, यह देख चकित हो रही हूँ। संकल्प, क्रिया और लक्ष्य, इनका निश्चित मेल इस कृति में लक्षित होता है। स्थपतिजी! आपकी क्या राय है?" शान्तलदेवी ने थोड़ी दूर पर खड़े स्थपति की ओर देखकर पूछा।

"शास्त्र में परिणत विमर्शक और कृतिकर्ता में भिन्न मत हो सकता है। सन्निधान शास्त्र-परिणत विमर्शक हैं। वे व्यक्ति को भूलकर कृति की विमर्शा कर सकती हैं। मैं विमर्शक नहीं हूँ। प्रथमतः मैं कृतिकार हूँ। शास्त्र से परिचित हूँ। फिर भी, दूसरों की कृति को जब देखता हूँ, तब अपनी कृति को सर्वश्रेष्ठ कहने की पूर्वग्रहपीड़ा से मुक्त नहीं भी हो सकता हूँ। अतएव मेरी राय यहाँ गौण है। इसका यह अर्थ नहीं लेना चाहिए कि इसके विषय में मेरी अच्छी राय नहीं। यहाँ मेरी राय उचित नहीं इस दृष्टि से यह बात कह रहा हूँ।" स्थपति ने कहा।

"अभी वह युवक क्या कर रहा है?" शान्तलदेवी ने प्रश्न किया।

"जहाँ मैं काम करता हूँ, वहाँ उस मूर्ति का परिशीलन-परीक्षण कार्य कर रहा है।" स्थपति बोले।

"जब वह कहता है कि इसका परिशीलन करना होगा तो उसे लगा होगा कि उसमें कुछ कमी है। है न?" शान्तलदेवी ने सवाल किया।

"यह मुझे ज्ञात नहीं कि उसे क्या लगा होगा।"

"आपको ऐसा कभी लगा है कि इसमें कोई न्यूनता रह गयी है?"

"कुछ भी तो नहीं। वास्तव में देव-मूर्ति, प्रतिष्ठित होनेवाली मूर्ति है। ऐसी स्थिति को जानते हुए प्रतिमा-शास्त्र के सूत्रों के अनुसार ही इसे बनाते हैं।"

"उसे यह जानकारी देकर इस प्रसंग को यहीं समाप्त कर दिया जाय तो क्या ठीक नहीं होगा?"

"यौवन में कई तरह की सनक उठती है। कभी-कभी वह बड़ों को छेड़ने की सी भी होती है। परन्तु बड़ों को ऐसी बातों का विचार नहीं करना चाहिए। उदासीन रहें तो पीछे उनका वह पागलपन, वह सनक अपने आप कम हो जाती है; तब वे अपने आप चुप हो रहते हैं। ऐसा न करके बड़े लोग यदि उनका सामना करने पर तुल जाएँ तो उनका वह उत्साह कई टेढ़े-मेढ़े मार्गों में बहकर

मनमाना हो सकता है।"

"तो आपका कहना है कि हम उस सम्बन्ध में उस युवक की राय की प्रतीक्षा करें?"

"उसे कहने के लिए कुछ नहीं रहेगा। इसलिए प्रतीक्षा करें।"

"तो तब तक हमें यहाँ रहना होगा?"

"आवश्यकता नहीं! आदेश हो तो मैं उसे राजमहल में ही ले आऊँगा। नहीं..."

"यों कीजियेगा। परिशीलन के बाद आप स्वयं उससे विचार-विनिमय करें। उसे सन्तुष्ट करें।"

"वह मुझसे विचार-विनिमय करे तो ठीक है। वह सन्निधान के समक्ष ही निवेदन करने की बात कहे तो......"

"ऐसा क्यों कहेगा? आप यहाँ के स्थपति हैं। आपका निर्णय ही अन्तिम है।"

"वह अधिकार होने पर भी, अपनी प्रतिष्ठा बनाये रखने के लिए उसका उपयोग नहीं करूँगा।"

"परिस्थिति के अनुसार निर्णय कीजियेगा। आपका निर्णय हमें मान्य है। यदि बात को हम तक पहुँचाना ही है, तो आप राजमहल आ जाएँ। भोजन के बाद आइए।"

"जो आज्ञा!"

शान्तलदेवी और अन्य सभी वहाँ से चले गये।

वहाँ राजमहल में तिरुवरंगदास अपनी पोष्य-पुत्री से मिले और स्थपति के निवास पर घटी घटना की सारी बातों को नमक-मिर्च लगाकर बताया और उसके कान भरे। कहा, "बेटी, मुझे एक घुमक्कड़ से पाठ सीखने का समय आ गया न? मुझे यहाँ आना नहीं चाहिए था। श्री आचार्यजी की बात न मानकर मैंने अनुचित किया। देखो न वह स्थपति भी कितना अहंकारी है। उसने इस तरह कहा कि हम बुजुर्गों को उदार होना चाहिए, मानो वह कह रहा है कि चुपचाप चले जाओ। जो काम किया है, वह अच्छा है, कहने पर ही वह घमण्ड दिखाने लगा। इस सबका प्रमुख कारण क्या है, जानती हो? पट्टमहादेवी ने उन सबको बढ़ा-चढ़ाकर ऊपर बिठा दिया है।" आदि-आदि कहकर इस तरह उसे समझा दिया कि वह जो कह रहा है, वही ठीक है, वही अच्छा है, शेष सब लोग दोषी हैं।

लक्ष्मीदेवी के मन में इन बातों को सुनकर पता नहीं क्या-क्या भावनाएँ उठ रही थीं। फिर भी उसे नहीं सूझा कि क्या करना चाहिए। उसने कहा, "इस गड़बड़ी में किसी से मिलना कठिन है। इसलिए आप अब कहीं न जावें, किसी से

न मिलें, चुपचाप अपने को सँभालकर रह जाइए। प्रतिष्ठा का यह उत्सव समाप्त हो जाय; बाद में इन बातों पर विचारकर कुछ निर्णय करेंगे। जिसने नमक खाया है, उसे पानी पीना ही पड़ेगा।" यों उसने पिता को शान्त करने का प्रयास किया।

"बेटी! जो कहती हो, सो ठीक है। तब तक इस विषय में सोचने-समझने तथा समझाने के ढंग आदि को निश्चय करने के लिए भी समय मिल जायेगा।"

फिलहाल उसकी आपत्तियाँ लक्ष्मीदेवी तक ही रहीं। इसके बाद वह अपने निवास पर चला गया।

स्थपति ने सूचना भेजी कि सन्ध्या को उस युवक के साथ राजमहल पहुँचेंगे, संदर्शन के लिए अवसर मिले। शान्तलदेवी ने इसका अर्थ समझ लिया।

उन्होंने एक छोटी मन्त्रणा सभा का ही आयोजन कर डाला। इस मन्त्रणा सभा के लिए कुछ प्रमुख राजकर्मचारी एवं कुछ प्रमुख शिल्पी निमन्त्रित थे। साथ ही श्री आचार्य द्वारा शास्त्रोक्त रीति से प्रतिष्ठा समारम्भ को सम्पन्न करने के लिए प्रेषित कुछ प्रमुख व्यक्तियों को भी निमन्त्रण दिया गया था। सभी रानियाँ उपस्थित रहीं। मारसिंगय्या और मंचिअरस भी उपस्थित थे। तिरुवरंगदास को भी उपस्थित रहना पड़ा।

महाराज बिट्टिदेव के सम्मुख सभा सम्पन्न हो—इसकी व्यवस्था की गयी थी। सभा की संचालिका, सूत्रधारिणी तो पट्टमहादेवी ही थीं इसलिए उन्होंने ही कार्यारम्भ किया। उन्होंने उस युवक के आने के समय से लेकर जो-जो बातें हुईं, उन सबको सुनाकर कहा कि मैंने मूल विग्रह के सम्बन्ध में निर्णय करने का उत्तरदायित्व स्थपति पर ही छोड़ दिया था। अब स्वयं स्थपतिजी ही बतावें कि क्या विचार किया है।

उस युवक के आने के समय से—युवक और तिरुवरंगदास में जो व्यक्तिगत बातें हुई थीं, उन्हें छोड़कर, जो-जो घटनाएँ घटीं उन सब बातों को बताने के बाद अन्त में कहा, "अब जिस मूल केशवस्वामी की मूर्ति मैंने बनायी है, वह मूर्ति शिल्प-शास्त्र के अनुसार, प्रमाण के अनुसार भी सब तरह से ठीक है। परन्तु मूलतः इस मूर्ति को बनाने के लिए जिस पत्थर का उपयोग किया गया है, वही दोषयुक्त है, इसलिए यह मूर्ति प्रतिष्ठा-योग्य नहीं है। यह इस युवक की राय है। अब मुहूर्त निश्चित है। एक दूसरे शिल्पी की राय को अमान्य करके इस विषय पर मुझ अकेले का निर्णय करना उचित नहीं। इसलिए मैं इस सभा के समक्ष निवेदन कर रहा हूँ। अन्तिम निर्णय इस मण्डल का है।" स्थपति ने स्पष्ट किया।

"उसकी राय को रहने दीजिए। आपकी अपनी राय क्या है?" बिट्टिदेव ने प्रश्न किया।

"मैं जन्मतः शिल्पी हूँ। यह विद्या मेरे पास वंशानुगत है। प्रस्तर-दोष को न समझनेवाला तो शिल्पी बन ही नहीं सकता। अपने कर्तव्य से मैं कभी च्युत नहीं हुआ और हो नहीं सकता। अपने दायित्व को भी मैं समझता हूँ। यह समझकर ही कि पत्थर में कोई दोष नहीं, इस पत्थर को मैंने इस मूर्ति के लिए चुना था।"

"तो बात समाप्त हुई न ? आपकी राय हमारे लिए मान्य है।" बिट्टिदेव ने कहा।

उस लड़के पर तिरुवरंगदास को पहले ही क्रोध था। 'अब तो यह और भी बकने लगा है। उसे एक बार डाँट दें तो ठीक होगा। डाँटकर ही उसकी बुद्धि को ठिकाने लगाना चाहिए,' यही सोचकर वास्तव में वहाँ उस सभा में बोलने का अधिकार न होने पर भी तिरुवरंगदास उठ खड़ा हुआ, बोला, "मेरी एक विनती है। श्री आचार्यजी यहाँ उपस्थित होते तो वे इस विषय का निर्णय कर सकते थे। यह मन्दिर और यह प्रतिष्ठा उन्हीं की प्रेरणा से हो रही है। इसलिए हमें इसकी प्रतिष्ठा के कार्य को सन्दिग्ध स्थिति में सम्पन्न कराना उचित नहीं जान पड़ता।" वह कह ही रहा था कि बीच में ही बिट्टिदेव ने टोक दिया, "आपकी राय में क्या औचित्य है?"

"स्थपतिजी बुजुर्ग हैं, अनुभवी और प्राज्ञ हैं। इस लड़के का व्यवहार ऐसे प्राज्ञ और अनुभवी के प्रति अनुचित एवं असह्य है। इस तरह डींग मारनेवाले को यों छोड़ देना ठीक नहीं। बुजुर्ग स्थपति का अपमान कर, उनकी प्रशस्ति पर कालिख पोतने का प्रयास करनेवाले इस लड़के को दण्ड देना चाहिए।" तिरुवरंगदास ने कहा।

यह सुनकर युवक आग-बबूला हो उठा। वह उठ खड़ा हुआ और बोला, "मैं ऐसी सभाओं को नहीं जानता। किस तरह, क्या कहना चाहिए मैं नहीं जानता। परन्तु सत्य बात कहने में कभी पीछे हटनेवाला या डरनेवाला नहीं। सम्पूर्ण राज्य ही मेरे विरुद्ध उठ खड़ा हो, तो भी मैं नहीं डरता। यह तिलकधारी, महाराज के ससुर हो सकते हैं। कोई ऐसा न समझे कि मैं उनसे डरता हूँ। उन्होंने जो बात कही मैं उसका प्रतिवाद करता हूँ।"

"किस बात का ?"

"उन्होंने मुझ पर यह आरोप लगाया है कि मैंने बुजुर्ग स्थपतिजी का अपमान किया और उनकी प्रतिष्ठा पर कालिख पोत दी। उनका यह आरोप निराधार है।" युवक ने कहा।

"क्यों निराधार है ? तुम एक छोकरे हो। बहुत बड़े प्राज्ञ-जैसा परिशीलन किया। एक लड़के का उत्साह भंग न करने की उदार भावना दिखायी तो तुमने क्या कहा ? वह मूर्ति बहुत ही सुन्दर और शास्त्रोक्त सभी प्रतिमा-लक्षणों से युक्त है, उस मूर्ति के प्रस्तर को दोषयुक्त बताया ! मन्त्र न जाननेवाला जैसे मन्त्र-

पाठ से अधिक उगाल निकालता है और नाच न जाननेवाली वेश्या आँगन को टेढ़ा बताती है, वैसे ही तुमने जो समझा बक दिया कि पत्थर दोषपूर्ण है। उसका उद्देश्य ? स्थपति को अपमानित करना नहीं है ?"

"मैंने तो वस्तुस्थिति बतायी। इसमें मेरा कोई बुरा उद्देश्य नहीं था।"

"अब यदि तुम्हारी बात झूठ हुई तो ? यह पत्थर निर्दोष हो तब ?"

"तब मैं यह कहनेवाली अपनी जीभ को ही काट लूँगा। काम करनेवाले इन हाथों को काट डालूँगा। इस विषय में स्थपतिजी या अन्य कोई भी सही, क्या कहते हैं, मुझे बताइए।" क्रुद्ध सिंह की तरह युवक गरज उठा।

"दूसरे कोई क्या कहेंगे ? अब मुझे एक बात स्पष्ट रूप से कहनी है। इस युवक ने जैसा कहा—इसका उद्देश्य न मुझे अपमानित करना है या न कालिख पोतने का है यह मैं जानता हूँ। इसलिए तिरुवरंगदासजी के इस आरोप को मैं नहीं मानता हूँ। यह कोई वाक्यार्थ की स्पर्धा नहीं। कला की विमर्शा बहुत सूक्ष्म विषय है। उसके अनन्त रूप हैं। इस बात के कहने पर वे मेरी बातों का अन्यार्थ न करें—यह मेरी विनती है। इन्होंने जो बातें कहीं, उनमें से एक बात मेरे लिए भी मान्य है। शंका जब भी हो, उसका परिहार हो जाना चाहिए। उस परिहार के फलस्वरूप यह युवक तब दण्डनीय होगा, जब उसके परीक्षण और परिशीलन का परिणाम झूठा प्रमाणित होगा। दण्डविधान भी उसने सूचित किया है। वह कलाकार की रीति और नीति है। मैं भी कलाकार हूँ। मेरे लिए भी वह रीति-नीति मान्य है। उसके कहे अनुसार पत्थर में दोष हो तो मैं भी वही दण्ड भोगूँगा। उसके लिए सहर्ष स्वागत है। मेरे लिए जीवन में कोई आशा आकांक्षा नहीं। मैं अनाम हूँ। ऐसे में मुझे कुछ भी नहीं लगेगा। इसलिए माना-पमान का, कलंक-सी लगनेवाली किसी भी बात का मुझे डर नहीं। मैं सार्वजनिक परीक्षण के लिए तैयार हूँ। युवक ! अब इस शिला का दोष प्रमाणित करने का काम तुम्हारा है। मैं और तुम दोनों दण्ड-विधान से आबद्ध हैं।" स्थपति ने स्पष्ट बता दिया।

"स्वीकार है !"

शान्तलदेवी अब तक मौन रहीं। अब उन्होंने कहा, "मैं इस विषय में प्रवेश करना ही नहीं चाहती थी। परिशीलन का प्रश्न इसलिए नहीं उठा कि किसकी भूल है, किसकी नहीं है। उसे उस दृष्टि से परिशीलन कर एक की विजय और दूसरे की पराजय को घोषित करने के लिए नहीं ! इस दृष्टि से जय-पराजय का विवेचन करना उचित न होगा। हम जो भी काम करते हैं, उसे किसी एक निर्धारित रीति को आधार मानकर ही करते हैं। एक परम्परागत परिपाटी का अनुसरण हम भलाई की आकांक्षा से करते आये हैं। उस परम्परा की पृष्ठभूमि में दोषयुक्त शिला से विग्रह को, विशेषकर भगवान् की मूर्ति को नहीं बनाना

चाहिए। क्योंकि हम उस विग्रह में प्राण-प्रतिष्ठा करने की एक शास्त्रोक्त परम्परा को विकसित करते आये हैं। इसलिए दोषपूर्ण शिला में मूर्ति बनाकर स्थापना करके प्राण-प्रतिष्ठा करेंगे तो यह रुग्ण जीवन की तरह होगा। मानव अपनी बुद्धिशक्ति की पहुँच जहाँ तक है, वहाँ तक जाकर, वस्तुस्थिति को समझकर एक निर्णय पर पहुँचता है, उसके आधार पर कार्य करता है। फिर भी उसमें छोटी-बड़ी त्रुटियाँ रह ही जाती हैं। ऐसे सन्दर्भ में वह च्युति बुद्धिपूर्वक नहीं हुई होती है, अन्यान्य कारणों से होती है। ऐसी सब बातें क्षम्य हैं। हम जैन हैं। हिंसा हमारे लिए वर्ज्य है। परन्तु जब हम चलते-फिरते हैं, तब न दिख सकनेवाले छोटे-छोटे कीड़े-मकोड़ों की हिंसा होना अनिवार्य है। ऐसे कर्मों के लिए हमने गमन-प्रायश्चित्त का व्रत आचरण करने का नियम रखा है। इसलिए किसी भी तरह की च्युति रहे उसे मन्त्र-जप से निवारण कर कार्य आगे बढ़ाने का अवसर जब है, तब इस वाद-विवाद को यहीं समाप्त कर नियोजित रीति से कार्य को आने बढ़ाने की सोचें। आचार्यजी ने यहाँ आगमशास्त्र निष्णात पण्डितों को भेजा है। उनकी राय भी मेरी राय के अनुसार हो तो आगे काम में लग जावें। यह स्पर्धा, ऊँच-नीच, सही-ग़लत यह सब इस समय नहीं चाहिए। एक पवित्र कार्य को सम्पन्न करते समय ईर्ष्या-द्वेष के लिए कारण बननेवाली इस परीक्षा की आवश्यकता नहीं है।" शान्तलदेवी ने अपनी राय स्पष्ट कर दी।

महाराज ने आगमशास्त्रियों की ओर देखा।

उन शास्त्रियों में से एक बुज़ुर्ग उठ खड़े हुए और बोले, "महासन्निधान के समक्ष हम सबकी ओर से मेरा इतना निवेदन है। अपवित्र को पवित्र बना सकने की मन्त्रशक्ति रखनेवाले, सब दोषों को मन्त्र द्वारा निवारण कर, शुद्ध करके प्राण प्रतिष्ठा करेंगे। दोष है या नहीं इसका परिशीलन हम करेंगे ही नहीं। निर्दोष सिद्ध करने पर भी रहे-सहे अगोचर दोषों का निवारण मन्त्र की सहायता से दूर कर ही हम प्रतिष्ठा करते हैं। इसलिए पट्टमहादेवीजी ने जो कहा वह बहुत ही उपयुक्त है। सभी धर्म अगोचर दोषों और त्रुटियों का प्रायश्चित्त विधान देकर ही कार्यों को आगे बढ़ाते हैं। महावीर स्वामी के जन्म के पूर्व देवलोक के देवों ने आकर जन्यधारण करनेवाले उस गर्भाम्बुधि को शुद्ध किया था; यह हमने सुना है। इसलिए अब तैयार देवमूर्ति की प्रतिष्ठा के विषय में हमारी स्वीकृति है।

युवक उठ खड़ा हुआ। कुछ बोला नहीं। मौन ही उसने स्थपति, महाराज और पट्टमहादेवी की ओर देखा। शान्तलदेवी ने पूछा, "और कुछ कहना है?"

"यदि अनुमति दें तो।"

"अनुमति दे सकते हैं, परन्तु उससे क्या लाभ?"

"वह बाद में विचार करने का विषय है। फिलहाल एक और अवसर दीजियेगा।"

"अच्छा कहो।"

"पट्टमहादेवी ने इस बात को उदारता से लिया। आगम-शास्त्रियों ने अपने लिए अनुकूल मार्ग का अनुसरण किया।"

"तो क्या, तुम यह व्याख्या करना चाहते हो कि हमने जो कहा, वह ठीक नहीं?" आगमशास्त्री ने कहा।

"मेरे लिए अपने विचार प्रस्तुत करना मुख्य हैं। यदि वह दूसरों के विचारों की व्याख्या हो तो मैं उसका उत्तरदाता नहीं हूँ। आपने जो विधान बताया वह उस समय का है, जब दोष की जानकारी न हुई हो। परन्तु अब परिस्थिति ही भिन्न है।"

"जब तक दोष न दिखे, तब तक दोष की सम्भावना भी कैसे करें?" आगमशास्त्री ने कहा।

"मैं भी तो यही कह रहा हूँ।"

"अभी तुम इस युग को देख रहे हो, कल के बच्चे हो। तुम कहो और हम मान जाएँ, यह कैसे होगा?"

"मैं यह नहीं कह रहा हूँ कि आप मान लें। दोष-दर्शन कराने का मुझे अवसर दें।"

"यों ही समय का अपव्यय होगा।" आगमशास्त्री ने कहा।

"वह आपका विचार है। समय का मूल्य कलाकार जितना जानते हैं, उतना शेष लोग नहीं जानते। आप लोगों के समय की अपव्ययता करने के मूल्य के रूप में मैं अपनी जीभ और हाथ काटकर देने के लिए तैयार हूँ न?"

"यौवन के आवेश में यह हठ ठीक नहीं!"

"यह चांचल्य का हठ नहीं। मैं शिल्पी हूँ। यह मेरे लिए परम्परा से प्राप्त कला है। दोषयुक्त शिला की प्रतिमा-प्रतिष्ठा करने योग्य नहीं है। उसके दोष को पहचानकर दोष निवारण करके बाद को चाहे प्रतिष्ठा करावें। यह मूर्ति प्रतिष्ठा करने योग्य नहीं। इसे इसी तरह प्रतिष्ठित करेंगे तो उसे बनवाने की प्रेरणा देनेवाले, इसके निर्वहण करनेवाले, सबके लिए यह हानिकारक होगी। इसके बदले मेरा प्राण त्याग देना उत्तम होगा। हमारे राजवंश की हानि नहीं होनी चाहिए। मैं एक साधारण प्रजा मात्र हूँ। फिर भी यह मेरी मातृभूमि है। उसे स्थायी कीर्ति मिलनी चाहिए, न कि उसकी बुराई का स्वागत। मैं इसके लिए तैयार नहीं हूँ। स्थपतिजी से पूछ लीजिए। दोषपूर्णता की शंका होने पर ऐसी मूर्ति की प्रतिष्ठा की जा सकती है?"

"जब उनकी राय में निर्दोष है तब···"

"भिन्न मत हो तो क्या करना चाहिए, यह उन्हीं से पूछ लीजिए। उनका वंश भी कालानुक्रम प्राप्त शिल्पियों का ही रहा होगा। अब वे मूलतत्त्व को

छोड़कर, भय के कारण हठ पकड़ लें तो मुझे यही मानना पड़ेगा कि वह परम्परा की चपलता का हठ है, स्वार्थ का प्रेरक है।"

"एक तरह से सभी की राय अब जान ली गयी। युवक की एक बात को हम मान लेते हैं। अब भी यह निश्चित रूप से ज्ञात होने पर कि यह दोष रहित है, जब एक दूसरा शिल्पी यह कहता है कि इसमें दोष है तो उसकी परीक्षा हो जाना ही युक्त है। इसलिए इस बात को बढ़ाकर समय व्यर्थ करना वांछनीय नहीं। परीक्षा होने दें।" स्थपति ने अपना निर्णय सुना दिया। उनके कथन में एक विवेचक की दृष्टि रही। कटुता नहीं रही।

"यदि यह बात सिद्ध हो गयी कि प्रस्तर दोषयुक्त है तो आप लोगों से निर्णीत एवं आचार्य के द्वारा स्वीकृत मुहूर्त का क्या होगा?" बिट्टिदेव ने पूछा।

"इतने प्रसिद्ध शिल्पी यहाँ मौजूद हैं। ठीक समय पर एक दूसरी मूर्ति तैयार हो जायेगी।"

परन्तु इस पर किसी शिल्पी ने कुछ उत्तर नहीं दिया। उन लोगों ने परस्पर एक-दूसरे की ओर देखा।

"क्या कहते हैं शिल्पी?" बिट्टिदेव ने पूछा भी।

किसी ने चूँ तक नहीं की। चावुण उठा और बोला, "यह कठिन काम है। समय बहुत कम है, अतः साहस नहीं होता।"

"ऐसा है तो काम कैसे चलेगा?" बिट्टिदेव ने पूछा।

स्थपति ने कहा, "यह युवक एक दिन में मूर्ति को बना सकेगा। मैं भी एक दिन में तैयार कर सकता हूँ। हम दोनों में से किसी एक के हाथ तो बच रहेंगे न? डरने की आवश्यकता नहीं। जो मुहूर्त ठहराया है, उसी मुहूर्त में प्रतिष्ठा होगी।"

सारी सभा में मौन छा गया। स्वयं बिट्टिदेव निर्णय न सुना सके, उन्होंने पट्टमहादेवी के कान में कुछ कहा। अन्त में वे उठ खड़ी हुईं, और बोलीं, "अब दोनों शिल्पियों की राय एक है कि परीक्षण हो। तब वही हो। कल सुबह सार्वजनिकों के समक्ष यह परीक्षा होगी। अभी सन्निधान ने केवल परीक्षा के लिए ही स्वीकृति दी है। शेष बातों पर बाद में विचार किया जायेगा। अब यह सभा विसर्जित होती है। इस सभा में भाग लेनेवाले तथा उपस्थित रहकर योग देने-वाले सभी के प्रति राज-परिवार कृतज्ञ है।" बिट्टिदेव उठ खड़े हुए। शेष सब लोग भी उठ गये।"

सभी के चेहरों पर एक तरह का असन्तोष झलक रहा था। यह कौन बला है जो हमारे पीछे पड़ गयी! यही सोचते हुए सब लोग चले गये।

तिरुवरंगदास को तो एक तरह से सन्तोष ही हो रहा था। वेलापुरी-भर में कौतुक-भरी यह बात फैल गयी। सभा समाप्त होने के बाद राजमहल के मुखमण्डप की ओर यह युवक जा रहा था, तो रेविमय्या ने उससे भेंट की और कहा,

"पट्टमहादेवीजी बुला रही हैं, आप थोड़ी देर यहीं ठहरें।" वह ठहर गया।

स्थपतिजी वहीं उपस्थित थे, उन्होंने रेविमय्या की ओर प्रश्नार्थक दृष्टि से देखा। रेविमय्या ने उनकी दृष्टि को समझ लिया, संकेत से बता दिया कुछ नहीं। वह अपने निवास की ओर चल पड़ा।

सभी आगन्तुकों के चले जाने के बाद, रेविमय्या युवक को अन्तःपुर में ले गया। उसे आते देख पट्टमहादेवी ने स्वागत किया, "आओ बेटा, "बैठो !" कहकर एक आसन दिखाया।

"रहने दीजिए। कोई बात नहीं। सुना कि आदेश हुआ।"

"हाँ, तुम जानते हो क्यों ?"

"मेरी धृष्टता पर डाँटने के लिए हो सकता है।"

"यदि तुमको ऐसा लगा होता तो तुम अपने को सँभालकर संयम बरत सकते थे न ?"

वह धक्क से रह गया। उसने पट्टमहादेवी की ओर देखा।

"डरने की कोई बात नहीं। पट्टमहादेवी ने उदारता दिखायी। यह तुमने विनीत होकर बताया; मेरा मन्तव्य तुमको जंचा नहीं, यही मेरा भाव है। लोग मेरे मन्तव्य को मान लें—यह हठ मेरा कभी नहीं रहा। मैं जब अपने विचारों को सही और निश्चित रूप से ठीक समझती हूँ, तब दूसरों को मानने को विवश करती हूँ। मैं समझती हूँ कि तुम भी इसी तरह का हठ पकड़े बैठे हो। परन्तु जैसे-जैसे अनुभव बढ़ता जाता है, सत्यान्वेषण के साथ और हठ पकड़ने की प्रवृत्ति के होते हुए भी उदारता से विषय का परिशीलन करने की प्रज्ञा उत्पन्न होती है।"

"औदार्य की लपेट में आकर सत्य का आवरण में रह जाना ठीक होगा ?"

"औदार्य का लक्ष्य कभी सत्य को छिपाना नहीं। जब कार्य करते हैं, तब कोई-न-कोई त्रुटि रह जाती है। यह सहज ही है। यदि वह त्रुटि बुरे उद्देश्य से प्रेरित न हो और अज्ञानवश हुई हो तो ऐसे अवसर पर उदारता से देखना युक्त है। उदारता सदा ही दण्ड देने पर विचार करती है। अब बताओ, मैंने जो उदारता दिखायी, वह तुम्हारे लिए या स्थपति के प्रति रही ?"

"यह मुझे कैसे पता होगा ?"

"क्यों नहीं पता होगा ! तुमने अपना निर्णय ठीक मानकर उसे सिद्ध करने का प्रण किया है न ?"

"हाँ, इस विषय में मेरी राय निश्चित है।"

"तब तो मेरी उदारता स्थपति के प्रति है—यही भावना लेकर तुमने वह बात कही न ?"

"हो सकता है।"

"तब मेरी उदारता तुम्हारी दृष्टि में व्यंग्य ही हुई न ?"

"मेरे मन में ऐसे विचार ही नहीं उठे।"

"तुम्हें पता है कि मनुष्य में दो मन अर्थात् एक जाग्रत मन तथा दूसरा सुप्त मन, रहते हैं?"

"मुझे नहीं पता।"

"इसीलिए तुम्हारी बात का व्यंग्य तुम्हें नहीं जान पड़ा।"

"सन्निधान के प्रति मेरे मन मे गौरव है, इसलिए मैंने ऐसा कहा।"

"हाँ, गौरव रहा। तुम्हारे अन्तरंग में यह भय भी उत्पन्न हुआ कि लोग मेरी बात को पुष्ट करेंगे। तब सुप्त मन ने तुम्हें प्रेरित किया। उसके फलस्वरूप तुम्हारी बातों में व्यंग्य सम्मिलित हो गया। क्योंकि स्थपतिजी हार का सामना करने से डरेंगे, यह राज-परिवार, पट्टमहादेवी आदि डरेंगी, ये सब विचार तुम्हारे मन में पैदा हुए।"

"आपकी बातों को जब सुनता हूँ तो लगता है कि सम्भवतः ऐसे विचार हुए हों। परन्तु ऐसा क्यों लगना चाहिए यही समझ में नहीं आता।"

"उसका कारण, तुम्हारे और तिरुवरंगदास के बीच जो वाद-विवाद चला वही है। यहाँ के सब लोग समझते हैं कि तुम सबसे छोटे हो और इसलिए तुम्हारी बातों की ओर ध्यान नहीं देते, इस तरह का भाव तुम्हारे अन्तरंग में जागृत हो बैठा। तुम्हारी सारी बातें उसी के परिणामस्वरूप हैं। बुद्धिपूर्वक तुमने बात नहीं की। उनमें कुछ बातें तुम्हारे सुप्त मन की प्रेरणा थीं। उसकी जानकारी तुम्हें है या नहीं मैं नहीं कह सकती। शान्ति के साथ बैठकर सोचो तो तुम्हें मेरी बातें समझ में आ सकेंगी।"

"प्रयत्न करूँगा। मेरे मन में उद्दिष्ट व्यंग्य नहीं रहा। इतना तो सन्निधान को मानना होगा।"

"यदि मेरे मन को जँचा तो मैं सचमुच मान लेती हूँ। परन्तु यह परीक्षण-परिशीलन इस सबकी पृष्ठभूमि क्या है, यह समझ में नहीं आ रहा है। इस मन्दिर के कार्य को आरम्भ हुए लगभग दो साल बीते गये। उसके पहले ही मुख्य-मुख्य शिल्पियों की बस्तियों में सूचना भेजी गयी थी। तुम नहीं आये, बीच में भी नहीं आये। अब जबकि मुहूर्त निश्चित हो गया है, आये हो। इसलिए तुम्हारे उद्देश्य में सद्भावना है, इस बात को हम कैसे मानें?"

"तो सन्निधान की यह भावना है कि मेरी बातें अविश्वसनीय हैं?"

"एक व्यक्ति की उक्त बातें सही हैं, ऐसा मानना हो तो वह व्यक्ति कौन है, क्या है, आदि सभी विषयों का परिचय होना आवश्यक है। जब तक ये सब बातें ज्ञात नहीं होंगी तब तक शंकाएँ होती ही रहेंगी।"

"तो आप जानती हैं कि यह स्थपति कौन है?"

"तुम्हारी यही धारणा है कि नहीं जानती?"

"यहाँ किसी को भी उनके बारे में कुछ भी पता नहीं।"

"कोई नहीं जानता हो तो क्या मैं भी नहीं जानती? यही तुम्हारी राय है?"

"यहाँ के लोगों से ऐसा ही कुछ विदित हुआ। उनकी देखभाल करनेवाले नौकर मंचणा तक को कुछ भी पता नहीं।"

"तो यह स्पष्ट हुआ कि तुमने उनके बारे में समझने का प्रयास किया था।"

"हाँ।"

"क्यों?"

"कुतूहलवश। ऐसी भव्य कल्पना करनेवाले स्थपति किस घराने के हैं, किस स्थान के हैं यह जानने का एक कुतूहल होने के कारण!"

"अपनी बात न बता सकनेवाले तुमको, दूसरों के बारे में जानने का क्या अधिकार है?"

"अपने निजी विषय में न बताने का एक कारण है।"

"उन्हें भी उसी तरह का कारण हो सकता है।"

"वह कारण आप जानती होंगी न?"

"एक दिन बताया था। नहीं, मैंने ही उनके मुँह से कहलवाया। उस दिन से वे एक बदले हुए व्यक्ति बन गये।"

"तो वे कौन हैं?"

"वे एक दु:खी जीव हैं।"

"कहाँ के हैं?"

"तुम कहाँ के हो? तुम्हारे पिता कौन हैं? माँ कौन हैं? तुम यहाँ इस प्रतिष्ठा के समारम्भ के लिए आये हो या किसी दूसरे उद्देश्य से?"

"मेरा दूसरा उद्देश्य हो ही क्या सकता है?"

"तो तुम्हारे इस हठ का क्या कारण है?"

"वह एकमुखी नहीं है। वे स्वीकार कर सकते थे न? इस तरह खुली जिज्ञासा की क्या आवश्यकता थी? मैं छोटा हूँ। अधिकारियों का बल नहीं है। मुझे डाँटकर हटाने का विचार क्यों नहीं हुआ?"

"यदि तुम यह प्रश्न करते हो, मैं एक दूसरा प्रश्न करूँगी। पहले इस मन्दिर के एक और स्थपति रहे। उनका चित्र स्वीकृत हुआ था। उस समय ये इधर आये। इनकी कल्पना में नवीनता भरी थी। इनका यह चित्र स्वीकृत कर इसी तरह मन्दिर का निर्माण करने के लिए उस स्थपति से कहा गया। उसका उत्तर था कि मेरे चित्र के अनुसार काम करने पर जब सहमति नहीं है, तो दूसरों के चित्र के अनुसार मैं कार्य क्यों करूँ, इस तरह विचार कर वे चले गये। उन्होंने यह समझकर कि यहाँ मेरा अपमान हुआ, उसका बदला लेने के लिए तो तुम्हें नहीं

भेज दिया ?"

"मैं इस तरह किसी से प्रेरित होकर नहीं आया। मैं पहले ही बता चुका कि मैं एक अन्वेषण में लगा हूँ।"

"यह सब सत्य है, ऐसा कैसे मानें ? अपने बारे में अपना सम्पूर्ण विवरण दो तो तुम्हारी बात पर विश्वास करने न करने पर विचारकर निर्णय करूँगी।"

"मेरा लक्ष्य जब तक पूरा न होगा, तब तक मैं अपना ब्यौरा नहीं दूंगा।"

"तुम्हारा लक्ष्य क्या है ?"

"हमने एक अनमोल वस्तु को खोया है। वह मिलनी चाहिए।"

"क्या वह कोई अमूल्य वस्तु है ?"

"नहीं, वह एक मेरे सम्बन्धी हैं।"

"कब से खोज रहे हो ?"

"अभी हाल ही में खोज शुरू की है। परन्तु कई वर्षों से खोज का कार्य चल रहा है।"

"ऐसी स्थिति क्यों आयी ?"

"मुझे नहीं पता।"

"तो किसे पता है ?"

"मेरी माँ को।"

"कहाँ रहती हैं वे ?"

"हमारे गाँव में।"

"तुम्हारा गाँव कौन-सा है ?"

"क्रीड़ापुर।"

"यह तो बहुत दूर नहीं है !"

"सन्निधान हमारे गाँव को जानती हैं ?"

"हाँ, शिवगंगा से कोई पाँच-छह कोस पर है। वहाँ शिल्पियों के कितने परिवार बसते हैं ?"

"छः घराने हैं।"

"फिर भी यहाँ के मन्दिर के काम के लिए कोई क्यों नहीं आया ?"

"समय मिला होता तो आते। सभी घरानेवाले इधर-उधर काम करने के लिए जानेवाले ही हैं। स्त्रियाँ और बच्चे गाँव में रहते हैं। शायद इस मन्दिर की बात जब पहुँची, तब तक सम्भवतः कोई गाँव में न रहे होंगे।"

"तुम तो रहे न ?"

"मैं भी तीन वर्षों से गाँव छोड़कर घूमता फिर रहा हूँ।"

"तुम्हारी माँ के तुम ही ज्येष्ठ पुत्र हो ?"

"ज्येष्ठ-कनिष्ठ सब मैं ही हूँ।"

"तो उस बेचारी को अकेली छोड़कर घूम रहे हो?"

"उन्हीं के लिए तो घूम रहा हूँ। उनके आँसू देखकर…"

"आँसू क्यों?"

"पति के अदृश्य हो जाने के कारण।"

"क्यों भला!"

"उन्हीं से पूछना होगा।"

"सो वह?"

"वही तो पता नहीं। खोज कर रहा हूँ।"

"नाम!"

"अब जो बता दिया, सो भी नहीं बताना चाहिए था। आपकी बातों में आकर अनजाने ही मुँह से निकल गया।"

"गाँव का नाम बता दिया। क्या तुमने समझा कि वहाँ आदमी भेजकर हम पता नहीं लगा सकेंगी?"

"हाँ, गाँव का नाम बताकर मैंने भूल की।"

"कोई भूल नहीं की। तुम जो कुछ जानते हो, सब बताओ। हम राजमहल से सहायता देकर पता लगावेंगे।"

"मैं कृतज्ञ हूँ। एक बार मेरी माँ का दुःख दूर हो, वह सन्तुष्ट हो जाय तो मेरा जन्म सार्थक हो।"

"प्रयास करेंगे। अब मैं एक बात कहूँ?"

"आज्ञा हो!"

"कल की इस स्पर्धा को छोड़ दो!"

"दूसरी मूर्ति बनवायेंगी?"

"यही ठीक न होगी, बेटा?"

"आप और महाराज की हानि को होने देना उचित है?"

"तुम्हें तो कोई हानि नहीं है न? तुम क्यों इसमें हठ करोगे?"

"आप लोगों का श्रेय ही राष्ट्र का श्रेय है। आपकी हानि राष्ट्र की हानि है।"

"तो स्थपतिजी निश्चित रूप से कहते है न कि उसमें कोई दोष नहीं।"

"मैं भी तो कह रहा हूँ कि उसमें निश्चित रूप से दोष है। दो परस्पर विरोधी निर्णय हैं, इसीलिए यह सारी बात उठी है। इसके परिणाम की प्रतीक्षा करेंगे। देखें क्या होगा?"

"परिणाम कुछ भी हो, तुम दोनों में से एक को कष्ट होगा न! इस मन्दिर के निर्मापक का शरीर मन या तुम्हारा शरीर और मन कष्ट में पड़ेगा। यही इस घोषणा का परिणाम होगा।"

"इसके लिए क्या करें ?"

"इस स्पर्धा को छोड़ दो ।"

"इसके लिए एक ही मार्ग है । दोनों की दृष्टि से निर्दोष शिला को खोजकर उसमें एक दूसरा ही विग्रह तैयार कराएँ ।"

"मैं अकेली इस बात पर निर्णय कैसे करूँ ?"

"स्थपतिजी से पूछ सकती हैं । सन्निधान को मेरी बात ठीक लगे तो स्थपति जी को सूचित कर सकती हैं । आदेश दे सकती हैं ।"

"यह सब आदेश से होनेवाला कार्य नहीं । सन्तुष्ट मन से किया जानेवाला कार्य है । किसी भी तरह से कलाकार के स्वातन्त्र्य में हस्तक्षेप करना मेरा अभीष्ट नहीं है । सोचूंगी कि क्या करना होगा ।"

"उनसे विचार-विनिमय करने के बाद भी, परीक्षा करने ही का निर्णय हो तो···?"

"इतनी तत्परता क्यों ? वे सही बात को माननेवाले व्यक्ति हैं ।"

"फिर भी कोई कलाकार अपने स्वाभिमान पर आघात हो, तो नहीं सह सकेगा ।"

"उसके लिए क्या होना चाहिए ?"

"मुझे चन्दन की लकड़ी चाहिए ।"

"जब आवश्यक हो तब तैयार रहेगी । चन्दन की लकड़ी के लिए चिन्ता करने की आवश्यकता नहीं ।"

वहाँ मौन छा गया । युवक कुछ कहने को तत्पर दिखाई दिया, पर चुप रहा ।

"और क्या कहना है ?"

"सन्निधान मुझे कुछ और न समझें ।"

"अन्यथा लेने का कोई कारण नहीं । परन्तु, अप्रबुद्ध और वाचाल जन तरह तरह के अर्थों की कल्पना करेंगे । दो का झगड़ा तीसरे का लाभ, यह कहावत है न, अब यह क्यों ? स्थपति से विचार करने के बाद ही आगे का निर्णय हो । तब तुम्हारे लिए निवास की जो व्यवस्था की है, वह ठीक है न ?"

"खुरदरे पत्थर को स्वच्छ चिक्कण बनानेवाले हम सब जगह ठीक बना लेंगे । ऐसों के लिए यहाँ की व्यवस्था के बारे में आक्षेप ही क्या हो सकता है । तब तो···"

"अच्छा, अब तुम जा सकते हो ।"

स्थपति से बातें हुईं, पर कोई सफलता नहीं मिली । हठ के साथ बात न करने पर भी तर्कबद्ध रीति से अपने निर्णय को न बदलकर, उसी को दुहराया ।

दूसरे दिन प्रातःकाल इस परीक्षा का परिणाम देखने के लिए, जिज्ञासुओं की

भीड़ मन्दिर के पास जमा हो गयी। प्रधानजी, दण्डनायक तथा अन्य अधिकारीगण शास्त्रज्ञ, उत्साही सब एकत्रित हो गये थे। भीड़ में तरह-तरह की बातें चल रही थीं। भीड़ में कौन किसकी सुने ?"

स्थपति और युवक का किसी से कोई सम्बन्ध न होने पर भी, इस जय-पराजय के परिणाम से मत-सम्बद्ध न होने पर भी लोग अपने पक्ष-विपक्ष लेकर तरह-तरह की चर्चा करने में लगे रहे।

"तो और क्या हो सकता है ? एक का अन्न छीनने पर भगवान् आँख मूँदकर चुप नहीं बैठा रहेगा। दण्ड देगा ही।"

"किसका अन्न किसने छीना है जी ?"

"वही, वही उस गुप्त स्थपति ने, उससे पहले जो स्थपति बना था, उसे भगा दिया था न ? वह अल्पायु का होने पर भी बड़ा बुद्धिमान था। जब यह काम उन्हीं को सौंपने का निर्णय हुआ था, इसे क्यों बीच में पड़ना चाहिए था ? इसीलिए भगवान् ने ऐसा किया। यह लड़का उस स्थपति से भी छोटा है। ऐसे छोटे से अन्त में अपमानित होना ही पड़ा।"

"वह स्थपति, कौन स्थपति ?"

"वही जी, उसका क्या नाम था, हरीश ! वही !"

"आप भी भले हो ! किसी पुराने किस्से का इसके साथ इसका क्या सम्बन्ध ? सुनकर लोग हँसेंगे।"

"हँसने की कोई बात नहीं। यह सब उनके किये का फल है।"

"फिर भी यह लड़का बड़ा धैर्यवान है। हठ छोड़ी ही नहीं। 'हठ पकड़कर बड़ों का क्यों अपमान करोगे !' ऐसा बहुतों ने समझाया, तो भी वह टस से मस नहीं हुआ।"

"वह सब ठीक है। इन दोनों के इस हठ में आश्चर्य की बात यह है कि पत्थर दोषयुक्त होने पर इन्हें अपने हाथ क्यों कटाने चाहिए। दोनों अपने व्यवसाय में कुशल हैं। फिर किसी के हाथ कटें, वह कला की क्षति ही है। इस बात को समझाकर कम-से-कम राजमहलवालों को इन्हें रोकना चाहिए था। ऐसा क्यों नहीं किया ?"

"दोनों मूर्ख हैं। शायद दोनों को बाहर करने का तन्त्र होगा।"

"ऐसा भी कहीं हो सकता है ? ऐसे भव्य मन्दिर के निर्माण करनेवाले निष्णात शिल्पी को बाहर भेज देना न्यायसंगत होगा ? हो सकता है, पत्थर में दोष··· अन्दर के दोषों को उसे छेदकर देखा जा सकता है ?"

"किन्तु अब यह विग्रह दोषयुक्त निकल जाय तो सब स्थगित हो जायेगा ?"

"क्या होगा, यह जानने के पहले ही उड़ जाने की बात क्यों ? क्या उस विग्रह के पेट के अन्दर हवा भरी है ?"

"लगता है, आपको वात की बीमारी है।"

"किसे वात की बीमारी?"

"कुपित क्यों होते हो जी? नहीं हो तो बता दें, बात समाप्त। यदि हो तो मान लें, इसमें क्या दुर्भाव?"

इसी तरह की चर्चाएँ लोगों में फूट रही थीं—फैल रही थीं। न कोई ढंग था, न क्रम, न कुछ और ही।

स्थपति ने जो मूर्ति बनायी थी, उसे रात को ही एक दीवार के सहारे बने छप्पर में पहुँचाया गया था। उसके चारों ओर पट्टियाँ लगाकर आड़ कर दी गयी थी। उसके अन्दर स्थपति, युवक और शिल्पी थे। अन्दर का हाल किसी को पता नहीं। परन्तु लोगों की दृष्टि उसे भेदकर, 'भीतर क्या है' जान लेने की उत्सुकता से भरी हुई थी।

थोड़ी ही देर में उदयादित्यरस और बिट्टियण्णा वहाँ आये। झोंपड़ी के पूर्व की ओर लगी दीवार के पास के पहरेदार ने उन्हें अन्दर जाने का रास्ता बताया। थोड़ी देर के बाद दोनों बाहर आये। लोगों ने कुतूहल से पूछा—क्या हुआ? उन्होंने संकेत से बताया, 'प्रतीक्षा करें।' फिर वे चले गये।

इसके बाद महाराज और पट्टमहादेवी तथा रानियाँ आयीं। उनके साथ उनका रक्षक दल था। साथ में उदयादित्यरस और कुँवर बिट्टियण्णा भी थे।

रानियाँ अपने लिए बने आसनों पर बैठ गयीं। महाराज और पट्टमहादेवी दोनों अन्दर विग्रह के पास चले गये। रक्षकदल दीवार के बाहर खड़ा रहा।

थोड़ी देर बाद एक शिल्पी बाहर आया। रक्षक-दल के दो सिपाहियों को अन्दर ले गया। इसके थोड़े समय के बाद, महाराज और पट्टमहादेवी बाहर आये। उनके पीछे स्थपति और युवक दोनों थे। उनके हाथ पीठ पीछे बँधे थे। रक्षक-दल के सिपाहियों की देख-रेख में वे दोनों चल रहे थे। और दो शिल्पी जो अन्दर थे वे भी उनके पीछे-पीछे आ रहे थे।

"उपस्थित महाजनो! आज हम एक विचित्र स्थिति का सामना कर रहे हैं। दोनों शिल्पी अत्यन्त उच्च कलात्मक क्षमता रखते हैं। पर दोनों स्पर्धा में लगे और हमें भी अपनी लपेट में ले लिया है। इस स्पर्धा का परिणाम प्रकट होने के पूर्व, इन दोनों को इसी प्रकार बन्धन में रखने का विचार हम और पट्टमहादेवी ने निश्चित किया है। यह निर्णय न प्रधानजी जानते हैं, न मन्त्रीगण ही, यहाँ तक कि हमारे भाई भी नहीं जानते। विरोध न करने पर भी वे दोनों चकित हो रहे हैं। आप लोग भी चकित हुए होंगे। हमने ऐसा क्यों किया, यह बात आप लोगों को आगे चलकर ज्ञात होगी। यह विग्रह का प्रस्तर दोषपूर्ण है या नहीं—इस बात की परीक्षा दोनों की सम्मति पर हो रही है। उसे आप सब लोग देख सकते हैं।" कहकर बिट्टिदेव ने दीवार-जैसी पट्टियों को हटाने का आदेश दिया।

मंगलस्नान कर स्वर्णवस्त्र धारण किये, सारे अंगों पर हरिचन्दन का लेप लगाये हुए खड़ी प्रतिमा को लोगों ने देखा।

"मूर्ति किरीट से लेकर पाद-पीठ तक सर्वत्र चन्दन आलेपित खड़ी है। चन्दन का आलेप अभी-अभी समाप्त हुआ है अतः गीला है। यह चन्दनालेप सर्वत्र एक-सा सूख जाय तो समझो कि पत्थर में दोष नहीं। यदि सभी ओर से एक-सा सूखकर कहीं गीला रह जाय तो पत्थर में दोष है—यह बात दोनों के लिए स्वीकार्य है। लेपन कार्य ठीक ढंग से चला है—इस बात के लिए ये दोनों शिल्पी प्रमाण हैं, जो अन्दर थे। इस तरह का परिशीलन या परीक्षा अब तक हुई है या नहीं, सो हमें ज्ञात नहीं। बुजुर्ग कहा करते थे कि जो होता है, सब भलाई के लिए। फिर उक्ति भी है, 'श्रेयांसि बहुविघ्नानि।' इसलिए हम भगवान् से प्रार्थना करें कि भलाई एवं श्रेयस्कर से वे सबकी रक्षा करें।" बिट्टिदेव ने कहा।

इसके पश्चात् महाराज और पट्टमहादेवी अपने लिए निर्दिष्ट आसनों पर बिराजे। शेष लोग भी बैठ गये। शिल्पी भी वहीं पार्श्व में स्थित आसनों पर बैठ गये। पहरेदारों के यत्र-तत्र रहने के कारण लोगों में मौन छाया रहा। वातावरण में एक प्रकार का कुतूहल था। सबकी दृष्टि चन्दन-लिप्त केशव की मूर्ति पर लगी थी।

फागुन का अन्तिम दिन, निरभ्र आकाश, प्रखर सूर्यरश्मि। चन्दन शीघ्र ही सूख चला। सूरज के ताप के साथ लोगों में कुतूहल का भाव भी बढ़ रहा था। अर्ध प्रहर का समय मौन में बीता। चन्दन का कण-कण धीरे-धीरे सूखता जा रहा था। लोग देख रहे थे। मूर्ति का बहुलांश सूख चला। किरीट, मुख, बाहुद्वय, छाती, कन्धे, कण्ठ, पाद द्वय, ज़ाँघ, पीठ आदि सब अंग सूख गये। पेट पर, नाभि के चारों ओर हथेली-भर की जगह अभी सूखी नहीं थी, गीली ही रही। लोगों में फुसफुसाहट प्रारम्भ हो गयी। ऐसा लगने लगा कि लोग अब-तब में निर्णय कर ही लेंगे।

महाराज उठ खड़े हुए।

"शान्त! शान्त!! सन्निधान क्या कहते हैं, सुनो!" बन्दिमागधों ने घोषणा की। सर्वत्र मौन छा गया।

"शीघ्रता न करें। हो सकता है कि उस भाग का चन्दनालेप दूसरी जगहों के लेप से कुछ मोटा हो। सूखने में कुछ समय लगेगा। प्रतीक्षा करें।" महाराज इतना कहकर बैठ गये।

स्थपति उठ खड़े हुए और राजदम्पती की ओर देखा।

महाराज ने पूछा, "कुछ कहना है, स्थपतिजी?"

स्थपति ने कहा, "हाँ, आज्ञा हो तो निवेदन करूँ!"

"कहिए!"

"अब प्रतीक्षा में समय व्यर्थ करने की आवश्यकता नहीं। पत्थर दोषयुक्त है। मैं स्वीकार करता हूँ। अब मैंने जो वचन कहे, उसका पालन करने की अनुमति दें। आज से मुझे इन हाथों को रखने का अधिकार नहीं। इस सन्दर्भ में मैं एक बात कहना चाहता हूँ। प्रज्ञा ग्रहण-शक्ति पर अवलम्बित है। केवल अनुभवमात्र पर्याप्त नहीं। इस युवक की प्रज्ञाशक्ति पर मैं मुग्ध हूँ। उस पर अविश्वास रखकर उसके कौशल की परीक्षा करने की दृष्टि से जब मैंने वेणुगोपाल की मूर्ति को बनाने के लिए कहा, तब उसके काम करने की रीति को देखकर, मैं चकित हो गया था। आज मैं पराजित हूँ। छोटे से बड़ा हारा। इससे बढ़कर अपमान की बात और क्या हो सकती है, ऐसी भावना का उत्पन्न होना असहज नहीं। परन्तु मुझमें ऐसी भावना नहीं। मुझे इस बात की भारी प्रसन्नता है कि अधिक ज्ञान, जानकारी और प्रतिभा को मान्यता प्राप्त हुई। इसी आनन्द में इतने लोगों के सामने अपने वचन के पालन के लिए, मुझे अनुमति देने की कृपा करें।" स्थपति ने कहा।

"स्थपतिजी, आपकी भावना सराहनीय है। प्रत्येक कार्य के करने में उचित-अनुचित का विचार किया जाता है। वचन-पालन के लिए योग्य वातावरण की सूचना पट्टमहादेवीजी देंगी। उनके कार्याचरण और सदुद्देश्यों पर आप सहमत होंगे, ऐसा हमारा विश्वास है। यह बात उनके ऊपर है। इस समय आप केवल मौन प्रेक्षक हैं।" बिट्टिदेव ने कहा। फिर युवा शिल्पी की ओर देखा और पूछा, "क्या और भी प्रतीक्षा करनी है? या स्थपति के मान लेने के बाद, इस परीक्षण को यहीं समाप्त कर दें?"

"उनके मान लेने पर यह समाप्त ही है न?" युवा शिल्पी ने कहा।

"यह तो हुआ कि शिला दोषयुक्त है, परन्तु यह ज्ञात नहीं हुआ कि किस प्रकार का दोष है?" शान्तलदेवी ने कहा।

"इस पत्थर में गीलापन है। जलांशयुक्त शिला दोषयुक्त होती है। गीलापन होने के कारण, वह भाग सूखा नहीं। जहाँ गीलापन नहीं, वह सारा भाग सूख गया।" युवा शिल्पी बोला।

"केवल गीलापन ही नहीं, अन्दर पानी भी है। हो सकता है उसमें कोई प्राणी भी हो," स्थपति ने कहा।

"उसके अन्दर प्राणी का जीवित रहना कैसे सम्भव है?" युवा शिल्पी ने कहा।

"परीक्षा करें तो पता लग जायेगा।" स्थपति बोले।

शान्तलदेवी ने महाराज के कान में कुछ कहा। स्थिति को देख लोगों में एक बार फिर कुतूहल जागा; आगे क्या होगा...!

अन्त में महाराज ने कहा, "उसकी भी परीक्षा हो जाय। इसमें किसकी राय

ठीक है, सो भी देख लें।" निर्णय ही सुना दिया। विग्रह स्वच्छ किया गया। एक शिल्पी को आदेश दिया गया। उसने केशव भगवान् के नाभि-देश को विस्तृत करने के लिए छेनी लेकर धीरे-से उस पर प्रहार किया। गोलाकार प्रस्तर का एक टुकड़ा निकला और अन्दर से पानी फूट पड़ा। एक बड़ी जंगली मक्खी के बराबर का मेंढक उछलकर शिल्पी की गोद में आ गिरा। शिल्पी के मुँह से निकला, "चेन्नकेशव के गर्भ में मेंढक !"

लोग कहने लगे, "पत्थर में मेंढक !"

"हाँ, पत्थर में मेंढक जी कैसे सकते हैं ?"

"भगवान् की इच्छा हो तो सब कुछ हो सकता है। आग में जले बिना रह सकते हैं। खौलते हुए तेल में डालने पर भी एक फफोले के बिना सही सलामत बाहर निकलनेवाले भी आखिर उसी भगवान् की कृपा से रक्षित होते हैं।"

"सो तो ठीक है। इस मेंढक ने नाभि का आश्रय क्यों लिया ?"

"अरे मूर्ख, पहले ब्रह्मा का जन्म वहीं से हुआ, केशव की नाभि से उत्पन्न कमल में। वैसे कमल पानी में उत्पन्न होता है। वह पृथ्वी पर उत्पन्न होता है तो समझो कि नाभि में पानी होता है।"

"हो सकता है, पर मेंढक उसके अन्दर कैसे गया होगा ?"

"यही तो भगवान् की लीला है।"

"लीला उसकी नहीं···अब बेचारे उन शिल्पियों की···सोचा कुछ हुआ कुछ और ही। यह दुनिया बड़ी विचित्र है !"

"विचित्र है, इसीलिए इसे दुनिया कहते हैं।"

उधर महाराज और पट्टमहादेवी दोनों मूर्ति के पास गये और केशव-गर्भ-संजात मण्डूक शिशु को देख लौट आये और अपनी जगह बैठ गये। बाक़ी रानियाँ तथा प्रमुख लोग भी जाकर देख आये।

लोगों में बातें हो ही रही थीं। कुतूहल-भरे लोगों को सँभालना पहरे पर के सिपाहियों के लिए कठिन हो गया। लोग संयम का पालन करनेवाले थे, इसलिए इतनी कठिनाई का अनुभव नहीं हुआ, कुछ गड़बड़ी भी नहीं हुई।

तिरुवरंगदास ने भी उस विग्रह की नाभि से निकले मेंढक को देखा। उसकी बुद्धि में कुछ और ही विचार आये। वह क्या था, सो उसी की समझ में नहीं आ रहा था। परन्तु उस विचार ने उसे मन-ही-मन बहुत क्रियाशील कर रखा है— इतना उसके चेहरे से लक्षित हो रहा था। उन्हीं विचारों में मग्न होकर वह अपने आसन की ओर चला गया।

फिर महाराज उठ खड़े हुए। बन्दिमागधों ने जनसमूह को शान्त रहने को चेतावनी दी। मौन छा गया।

"केशव-गर्भ-संजात मण्डूक ने हमारी एक जटिल समस्या को हल कर दिया,

यद्यपि मण्डूक की उपस्थिति वहाँ स्वयं एक समस्या है। यह बात आगे चलकर पट्टमहादेवीजी स्पष्ट करेंगी। इस देव-मण्डूक को देखने का कुतूहल सभी में है—यह सहज ही है। इसके लिए उचित व्यवस्था दोपहर के बाद की जायेगी। धक्कम-धुक्की के विना सब आराम से देख सकेंगे। अब आगे का कार्य पट्टमहादेवी का है। वे बतायेंगी।" इतना कहकर महाराज अपने आसन पर विराजमान हो गये।

पट्टमहादेवी उठ खड़ी हुईं। सब उनकी ओर देखने लगे। एकाग्रभाव से वे जो कह रही थीं, कान लगाकर सुनने लगे। उन्होंने कहा, "प्रिय पोय्सल प्रजाओ! आज का दिन इस वेलापुरी के इतिहास में एवं पोय्सलों के इतिहास में एक महान् दिन है। जिनके बारे में हमने स्वप्न में भी नहीं सोचा-सुना था, ऐसी घटनाएँ कल-परसों के दो दिनों में घट गयीं। उसका एक अंश अब आप सभी को ज्ञात हो गया है। शिला को निर्दोष कहने वाले स्थपति ने अपनी हार मान ली है। वैसे ही पत्थर में सजीव प्राणि न होगा कहने वाले यह युवा शिल्पी हार गये। यहाँ दो हार और दो जीत हुई हैं। अब राजमहल के सामने दायित्व का सवाल उठ खड़ा हुआ है। जीत को मान्यता दें कैसे और हार का दण्ड दें भी तो कैसे इस बात की चर्चा उनके सामने करना हमे उचित नहीं जँचता। इसलिए सन्निधान कुछ और समय तक इन दोनों बातों को अभी सम्मुख न लाने की कृपा करें।"

महाराज ने उदयादित्य की ओर देखा। वह और कुँवर बिट्टियण्णा दोनों शिल्पियों को रक्षक-दल की सहायता से एक दूसरे स्थान पर ले गये।

इसके वाद शान्तलदेवी ने कहा, "हम क्या-क्या आशा-आकांक्षाओं को पाल-पोसकर बढ़ते हैं परन्तु हमें उनका फल किस तरह का मिलता है—यह पता नही होता। माता की अभिलाषा को पूर्ण कराने, उनके साथ बाहुबलि के दर्शन के लिए चाउण्डराय निकले तो श्रवणबेलगोल ही में बाहुबलि ने दर्शन दे दिये। यह अनिरीक्षित था। परन्तु उसका फल, उनकी माता की इच्छा का फल यह कि हमारे कन्नड़ प्रदेश को भव्य बाहुबलि मिल गये। आप पूछ सकते हैं कि यह बात क्यों? यहाँ भी एक माँ की आशा को सफल बनाने का कार्य चला है। हमने न चाउण्डराय को देखा है न उनकी माँ को ही। परन्तु आज यहाँ इस दिन को महत्त्वपूर्ण बनानेवाली उस महासाध्वी को मैंने देखा है। आप सभी देख सकते हैं। यह युवा शिल्पी उन्हीं साध्वी माँ का पुत्र है, जो अपनी प्रज्ञा से प्रस्तर में दोष दिखाने की क्षमता रखता है। वह अपनी माँ की इच्छा को जानकर उसे पूरा करने के उद्देश्य से घर छोड़कर निकला है। जब तक कार्य में सफलता न मिले, तब तक वापस न आने का वचन देकर, माँ से विदा हुआ। घर छोड़े दो-तीन साल बीत गये। इतना समय हो जाने पर भी बेटे के न लौटने के भय से भीत माँ, यह सोचकर कि सम्भवतः यहाँ मिल जाय, कल यहाँ आयी। बेटे

के स्वभाव को माता से अधिक कौन समझ सकता है ? यहाँ की स्थिति, स्पर्धा, परीक्षा आदि बातों को जानकर वे मुझसे मिलने की इच्छा से आयीं। उनके साथ उनके भाई भी थे। उन्हें स्थपति और युवा शिल्पी दोनों को दिखाया गया। परन्तु उन्हें यह ज्ञात नहीं हुआ कि उन्हें किसी दूसरे ने देखकर पहचाना है। उनकी अपनी जो आकांक्षा थी, उसे हमें बताया। युवा शिल्पी इस बात को छिपाता रहा। परन्तु उससे उसके गाँव का पता लग गया था। हम स्वयं सोच रहे थे कि किसी को भेजकर पता लगावें। पर इतने में ही वे यहाँ उपस्थित हो गयीं तो हमारा कार्य यूँ ही सध गया। उनसे सारी बातें पता लगीं, तो हम एकदम आश्चर्य-सागर में डूब गयीं। इस अवस्था में इनकी त्रुटियों के लिए दण्ड-विधान नहीं सूझा है। हमने उस युवा शिल्पी को इस माता के आने की बात जतायी नहीं। परन्तु अब आप लोगों को बताने का कारण यह कि अब आप लोगों के सामने एक बड़ी ही हृदयहारी घटना घटनेवाली है। वह आप लोगों के लिए बहुत आनन्ददायक होगी—ऐसा हम सोचते हैं। उस आनन्द के प्रवाह में त्रुटियाँ बह जायेंगी, यही हमें लग रहा है। अब आप स्वयं निर्णय करें।" फिर महाराज की ओर मुड़कर कहा, "अब उन शिल्पियों को बुलवा सकते हैं।"

महाराज ने इंगित से ही आज्ञा दे दी। दोनों शिल्पी पुनः उपस्थित हुए। अपनी-अपनी जगह बैठ गये। उनका वह बन्धन ज्यों-का-त्यों रहा। बाद में शान्तलदेवी ने उस युवा शिल्पी की ओर मुड़कर कहा, "क्रीड़ापुर के शिल्पीजी !"

उसने धीरे से कहा, "क्या ?"

शान्तलदेवी ने देखा कि स्थपतिजी अब क्या कर रहे हैं। स्थपति ने एक बार युवक की ओर देखकर फिर अनदेखा-सा कर दूसरी ओर दृष्टि डाल ली। वास्तव में तब उनसे यह काम करानेवाला उनका वह सुप्त मन था।

"आपने अपना गाँव क्यों छोड़ा और कितना समय हुआ छोड़े हुए ?"

"यह सब दूसरों के लिए अनावश्यक है। मैं नहीं बता सकता।"

"आप ही बतावें तो अच्छा। नहीं तो आपके अन्तरंग में प्रवेश कर उसे कहना पड़ेगा।"

"मेरा अन्वेषण कार्य अभी पूरा नहीं हुआ है। मैं किसी तरह का दण्ड भोगने के लिए तैयार हूँ, किन्तु सार्वजनिक रूप से यह सब कहने के लिए तैयार नहीं हूँ। उनके लिए वह अनावश्यक है। आप भी अपने अधिकार का प्रयोग करके मुझसे कहलवा नहीं सकेंगी। क्योंकि वह केवल मेरे घराने तक सीमित बात है। चहुँ ओर प्रदर्शित करने की नहीं। सन्निधान मुझे क्षमा करें।"

"आप अब एक तरह से बन्धन में हैं, आपको छुटकारा नहीं चाहिए ?"

"अपने घराने के रहस्य को डर के कारण प्रकट नहीं कर सकता। मेरा वंश पवित्र है। उसके बारे में तरह-तरह की बातें लोग कहें, इसके लिए अवसर नहीं

दूँगा।"

"आपको पता नहीं। लोग कह-कहकर थक चुके, कहना छोड़ अब भूल गये। तब आप छोटे बच्चे थे, इसलिए आपको कुछ भी पता नहीं।"

"हो सकता है। वह हमारा गाँव ही जिसे भूल गया है, उसी को यहाँ सबके समक्ष नहीं कहलवाया जा सकता। वह मातृद्रोह होगा।"

"मातृद्रोह है या पितृद्रोह ?"

युवक ने कुछ उत्तर नहीं दिया। पट्टमहादेवी की ओर प्रश्नार्थक दृष्टि से देखने लगा।

"मैंने उन्हें देखा ही नहीं।"

"आपने देखा है। मैं साक्षी दूँ तो ?"

"पहचान नहीं सका—ऐसा भी हो सकता है।"

"तो आप मान लेंगे कि आपके बारे में मुझे पर्याप्त परिचय है।"

युवक ने कुछ उत्तर नहीं दिया। लगता था उसकी आँखों के दीप टिमटिमा रहे हैं—उन्हीं आँखों से वह शान्तलदेवी की ओर देख रहा था।

"मौन को मैं सम्मति मान लेती हूँ। आपकी माँ के लिए किसका सहारा है ?"

"और किसका ? मेरा ही।"

"इसकी भी जानकारी आपको नहीं है।"

"जी !!"

"जीभ काट लूँगा, हाथ काट लूँगा जैसी बातें कहते-फिरते हैं ! आपका यह शरीर, आपकी चतुराई, हस्तकौशल, वाक्चातुर्य-सिद्धि इस सबके लिए आपके माता-पिता उत्तरदायी नहीं हैं ?"

"जहाँ तक जन्म का सम्बन्ध है, यह सत्य है।"

"उसके बाद उन्होंने आपके लिए कुछ नहीं किया ?"

"माता ने मुझे पाला-पोसा, बड़ा किया, वंश परम्परागत विद्या में परिणत बनाने के लिए परिश्रम किया।"

"उस ऋण को आप कैसे चुकायेंगे ? उनकी आशा पर पानी फेरकर, उनके जीवन को दुःखमय बनाकर ?"

"अभी मैंने ऐसा कौन-सा अपराध किया है ?"

"अभी तक तो ऐसा कुछ नहीं किया, यही सौभाग्य की बात है। कहीं ऐसा कर न लें, इसीसे आप इस बन्धन में हैं।"

"अपनी स्पर्धा में मैं जीत गया न ? तब…"

"अगर हारते तो क्या करते ?"

"अपनी बात को बनाये रखता।"

"बनाये रखते। उससे मातृद्रोह होता। आपसे कहीं ऐसा काम न हो जाय, इसलिए हम पहले ही चेत गये। एक बात में जीतने पर भी, दूसरी बात में हारे। स्थपतिजी का भी यही हाल है। वे भी हारे और जीते हैं। वे भी आपकी ही तरह हठी हैं। नहीं-नहीं, आप भी वैसे ही हैं। आप लोगों की इस परीक्षा-क्रिया के फलस्वरूप आप लोगों को किस तरह का दण्ड दें, इस बात का निर्णय करने का दायित्व महासन्निधान ने मेरे ऊपर छोड़ रखा है। परन्तु मैं यह काम नहीं करूँगी। अपनी ओर से एक न्याय-देवता आपके समक्ष खड़ा करूँगी। बाद में क्या होगा, सो आप तीनों पर छोड़ती हूँ। रेविमय्या! उस महामाई को बुलवा लाओ!" शान्तलदेवी ने कहा।

कुछ ही क्षणों में एक शिविका आयी। उसके अन्दर से एक देवी उतरी। "आप दोनों इस न्याय देवता के समक्ष हो; यह जो कहे, उसके अनुसार दोनों को अब चलना होगा, यही महासन्निधान का निर्णय है।" शान्तलदेवी ने कहा।

दोनों ने चकित होकर उस देवी की ओर देखा।

तुरन्त स्थपति के मुँह से निकला "लक्ष्मी! तुम यहाँ?"

"माँ! तुम यहाँ?" युवा शिल्पी के मुँह से निकला।

वह स्थपति के पास आयी। उनके पैर छुए और प्रणाम किया। कहा, "स्वामी, मैंने जो भी भूल की हो, क्षमा करें। किसी पूर्वजन्म के पाप ने हमें इतने वर्षों तक पृथक् रखा। आपकी खोज में निकला यह आपका पुत्र डंकण साल-पर-साल बीतते जाने पर भी लौटा नहीं; इसलिए मैंने अपने बड़े भाई के पास सूचना भेजी। वे यहाँ निर्माण होनेवाले मन्दिर के बारे में सब विवरण बताकर मुझे यहाँ कल साथ लाये। यहाँ की कहानी और आज सुबह घटी सारी घटना की बात सुन समझ कर कि जैसा बाप वैसा ही बेटा है, मैंने अपना सारा वृत्तान्त पट्टमहादेवीजी से निवेदन किया। उनकी कृपा का ही परिणाम है यह मिलन।" कहकर उन्होंने शान्तलदेवी की ओर देखा और बोली, "इन पिता-पुत्र की हठवादिता का निवारण करने की शक्ति मुझमें नहीं है, इसीलिए मैंने सुदीर्घ काल तक इस दुःख को सहन किया। हठ ठाना है, मुँह से बात निकल चुकी है, हारने पर दण्ड भोगेंगे ही—यों दोनों हठ पकड़ें तो मेरे लिए सहारा ही कौन है? इसलिए सन्निधान से एवं राज्य के अधिकारी वर्ग के समक्ष मेरी यही विनम्र विनती है, किसी तरह के अंग-भंग जैसा दण्ड दिये बिना इन दोनों की रक्षा हो। इनकी भूलों को उदारता से क्षमा करें। मैं कभी घर से बाहर नहीं निकली। यहाँ आकर इतने जन-समूह के समक्ष इतनी बातें कह सकने का साहस भगवान् ने दिया, यही पर्याप्त है। यदि मैं सच्ची न होती तो भगवान् मुझे कभी इतना साहस न देता।" इतना कहकर उसने हाथ जोड़कर प्रणाम किया।

शान्तलदेवी ने कहा, "सन्निधान के समक्ष एक दुःखी प्रजा का निवेदन है,

निर्णय करने की कृपा करें।"

बिट्टिदेव ने पूछा, "डंकण शिल्पीजी ! आपका अन्वेषण समाप्त हुआ न ?"

"समाप्त है प्रभु !"

"अब बता सकते हैं न, वह क्या है ?"

"कहने के लिए अब बचा ही क्या है ?"

"है। आपकी माताजी ने आपका नाम तो बता दिया। परन्तु आपके पिताजी का नाम अभी किसी को पता नहीं।"

"वे क्रीड़ापुर के जकणाचार्य हैं।"

"स्थपति जकणाचार्यजी ! अब आप यायावर शिल्पी नहीं हैं, समझो !"

"समझा !"

"आप और आपका पुत्र, दोनों आज हमें एक वचन दें।"

"आज्ञा हो !"

"आप दोनों को, समय-कुसमय में, जो बात कही उस पर ध्यान नहीं देना होगा। दोनों एक जगह असिद्ध हैं, एक जगह सिद्ध। बात बराबर। आप लोग भगवान् को साक्षी मानकर इस परीक्षा और प्रतिज्ञा की बातों को भूल जाएँगे। इस प्रसंग में कही गई बात वहीं तक सीमित है, कार्यरूप में परिणत करने के लिए नहीं। यों इस महासाध्वी को वचन दें, तभी आप बन्धन से मुक्त होंगे।" बिट्टिदेव ने कहा।

"हमने बात कही थी सर्वजनों के समक्ष, कल सार्वजनिक मनमानी बातें करेंगे ऐसी स्थिति न हो। सन्निधान उनसे पूछ लें !" जकणाचार्य ने कहा। बिट्टिदेव ने इंगित किया और उन दोनों के बन्धन खोल दिये गये। महाराज ने स्थपति की बात को सुनाया।

सभी जनों ने अपना निर्णय घोषित किया, "इन पिता-पुत्रों के हाथों से ऐसे सैकड़ों मन्दिर का निर्माण होना चाहिए। उनसे इनकी कीर्ति स्थाई होनी चाहिए। यह राष्ट्र के लिए उनकी अमूल्य देन है इसलिए इनके इन हाथों को ज्यों-का-त्यों रहने देना उचित होगा। इन्हें दण्ड नहीं, पुरस्कार मिलना चाहिए।"

"जनता का निर्णय मेरे लिए मान्य है।" कहकर जकणाचार्य ने अपनी पत्नी के हाथ पर, अपना हाथ रखा।

"मैं भी मान लेता हूँ" कहते हुए डंकण ने उन दोनों के हाथों पर अपना हाथ रखा।

तीनों ने परस्पर एक-दूसरे को सीधे देखा। तीनों के मुख मुसकान से खिल उठे। साथ ही, हर्ष के आंसू भी वह आये।

मन्दिर और सम्पूर्ण वातावरण हर्षोद्गार से निनादित हो उठा।

शान्तलदेवी ने बिट्टिदेव के कानों में धीमे से कहा, "यह एक अद्भुत

समागम है। है न ?"

"देवी, यह सब तुम्हारा ही चमत्कार है। सर्वत्र सौहार्द और सहृदयतापूर्ण सुख-शान्ति को प्रतिष्ठित कर सकने की तुम्हारी शक्ति को जानना भी कठिन है। श्री आचार्य से डरकर अदृश्य होनेवाले जकणाचार्य इस कार्य को स्वीकार करके; कितने बदल गये, यही एक महान आश्चर्य की बात है।" बिट्टिदेव ने कहा।

"इन सब बातों का विश्लेषण फिर करेंगे। अब सभा को विसर्जित करें। हमें और भी बहुत-से काम करने हैं। अब एक दूसरे विग्रह का निर्माण भी होना है। मुहूर्त के लिए पाँच ही दिन शेष रह गये हैं।" शान्तलदेवी ने कहा।

आनन्द विभोर वह सभा विसर्जित हुई।

फिर भी तिरुवरंगदास को सन्तोष नहीं हुआ। किसी एक के हाथ कटने ही चाहिए थे। वही देखने की उसकी अभिलाषा रही।

दूसरों की बुराई करने में लोगों को क्या आनन्द मिलता है, ईश्वर ही जाने!

०